सिन्धु
फरवरी, १९६६
५० पैसे

चण्डीगढ़

२२-१-६६

आदरणीय डाक्टर साहब,

प्रणाम।

'जन--साहित्य' का 'हरियाणा लोक-मानस अंक' मिला। पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। इसमें हरियाणा विषयक अनेक उपयोगी सामग्री है और वहां के लोक-जीवन तथा लोक-साहित्य के विषय में भी महत्त्वपूर्ण सामग्री है। हरियाणा के पुराने इतिवृत्त के बारे में मनोरंजक सामग्री है।

इस उपयोगी अंक के प्रकाशन के लिये मेरी हार्दिक-बधाई स्वीकार करें।

पुनश्च

आज सप्तसिन्धु का उपभाषा अंक भी अभी मिला है। पढ़कर लिखूंगा।

आपका--

हजारी प्रसाद द्विवेदी

(मासिक प्रकाशन--फरवरी, १९६६)

अंक २

वर्ष १३

मूल्य : ५० पैसे **सम्पादक :—डा० परमानन्द**

परामर्श समिति

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला।

सम्पादकीय

एक श्रद्धांजलि

*

दस और ग्यारह जनवरी की रात कितनी मनहूस थी, जबकि भारत का अनमोल रत्न भारत से खो गया। अब भी हमें विश्वास नहीं होता कि वह भव्य मूर्ति जो सच्चे अर्थों में हमारी सनातन संस्कृति की प्रतीक थी, हमारे बीच नहीं रही। अठारह महीने के प्रधान मंत्रित्व काल में देश के लिये जो कार्य उन्होंने करके दिखाया जो लोक प्रियता उन्हें प्राप्त हुई उसकी मिसाल कम ही देखने को मिलेगी। उनकी मृत्यु भी नाटक का एक अन्तिम दृश्य बन कर आई। देश को पाकिस्तान के साथ हुए संघर्ष में जिस नीतिज्ञता, कुशलता, बहादुरी और साहस से विजेता बनाया वह अध्याय इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाएगा।

एक सामान्य परिवार में जन्म लेकर अपनी मधुरता घोर परिश्रम

श्रौर सच्ची सेवाश्रों के द्वारा उन्नति की पराकाष्ठा तक कोई व्यक्ति कैसे पहुंच सकता है, शास्त्री जी इसका ज्वलंत प्रमाण थे। कोई उन्हें कहीं भी घेर कर खड़ा हो जाए श्रौर दिल की बात कर ले, उनके स्वभाव में तनिक भी कटुता या खीझ नहीं श्रा पाती थी। श्रपने शासन काल में उन्होंने भारत की हर समस्या पर काबू पाना चाहा। सीलोन में भारतीयों की समस्या को, जो बड़ी देर से लटक रही थी बड़ी बुद्धिमत्ता से उन्होंने सुलझाया। घर के भीतर भी समस्याएं कोई कम नहीं थीं। पाकिस्तान के साथ संघर्ष उनके सर पर श्रा पड़ा लेकिन वह उससे भागे नहीं। कच्छ में हुए पाकिस्तानी श्रतिक्रमण को उन्होंने एक बार टालना ही चाहा। क्योंकि वह मूलतः शांति प्रिय ही थे, किन्तु पाकिस्तान ने इसे भारत की बुज़दिली ही समझा। समय पाकर काश्मीर के शस्त्र संघर्ष में बेवश हो कर उसे भी छटी का दूध याद दिलाया। इसी संघर्ष में उनको देश ने निकट से देखा कि वह केवल नाम के बहादुर ही नहीं थे, काम के बहादुर भी थे।

श्राज वह हमारे मध्य में नहीं रहे लेकिन उन द्वारा व्यक्त किये विचार हमारा सदैव मार्ग दर्शन करते रहेंगे। देश रक्षा, शांति में श्रडिग विश्वास, सम्मान-पूर्ण सह-श्रस्तित्व श्रौर श्रात्म-निर्भरता श्रौर विश्व-शांति--ये हैं उनके विचार-पुष्प जो भारत के सामाजिक वातावरण को हमेशा ताज़गी देते रहेंगे। श्राज हम सभी उनके शोक में मग्न हैं लेकिन शायद भगवान् को यही मंजूर था। हिन्दी-जगत के सभी बन्धुश्रों सहित हम भगवान् से उस महापुरुष के देहावसान पर श्रपनी श्रद्धांजलि श्रर्पित करते ह।

[signature]

संस्कृत की सप्तशती सप्तक

अगरचन्द नाहटा

पद्यों की संख्या सूचक अनेक रचनाओं के नाम ग्रन्थकारों ने प्रयुक्त किये हैं। जैसे--अष्टक, शत, सप्तश आदि। सप्तशती या सतसई में सब से प्राचीन रचना हाल कवि रचित गाथा सप्तशती है। महाराष्ट्री प्राकृत शृंगार विषयक यह रचना परवर्ती अनेक कवियों के लिये प्रेरणादायी सिद्ध हुई। तदनन्तर १२वीं शताब्दी में लक्ष्मण सेन के सभा पंडित गोवर्धन ने "अर्या सप्तशती" नामक संस्कृत ग्रंथ बनाया। इसके बाद तो संस्कृत और हिन्दी में सतसईयां अनेकों रची गई हैं। हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती सतसईयों के संबंध में तो मेरे दो खोजपूर्ण लख "सप्तसिन्धु" में प्रकाशित हो चुके हैं। इसी प्रसंग से संस्कृत की सतसईयों के सम्बन्ध में भी खोज की गई तो तीन आधुनिक और मध्यकालीन संस्कृत सतसईयों का पता चला है जिनका संक्षिप्त विवरण इस लेख में दिया जा रहा है।

संस्कृत में कवि गोवर्द्धन की "आर्या सप्तशती" बहुत प्रसिद्ध रचना है। इस पर कई टीकाएं भी प्राप्त हैं जिनमें से चार का उल्लेख "संस्कृत साहित्य का इतिहास" में किया गया है। उनमें से अनंतदेव व्यंग्यार्थ दीपना टीका प्रकाशित भी हो चुकी है। दूसरी टीका मैथिल सूत्रीय मिश्र श्री सचल महामहोपाध्याय की "रस प्रदीपिका टीका" भी उनके प्रपौत्र श्री के० सी० शर्मा ने संवत् १९८७ में प्रकाशित कर दी है। जिसकी प्रति हमारे अभय जैन ग्रन्थालय में है।

कवि गोवर्द्धन का परिचय देते हुए 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि "इनके पिता का नाम नीलाम्बर या संघर्षण था। 'आर्या सप्तशती' के ३८ वें श्लोक में कवि ने अपने पिता को शुक्राचार्य के समान कवि बता कर वंदन किया है। इसका सगा भाई बलभद्र था और इसके शिष्य का नाम उदयन था। इन दोनों ने इस ग्रन्थ को स्वच्छतया लिख कर इस ग्रन्थ का प्रचार किया। अन्त में अपने नीलाम्बर को वंदन कर सेन कुल तिलक भूपति की प्रशंसा की है। यह सेनकुल

तिलक भूपति बंगाल का लक्ष्मण सेन (ई० १११६–११६६) था । इसकी सभा में गोवर्द्धन के साथ सरण देव, जयदेव, उमापति धर, और धोई कवि थे । 'आर्या सप्तशती' में ७०२ आर्यायें और गीतिकायें हैं । आर्याओं की रचना आकारादि वर्णन क्रम से की गई है। कवि ने एक आर्या में इस बात को माना है कि आर्या गीति में वर्णन सरसता प्राकृत भाषा में ही उत्पन्न हो सकती है । और संस्कृत में वह सरसता अत्यन्त कठिनता से उत्पन्न होती है । तथापि कवि ने आर्या में वह सरसता लाने का प्रयत्न किया है । अन्त में कवि ने स्वयं कहा है कि यह ध्वनि-काव्य है इसलिये इस काव्य की गणना गुणाढ्य भवभूति, बाणभट्ट और कालिदास के काव्यों के साथ होनी चाहिए । इन सब बातों से अनुमान होता है कि कवि ने गाथा सप्तशती को ही इस काव्य का आधार बनाया होगा । इस काव्य में शृंगार रस प्रधान है । जयदेव कवि ने भी गोवर्द्धन की रचना को 'शृंगारोत्तर सत्प्रमेय रचना' कहा है । यह काव्य यथार्थ में उच्चकोटि का है । और इसमें माधुर्य और प्रसाद गुण विद्यमान हैं ।"

संस्कृत की दूसरी सप्तशती का नाम सर्वप्रथम 'कवीन्द्राचार्य सूचीपत्र' में मुझे मिला । सेन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा से प्रकाशित उक्त सूचीपत्र के ग्रंथांक १६२१ 'गोपीनाथ सप्तशती' का उल्लेख है । खोज करने पर इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां आॅरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा में प्राप्त हुईं । प्रथम प्रति नं० ३०७ ३६ पत्रों की और प्रति नं० ८२५२ ३७ पत्रों की है । यह प्रति सं० १७४३ की लिखी हुई है । ग्रन्थ परिमाण ७५२ श्लोकों का बतलाया गया है । रचयिता का नाम गोपीनाथ मिश्र है । 'कवीन्द्राचार्य सूचीपत्र' में उल्लेख होने से यह १७वीं शताब्दी के पहले की होनी सम्भव है ।

तीसरी संस्कृत 'सप्तशती' मंडल भट्ट के पुत्र माधव भट्ट रचित है जिसकी ४६ पत्रों की प्रति बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी में संवत् १६६५ की लिखी हुई है । विशेष विवरण में लिखा गया है "कम्पोज्ड अन्डर दा डाईरेकशन आॅफ श्री कृष्णदास आॅफ मिहिरवंश इन रामादितेयक्षितिजाङ्ग भूमि वर्ष (१६५३ ?) ।"

चौथी आर्या सप्तशती पर्वतीय श्री विश्वेश्वर पंडित की सोपग्य व्याख्या सहित तीन खण्डों में काशी से प्रकाशित हुई है । मूल्य ४।।) है । इसका उल्लेख मेहरचन्द लक्ष्मणदास के "रत्न समुच्चय" तथा मोतीलाल बनारसीदास के सूचीपत्र में पाया जाता है ।

पांचवी सप्तशती राजस्थान के सुप्रसिद्ध विद्वान् नवरत्न श्री गिरधर शर्मा द्वारा रचित "गिरधर सप्तशती" के नाम से प्रकाशित हुई है। श्री परमेश्वर शर्मा ने ७०० श्लोकों की इस सप्तशती को संवत् २०१४ में झालरापाटन (Jhara-patan) से प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ नीति विषयक है। "गिरिधर सप्त शतीयं विराजते किन्तु नीतिनिधिः। ६९९॥"

छठी और सातवीं सप्तशती के रचयिता पटियाला के प्रो० शैवाल कविशेखर हैं। इनके रचयिता "गाथा सप्तशती" "सुन्दरी सप्तशती" की सूचना प्रो० सत्यव्रत तृषित ने मुझे दी है। ये दोनों पुस्तकें सेठ बनवारी लाल मलहोत्र, बदाना मल स्ट्रीट, पटियाला से प्रकाशित भी हो चुकी है।

वैसे देवी सप्तशती, सूर्य सप्तशती (उल्लेख हिन्दी साहित्य युग और धारा आदि भी प्रसिद्ध रचनायें हैं) और भगवद् गीता के भी ७०० श्लोक हैं पर उनकी शैली सतसईयों की नहीं है। खोज करने पर और भी ऐसी रचनाएं मिल सकती हैं।

संस्कृत साहित्य का निर्माण भारत व्यापी होने से दक्षिण एवं पूर्व भारत आदि में सम्भव है। संस्कृत की और भी कई सतसईयां रची गई हों, जिन की जानकारी हमें नहीं हो। इस लिये आवश्यक है भली भांति खोज की जाने की।

संस्कृत साहित्य के वैसे तो अनेक इतिहास प्रकाशित हो चुके हैं पर मेरे ख्याल से समग्र इतिहास में संस्कृत के विशाल साहित्य का परिचय यथेष्ट रूप में नहीं दिया जा सकता, इसलिये एक-एक विधा को लेकर जितनी भी रचनायें प्राप्त हों उनकी स्वतंत्र खोज की जा कर शोधपूर्ण और आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित किये जाने चाहिएं।

ऐतिहासिक एकांकियों में चित्रित

भारतीय शौर्य, राष्ट्ररक्षा और स्वतन्त्र्य भावनाएँ

डा० राम चरण महेन्द्र

उपायास्ते अ नमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं
सन्तु पृथिवी प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रति बुध्यमाना वयं तुभ्यं
बलिहृतः स्याम ।।

हे मातृभूमे ! हम तुम्हारी गोद में पले हैं, खेले कूदे और बड़े हुए हैं। तुमने हमें आरोग्य-कारक पदार्थ दिये। समय आने पर हम तेरे लिये बलिदान देने से भी पीछे न रहेंगे ।

--अथर्व० १२।१।६२

हिन्दी के ऐतिहासिक एकांकियों में शौर्य, वीरता, स्वदेश प्रेम और राष्ट्र रक्षा के लिये जीवनोत्सर्ग की सशक्त भावनाएँ भरी हुई हैं। हम राष्ट्र रक्षा और पूर्वजों की प्रशस्त परम्परा की रक्षा के लिये प्राण-न्योछावर करते रहे हैं। दुष्टों का संहार, आततताइयों को दंड, शत्रुओं का विनाश हमारे प्राचीन इतिहास में भरा हुआ है। हमारे सैनिकों का पराक्रम, राष्ट्ररक्षा के लिये बलिदान और संगठन एकांकी साहित्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। सम्राट् पुरु और चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे प्रतापी भारतीय सम्राटों ने भारत में शानदार परम्पराएँ स्थिरएँ की थीं। यहां कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

'आर्य संस्कृति का स्वाभिमान' नामक एकांकी में सम्राट् पुरु की शूरवीरता, देश प्रेम और स्वातन्त्र्य भावना स्पष्ट की गई हैं। जब सिकन्दर पुरु को माफ करना चाहता है तो आर्य वीर पुरु अपनी स्वातन्त्र्य भावना इन शब्दों में प्रकट करते हैं --

"मैं बन्दी बन कर पराजित जीवन मृत्यु से भी बुरा समझता हूँ.......
उफ़ यह दासता का जीवन ...."

"दास का खून ? पराजित कायर का खून ? इसे बह जाने दो ? क्षत्रिय को पराजित होकर जीने का कोई अधिकार नहीं है। भारत की संस्कृति का मैं कैसा ह्रास कर रहा हूँ। यदि आज मैं जीवित न रह कर युद्धभूमि में वीरगति को प्राप्त कर लेता, तो भारत मेरा मान करता। भारत का अन्न, पानी, पृथ्वी आकाश मुझ पर गर्व करता।"

--'अमर आत्माएं' पृष्ठ ६

१. देखिये डा० रामचरण महेन्द्र कृत 'अमर आत्माएं' (१९६२) के पृष्ठ १—१०

"एक परतन्त्र और एक स्वतन्त्र मनुष्य में मित्रता कैसी ? स्वधर्म की रक्षा के लिये, स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिये युद्ध मेरे लिये धर्म है। दुष्टों को दमन करने के लिये हमारे यहां महाभारत तक का आह्वान अनिवार्य हो जाता है। हमारा धर्म वीरों का धर्म है।"

—'अमर आत्माएं' पृष्ठ ७

श्री सियारामशरण प्रसाद द्वारा लिखित "परिवर्त्तन" नामक एकांकी१ पुरु के जीवन पर आधारित है। उसमें अलका के व्यंग्य वाक्यों से विक्षुब्ध हो पुरु के जीवन में परिवर्त्तन आता है। इसमें भारत की वर्तमान वैदेशिक नीति भी स्पष्ट हो गई है। चाणक्य पुरु को चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ मिल कर अलक्षेन्द्र (एलेक्जेन्डर) को भाग देने के लिये गठबन्धन करना चाहता है। चाणक्य के ये शब्द आज के सन्दर्भ में कितने सही हैं—

"आज वैमनस्य का लाभ उठाकर विदेशी इसे (भारत को) पदाक्रान्त करना चाहते हैं। ऐसी जटिल परिस्थिति में तुम्हारा कर्त्तव्य है कि मौर्य चन्द्रगुप्त जो समस्त भारत खण्ड में राष्ट्रीयता की लहर उठाना चाहता है, उसे सहृदयतापूर्वक योगदान करो....आपसी द्वेष आदि का विस्मरण कर यथाशक्ति उसका साथ दो, जिससे आनेवाली परतन्त्रता रूपी रजनी अंधकार को चीर कर स्वतन्त्रता का नवसंदेश आत्माभिमान का गौरव गान कर सकें। स्मरण रखो, भारतीयता इसी में है कि न हम किसी को पराधीनता की शृंखला में जकड़ कर उसकी मुक्त चेतना एवं विकास का मार्ग अवरूद्ध कर दें और न स्वयं किसी आततायी और शत्रु के सम्मुख सिर झुकाएं।"

डा० प्रेमनारायण टंडन कृत "गांधार पतन" एकांकी में२ ऐतिहासिक आदर्श की प्रतिष्ठा है। लेखक ने इतिहास को संवारा है। सिकन्दर के आक्रमण का समय है। आंभी ने उसे गांधार से जाने का मार्ग दे दिया है। देशवासी उसके देशद्रोह से क्रुद्ध हैं। इस पर आंभी अपनी कूटनीति स्पष्ट करता है :—

"सिकन्दर भारत में आ जाय, तो उसे चारों ओर से घेर लिया जाय।"

टंडन जी ने इसमें भी स्वदेश प्रेम, भारतीय गौरव और स्वाधीनता विषयक भावनाएं व्यक्त की हैं।

श्री भुवनेश्वरप्रसाद कृत "सिकन्दर" (१९५०) नामक एकांकी३ में यूनानियों

---

१. देखिए 'आवाज़' ७-१०-५६ अंक पृ० ७-८।
२. डा० प्रेमनारायण टंडन कृत 'संकल्प' (१९४९) संग्रह में पृ० ९५—१०३
३. भुवनेश्वर प्रसाद कृत 'सिकन्दर' संगम साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित

की संस्कृति के ऊपर भारतीय संस्कृति, सभ्यता और पांडित्य की श्रेष्ठता चित्रित की है।

सिकन्दर और पोरस के सम्बन्ध में श्री श्यामलाल कृत "सिकन्दर और पुरु" (१९३३)१ तथा श्री छोटेलाल भारद्वाज कृत "वीरता की क़द्र" (१९४५) उल्लेखनीय है। दोनों में पोरस के चरित्र की उदात्तवृत्तियां स्पष्ट की गई हैं। अतीतकालीन भारतीय संस्कृति की उदात्त भावनाएं इन एकांकियों में प्रति-बिम्बित हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के व्यक्तित्व पर कई एकांकी लिखे गए हैं जैसे श्री सूर्यनारायण दीक्षित कृत "चन्द्रगुप्त" (१९२७) श्री श्याम लाल कृत "चन्द्रगुप्त और सैल्यूकस" (१९३३) श्री राम गोपाल शर्मा दिनेश कृत "वह प्रभात" डा० रामकुमार वर्मा कृत "कौमुदी महोत्सव" (१९४९)।

श्री सूर्यनारायण दीक्षित के एकांकी "चंद्रगुप्त" (१९२७) में मगध के राजपुत्र चन्द्रगुप्त का सिकन्दर की सेना में गुप्त रूप से रह कर सैन्य संचालन, व्यूह प्रणाली तथा अन्य सामरिक नियमों का सीखना, पकड़ा जाकर सिकन्दर के सन्मुख लाया जाना तथा उसकी वीरता के कारण सिकन्दर का उसे मुक्त कर देने का कथानक प्रस्तुत किया गया है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के शौर्य के साथ साथ प्राचीन भारत की राष्ट्रीय भावना भी व्यक्त की गई है।

संक्षेप में कथानक इस प्रकार रक्खा गया है —"चन्द्रगुप्त चुपचाप सिकन्दर के यहां छात्र रूप में आया हुआ है। एक मास तक सेना में रह कर सैन्य संचालन की शिक्षा प्राप्त करता है। एक दिन सैन्य संचालन सम्बन्धी अनुभव लिखते समय बन्दी हो जाता है। वह अपने सौतेले भाई नन्द से प्रतिशोध लेना चाहता है। उसकी इच्छा अपने गए हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लेने की है। वह निर्भीक और स्पष्ट है। सिकन्दर से निडर होकर वह वार्त्तालाप करता है। जब सैल्यूकस और एन्टीग्येनस लड़ते हैं, तब वह उन के आघात का निवारण करता है। जब उसका रहस्य मालूम हो जाता है, तब वह शत्रुओं से घिरा रह कर भी कहता है, "सम्राट् मुझे बिना जान से मार डाले आप बन्दी नहीं कर सकेंगे।" तलवार खींच लेता है।

इस एकांकी में राष्ट्रीयता की भावना, जातीय अभिमान, गर्व गौरव और महत्ता बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत

---

१. देखिए श्री श्यामलाल कृत 'ऐतिहासिक दृश्य' पृ० २८

की गई है। भाषा साहित्यिक है और संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। मनोभावों का द्वन्द्व चित्रित करने में लेखक स्वयं भावनामय हो गये हैं। व्याहारिक भाषा कम है। जहां सरल भाषा का प्रयोग है, वहां छोटे छोटे वाक्यों के कारण प्रवाह और भी स्वाभाविकता का उन्मेष हुआ है। जहां भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण है, वह लेखक की राष्ट्रीय भावना का प्रतीक है। ऐसे सम्पूर्ण स्थल भावातिरेक के कारण काव्यमय हैं। आर्य जाति के वर्णन मर्मस्पर्शी एवं शौर्य से परिपूर्ण हैं।

श्री श्यामलाल कृत "चन्द्रगुप्त और सैल्यूकस" एकांकी का सम्बन्ध उस काल से है, जब सम्राट् चन्द्रगुप्त उत्तरी भारत के राजा हो गये थे। उन्होंने यूनानियों को उत्तर पश्चिम की ओर भगा दिया। इस पर उनका राजा सैल्यूकस एक भारी सेना लेकर भारत पर चढ़ आया। चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस को युद्ध में परास्त किया। सैल्यूकस प्रस्ताव करता है--

सैल्यूकस--जब आपने इतनी कृपा की है, तो एक कृपा और भी करें।

चन्द्रगुप्त--राजन् इस देश का यह नियम है कि शरण आया हुआ शत्रु अतिथि हो जाता है। आप आज्ञा दीजिए, क्या चाहते हैं?

सैल्यूकस--महाराज, मैं अपनी कन्या को आपकी दासी बनाना चाहता हूँ।

चन्द्रगुप्त--(घबराकर) हूँ। किन्तु.....

सैल्यूकस--बस, महाराज 'किन्तु' न कहिए। मेरा हृदय टुकड़े टुकड़े हो जायगा। भारतवासियों और यूनानियों को एक सूत्र में बांधने का जो स्वप्न देख रहा हूँ, वह नष्ट हो जायगा।

और अन्त में चन्द्रगुप्त प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार लेखक ने भारतीय परम्परा और यूनानियों से सम्बन्ध स्पष्ट किया है।

इसी कथानक पर श्री रामगोपाल शर्मा दिनेश कृत "वह प्रभात" नामक एकांकी लिखा है। इसमें भी चन्द्रगुप्त द्वारा सैल्यूकस की पराजय और अपनी पुत्री एथिना से चन्द्रगुप्त का विवाह चित्रित किया गया है। इसमें यूनानियों की दृष्टि से भारत का प्राकृतिक सौन्दर्य भारतीय संस्कृति की उच्चता, शिष्टता, शत्रु के प्रति उदारता इत्यादि का चित्रण किया गया है। जब सैल्यूकस समझता है कि हारने के कारण चन्द्रगुप्त उसे मार डालेगा, तो चन्द्र उसे कहता है--

"सैल्यूकस, भूल कर रहे हो। चन्द्र इतना नीच नहीं जो एक भागे हुए पर तलवार उठाए। मैं तुम्हारे प्राण

लेने नहीं, तुम्हें सम्मान और संतोष के साथ यूनान के लिये विदा करने आया हूँ। यह आर्य सम्राट् केवल रणस्थल में ही शत्रु का सम्बन्ध रखता है। इस समय तुम मेरे शत्रु नहीं, मित्र हो.......।"

कौमुदी महोत्सव

डा० रामकुमार वर्मा कृत "कौमुदी महोत्सव" (१९४९) ईस्वी पूर्व ३२२ कुसुमपुर के मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के कुसुमपुर की विजय के उपरान्त कौमुदी महोत्सव से सम्बन्धित है। चन्द्रगुप्त मौर्य शरद्काल की पूर्णिमा के अवसर से लाभ उठाकर अपनी विजय को मंगलमयी और आनन्द दायिनी बनाने के लिये कौमुदी महोत्सव की घोषणा करते हैं, पर उसके मंत्री चाणक्य उसका निषेध कर देते हैं। चन्द्रगुप्त की यह कुसुमपुर में प्रथम राज घोषणा है और उसके निषेध से चन्द्रगुप्त का विक्षुब्ध होना स्वाभाविक है।

कौमुदी महोत्सव प्रसंग हमें विशाखदत्त रचित "मुद्राराक्षस" (संस्कृत) द्विजेन्द्रलालराय कृत (बंगला) "चन्द्रगुप्त" और जयशंकर प्रसाद कृत "चन्द्रगुप्त" (हिन्दी) नाटकों में मिलता है। इन तीनों ही नाटकों में यह दोष है कि चन्द्रगुप्त ने अपने अधिकारों के लिये संघर्ष भी करना चाहा है, किन्तु इन नाटककारों के हाथों में न तो वह संघर्ष ही कर सका है और न अपने मनोविज्ञान में स्वाभाविकता ही ला सका है, चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं किया गया है। चन्द्रगुप्त अत्यन्त पराक्रमी, वीर और शक्ति में अप्रतिम था। उसके सम्बन्ध में इतिहासकारों ने प्रशस्तियां लिखी हैं, जो उन्हें संसार का एक महान् सम्राट् घोषित करती हैं। दो इतिहासकारों की सम्मतियां लीजिए :—

डा० बेनी प्रसाद के अनुसार "चन्द्रगुप्त मौर्य ने कम से कम सारे उत्तर भारत में एक राज्य स्थापित कर दिया था।"१

डा० ताराचन्द के अनुसार, "चन्द्रगुप्त युद्धप्रिय और उत्साही शासक था और उसने पश्चिमी प्रान्तों की विजय प्रारम्भ की।"२

श्री जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटक की भूमिका में चन्द्रगुप्त के वीरत्व और पराक्रम को निम्न शब्दों में स्वीकार किया है :—

ग्रीक ग्रन्थकारों के द्वारा हम यह पता पाते हैं कि ई० पूर्व ३२६ में उसी समय चन्द्रगुप्त शत्रुओं से बदला लेने के उद्योग में अनेक प्रकार का कष्ट,

---

१. देखिए 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता (१९३१) डा० बेनीप्रसाद पृ० २९८

२. देखिए डा० ताराचन्द कृत 'हिन्दुस्तान का इतिहास' पृ० ६४

मार्ग में झेलते-झेलते भारत की अर्गला तक्षशिला नगरी में पहुंचा था। तक्षशिला के राजा ने भी महाराज पुरु से अपना बदला लेने के लिये सिकन्दर के लिये भारत का द्वार मुक्त कर दिया था। चन्द्रगुप्त ने एक सप्ताह भी अपने को परमुखापेक्षी नहीं बना रक्खा और वह क्रुद्ध होकर वहां से चला आया।[1]

उपर्युक्त प्रसंगों से चन्द्रगुप्त एक अत्यन्त पराक्रमी, वीर और शक्ति संपन्न सम्राट् प्रतीत होते हैं लेकिन किसी भी नाट्यकार ने उनके व्यक्तित्व को सही रूप में नहीं उभारा है। एक तो उन्हें शूद्र मान कर हमारी दृष्टि में उन्हें राजोचित मर्यादा से हीन चित्रित किया गया है, फिर आचार्य चाणक्य का व्यक्तित्व उन पर बुरी तरह हावी हो गया है और वह ऐसा लगता है जैसे गए बीते नरेश हों, जिन्हें अपनी राजोचित मर्यादा और आत्मसम्मान का भी ज्ञान नहीं है। निसंदेह यह सम्राट् चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के प्रति भारी अन्याय हुआ है। "मुद्राराक्षस" नाटक में चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक रह कर भी छल कपट से ही कांप उठता है। द्विजेन्द्रलाल राय ने चन्द्रगुप्त का वीरत्व प्रदर्शन एक रूठे हुए बालक की मनचली हास्यास्पद मनोवृत्ति की भांति चित्रित किया है। श्रीराय महाशय ने बहुत अधिक भावुकता से दोनों चरित्रों —चन्द्रगुप्त और चाणक्य—को मर्यादा के पद से गिरा दिया। "प्रसाद" जी ने श्रीराय महोदय का अनुकरण करते हुए सुलझे हुए ढंग से चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों का महत्त्व और गौरव का अच्छा प्रतिपादन किया है। भावातिरेक से उनके चरित्र विकृत होने से बच गये हैं, किन्तु प्रणय के चक्रव्यूह में चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों मार्ग-भ्रष्ट हुए दीख पड़ते हैं। वीरत्व से कहीं अधिक प्रेम चन्द्रगुप्त का धर्म हो गया है और सन्यास के सूने क्षणों में चाणक्य पर भी राजनीति के स्थान पर प्रेम की स्मृतियां प्रहार कर बैठती हैं।

डा० रामकुमार वर्मा ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों के गंभीर और मनोवैज्ञानिक इतिहास सम्मत चरित्र चित्रण का दायित्व अपने ऊपर लिया और इस सम्बन्ध में बौद्ध तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, मैगस्थनीज तथा चन्द्रगुप्त के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले समस्त ग्रन्थों के अध्ययन का उन्होंने तत्कालीन वातावरण की अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने की चेष्टा की है। उन्होंने अपना

---

१. देखिए जयशंकर प्रसाद कृत 'चन्द्रगुप्त' नाटक पृ० २३

कथानक "मुद्राराक्षस" की कथावस्तु के अनुसार ही रक्खा है, जिसमें कुसुमपुर की विजय के उपरान्त कौमुदी महोत्सव के मनाये जाने का आयोजन है। पाटलिपुत्र का भौगोलिक ज्ञान उन्होंने मैगस्थनीज़ और हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता से लेकर कौमुदी महोत्सव की सजावट अपनी कल्पना से प्रस्तुत की है। चन्द्रगुप्त के इतिहास से उसका जो व्यक्तित्व मिला है उसे उन्होंने मनोविज्ञान में इस प्रकार सुसज्जित किया है कि चन्द्रगुप्त के द्वारा प्रयुक्त समस्त उपमाएं भी वीर रसपूर्ण हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :—

चन्द्रगुप्त—मुझे ऐसा ज्ञात होता है जैसे युद्ध की भैरवी ने काषाय वस्त्र धारण कर लिये हैं और वह सन्यासिनी हो गई है। नगर की शोभा यतीम है जैसे तलवार की झनकार वायु में विलीन हो गई है।[1]

"राजनीति में राजनर्त्तकी का वही स्थान है जो कृपाण की धार को ढकने के लिये म्यान का होता है। राजनीति रूपी कठोर कृपाण का आतंक छिपाने के लिये राजनर्त्तकी रूपी आवरण आवश्यक है, किन्तु यह आवरण कृपाण की धार को कुंठित नहीं करता......।"[2]

"महाराज नन्द की राजनीति राजनर्त्तकी से कुंठित हो गई। तलवार की म्यान बन कर रह गई, मैं राजनर्त्तकी को म्यान बना कर रखना चाहता हूँ........।"[3]

महामंत्री, चन्द्रगुप्त ने कुसुमों की क्यारियों में नहीं, समरांगण में अपने जीवन का वैभव देखा है। उसने नूपुरों की झनकार में नहीं, तलवारों की झंकार में अपने जीवन का संगीत गाया है। आपने कैसे समझ लिया कि चन्द्रगुप्त के क्षणिक मनोविनोद में उसका समरांगण कुसुम की क्यारी बन गया? आपको यह समझना चाहिए कि यह क्षणिक विश्राम भविष्य के युद्ध की भूमिका है।"[4]

इस एकांकी में सबसे सशक्त भाग वह है जिसमें सम्राट् चन्द्रगुप्त राजनर्त्तकी से वार्तालाप करता है। नाटकार ने चन्द्रगुप्त के वीरत्व के साथ उसकी राजसी प्रवृत्ति को भी प्रकट किया है, जिससे वह वास्तव में धीरोदात्त नायक बनता है।

---

१. कौमुदी महोत्सव पृ० ७।
२. देखिए—कौमुदी— महोत्स्व पृ० २०
३. वही पृ० २१
४. वही पृ० २७

चन्द्रगुप्त——क्या राजनर्त्तकी, तुम राजनीति की ताल पर नृत्य कर सकती हो ?

अलका——सम्राट्, अभी तक तो राजनीति ही मेरे नृत्य की ताल थी, किन्तु मैंने इसकी ओर कभी ध्यान दिया ही नहीं .....

चन्द्रगुप्त——इन्हीं छद्मवेशी शब्दों में अनुचरी स्वामिनी हो जाती है राजनर्त्तकी, महाराज नन्द तुम पर मोहित थे, या तुम महाराज नंद पर मोहित थीं ?

अलका——.....जो नारी मोहित होती है, वह अपने रूप का व्यापार करती है, हृदय का समर्पण नहीं।

चन्द्रगुप्त——तुम किस व्यापार में विश्वास करती हो ? रूप के व्यापार में या हृदय के व्यापार में ?... महाराज नन्द दो हृदय का व्यापार करते थें और उस व्यापार में वे अपना सारा साम्राज्य हार गए ? क्या यह बात सत्य नहीं है ।

अलका——सत्य है सम्राट् । किन्तु पुरुष तो व्यापारी है । वह अपने व्यापार में सब कुछ लुटा सकता है ।

चन्द्रगुप्त——पुरुषों के प्रति तुम्हारी बहुत हीन दृष्टि है ।

अलका——उसी प्रकार जैसे पुरुषों की नारियों के प्रति हीन दृष्टि है। वे नारी को विलासिता की सामग्री बना कर छोड़ देते हैं।

चन्द्रगुप्त——किन्तु कोई नारी बलपूर्वक विलासिता की सामग्री नहीं बनाई जा सकती । वह अपनी विजय के लिये विलासिता की सामग्री बनती है और दोष पुरुषों को देती है ।

अलका——सम्राट् राजनीति के आचार्य हैं और सेविका राजनीति के पैरों तले कुचली हुई धूल .....

चन्द्रगुप्त——किन्तु राजनर्त्तकी । धूल भी सिर पर चढ़ सकती है ।

अलका——हां, सम्राट् ? जब वह पैरों से ठुकराई जाती है, किन्तु सेविका का यह अधिकार नहीं है ।

चन्द्रगुप्त——अधिकार नहीं राजनर्त्तकी । यह तो उसकी गति है । गति में अधिकार का आडम्बर नहीं होता, उसमें शक्ति की विद्युत होती है और तुममें शक्ति की वह विद्युत हैं जिसने आकाश का हृदय चीरते हुए तड़प कर नन्द जैसे विशाल शाल-वृक्ष को धराशायी कर दिया ।

अलका——.....आज से मैं राजनर्त्तकी का पद त्याग दूंगी और आप के

चरणों की धूल में शयन कर अमर हो जाऊंगी ।

चन्द्रगुप्त——....राजनर्त्तकी, तुम्हारा वह वार्त्तालाप महाराजा नन्द से नहीं हो रहा है, सैनिक चन्द्रगुप्त से हो रहा है । मुझे अपने चरणों की धूल वीरों की परम्परा के लिय छोड़नी है, राजनर्त्तकियों की परम्परा के लिये नहीं । किन्तु मैं तुमसे प्रसन्न हूँ । कुसुमपुर के नागरिकों को नृत्य की शिक्षा दो और उसका मंगलाचरण आज कौमुदी महोत्सव में तुम्हारे नृत्य से हो। नृत्य प्रारंभ करो जिसमें कुसुमपुर का वायु मंडल तुम्हारे नूपुरों के स्वरों का वाहक बन कर कौमुदी महोत्सव का निमंत्रण प्रत्येक दिशा में पहुंचा दे ।

उपर्युक्त उद्धरण में चन्द्रगुप्त वीर के साथ अति गंभीर, स्थिर और दृढ़व्रती भी है । अपनी प्रशंसा आप नहीं करता । जब अलका उसकी तारीफ करती है, तो कहता है, "मुझे अपने चरणों की धूल वीरों की परम्परा के लिए छोड़नी है, राजनर्त्तकी के लिये नहीं ।" उसमें चरित्र की दृढ़ता, स्थिरता और औदात्य है । उसका मन बिल्कुल शान्त रहता है और कर्त्तव्य धर्म वह कभी नहीं भूलता । वह वीर सैनिक है । सर्वत्र उसकी वही शान, वही दर्प और वही कुसुमपुर के नागरिकों का हित चिन्तन है । वह वास्तव में धीरोदात्त नामक बन गया है ।

डा० वर्मा ने एक और नाटकीय परिस्थिति उत्पन्न की है । जिससे कौतूहल उत्पन्न होता है । चाणक्य ऐसे अवसर पर आता है जब चन्द्रगुप्त राजनर्त्तकी पर प्रसन्न होकर अपने गले की माला पुरस्कार में देने के लिये उतारता है । चाणक्य पुकार कर कहता है कि पुरस्कार नहीं दिया जावेगा । चन्द्रगुप्त आश्चर्य में रुक जाता है । डा० वर्मा की नाटकीय कथावस्तु का यह प्रथम कौतूहल है । चन्द्रगुप्त और चाणक्य का कथोपकथन इस मनोवैज्ञानिकता से सजाया गया है कि चाणक्य चन्द्रगुप्त पर कहीं भी हावी नहीं होता । दोनों के व्यक्तित्व पूर्ण स्वतन्त्र और सशक्त बने रहते हैं। दोनों के दृष्टि कोणों के अनुसार प्रत्येक का स्पष्ट कंठ निकलता है और दोनों के व्यक्तित्वों का पूर्ण परिचायक है । हिन्दी नाटक साहित्य में यह अभिव्यक्ति और स्पष्टता प्रथम बार प्रकट हुई है । चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों अपने अपने क्षेत्र के अधिकारी हैं और विशेषता इस बात की है कि दोनों अपनी मर्यादा में रहकर सागर की भांति गर्जन करते हैं और अपने स्वतन्त्र

व्यक्तित्व की मान्यता के लिये प्रबल कारण उपस्थित करते हैं। दोनों के द्वारा दिये हुए कारण अपनी विशेष परिस्थितियों में सत्य भी हैं, विवेकपूर्ण भी देखिए--

चाणक्य--सम्राट्, आग बुझ जाने पर भी आग की राख गरम रहती है, उसे तुम हाथों से उठा नहीं सकते। तुम इतने थोड़े समय में कैसे मान बैठे कि कुसुमपुर की आग इतनी शीतल भस्म हो गई है कि उसमें कुसुमों की क्यारियां सजाई जायें ?

चन्द्रगुप्त--महामंत्री, चन्द्रगुप्त ने कुसुमों की क्यारियों में नहीं, समरांगण में अपने जीवन का वैभव देखा है, उसने नूपुरों की झंकार में नहीं, तलवारों की झंकार में अपने जीवन का संगीत गाया है। आपने यह कैसे समझ लिया कि चन्द्रगुप्त के क्षणिक मनोविनोद में उसका समरांगण कुसुम की क्यारी बन गया ? आपको यह समझना चाहिए कि यह क्षणिक विश्राम भविष्य के युद्ध की भूमिका है।

चाणक्य--और सम्राट्। यदि इस क्षणिक विश्राम में ही जीवन का अन्त हो गया तो ? तुम्हारे भविष्य के वैभव का समरांगण ही कहीं तुम्हारे शव का श्मशान बन गया तो ? इस विश्राम के क्षण को तुम क्या कहोगे ?

चन्द्रगुप्त--आर्य, विश्राम के क्षणों की सीमा क्या है ? और कितनी है, यह जानने के लिये चन्द्रगुप्त के पास पर्याप्त विवेक है !......

चाणक्य--(बीच ही में) नहीं है। यही समझ कर मैं अपने साथ सैनिक लाया हूँ।

× × ×

चाणक्य सैनिकों से वसुगुप्त और राजनर्त्तकी को बन्दी बनाने की आज्ञा देता है। इस पर चन्द्रगुप्त चुप नहीं रहता। उसका स्वाभिमान और राजसी दर्प प्रकट होता है। वह आगे बढ़ कर कहता है। "आर्य चाणक्य?" इस पर चाणक्य बड़े संयत किन्तु दृढ़ स्वर में कर्त्तव्य का ज्ञान कराता है। जब दोनों सैनिक बन्दियों सहित चले जाते हैं, तो दोनों में इस प्रकार बातचीत होती है। दोनों के दिये हुए कारण अपनी परिस्थितियों में सत्य और विवेकपूर्ण प्रतीत होते हैं। नीति और कूटनीति में चाणक्य की श्रेष्ठता देखने योग्य है, पर चन्द्रगुप्त का वीरत्व, पराक्रम, साहस और शक्ति भी प्रकट होते हैं। वह सर्वत्र राजोचित मर्यादा और आत्म-सम्मान का ध्यान रखता

है। उसने शासक और विजेता के आदर्शों को भली भांति समझा है,भयानक रणों में सम्मुख रह कर असीम साहस और धैर्य से नेतृत्व किया है। वह जीवन और मृत्यु की विभाजक रेखाओं पर विद्युत गति से चला है। वह चाणक्य के सामने संयत रह कर भी वीर है। दोनों के चरित्रों को पृथक् मनोविज्ञान से परिपूर्ण किया गया है। दोनों के वाक्य विरोधी होकर भी मर्यादापूर्ण शक्त और तर्कपूर्ण हैं। जहां विशाखदत्त, द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर प्रसाद चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व को दबा गये हैं, उसके प्रति अन्याय कर बैठे हैं, वहीं वीर चन्द्रगुप्त अपने अधिकारों और आत्म-सम्मान के लिए जागरूक है।

चन्द्रगुप्त–यह राजमर्यादा की सब से बड़ी अवहेलना है, महामंत्री। जिस राजमर्यादा की पूजा हमने रक्त चढ़ा कर की है, उसी राजमर्यादा को तुच्छ सैनिक अपने पैरों की धूल से कलंकित करें। यह कैसी राजनीति है। आज कौमुदी महोत्सव के अवसर पर.............

चाणक्य—कौमुदी महोत्सव।

चन्द्रगुप्त—हां कौमुदी महोत्सव। क्या आपने मेरी घोषणा नहीं सुनी ?

चाणक्य–वह सुनने योग्य नहीं थी।

चन्द्रगुप्त––आप राज मर्यादा का इतना अपमान कैसे कर रहे हैं महामंत्री कौमुदी महोत्सव की घोषणा कुसुमपुर में मेरी प्रथम राज घोषणा है।

चाणक्य–अयह राजघोषणा प्रारंभ होने से पूर्व ही समाप्त हो गई।

चन्द्रगुप्त––(आश्चर्य से) समाप्त हो गई ? किसने यह साहस किया ?

चाणक्य––मैंने आर्य चाणक्य ने।

चन्द्रगुप्त––इसीलिये मुझे घोषणा का तूर्य नहीं सुन पड़ा। तो आपने कौमुदी महोत्सव की घोषणा हीं होने दी।

चाणक्य––नहीं मैंने घोषणा नहीं होने जदी।

चन्द्रगुप्त––मैं कारण जानना चाहता हूँ।

चाणक्य––मैं कारण नहीं बता सकता।

चन्द्रगुप्त––सम्राट् कौन है, चन्द्रगुप्त या चाणक्य ?

चाणक्य––चन्द्रगुप्त।

चन्द्रगुप्त––फिर सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा की अवहेलना क्यों हो रही है ?

चाणक्य––इसीलिये कि वह आज्ञा किसी मनचले बालक की हठ की तरह है।

चन्द्रगुप्त--फिर भी उसकी रक्षा होनी चाहिए ।

चाणक्य--नहीं, बालक आग पकड़ना चाहता है । उसे आग पकड़ने की सुविधा नहीं दी जा सकेगी ।

चन्द्रगुप्त--यह तुम्हारा गर्व है महामंत्री।

चाणक्य--यह तुम्हारा अज्ञान है, सम्राट् ।

उपर्युक्त कथोपकथन में दोनों--गुरु शिष्य-- का व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता दीखता है । दोनों भावातिरेक से उत्तेजित हैं, पर गुरु किसी कठोर या अपशब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं करता, दूसरी ओर शिष्य अपने सम्राटपन के आत्मगौरव में किसी अपशब्द का प्रयोग या मानहानि नहीं करता । चाणक्य के पास राजनीति की गहराई है, चन्द्रगुप्त के पास राजाधिकार का उच्च गौरव और अधिकार । यही वार्तालाप इसी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से आगे चलता है ।

चन्द्रगुप्त--(क्रुद्ध होकर) महामंत्री । कुसुमपुर की विजय में तुम्हारा हाथ रहा है, तो क्या इतनी छोटी सी विजय ने ही तुम्हारे गर्व की चिनगारी को फूंक मार कर लपट में परिवर्तित कर दिया ? यह गर्व उस चिन्ता की ज्वाला है जिसमें तुम्हारी राजनीति जल कर भस्म हो सकती है ।

चाणक्य--मुझे इसकी चिन्ता नहीं है, सम्राट् । गर्व मेरे अन्तःकरण का अधिकार है । वह राज्य से अनुशासित नही है किन्तु मैं यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि चाणक्य के गर्व की चिनगारी स्वर्ग के राज्य को प्राप्त करके भी लपट नहीं बनेगी । हां, अपमान के हल्के झोंके से ही वह दावाग्नि बन कर तुम्हारे वैभव के नन्दन बन का क्षण भर में भस्म कर सकती है । क्या तुम नन्द वंश के विनाश की पुनरावृत्ति देखना चाहते हो ?

डा० वर्मा ने चन्द्रगुप्त के मुंह से निम्न शब्द कहलवाये हैं, जो चन्द्रगुप्त के अति गंभीर, स्थिर और दृढ़ चरित्र को प्रकट करते हैं:--

चन्द्रगुप्त--आर्य चाणक्य ? सैनिक चन्द्रगुप्त विलासी नन्द नहीं है जो पतन के गर्त्त के मुख पर खड़ा होकर हलकी सी राजनीति के धक्के की प्रतीक्षा करे । मौर्य चन्द्रगुप्त हिमाद्रि की तरह सुदृढ़ है जिसे महामंत्री चाणक्य की कुटिल राजनीति रूपी

भी विचलित नहीं कर सकते ।१

इस पर चाणक्य अपने पुराने कार्य, सहायता, सहयोग और कूटनीति की दुहाई देता है । अपनी शक्ति को स्पष्ट करता है और उसके हटने से मौर्य राज के नष्ट होने की चेतावनी देता है । इस पर चन्द्रगुप्त का उत्तर देखिए कितना आत्मविश्वास और दृढ़ता से परिपूर्ण है:—

चन्द्रगुप्त—आर्य चाणक्य ? संसार में जितने प्रतापशाली राज्य हुए वे क्या सब महामंत्री चाणक्य की राजनीति के बल पर ही हुए हैं ? और जहां महामंत्री चाणक्य नहीं है, वहां किसी राज्य की स्थापना भी नहीं है ? क्या सारे राज्यों की शक्ति महामंत्री चाणक्य की शक्ति से ही भिक्षा मांग कर संसार में चली है और क्या चन्द्रगुप्त इतना हीन है कि उस शक्ति के बल पर ही विजय प्राप्त करता है ? तब जाने दो ऐसी शक्ति को । मैं आज ही उसे दूर करता हूँ । महामंत्री चाणक्य तुम महामंत्री पद से मुक्त किये गये ।"२

चाणक्य क्रुद्ध होकर अपना शस्त्र फेंक देता है । चन्द्रगुप्त उसे उठा लेता है और समस्त राजनीति अपने बाहुबल में केन्द्रित कर लेता है । वह समझता है कि चाणक्य उसकी उन्नति से ईर्ष्या करता है । यहां संभव था कि चाणक्य का चरित्र दब जाता और चन्द्रगुप्त उस पर हावी हो जाता किन्तु लेखक ने उसे एक नया मोड़ दिया है जिसमें चाणक्य का चरित्र भी दृढ़ और तर्कपूर्ण रहता है । यह प्रसंग मनोवैज्ञानिक सूझबूझ से परिपूर्ण है देखिए :—

चाणक्य—करो, इसी समय से करो वह महायज्ञ और उसमें तुम भी विनष्ट हो जाओ । आज कौमुदी महोत्सव करो और अपने नवीन समाहर्त्ता और राजनर्तकी के रूप में अपनी मृत्यु को निमंत्रण दो ।

चन्द्रगुप्त—मेरे आनन्दोत्सव से ईर्ष्या करने वाले चाणक्य । तुम यही कहो । ब्राह्मण को इन ऐश्वर्य से द्वेष होना स्वाभाविक है ।

चाणक्य—आत्म-चिन्तन में जो ऐश्वर्य है क्षत्रिय । वह इन तुच्छ भड़कीले वैभवों में नहीं है और वह वैभव जो अपने साथ

१. देखिए कौमुदी महोत्सव, पृ० ३१
२. कौमुदी महोत्सव पृष्ठ ३२।

मृत्यु लिये हुए है । शत्रु के गुप्तचरों और विष कन्याओं पर विश्वास करने वाला सम्राट् एक ही पद-क्षेप में मृत्यु का आलिंगन उसी भांति करता है, जैसे एक ही उछाल में पतिंगा दीपशिखा के भीतर जलती हुई मृत्यु में भस्म हो जाता है । तुम भी भस्म हो जाओ और अपने वैभव का जला हुआ काला धुंआ अपने पीछे छोड़ जाओ ।१

और एकांकी के अन्त की घटना चाणक्य को चन्द्रगुप्त की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाणित कर देती है लेकिन लेखक ने कल्पना और काव्य के स्पर्श से इस ऐतिहासिक सत्य में अपूर्व नाटकीयता की सृष्टि की है और एक अप्रत्याशित झटके के साथ एकांकी समाप्त हो जाता है :—

चाणक्य—पीछे हटो । पीछे हटो । चन्द्रगुप्त। अलका तुम्हारे पैरों में अपने दांत चुभाकर तुम्हें मृत्यु मुख में ढकेल देगी । यह इसका अंतिम प्रयोग है । नारी रूप में भयानक सर्पिणी विषकन्या । राजमंत्री राक्षस ने कौमुदी महोत्सव का प्रस्ताव वसुगुप्त से कराकर असावधान चन्द्रगुप्त को विषकन्या के प्रयोग से नष्ट करने की चाल सोची थी.....इस सत्य का उद्घाटन मैंने अपनी इच्छा से किया है। और इस उद्घाटन के अनन्तर में एक क्षण भी यहां नहीं ठहर सकूंगा । मेरा मार्ग छोड़ दो । हटो । तपोवन मेरी प्रतीक्षा कर रहा है । चन्द्रगुप्त अपने विश्वास पात्र समाहर्त्ता का अंतिम संस्कार और कौमुदी महोत्सव का आयोजन दोनों साथ-साथ करो और अपना राज्य सम्हालो ।२

इन शब्दों को सुनकर चन्द्रगुप्त को सत्य का बोध होता है। वह विह्वल हो, चाणक्य के महत्त्व का अनुभव करता है और उनकी तीक्ष्ण बुद्धि कूटनीति, अपने प्रति अनन्य स्नेह और अन्त तक निस्पृह सहयोग और सचाई से प्रभावित होता है । वह पूर्ण आदर और श्रद्धा के साथ यह कहता हुआ चाणक्य के पीछे भागता है :—

"आचार्य चाणक्य । महामंत्री चाणक्य । चन्द्रगुप्त को तुम्हारी आवश्यकता है ।

---

१. वही पृष्ठ ३३

२. देखिए कौमुदी महोत्सव पृष्ठ ४४

महामन्त्री चाणक्य के बिना यह राज्य नष्ट हो जायगा, चन्द्रगुप्त नष्ट हो जायेगा। कौमुदी महोत्सव नहीं होगा ....।१

चन्द्रगुप्त के हृदय की समस्त श्रद्धा, भावुकता और कृतज्ञता जैसे यकायक बह निकली है। वह रहस्योद्‌घाटन से चकित विस्मित रह जाता है। वह अपने गुरुदेव के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहता है। चन्द्रगुप्त को सम्राट् के सब उच्च गुणों से विभूषित करने के साथ साथ चाणक्य का चरित्र भी अपने पूरे उभार से चमक उठा है। उसकी सतर्कता, स्वाभिमान, दूरदर्शिता और गौरवमय गंभीरता का परिचय हमें पूरी तरह मिल जाता है। उसमें राज्य शासन के प्रति मोह नहीं, चन्द्रगुप्त की उन्नति देखकर ईर्ष्या नहीं, बल्कि गुरु का शिष्य के प्रति स्नेह और शुभचिन्तन है। साम, दाम, दण्ड, भेद किसी भी रीति से सिद्ध होनी चाहिए—यह उसकी नीति है अन्त तक वह चन्द्रगुप्त के प्रति सच्चा हितैषी रहता है। इस प्रकार डा० रामकुमार वर्मा ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों का कुशल मौलिक और इतिहास सम्मत चरित्र प्रस्तुत किया है। अपनी कल्पना में वैभवशाली होते हुए भी ऐतिहासिक वातावरण और सत्य के प्रतिकूल नहीं गये हैं। अतः अन्त में चन्द्रगुप्त को कहना ही पड़ता है कि "कौमुदी महोत्सव नहीं होगा।" किन्तु इसके पूर्व दोनों महापुरुषों के व्यक्तित्वों को अपनी महानता में उभरने का पूरा अवसर मिलता है। अंतिम घटना, जिसमें राजनर्त्तकी अलका और वसुगुप्त के वास्तविक व्यक्तित्व का उद्‌घाटन, होता है चाणक्य की वाक्‌शक्ति अन्तर्दृष्टि, नीति और तर्क की महानता के सिद्ध करने के लिये नियोजित की गई है। डा० रामकुमार वर्मा ने देश के महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त को अपने व्यक्तित्व के प्रकाशन के ये यथेष्ट बल और वाणी मिली है और भारतीय साहित्य और इतिहास का एक लांछन दूर हुआ है। "कौमुदी महोत्सव" में वर्मा जी ने बौद्धकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर देश की तत्कालीन अवस्था का चित्रण करके प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व दिखाया है।"२

चाणक्य

चाणक्य का चरित्र और चन्द्रगुप्त को बनाने में उसके कार्य को लेकर प्रो० वृहस्पति ने "चाणक्य" नामक रूपक लिखा है जो सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन

१. वही पृष्ठ ४५

२. देखिए क्षेमचन्द्र सुमन कृत "नीर-क्षीर" की भूमिका

काल की सर्वांगीण झांकी प्रस्तुत करता है। लेखक ने दिखाया है कि उस समय यूनानियों की गृद्ध दृष्टि भारत भूमि पर पड़ चुकी थी। विश्वविजयी सिकन्दर की सेवाएं अबाध गति से बढ़ती चली आ रही थीं। तक्षशिला का मूर्ख राजा यूनानियों की भेद नीति का ग्रास बन चुका था। ठीक उसी समय तक्षशिला विश्वविद्यालय के कुलपति महात्मा चाणक्य भविष्य की चिन्ता में निमग्न थे और पवित्र हिन्दु साम्राज्य की स्थापना करना है उनका लक्ष्य था। मगध का राजकुमार चन्द्रगुप्त उनका कृपा पात्र होता है। इसी प्रसंग को लेकर यह एकांकी प्रारंभ होता है।

चाणक्य के पथ प्रदर्शन में चन्द्रगुप्त का शासन प्रारंभ होता है। उधर पुरु की सेना से टकरा कर सिकन्दर के सैनिकों को आगे बढ़ने का साहस नहीं होता और वह वापस लौट जाता है। चाणक्य मगधराज नन्द को सन्मार्ग में लाने में सफल नहीं होते, परन्तु वे आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन के बल पर चन्द्रगुप्त को पंजाब का अधिपति बना देते हैं। एक छत्र हिन्दू साम्राज्य की स्थापना और भारतीय संस्कृति की रक्षा ही उनका ध्येय है। चाणक्य की कूटनीति मगध साम्राज्य की जड़ों को खोखला कर देती है। सिकन्दर के सेनापति सैल्यूकस की आशाएं नष्ट हो जाती हैं। वह बन्दी होता है, परन्तु उसके साथ पूर्णरूपेण भद्रता का व्यवहार किया जाता है।

इस रूपक में चाणक्य का चरित्र, उसकी कूटनीति, राज संगठन और शासन प्रबन्ध की शक्तियां दूरदर्शिता स्पष्ट की गई है। नयी विचारधारा यह है कि उस समय हिन्दु जाति में दूसरों को पचा लेने की शक्ति थी। चाणक्य के रूप में हमने ऐसा नेता पाया था, जो धर्म और नीति के समन्वय का तत्व भली भांति समझता था। इस प्रकार यूनान और भारत में एक नया सम्बन्ध स्थापित हुआ था।

श्री श्यामलाल कृत "चाणक्य-नन्द"[१] एकांकी में चाणक्य की नन्द को नाश करने की प्रतिज्ञा तथा उसमें सफलता चित्रित की गई है। चाणक्य राजपुत्र चन्द्रगुप्त की सहायता से एक बड़ी भारी सेना एकत्रित करता है, फिर महाराज नन्द पर आक्रमण करता है। नन्द बन्दी होकर चाणक्य के सामने लाया जाता है। इस एकांकी में चाणक्य की प्रतिज्ञापूर्ति और चरित्र की दृढ़ता स्पष्ट की गई है।

---

१. देखिए श्यामलाल कृत "ऐतिहासिक दृश्य" संग्रह

डा० रामकुमार वर्मा कृत "समुद्रगुप्त पराक्रमांक" नामक एकांकी ४२० विक्रम संवत् का भारतीय इतिहास प्रस्तुत करता है। इस एकांकी में सम्राट् समुद्रगुप्त की न्याय प्रियता, सूक्ष्म प्रतिभा, एवं कुशाग्र बुद्धि की झांकी प्रस्तुत की गई है।

महाराज के दो मूल्यवान रत्न खो जाते हैं। अपनी प्रखर बुद्धिमत्ता एवं गान विद्या के अद्भुत प्रयोगों द्वारा वे वास्तविक अपराधी को खोज निकालते हैं। महाराज की वीणा से झंकृत राग केदारा का स्वर सब को पवित्र कर देता है। हृदय के समस्त विकार शान्त हो जाते हैं और राजदूत धवल कीर्ति अपना दोष स्वीकार कर लेता है।

महाराज समुद्रगुप्त के चरित्र में दो तत्वों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। वे हैं उनकी बौद्धिक कुशाग्रता तथा संगीत कुशलता। महाराज ऐसी वीणा बजाते हैं कि अपराधी विह्वल हो उठता है और उसे अपने पाप पर आत्मग्लानि का अनुभव होता है। अन्त में दोषी धवल कीर्ति पश्चाताप की अग्नि में दग्ध होकर आत्म हत्या करता है। अपराधी को मृत्यु को मंगलमय बनाने के हेतु राजनर्तकी नृत्य करती है। महाराज समुद्रगुप्त की यह सूक्ष्मदर्शी बुद्धि ही इस एकांकी की मूल आदर्श है।

... वर्मा ने इतिहास का जो काल पृष्ठभूमि के रूप में लिया है, उसमें तत्कालीन परिस्थितियों का सजीव वातावरण उपस्थित किया है। स्वयं नाट्यकार अपने को पूर्ण निरपेक्ष नहीं रख सका है, वरन् वह समुद्रगुप्त के पीछे से स्वयं अपने नैतिक आदर्शवाद को प्रस्तुत कर रहा है। धवल कीर्ति मणिभद्र एवं रत्नप्रभा के चरित्र कल्पना प्रसूत होते हुए भी सजीव तथा स्वाभाविक है। ऐतिहासिक तथ्यों के साथ जीवन का उन्मेषकारी महत्त्व भी प्रकट हुआ है। भाषा प्राचीन गौरव के अनुसार संस्कृत गर्भित क्लिष्ट हिन्दी है।

यह दुखान्त जीवन की कल्याणमयी संवेदना की भूमिका है। समुद्रगुप्त न्याय का समर्थक है और उस न्याय की प्रतिष्ठा में वह मरण को भी एक पर्व मानाता है। समुद्रगुप्त के चरित्र में राजनैतिक अन्तर्दृष्टि के साथ ही साथ कलात्मकता अपनी चरम सीमा तक पहुंचती है। इसी लिये उसका दृष्टिकोण साधारण जन के दृष्टिकोण से भिन्न है। एकांकी की शैली गंभीर है तथा अन्त दुखान्त।

हिन्दी ऐतिहासिक एकांकियों में शौर्य, वीरता, स्वातन्त्र्य भावना और देश रक्षा के लिये बलिदान में ही मनुष्य का गौरव माना गया है। हमारा इतिहास कायरता को मनुष्य का सब से

(शेष पृष्ठ ४४ पर)

उपन्यासकार रजनी पनिकर

कृष्ण मधोक

बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध की शिक्षित नारी परम्परागत संस्कारों में बन्धी हुई है और साथ ही परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के कारण रूढ़ियों का विरोध भी करती है । रजनी पनिकर ने अधिकांशतः सैक्स मनोभावना के आधार पर स्त्री को उसके विभिन्न रूपों में खड़ा किया है । इनके उपन्यासों की स्त्रियां निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग तक सभी क्षेत्रों से आई हैं ताकि समग्र समाज में नारी चरित्र के एक पक्ष को उघाड़ा जा सके। प्रायः एक स्त्री उपन्यास की नायिका के रूप में अपनी कथा कहती है और समस्त घटनाओं के संचालन में वह सक्रिय रहती है जैसे 'पानी की दीवार' की नीना, 'जाड़े की धूप' की भारती, 'काली लड़की', की रानी । अन्यत्र भी, उपन्यासों के समस्त कार्य की सूत्रधार कोई एक स्त्री पात्र ही है यथा 'मोम के मोती' की माया । ये स्त्रियां थोड़े बहुत अन्तर के साथ समान चरित्र हैं, जैसे ये सब मध्यवर्गीय हैं । कहीं न कहीं सर्विस भी करती हैं और प्रायः ही सुन्दर नहीं हैं । वे अनेक जीवन-क्षेत्रों के पुरुषों के सम्पर्क में आती हैं, उनके साथ क्लबों होटलों में जाती हैं, बाल रूम नृत्य भी करती हैं उन के साथ कश्मीर, मसूरी, नैनीताल, शिमला आदि पहाड़ों पर अकेले घूम फिर भी आती हैं किन्तु इससे आगे उन्हें बढ़ते नहीं दिखाया गया है । उन के चरित्र की लोक चर्चा हुआ करती है जिसकी वे परवाह नहीं करतीं किन्तु वे स्वाभिमानी हैं जो आवश्यकतानुसार माया की तरह पुरुष (मेजर कबाड) को चप्पल दिखा सकती हैं।[1] या उसके (मधुकर के) मुंह पर थप्पड़ भी जड़ सकती है ।[2] ये स्त्रियां स्वभाव से सहृदय हैं जो प्रायः ही निर्धन भिखारियों या मज़दूर वर्ग

१. मोम के मोती पृ० १५३ ।

२. वही पृ० ११६ ।

की असहायावस्था पर पसीज जाती हैं और उन के लिये अपने जीवन सर्वस्व लगा देने का संकल्प करती हैं। लेकिन वे कोरी भावुक नहीं हैं, संसार पटु है जो अपने सम्पर्क में आने वाले अनेक पुरुषों में से अपने लिये एक उपयुक्त कर निश्चित कर लेना नहीं भूलती अतः रजनी पनिकर के सभी उपन्यासों के अन्त में सुखद दम्पतियां बन जाती हैं जैसे 'ठोकर' में जूही-अटल, 'पानी की दीवार' में नीना-राज, 'मोम के मोती' में माया-राजन, 'प्यासे बादल', में रोज शील-बलराज, 'जाड़े की धूप' में भारती-पवन और 'काली लड़की' में रानी-कमल की।[१]

उक्त वर्ग की स्त्रियों में से 'जाड़े की धूप' की भारती का चरित्र विलक्षण है। वह डाक्टर पवन की पत्नी है और अजय नामक एक अन्य पुरुष से प्रेम करती है। वह चाहती है कि पवन उसके साथ दुर्व्यवहार करे, क्योंकि उसके लिये यही अधिक सुविधा जनक है।[१] किन्तु पवन एक बार भी उसे नहीं कहता कि 'तुम अजय को चाहती हो तो वहीं चली जाओ'[२] पवन के चरित्र में कोई अखरने वाला दोष नहीं है। भारती की अजय की ओर प्रवृत्ति होने का कारण, केवल मात्र उसका पवन से अधिक आकर्षक होना है। भारती, हवाई अड्डे पर बुकिंग क्लर्क है, सुशिक्षित है, सिद्धान्त रूप में माता सीता के आदर्श को मानती है[३] और घर की चार दीवारी लांघ कर किसी और की होने के साहस की भी उसमें कमी है[४]। तथापि परपुरुष अजय को आत्म-समर्पण करने के लिये वह आकुल है। उपन्यास की कथा क्योंकि स्वयं भारती ने कही है इसलिये बीच-बीच में वह अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन भी करती रहती है। लकिन इसके बावजूद भी नायिका वर्ग की अन्य नारियों के समान वह हमारी सहानुभूति से सर्वदा वंचित रहती है। जहां उसके वर्ग की अन्य स्त्रियां यथा माया और रानी, अपने अडिग व्यक्तित्व के कारण पुरुष को ही आत्म-समर्पण करने को बाध्य करती हैं, भारती अपनी सन्तान और पति के प्रति उत्तर दायित्व से विमुख होकर केवल वासना वश एक पर पुरुष के आगे सर्मापित होने का असफल प्रयास करती है। अन्त में जब वह उदास और क्लान्त अपनी भूल पर

१. जाड़े की धूप पृ० ५३।
२. वही पृष्ठ ६०
३. जाड़े की धूप पृ० १४
४. वही पृ० ६०

अल्प पश्चाताप करती हुई हमारे सामने आती है तो भी ऐसा वातावरण नहीं बन सका है कि दाम्पत्य जीवन में साहचर्य के महत्त्व का भाव प्रेषित हो सका हो।

उपन्यास नायिकाओं के साथ साथ इन उपन्यासों में ऐसी स्त्रियों का चित्रण अथवा उल्लेख भी आया है जो पुरुष से अपने नारी होने का मूल्य प्राप्त करने के यत्न में लगी रहती है जैसे 'ठोकर' की मृणाल, 'प्यासे बादल' की कान्ता, 'मोम के मोती' की चम्पा, 'जाड़े की धूप' की सुनयना या 'काली लड़की' की सुन्दरी शर्मा, प्रेमा, सुनन्दा आदि। एक आलोचक नें 'पानी की दीवार' की करुणा और मोम के मोती की अनीता को इस प्रकार के चरित्र की स्त्रियां ही बताया है। किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि न तो किसी लालच वश करुणा, केशव को फंसाने की चालाकी करती है और न अनीता मेजर कबाड को। करुणा का पति (दलीप) उससे ऊब गया है क्योंकि करुणा समझती है "दाल रोटी को छोड़ कर उसकी (दलीप की) आवश्यकता और कुछ है नहीं।" जिससे उस (करुणा) के संग जीवन उसे नीरस लगता है। इसके विपरीत करुणा एक सुखद दाम्पत्य जीवन की कामना करती है। वह हर प्रकार अपने पति को प्रसन्न रखना चाहती है, भले ही वह नीना से प्रेम करके खुश रह सके। वह बेचारी तो एक मज़दूर दम्पति से भी ईर्ष्या करती है जिसे वह दिन भर की कड़ी मेहनत के बाद मिल बैठ कर रूखी सूखी खाते देखती है।[1] भाई केशव के मुख से उसके सम्बन्ध में कोई अपशब्द सुनना उसे असह्य है। और सत्य प्रमाणों के आधार पर उसको मुंह बन्द करने की चिन्ता में रहती है।[2] अतः करुणा को 'काली लड़की' की सुन्दरी शर्मा या सुनन्दा की श्रेणी में रखना, उसके प्रति अन्याय होगा। यही बात अनीता (मोम के मोती) के सम्बन्ध में कही जायेगी। वह एक लखपति की लड़की है—अतीव सुन्दरी जो मेजर कबाड के सम्पर्क में आकर गर्भ धारण कर लेती है। कबाड अनीता को अपनाना नहीं चाहता और अनीता को अवैध बालक की माता बनना स्वीकार नहीं अतः कबाड को वह भागने नहीं देती। अनीता का रूप रंग, उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति कबाड से कहीं अच्छी है। कबाड के साथ उसके सम्बन्ध किसी भौतिक लालच के कारण नहीं बल्कि उसको अनुभव हीनता के कारण

---

१. पानी की दीवार ६२

२. वही पृ० १४७

है। वह पुरुष को फंसाती नहीं बल्कि स्वयं फंसती है।

स्त्री जिस किसी अवस्था में भी पुरुष के साथ सैक्स सम्बन्ध रख सकती है, रजनी पनिकर ने येन केन उसके वर्णन के लिये अपने उपन्यासों में अवसर खोज ही लिये हैं। कुछ, सम्पन्न परिवारों की स्त्रियां हैं जो होटलों क्लबों के उष्ण वातावरण से प्रेरित होकर अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिये पुरुषों से सम्बन्ध बनाती हैं जैसे 'काली लड़की' की सुनन्दा, कुछ घर के घुटे-घुटे वातावरण से ऊब कर कनाट प्लेस के किसी रेस्तरां में चाय पीने के लिये अपने ड्राइवर से प्रेम करती है जैसे 'जाड़े की धूप' में सेठ की लड़की[१] कुछ ऐसी है जो केवल मात्र हीरे के टॉप्स और मोटर की सैर की कीमत पर किसी भी पुरुष के संग जाने को तैयार है जैसे 'जाड़े की धूप' की सुनयना[२] कुछ ऐसी है जो पति प्रेम से वंचित होने के कारण अन्य पुरुषों से सम्बन्ध बना लेती है, जैसे 'काली लड़की' की कावेरी, 'जाड़े की धूप' की मालती और अमला कुछ स्त्रियां ऐसी भी हैं जो अपने पिता द्वारा धन के लालच से अधेड़ व्यक्तियों के सुपुर्द कर दी जाती हैं,[३] और कुछ अपनी माता की अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति के लिये जैसे 'काली लड़की' की मिसेज हकूमत सिंह करती है।[४] सारांश कि नारी चरित्र के जितने रूपों का चित्रण रजनी पनिकर ने अपने उपन्यासों में किया है, उतनी विविधता शायद ही किसी अन्य उपन्यासकार के उपन्यासों में मिलेगी।

रजनी पनिकर द्वारा पेश किये गये दम्पतियों में परस्पर अधिकांशतः सन्तोष जनक सम्बन्ध नहीं हैं। एकाध अपवाद के साथ उन सब के मूल में एक ही कारण है पुरुष का रस लोलुप होना। 'पानी की दीवार' का दलीप चौधरी अपनी पत्नी करुणा के संग नवीनता नहीं पाता तो उससे विमुख होकर नीना की ओर आकृष्ट होता है। 'मोम के मोती' का सुधाकर कला के प्रेम से ऊब गया तो एक महतरानी को ले भागता है। 'काली लड़की' का कमल अपनी पत्नी कावेरी का तिरस्कार करके सुन्दरी शर्मा और प्रेमा आदि आवारा लड़कियों के पीछे भागता है। मालती और उसकी ननद अमला भी पति प्रेम से वंचित हैं। अर्थात् सभी उपन्यासों में इस प्रकार के

---

१. जाड़े की धूप पृ० ७६
२. जाड़े की धूप पृ० ७२
३. जाड़े की धूप पृ० ५८
४. काली लड़की पृ० १२०

जोड़ों की भरमार है किन्तु ये सभी स्त्री पुरुष अपने लिये कोई मित्र खोज लने में समर्थ भी हैं। परिणामत: कोई स्त्री अथवा पुरुष पात्र ऐसा नहीं है जो अपने लिये उपयुक्त साथी की तलाश कर नहीं लता।

करुणा, विन्दिया, मालती, अमला, कावेरी आदि सभी स्त्रियां, पति प्रेम से वंचित होकर तत्काल ही अपने लिये अन्य पुरुष साथी पा लेती हैं। यहां तक कि काली लड़की की दादी मां गौरी भी अपनी ढलती अवस्था में एक धनाढ्य विधुर प्राप्त कर सकी है। किन्तु क्या बुरा था यदि उसके पति महोदय के लिये भी कहीं से कोई विधवा आदि खोज दी होती उस बेचारे का बुढ़ापा भी सरस हो जाता !

जिस प्रकार इनके उपन्यासों में समान गुण स्वभाव की स्त्रियां हैं, उसी प्रकार पुरुष पात्रों के स्वभाव भी मिलते जुलते हैं। प्राय: सभी उपन्यासों में एक न एक कवि या कलाकार पुरुष मिलेगा। जो व्यवहार से न्योरोटिक है। 'मोम के मोती' का मधुकर, 'पानी की दीवार' का दलीप, 'जाड़े की धूप' का अजय इसी श्रेणी के पात्र हैं। ये व्यक्ति अपने आस पास के वातावरण से असन्तुष्ट हैं। वे नहीं पसन्द करते कि जिस स्त्री को वे प्यार करें, उसे किसी अन्य पुरुष से बात करने का भी अधिकार हो।[1] वे स्त्री पर सम्पूर्ण स्वामित्व रखना चाहते हैं।

दलीप चौधरी अपनी निरापराध पत्नी करुणा का घोर तिरस्कार करता है और नीना के प्यार की कामना करता है। नीना द्वारा अपना बनाया हुआ एक चित्र श्री भाटिया को दिये जाने अथवा केशव के साथ नत्य करने या सूरी साहब द्वारा उसे एक पेपरव्हेट भेंट करने की घटना पर वह कितना उदास हो जाता है ! इस वर्ग के पुरुष, स्त्री के सम्बन्ध में सामन्त युगीन भावनायें रखते हैं। परम्परा के प्रति उनकी घोर आस्था है। उनका बाहरी रहन सहन जितना आधुनिक है भीतर से वे उतने ही पुराने हैं।[2] 'मोम के मोती' के मधुकर के विचारों में "स्त्री पुरुष का सम्बन्ध केवल एक है और सदैव वह यही समझता है कि इसके अतिरिक्त कोई और सम्बन्ध नहीं हो सकता है।.........पुरुष पुरुष में बौद्धिक समझौता हो सकता है, नारी और पुरुष में मन का और शरीर का सौदा होता है।"[3] मधुकर, माया को प्राप्त करने में असफल रहता है

१. जाड़े की धूप, पृ० ६०-६१
२. जाड़े की धूप, पृ० ४५
३. मोम के मोती, पृ० ११३

तो उसे अन्य पुरुष के साथ सोने के कारण 'वेश्या'[1] कह देता है। दलीप स्वयं पति और पिता है लेकिन क्योंकि नीना उसके और निकट आने में असमर्थ है तो वह उसे 'स्वार्थी और नीच' की संज्ञा देता है।[2] किन्तु नारी को पुरुष की अपेक्षा अधिक सहिष्णु दिखाया गया है। वह यह सोच कर खिन्न हो लेती है 'क्या कभी परम्परा से चला आता पुरुष का स्वामित्व समाप्त हो जायेगा ?'[3]

रजनी पनिकर के उपन्यास आकार मे छोटे हैं। कुछ उपन्यास सुनियोजित हैं जैसे 'पानी की दीवार' या 'प्यासे बादल' कुछ का ढांचा एक दम बिखरा बिखरा है जसे, 'मोम के मोती' या 'काली लड़की' का। 'पानी की दीवार' की कालावधि तो केवल दो मास की है और पात्र भी कुल चार पांच हैं। इसके विपरीत मोम के मोती को लीजिए, जिसमें न घटनाओं का तारतम्य है और न पात्रों की संख्या की सीमा।

कथा में रोचकता का अभाव इनके किसी उपन्यास में नहीं हैं। हां कल्पनायें अवश्य कहीं कहीं अप्रत्याशित हैं जैसे 'काली लड़की' में सुन्दरी शर्मा और प्राण टण्डन या धीरेन्द्र अथवा कावरी और उसकी मां गौरी का बिना किसी प्रकार की असुविधा के सन् १९५४ की परिस्थितियों में योरुप के देशों में जाना इतना सुगम दिखाया गया है जैसे वे योरुप नहीं अपने ही देश में एक नगर से दूसरे नगर में जा रहे हों। फिर कावेरी की मां गौरी का भी अपने लिये योरुप में कहीं एक धनाढ्य विधुर को पा लेना, भले ही असम्भव न हो किन्तु असामान्य अवश्य है। प्रतीत यही होता है मानों लेखिका को स्त्री के सम्बन्ध में केवल यह भाव प्रेषित करना ही अपेक्षित है कि 'एक बार जब नारी की वासनायें भड़क जाती हैं तो वह किसी भी पुरुष के साथ जाने में हिचकिचाती नहीं।'[4]

कथा मे संयोग तत्त्व का महत्त्व कौतुहल की मात्रा को बढ़ाने के लिये होता है किन्तु संयोग तत्त्व अस्वाभाविक हो जाए तो वस्तु को क्षति पहुंचेगी ही। 'पानी की दीवार' में दलीप चौधरी के घटना-स्थल से हटते ही राज का अचानक योरुप से आना और उसी स्थल पर प्रकट होना, संयोग की बात सही तथा जिस कालेज के प्रिंसिपल पद से दलीप त्याग पत्र देता है उसी कालेज में राज का प्रिंसिपल होकर आना भी संयोग की वात मानी जा सकती है किन्तु एक

१. वही पृ० ११६
२. पानी की दीवार, पृ० १३३
३. मोम के मोती, पृ० ११४
४. वही पृ० १५७

जिम्मेदार उच्चाधिकारी (दलीप) का अपने उत्तराधिकारी (राज) को कार्य-भार सौंपे बिना पद-मुक्त होने दिया जाना अस्वाभाविक है। लगता है दलीप और राज को एक साथ नीना के समक्ष घटना स्थल पर ला कर खड़ा करने की अपेक्षा, लेखिका के लिये कथा को उसके वर्तमान रूप में रखना ही अधिक सुविधा जनक था।

रजनी ने अपने पात्रों की केवल बाह्य गतिविधियां कही नहीं बल्कि घटनाओं के आघात प्रतिघात के कारण उनकी मानसिक प्रतिक्रिया का चित्रण भी प्रायः ही किया है। इस दृष्टि से 'पानी की दीवार' सफल है। नीना अपने बाल सखा राज के स्वभाव और चरित्र की समानता दलीप में देखती है और उसकी ओर आकृष्ट होती है। फलतः उसके हाव भावों में प्रायः ही उसे राज नज़र आने लगता है और फिर नीना अनेक पूर्व दीप्तियों में राज को स्मरण करके अपनी प्राणवत्ता स्थिर रखती है।

रजनी पनिकर का कथन है कि वह यद्यपि किसी विशेष उद्देश्य या सिद्धान्त को लेकर नहीं चली है' और न उन्होंने समाज सुधार करना ही कभी लक्ष्य बनाया है तथापि इनके सभी उपन्यासों में भारतीय मर्यादाओं के प्रति आस्था है। तथा अप्रत्यक्षतः दाम्पत्य जीवन में साहचर्य भाव के महत्त्व को बलपूर्वक व्यक्त किया गया है परन्तु नारी के प्रति सामन्त युगीन परम्पराओं के मान दण्ड उन्हें मान्य नहीं। वे नहीं चाहती कि स्त्री सती साधवी नारी की तरह केवल पति की गुलामी कर के दिन व्यतीत करे। पहले जो कुछ पुरुष कह देता वेद वाक्य मान कर नारी ग्रहण कर लेती।

आज ऐसी बात नहीं, वह (यह) सहन नहीं कर सकती। उसकी शिक्षा उसे कहां (यह) सहन करने देगी?[१] किन्तु साथ ही वे महसूस करती हैं कि "शहरों में बहुत सी नारियां पुरुषों के सम्पर्क में आ गयी हैं। जीवन पाश्चात्य देशों की नकल में केवल बाह्य दिखावा मात्र रह गया है।"[२] और "इस प्रकार के जीवन की शोभा और आब मोम के मोतियों की तरह है जो देखने में अतीव सुन्दर लगते हैं।"[३]

● ● ●

---

१. जाड़े की धूप पृ० ५५

२. वही पृ० ६२

३. मोम के मोती पृ० १६१

पंजाबी-नाटक: प्रवृत्तियां और शिल्प-विधि

डॉ० शान्ति मलिक

पंजाबी पंजाब प्रदेश की भाषा है। कभी इस प्रदेश में काबुल और पेशावर से दिल्ली तक तथा कांगड़ा एवं सियालकोट से मुलतान और हड़प्पा तथा कच्छ तक का सम्पूर्ण प्रदेश समाविष्ट था। सिन्ध तथा पंचनद (जेहलम, चिनाब, रावी, ब्यास तथा सतलुज) भाषा एवं संस्कृति की दृष्टि से इस प्रदेश की प्राकृतिक सीमाएं थीं,[1] किन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के अनन्तर भारत के पास केवल पूर्वी पंजाब ही रह गया है। आज पंजाबी को इसी प्रदेश की भाषा के रूप में स्वीकृत किया गया है। भारतवर्ष के भाषा समुदाय में पंजाबी-नाटक और रंगमंच सब से कम आयु का है। पंजाबी साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा यह साहित्यिक अंग सर्वाधिक उपेक्षित रहा है। सच कहा जाये तो विगत चार-पांच दशकों से पूर्व नाट्यतत्वों से पूर्ण कोई नाटक लिखा ही नहीं गया। इसका मुख्य कारण है कि पंजाब सीमावर्ती क्षेत्र है, यहां की जनता सदैव आक्रमणकारियों के अत्याचार से पीड़ित रही है एवं युद्धों की विभीषिकाओं और अपने अस्तित्व की रक्षा में ही लगी रही है। इस प्रकार के संघर्षरत लोगों को नाटक खेलने, खिलाने और देखने का अवकाश कम ही मिलता है। इन साहित्यिक नाटकों के अभाव में यहां की जनता लोकनाट्यों द्वारा अपनी मानसिक शून्यता को भरती चली आई है। पंजाब के लोक नाट्य-रामलीला, रासलीला, स्वांग, नकल और नौटंकी आदि-कई रूपों में चले आ रहे हैं। जनता द्वारा पोषित इस प्राचीन परम्परा में पंजाब के बहादुर सूरमाओं, धार्मिक व्यक्तियों, देवी-देवताओं तथा सच्चे प्रेमियों की प्रेम गाथाएं प्रदर्शित की जाती रही हैं। इनकी

१. डॉ० नगेन्द्र सम्पादित 'भारतीय वाङ्मय', पृ० ४४७ वि० २०१५

सामान्य विशेषताएं--खुला मंच, साधारण रूप-योजना, दृश्य-परिवर्तन तथा विशेष सैटिंग का अभाव, स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध तथा गीतिमय वातावरण आदि रही हैं, जो अन्य लोकनाट्यों के सदृश हैं।

पंजाबी विद्वान् गुरु गोविन्द सिह के 'बचित्र' नाटक को पंजाबी का प्रथम नाटक मानते हैं।१ इसके बाद सन्त गुलाब सिह का नामोल्लेख किया जाता है, जिन्होंने संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्र' नाटक का सन् १८४६ में अनुवाद किया। पंजाबी नाटक के विकास में मुख्यतः तीन प्रेरणास्रोत दिखाई पड़ते हैं-- १. संस्कृत नाटकों का अनुभाव और उनका प्रभाव, २. अंग्रेजी नाटकों का अनुभाव और उनका प्रभाव, ३. महाकाव्य, किस्से तथा मिथ्या ऐतिहासिक कथाओं को नाटकीय रूप देने की रुचि।२ इसी आधार पर प्रो० फुल्ल ने पंजाबी नाटक के विकासक्रम को तीन युगों में बांटा है :--

पहला युग १९१०-१९३९ तक
दूसरा युग १९४०-१९४७ तक
तीसरा युग १९४७ के बाद से अब तक।

प्रथम युग के प्रसिद्ध नाटककारों में प्रो० ईश्वर चन्द्र नन्दा का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। कई समालोचक उन्हें पंजाबी नाटक का वास्तविक जनक मानते हैं।३ इनके तीन नाटक हैं--'सुभद्रा', 'वर-घर' – (इसका दूसरा नाम--'लिल्ली दा विआह' है) तथा 'सोशल-सर्कल'। इन तीन रचनाओं की टेकनीक एक दूसरे से भिन्न है। 'सुभद्रा' की नायिका सुभद्रा अपढ़ होने के कारण दुखी है तो 'वर-घर' की लिल्ली पढ़-लिख कर दुःखी है। इन महत्त्वपूर्ण समस्याओं को नाटककार ने सफलतापूर्वक दर्शाया अवश्य है, किन्तु इनके समाधान नहीं सुझाए। 'सुभद्रा' कृति का कथानक बड़ा विस्तृत है,

---

१. प्रो० गुरदियाल सिंह फुल्ल तथा कुलदीप सिंह सेठी : 'नाटक सिद्धान्त ते पंजाबी नाटककार' पृष्ठ ९८ सन् १९५७

२. प्रो० गुरदियाल सिंह फुल्ल तथा कुलदीप सिंह सेठी: 'नाटक सिद्धान्त ते पंजाबी नाटककार' पृष्ठ ९९।

३. (क) डा० नगेन्द्र आदि सम्पादित: सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, (श्री कर्तार सिंह दुग्गल : पंजाबी—नाटक) पृ० ५४० प्रथम संस्करण

(ख) नया-पथ पत्रिका : नाटक विशेषांक (श्री बलवन्त गार्गी : पंजाबी रंगमंच) पृष्ठ ५३८, जून १९५६

इसका आरम्भ शेक्सपियर के रोमांचक सुखान्त नाटकों के समान होता है। नाटक के आधारभूत तत्त्व वातवरण तथा वार्तालाप हैं। इसमें तीन अंक और पांच दृश्य हैं। इस विभाजन पद्धति पर शेक्सपियर तथा आधुनिक नाटककारों के नाट्यशिल्प का मंजुल संयोग देखा जा सकता है। मुख्य पात्री सुभद्रा का दुःख गीतों द्वारा प्रकट हुआ है। 'वर-घर' की कथावस्तु इकहरी है। 'सुभद्रा' के समान इसमें भी व्यर्थ के दृश्यों का प्रायः अभाव ही है। यद्यपि कथानक साधारण गति से चलकर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है तथापि प्रत्येक अंक में निहित प्रासंगिक बातों के समावेश से जहां विस्तार बढ़ गया है, वहां नाटक की गति शिथिल व धीमी भी पड़ जाती है। ऐसे स्थानों पर कार्यव्यापर की कमी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। 'सोशल-सर्कल' में दृश्यविहीन तीन अंक हैं। इसका कथानक भी अधिक विस्तृत नहीं है, किन्तु पात्रों की संख्या अधिक है। इसका आरम्भ पहले दोनों नाटकों की अपेक्षा कहीं सुन्दर है। नाटक की कथा भी स्वयं खुलती जाती है, किन्तु कहीं-कहीं नाटककार की पुरानी प्रवृत्ति-प्रासंगिक वार्ता घुसेड़ने की प्रवृत्ति झलकने लगती है, जिससे अनावश्यक विस्तृति आने के साथ-साथ नाटक की गत्यात्मकता और द्वन्द्व में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

नन्दा सुधारवादी सुखान्त नाटककार हैं। इसलिये इनके पात्र बहिर्मुखी हैं और वे किसी न किसी वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं। उनमें अपना व्यक्तित्व और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन नहीं होता। इनके पात्र बहुत बातें करते हैं और जब ये एक-एक बात को चबा-चबा कर पीस-पीस कर करते हैं, तभी नाटक की गति में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। पुनः उनके अधिकांश वार्तालाप नाटक के क्रम से बहुत दूर का सम्बन्ध रखते हैं। पात्रों की बातचीत उनके अनुकूल है। ग्रामीण पात्रों की भाषा में ग्रामीण शब्द और योगियों के वार्तालाप में उनके अपने विशेष शब्दों का प्रयोग होता है। नागरिक पात्रों की भाषा में अंग्रेज़ी, उर्दू और फ़ारसी के शब्दों का सम्मिश्रण है। इनकी भाषा-शैली प्रांजल है, इसमें तीखे व्यंग्य और विनोद के तत्त्व मिलते हैं। पात्रों की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार उनकी भावाभिव्यक्ति सशक्त बन पड़ी है। एक गस्सैल पात्र की क्रोधाभिभूत स्थिति में उसके शब्द देखिए :—

'फिट्टे मुँह तेरा, फिट्टे मुँह, तेरा लक्ख ते करोड़ वारी फिट्टे मुँह' इसी प्रकार झगड़ालू व्यक्तियों, लालची, साहूकारों,

भ्रष्टाचारी साधुओं, ठेकेदारों और व्यापारियों के संवाद काफी स्वाभाविक बन पड़े हैं। उनमें उनका जीवन एवं स्वभाव हूबहू जीवन्त व प्रतिबिम्बित हो उठे हैं।

नन्दा जी ने मुहावरों का प्रयोग अत्यधिक किया है। कहीं-कहीं तो बात-बात पर मुहावरे जड़े गए हैं। इनकी रचनाओं में व्यंग्य और हास्य की निष्पत्ति घटनाओं से, थोड़े-बहुत शाब्दिक हेर फेर द्वारा, स्वाभाविक व अस्वाभाविक बात का मेल बिठा कर, युक्ति-प्रयुक्ति तथा हसोड़ पात्रों की सृष्टि द्वारा की गई है। देशकाल निर्माण में नन्दा जी सफल रहे हैं। वस्तुतः ग्रामीण वातावरण सृजन में तो वह अत्यन्त पटु सिद्ध हुए हैं। ग्राम्य जीवन को चित्रित करने के निमित्त उन्होंने बोली के चटखारे और अतिशयोक्ति व अतिकथनी से काम लिया है। नाटकों में लेखक का उद्देश्य समाज सुधार और प्रगतिशीलता रहा है। नन्दा जी को रंग मंच और अभिनय का काफी ज्ञान है, फलतः आपके सभी नाटक अभिनेय हैं। सामालोचकगण इन्हे पंजाबी रंग मंच का जन्मदाता मानते हैं।[1] इनकी रंगमंचीय टेकनीक सरल है, इनमें उद्देश्यों की भरमार नहीं है। नाटकों में अभिनय गुण पर विशेष ध्यान देने के कारण इनमें पग-पग पर हास्य और स्वांग आदि के मनोरंजनात्मक तत्वों का समावेश किया गया है। सारांश में कहा जा सकता है कि नन्दा जी पंजाबी के सचेत नाटककार हैं, इन्होंने समाज-सुधारवादी सुखान्त नाटकों की परम्परा को प्रशस्त करने में अत्यधिक योग प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त नन्दा जी अंग्रेज़ी नाटकों को पंजाबी में अनुवाद करने की परम्परा के जनक हैं। इनका 'सामूशाह' शेक्सपियर के मर्चेन्ट आफ वेनिस के आधार पर रचित है। नाटककार ने वातावरण का एकदम पंजाबी-करण कर दिया है। पात्रों के पंजाबी नाम मूल नाटक के साथ मिलते जुलते हैं, शेष सारी नाटकीय प्रक्रिया इस ढंग से हुई है कि किसी को इस कृति के अनूदित होने का सन्देह ही नहीं होता।

नन्दा जी के अतिरिक्त इस युग के मौलिक नाटककारों में उल्लेख्य हैं:— बाबा बुद्धसिंह, ज्ञानी गुरबख्शसिंह, ब्रजलाल शास्त्री, कृपासागर, तथा भाई

---

१. (क) प्रो० गुरदियाल सिंह फुल्ल और कुलदीप सेठी: नाटक सिद्धान्त ते पंजाबी नाटककार पृष्ठ १४९।

(ख) नया-पथ, पृष्ठ ५३९।

भाई वीर सिंह। बाबा बुद्धसिंह लिखित नाटक हैं—'मुंद्रीछल' (१९२७) 'नार-नवेली' (१९२८) 'चन्दरहरी' तथा 'दामिनी', इनमें प्रसिद्धि प्राप्त प्रथम दो कृतियां हैं। उक्त रचनाओं के विषय सुधारवादी हैं। इनमें नाटककार कथावस्तु के प्रस्तुतिकरण एवं अपने आशय को प्रकट करने में प्रायः सफल रहा है। 'मुंद्रीछल' में बाईस दृश्य हैं, जबकि 'नार-नवेली' में तीन दृश्य। प्रथम रचना में दृश्यों की भरमार सिनेमा नाटकों की भांति है, यही कारण है कि इसमें दृश्यपरिवर्तन बहुत अधिक होता है। समय और स्थान की एकता नहीं रही है। इसमें गीतों की भी भरमार है। 'नार नवेली' में भारत की पवित्र शील सम्पन्न और सहनशील प्रवृत्ति वाली पतिव्रता नारी की महानता प्रदर्शित की गई है। सर्वप्रिय गद्य-लेखक ज्ञानी गुरवख्श सिंह कृत एक ही रचना प्राप्य है—'राजकुमारी लतिका। प्रस्तुत नाटक रोमांचित दुःखांत है। इसमें कार्यव्यापार न्यून एवं वस्तुविन्यास शिथिल है। इन दोषों ने इसे अभिनय की अपेक्षा पठन रूप में अधिक सफल बना दिया है।१ ब्रजलाल शास्त्री विरचित चार नाटक हैं—'पूरन', 'उदैन', 'सावित्री' और 'सुकन्या'। प्रथम दो रचनाएं पद्य-नाटक हैं और अन्तिम दो रचनाएं रोमांचक गद्य-नाटक हैं। सभी नाटक साधारण हैं। पद्य-नाटकों का पद्य सामान्य है, पुनः नाटकीय घटनाओं में उभार व निखार नहीं आता। गद्य-नाटकों में यथार्थवाद की अपेक्षा अपार्थिव या अलौकिक तत्त्वों का प्राधान्य है। यही कारण है कि ये रचनाएं अभिनेय न होकर पाठ्य बन कर रह गई हैं। नाटककार ने इनमें पात्र-निर्माण की अपेक्षा वातावरण निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया है। संवादों में संस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है। कृपासागर का 'रणजीत सिंह' अठाईस दृश्यों का नाटक है। इसके प्रारम्भ में संस्कृत नाटकों की भांति ईश-स्तुति और सूत्रधार का प्रयोग हुआ है। इसमें अतिप्राकृत तत्त्वों का प्राचुय है, गीत और स्वगत कथन पर्याप्त मात्रा में है। भाई वीर सिंह रचित कृति राजा 'लखदातासिंह' है, इसमें बीसवीं शती के सिख सरदारों की त्रूटियों पर प्रकाश डाला गया है। इसका नाटकीय ढाँचा शिथिल एवं त्रुटिपूर्ण है। इसमें लम्बी कविताएं, गुरुवाणी के शब्द और नकलियों जैसा शाब्दिक हास्य है। कई स्थलों पर पारसी कम्पनियों के रंगमंच के समान वार्तालाप में अन्त की

१. प्रो० गुरचरण सिंह : पंजाबी नाटककार, पृष्ठ ४५१ सन् १९५१।

क्रियाओं का तुक मिलता है। नाटककार का उद्देश्य सिख सिद्धान्तों का प्रचार करना है, जिसकी अभिव्यक्ति प्रायः सर्वत्र होती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इस युग के अन्य नाटककारों की रचनाएं नाट्यतन्त्र एवं कलागत परिष्कृति की दृष्टि से सफल नहीं हैं। इनमें नाटकीय सौष्ठव का प्रायः अभाव ही है। बेमेल घटनाएं, जल्दी-जल्दी परिवर्तित होने वाले दृश्य एवं असम्बद्ध क्रिया व्यापार —ये तीनों दोष विषय-वस्तु को असन्तुलित बना देते हैं। बात-बात पर दृश्य परिवर्तन होना इस बात का सूचक है कि नाटककार नाटकीय नियमों से अपरिचित थे[1]। पुनः इनमें कथानकों का विस्तार अधिक हैं, इनकी गति कथा जैसी है, जिससे कथानक की स्वाभाविक एवं नाटकोचित गति का प्रायः लोप हो गया है। 'रणजीतसिंह' इसका स्पष्ट उदाहरण है। कथानक के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण भी नाटकीय आधार पर नहीं हैं। पात्र टाईप से लगते हैं, उनमें कहीं भी चारित्रिक उभार नहीं आ पाया है। संवादों में भी स्वाभाविकता का अभाव है। वास्तव में नन्दा जी के अतिरिक्त इस युग के अधिकांश नाटक संवाद की शैली में लिखे गए हैं। इनमें गीत भरे पड़े हैं। हास्य जान बूझकर ठोसा गया लगता है। पुनः इन रचनाओं में नाटककारों का मन्तव्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना मात्र रहा है। इन दूषणों के कारण इनकी अभिनेयता का गुण जाता रहा है और ये पाठ्य ग्रन्थ बन कर रह गये हैं। इतना होते हुए भी इन रचनाओं के ऐतिहासिक महत्त्व को झुठलाया नहीं जा सकता। प्रथम युग में रचे गये उपर्युक्त ग्रन्थ पजाबी नाट्यतन्त्र का प्रारम्भिक रूप दर्शाते हैं। शैली व टैकनीक की दृष्टि से इन रचनाओं पर शेक्सपियर का बाह्य प्रभाव अधिक रहा। यही कारण है कि इनमें पंजाबीपन, यथार्थता एवं स्वाभाविकता का पुट बहुलांश में है। इस युग में ऐतिहासिक दुःखान्त, सुधारवादी सुखान्त, रोमांचित सुखान्त एवं सुधारवादी दुःखान्त आदि कई प्रकार के नाटक लिखे गये हैं किन्तु रंगमंच की सरलता और सूझ के कारण नन्दा जी के सुधारवादी सुखान्त ही सर्वाधिक सफल हुए हैं।

---

१. प्रो० गुरचरण सिंह के मतानुसार "पंजाबी स्टेज के अभाव के कारण पंजाबी नाटककार को नाटक की सूझ नहीं हो सकी। इस कारण इनकी रचनाओं में सच्चे नाट्य गुणों की कमी है और कई एक ड्रामें तो रंगमंच की दृष्टि से इतने कच्चे और मुउग्गे हो गए हैं कि उन्हें नाटक कहना भी सम्भवतः गलत होगा"—पंजाबी नाटककार. पृ १३१-१३२।

द्वितीय युग में सन्तसिंह सेखों, सरदार हरचरण सिंह, कर्तार सिंह दुग्गल, बलवन्त गार्गी तथा गुरदियालसिंह फुल्ल के नाटक वर्णन योग्य हैं। सन्तसिंह सेखों बहुमुखी प्रतिभा के लेखक हैं, इन्होंने कविता, कहानी, नाटक और निबन्ध सभी पर लेखनी चलाई है। इनके 'कलाकार' 'वारिस' 'नारकी', 'मोयाँ सार न कोई', 'बेड़ा बंध न सक्यों' और 'भूमिदान' प्रसिद्ध नाटक हैं। 'वारिस', 'मोयाँ सार न काई' और 'बेड़ा बन्ध न सक्यों' ऐतिहासिक नाटक हैं। 'बेड़ा बन्ध न सक्यों' में महाराजा रणजीत सिंह के पश्चात् सिख साम्राज्य के नाश की कहानी कही गई है। मोयाँ सार न काई' में महाराजा रणजीत सिंह के वंशज दलीप सिंह के ईसाई बनाये जाने की करुणाजनक कहानी प्रस्तुत की गई है। 'वारिस' में पंजाब के जाटों का विकास और मुसलमानों की अधोगति तथा वारिसशाह की रोमांचक प्रणय कथा है। इसके पात्र मनोविज्ञान और आत्म विश्लेषण से अनुप्राणित हैं। 'कलाकार' और 'नारकी' के विषय बौद्धिक हैं। पहली रचना में लेखक की कला सम्बन्धी विभिन्न रुचियों का परिचय दिया गया है, तो दूसरी में पूंजीवादियों पर कड़ा व्यंग्य है। इन रचनाओं में अंकों एवं दृश्य-विभाजन पद्धति में एकरूपता का अभाव है, यथा –– 'कलाकार' में पांच अंक और सात दृश्य हैं, 'नारकी' में दृश्यरहित पांच अंक हैं, 'मोयां सार न काई' में आठ अंक हैं 'वारिस' में पांच अंक और बीस दृश्य हैं, 'भूमिदान' में दृश्यरहित तीन अंक हैं तथा 'बेड़ा बन्ध न सक्यों' में पांच अंक और बहुत से दृश्य हैं। नाट्यतन्त्र की दृष्टि से ये रचनाएं विशेष सफल नहीं कही जा सकतीं। अधिकांश में नाटकीय अवसरों, क्रिया प्रतिक्रिया एवं नाटकोचित उतार-चढ़ाव की कमी का दोष आ गया है। 'कलाकार' तो एकदम संवाद-प्रधान नाटक है, इसमें चिन्तन-मनन एवं बौद्धिकता का रंग प्रखर है और बातचीत में कटाक्ष और व्यंग्य मिलते हैं। प्रस्तुत रचना में विभिन्न कलाओं के प्रतीक पात्र अपना सामान्य परिचय देते हैं। विचारधारा की इसी प्रखरता और प्रबलता के कारण नाटकीय क्रिया व्यापार का अभाव हो गया है। पुनः सभी पात्र कलाकार हैं, अतः उनकी कलासम्बन्धी रुचियों के हेतु उनके वार्तालापों और चिन्तनीय विषयों में विशेष अन्तर नहीं दिखाया गया। 'मोयाँ सार न काई' की कथावस्तु भी सदोष है। इसमें दृश्यों की भरमार है, पुनः आठों अंकों की घटनाएं कारण-कार्य व क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में आबद्ध नहीं हो पाई हैं। इसमें दलीप

का लम्बा स्वगत-कथन कथानक की गति को अवरुद्ध कर देता है। 'भूमिदान' का वस्तुविन्यास भी कम शिथिल नहीं है, इसके नाटकीय संघर्ष में उभार के दर्शन नहीं होते। इसमें निहित लम्बे वार्तालाप, जलूस तथा मीटिंग आदि के दृश्य कार्यव्यापार में बाधा उपस्थित करते हैं। 'वारिस' में दृश्यों का आधिक्य और अव्यवस्था तो एक मेले का चित्र सा बना देती है। इसकी घटनाओं में भी नियमित क्रम और सम्बद्धता का अभाव है। इनकी एक ही रचना 'नारकी' का वस्तुविन्यास स्वच्छ और प्रायः निर्दोष बन पड़ा है। इसकी कथावस्तु इकहरी है। कथानक उचित नाटकीय गति के साथ अग्रसर होता हुआ अभीष्ट को प्राप्त होता है। इस रचना का आरम्भ और परिसमाप्ति जिस प्रकार से की गई है, उससे नाटकीय सौन्दर्य में वृद्धि हुई है। यह रचना अभिनेय है। शेष रचनाएं स्वगत-कथनों, अंकों, दृश्यों की भरमार कार्य-व्यापार की कमी तथा सिनेमा की भांति रंगमंच पर सूचनाएं देना आदि कारणों से अभिनेय नहीं रहीं। इतना होते हुए भी सेखों जी की देन महान् है। पंजाबी में सर्वप्रथम यथार्थवादी नाटक प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हें प्रदान किया जा सकता है। नाटककार साहित्य और कला की यथार्थवादी और मानवतावादी विचारधाराओं से अत्यधिक प्रभावित जान पड़ता है, जिसके कारण स्थान-स्थान पर सामाजिक विकृतियों और कुण्ठाओं के प्रति पात्रों का विद्रोह प्रकट हो उठता है[1]। इस प्रकार चरित्रों को मनोवैज्ञानिक अभिनयशीलता का पुट देने का श्रेय भी इन्ही को प्राप्त होता है।

रचनाक्रम की दृष्टि से सेखों जी के पश्चात् सरदार हरचरणसिंह का नाम लिया जाता है। वास्तव में हरचरण सिंह जो प्रो० ईश्वरचन्द्र नन्दा के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं। आज के पंजाबी नाटककारों में सबसे अधिक नाटक इन्हीं के हैं। 'कमला कुमारी', 'राजा पोरस', 'अनजोड़'' 'खेड़ण दे दिन चार', 'दूर दूराडे शहरों', 'तेरा घर सो मेरा घर', तथा 'पुण्या दा चन्न' आदि इनके लोकप्रिय नाटक हैं। इनमें पहला नाटक रोमांचक सुखान्त, दूसरा

---

१. श्री कर्तार सिंह दुग्गल लिखते हैं—, "कभी विचार धारा इतनी प्रबल हो जाती है कि नाटकीय गति बहुत धीमी पड़ जाती है। कभी उनके भीतर का विद्रोह हमारे समाज के शिथिल मूल्यों से इतना निडर होकर चलता है कि जो कुछ वह कहते हैं, जो कुछ उनके पात्र करते हैं, हमारा समाज उसको अश्लील कह कर ठुकरा देता है।"—सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ (लेख—पंजाबी नाटक) पृष्ठ ५४५।

ऐतिहासिक तथा शेष सामाजिक हैं।'

'पोरस' कृति में इतिहास को संवाद रूप में प्रकट कर दिया गया है और आधुनिक युग के लिये कोई सन्देश उपस्थित नहीं किया गया। इस ऐतिहासिक रचना और 'कमला कुमारी' में शेक्सपियर का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ जाता है। अंक एवं दृश्य-योजना में किसी विशेष परिपाटी का अनुसरण नहीं किया गया। यथा–'कमला कुमारी' में पांच अंक और चौदह दृश्य', 'पोरस' में पांच अंक और पचीस दृश्य; 'अनजोड़' 'पुण्यां दा चन्न', 'दोष' और 'खेडन दे दिन चार' चारों में दृश्य रहित तीन अंक, 'दूर दूराडे शहरों' में तीन अंक और आठ दृश्य तथा 'तेरा घर सो मेरा घर' में तीन अंक और चार दृश्य आदि हैं। पांच अंकों वाले नाटकों में वस्तुविन्यास विशृंखल है, इनमें उपकथानकों और घटनाओं की भरमार है, जिनमें अधिकांश न तो प्रमुख कथा का अविच्छेद्य अंग है और न ही उसे गति प्रदान करने में योग प्रदान करती हैं। दृश्य रहित तीन अंकों वाले अधिकांश नाटकों में हरचरण सिंह को अच्छी सफलता मिली है। इनमें योजनापरक त्रुटियां कम हैं। कथानक सूक्ष्म होता है, पुनः नाट्य-परिस्थितियों का चयन और प्रतिपादन भी संगत है। इन कृतियों में नाटककार स्थान की एकता का निर्माण करता है और बाकी के अंकों में अन्य बातों का विस्तार सहित वर्णन कर देता है। 'अनजोड़' और 'खेडन दे दिन चार' कृतियां इसकी उदाहरण हैं। तीन अंकों वाला 'पुण्यां दा चन्न' नाटक इसका अपवाद है, इसमें योजनापरक त्रुटियां हैं, जिससे प्रस्तुत कृति संवादात्मक प्रबन्ध बन कर रह गई है। इसमें पात्रों की भी लम्बी भीड़ है। 'तेरा घर सो मेरा घर' भी इसी प्रकार के दोषों से युक्त है।

पात्र चरित्र-चित्रण में लेखक को अधिककांश नाटकों में सफलता मिली है। वह पात्रों के मनोविश्लेषण को सम्मुख रख कर नाटकीय व्यापार को सक्रियता प्रदान करता है। इन नाटकों के वार्तालाप यद्यपि सफल कहे जा सकते हैं, तथापि कहीं-कहीं इनमे नाटकीयता के तत्त्व का अभाव खटकता है। उनकी भाषा पर दुआब का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है, बीच-बीच में अंग्रेज़ी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया गया है। नाटककार का उद्देश्य ऊंचा है, वह आधुनिक समाज में उत्पन्न समस्याओं और विषमताओं को विभिन्न दृष्टिकोणों से परख कर उनके हल भी प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। हरचरणसिंह को रंगमंच का समुचित ज्ञान है, इसी कारण नन्दा जी के बाद वह पंजाबी के शिरोमणि नाटककारों में परिगणित

होते हैं। उनका कोई भी नाटक ऐसा नहीं, जो रंगमंच पर अभिनीत न हुआ हो। दिल्ली, पटियाला, अमृतसर तथा लुधियाना आदि के स्कूलों और कालिजों में समय-समय पर इनका अभिनय होता रहा है। रंगमंच के विकास और संगठन में नाटककार स्वयं भी काफी प्रयत्नशील रहा है।

कर्तारसिंह दुग्गल का 'पुराणियाँ बोतलां' नामक नाटक दृश्यरहित तीन अंकों में है। इसकी विशेषता यह है कि तीनों ही अंकों में एक स्थान रहता है। संवादों में काव्यात्मकता की रसानुभूति होती है। इसमें कतिपय मनोवैज्ञानिक सुन्दर चित्र मिलते हैं। दुग्गल जी का सम्बन्ध विशेष रूप से रेडियो से रहा है, यही कारण है कि उनको रंगमंचीय सूझ पर एक सिद्धहस्त रेडियो निर्देशक का प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इनका एक अन्य नाटक 'दीवा बुझ गया' मिलता है, जो मंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुका है।

बलवन्त गार्गी पंजाबी के सबसे कुशल, सफल एवं नाट्यप्रतिभा सम्पन्न लेखक हैं। नाटक सृजन कार्य मानों उनके जीवन का अंग व ध्येय है। इनकी रचनाओं में सामान्य जनता का जीवन है, उसकी व्याख्या एवं आलोचना है। निम्न श्रेणी के लोगों के दुखी जीवन के अतिरिक्त मध्यश्रेणी के लोगों के गलत मापदण्ड तथा उच्च श्रेणी के विलास आदि का भी चित्रण है। सामान्य जनता के बीच रहने एवं उनके दुःखों का अनुभव होने के कारण लेखक ने इनकी समस्याएं बड़ी कुशलता से दर्शायी हैं। 'लोहा कुट्ट', 'पत्तन दी बेड़ी', 'शैल पत्थर', 'नवां मुड्ढ', 'घुग्घी', 'केसरो' तथा 'कणक दी बल्ली' इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इन रचनाओं में जनसाधारण की छोटी छोटी घटनाएं व बातें--जो हमारे आस-पास प्रतिदिन होती रहती हैं --प्रदर्शित की गई हैं। यथा---इनकी पहली रचना 'लोहाकुट्ट' को ही लें, इसमें लोहार के पेशे का दुःखान्त वर्णन है। इब्सन के व्यक्तिवाद का प्रभाव इस कृति पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गार्गी की एक विशेषता यह है कि उनके नाटक किसी की मृत्यु पर समाप्त नहीं होते, वैसे ही इनमें सामाजिक दुर्दशा पर शोक प्रकट किया जाता है।

इनके अधिकांश नाटकों का ढांचा स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित है। इनकी घटनाएं और क्रियाएं सभी एक ही केन्द्रीय व्यापार से अच्छी तरह बंध पाई हैं। पात्र-चरित्र-चित्रण में नाटककार काफी सफल रहा है। इनके पात्रों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा

सकता है—नागरिक, ग्रामीण और विदेशी । अधिकांश चरित्र अच्छे स्वाभाविक एवं यथार्थ बन पड़े हैं तथा मानव-सुलभ उतार-चढ़ाव, परिस्थितियों एवं मनोभावों से अनुप्राणित हैं। प्रत्येक पात्र हमारे व्यक्तित्व का दर्पण है और सफलतापूर्वक हमारी मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करता है । गार्गी के इस सचित्र और प्रेषणीय चित्रण के सम्बन्ध में श्री कर्तारसिंह दुग्गल का यह कथन अक्षरक्षः सत्य है कि—"गार्गी का हर पात्र जैसे जीवन में से वैसे का वैसा उठ कर चला आया हो । उनमें से उनके व्यवहार का हमें आभास मिलता है । उनके पावों की बिवाइयां, हाथों के गट्ठे, उनकी कांटों से फटी हुई चुनरियां, कीचड़ से लिपटी हुई तलवारें, कितनी कितनी देर तक हमारी आंखों के सामने घूमती रहती हैं ।"[1]

इन नाटकों की भाषा सरल एवं व्यावहारिक है, इसमें स्वाभाविकता, प्रवाह तथा सजीवता के तत्व विद्यमान हैं। 'पतन दी बेड़ी' संवादों की क्षिप्रता, स्वाभाविकता, संयम तथा जीवन के अन्य तत्वों का सुन्दर उदाहरण है। भाषा पात्रानुकूल एवं स्थिति-अनुकूल प्रयुक्त हुई है । इन रचनाओं में निम्न श्रेणी व सामान्य जनता के सुख-दुःखों का वर्णन अधिक होने के कारण ग्रामीण, मिरासी, बढ़ई आदि लोगों के शब्दों का भण्डार है । गार्गी की रचनायें उद्देश्य पूर्ण हैं, किन्तु नाटककार अन्य पंजाबी नाटककारों के समान न तो उद्देश्यों व सुधारों की बात ही करता है और न ही कहीं उपदेश देता है। फिर भी तथ्य यह है कि उनकी हर बात मन एवं मस्तिष्क पर अपना स्थायी प्रभाव अंकित कर जाती है । इनके नाटकों में हास्य और व्यंग्य के तत्त्व भी समाविष्ट हुए हैं। इनका व्यंग्य तीखा और हास्य कटु है, किन्तु इसमें वह मर्म को बेधने एवं अभीष्ट की सिद्धि में सफल रहते हैं। बहुधा वह मध्यश्रेणी पर व्यंग्य के कशाघात करते हैं और वह वार जहां-जहां लगता है, वहां कितनी ही देर तक मीठा-मीठा दर्द होने लगता है। गार्गी साहब रंगमंचीय विद्या में प्रवीण हैं और इसी का परिणाम है कि उनके नाटकों में दृश्य अल्प होते हैं और उनमें स्थान-परिवर्तन उससे भी न्यून होता है। पुनः वह परोक्ष वातावरण (पृष्ठभूमि) उत्पन्न करके ऐसे वायुमण्डल का निर्माण करने में पटु हैं, जो पात्रों के हाव भाव से भली भांति सादृश्य रखता है व मेल खाता है । इन्हीं विशेषताओं के कारण इनके नाटक रंगमंच पर अत्यधिक सफल रहे हैं। निष्कर्ष यह है कि इनकी रचनाएं नाट्यकला और मंच की दृष्टि से उत्तम

1. डा० नगेन्द्र सम्पादित : सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ५४६.

कही जा सकती है, [illegible] यह है कि ईश्वरचन्द नन्दा द्वारा प्रवर्तित पंजाबी नाटकों की मौलिक यथार्थवादी परम्परा गार्गी के हाथों यौवन एवं समृद्धि को प्राप्त हुई।

गुरदियाल सिंह फुल्ल पंजाबी के उल्लेखनीय समालोचक एवं साहित्यकार हैं। 'पिता प्यार', 'कॉलिजियेट', 'साथी', 'जोड़ी', 'आदमी दी अक्ल', 'अज्ज-कल्ल', 'बैंक', 'कला ते ज़िन्दगी' आदि इनके नाटक हैं। 'पिता प्यार' इनकी पहली रचना है, जिसमें पिता के वियोग पर पुत्र का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। पुत्र के रूप में लेखक का अपना जीवन चित्रित है। इन रचनाओं के अंक और उसकी विभाजन क्रिया समान नहीं है। 'पिता प्यार' में पांच अंक इकतीस दृश्य 'साथी' और 'कॉलिजियेट' में तीन अंक और ग्यारह दृश्य, 'जोड़ी' में तीन अंक और तेरह दृश्य, 'आदमी दी अक्ल' में तीन अंक चार दृश्य, 'अज्ज-कल्ल' में तीन अंक और छः दृश्य, 'बैंक' और 'कला ते जिन्दगी' में तीन अंक और पांच दृश्य आदि हैं। अधिकांश नाटकों में घटना श्रृंखलाएं व्यवस्थित ढंग से उपस्थित की गई हैं। इनमें कार्य की एकता मिलती है। विषय-प्रतिपादन एवं पात्रों के चरित्र-चित्रण में नाटककार सफल रहा है। पात्रों का निर्माण [illegible] पात्रों के प्रतिकूल और विरोधी स्वभावों के युग्ल उपस्थित करके तुलनात्मक चित्र उपस्थित करते हैं। इनकी भाषा सरल, स्वाभाविक एवं मुहावरेदार है। 'आदमी दी अक्ल' के वार्तालाप बौद्धिकता से पूर्ण हैं। अन्य रचनाओं में लेखक अपनी सहज भावुकता के कारण अनेक स्थितियों का अभिव्यक्तिकरण बड़े प्राकृत एवं प्रभावशाली ढंग से करते हैं। पुनः पात्रों के वार्तालाप उनकी अवस्था एवं स्थिति के अनुरूप होते हैं। उनके नागरिक पात्रों की भाषा कुछ दोषमय है। फुल्ल साहब के नाटकों में स्थान-स्थान पर गीतों, स्वगत-कथन और सूत्रधार का व्यवहार हुआ है। इनमें अधिकांश गीत किसी विशेष घटना की प्रभावात्मक समालोचना होते हैं। कई एक स्वगत कथन बड़े स्वाभाविक हैं, इनसे पात्रों की मनःस्थिति का प्रकाशन भली प्रकार हो जाता है। प्रो० फुल्ल को रंगमंचीय टेकनीक का निजी अनुभव है, इन्होंने सात साल की अवस्था से ही नाटकों में अभिनय करना आरम्भ कर दिया था। नाटककार ने अपने कई नाटकों में भी अभिनय किया है। इनकी रचनाओं की सैटिंग बड़ी सरल होती है। कार्य, समय और स्थान की एकता का निर्वाह भली प्रकार हुआ है। वह अपने

नाटकों में दृश्यों की संख्या कम रखते हैं। समय-समय पर हुआ गीतों का प्रयोग रंगमंचीय सफलता में सहायक बनता है । उपर्युक्त विशेषताओं के कारण इनके अधिकांश नाटक मंच पर सफल रहे हैं। कई एक रचनाओं के रंगशिल्प पर फिल्मी प्रभाव है, यथा—'आदमी की अक्ल', फिर भी यह रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकता है ।

इन नाटककारों के अतिरिक्त सुखराजसिंह, सन्त इन्द्रसिंह चक्रवर्ती, तथा प्रीतम सिंह सफीर आदि कई नाटककारों के नाम गिनाये जा सकते हैं। इनकी अधिकांश रचनाएं नाट्यतन्त्र की दृष्टि से प्रायः सामान्य हैं, और इनमें किसी प्रकार की भावगत और शिल्पगत विशेषता नहीं मिलती । कुछेक में तो रंगमंच सम्बन्धी सूचनाएं संवादात्मक ढंग से दी गई हैं, यथा—सुखराजसिंह का 'चन्द्रगुप्त' नाटक।

सारांश यह है कि इस युग का नाटक भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही क्षेत्रों में नवीन रूप धारण करके आया है । इनमें यथार्थवाद का विशेष आग्रह मिलता है, जिसमें समाजवाद का रंग प्रखर है । रोमांचक कल्पनात्मक प्रसंगों के स्थान पर बौद्धिक उद्भावनायें मिलती हैं । कला के क्षेत्र में मृत्यु रहित दुःखांत उल्लेख्य प्रयोग हैं। पुनः प्रथम युग से प्रारम्भ होने वाली अनूदित नाटकों की परम्परा भी इस युग में चलती रही । नन्दा जी द्वारा प्रवर्तित एकांकी नाटकों की परम्परा ज़ोर-शोर से प्रवहमान रही । इस क्षेत्र के महान् नाटककारों में अधिकांश एकांकी नाटकों के रचयिता भी हैं । सेखों जी के एकांकियों में ग्रामीण और पंजाबी जाटों के जीवन चित्रित किए गए हैं। इनके एकांकी 'छै घर' और 'तप्या क्यों खप्या' नामक दो एकांकी संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं । इनमें अधिकांश रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं एवं कॉलिजों में खेले जा चुके हैं। इनका काव्य एकांकी 'बाबा बोड़' उल्लेखनीय है, इसमें बड़ के वृक्ष के मुंह से नाटककार ने पंजाब की कहानी कहलाई है । गार्गी जी के एकांकियों के दो संग्रह 'दो पांसे' और 'कुमारी टीसी' हैं। ये कृतियां नाट्यतन्त्र की दृष्टि से काफी सफल कही जा सकती हैं।

तीसरे युग के नाटककारों में रोशनलाल आहूजा, गुरदियाल सिंह खोसला, शीला भाटिया, बलवीर सिंह, अमरीक सिंह, कपूर सिंह, निहाल सिंह, एस० एस० अमोल, गुरचरण सिंह जसूजा, मक्खन सिंह, गोपाल सिंह दर्दी, निरंजन सिंह, तथा जगदीश सिंह वोहरा आदि को रखा जा सकता है। डॉ० रोशन लाल आहूजा के 'सहजोग'

'भूमि -आन्दोलन' और 'तलाक' तीन प्रसिद्ध नाटक हैं। इनके प्रत्येक नाटक में तीन अंक हैं, किन्तु 'सहजोग' में ग्यारह दृश्य, शेष दोनों में छः छः दृश्य हैं। नाटकों में समय और स्थान की एकता है, किन्तु पात्रों की भरमार है। तीनों ही नाटकों का कथानक बड़ा सूक्ष्म है। 'सहजोग' का कथानक बड़ा शिथिल है, गुरमीत का साधु बनना कथावस्तु को दुर्बल बना देता है। 'तलाक' की कथावस्तु 'सहजोग' और 'भूमिदान' से कहीं अच्छी है, किन्तु इसमें कारण-कार्य की एकता का कई स्थलों पर अभाव दिखाई देता है। 'भूमिदान' के दूसरे अंक का पहला दृश्य ठीक स्थान पर नहीं, इसी प्रकार तीसरे अंक के दो दृश्य एक ही स्थान पर दिखाए जा सकते हैं। आहूजा जी के संवाद पात्रानुकूल तो होते हैं, किन्तु पंजाबी भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार न होने के कारण उनके संवादों में बोलचाल की सहज व्यावहारिकता एवं स्वाभाविकता की अपेक्षा किताबी रंग अधिक प्रबल हो जाता है यद्यपि नाटक-कार को अपने स्कूल जीवन के दिनों में कुछेक पौराणिक नाटकों में प्रदर्शन में अभिनय करना पड़ा, और उसकी यही रुचि उसकी नाट्यकला की प्रेरणास्रोत सिद्ध हुई, तथापि उन्हें रंगमंचीय ज्ञान केवल सैद्धांतिक है, प्रयोगात्मक व व्यावहारिक नहीं। आधुनिक रंगमंचीय विज्ञान का अनुभव अल्प होने के कारण उनकी कृतियों के आरम्भ में दी गई रंगमंचीय सूचनाएं रंगस्थल पर पूरी नहीं उतरतीं।

गुरदियाल सिंह खोसला का 'बूहे बैठी धी' दृश्य रहित चार अंकों का नाटक है। चारों अंकों में एक ही स्थल का प्रयोग हुआ है। पहले तीन अंकों का समय भी एक ही है, चौथे अंक का उससे एक साल बाद। इतना होते हुए भी इसका नाट्तंत्र दुर्बल है। वास्तव में वह पूर्ण नाटक लिखने की अपेक्षा एकांकीकार के नाते अधिक सिद्ध-हस्त हैं। इनके एकांकियों की समस्याएं साधारणतः मध्यवर्गीय पात्रों की होती हैं। इनमें विचार और भावना की गहराई तथा प्रयोजन की गम्भीरता रहती है। इन एकांकियों की शैलीगत विशेषता व्यंग्य शक्ति का तीखापन है।

श्री बलवीर सिंह ने 'सुपना टुट्ट गया', 'युवराज', 'अरविन्द', आदि तीन नाटकों का प्रणयन किया। प्रथम नाटक की कथावस्तु विशृंखल सी है। इसमें व्यर्थ का वादविवाद है और नाटक का अन्तिम भाग बिल्कुल पृथक सा ही लगता है। 'युवराज' ऐतिहासिक नाटक है, इसमें तीन अंक और ग्यारह दृश्य हैं, इसकी कथावस्तु अच्छी व्यवस्थित

है। अन्तिम कृति 'अरविन्द' का नाट्य-तन्त्र शिथिल है, पुनः इसमें नाटक की प्रभावान्विति और सघनता का अभाव है। श्री बलवीर सिंह के नाटकीय संवादों की भाषा किताबी रंग लिये हुए है। संवाद लंबे हैं और उनमें स्वाभाविकता और प्रवाह के तत्वों का अभाव खटकता है।

आधुनिक गीतिनाट्यों के रचयिताओं में शीला भाटिया उल्लेखनीय लेखिका है। इनके दो संगीत नाटक- 'वादी दी पुकार' और 'रुक्खे खेत' भारत के विभिन्न नगरों में सफलतापूर्वक अभिनीत किए गए हैं। प्रथम रचना में काश्मीरी जनता की वेदना का अभिव्यक्तिकरण अत्यन्त सफल ढंग से हुआ है तो दूसरी कृति में पंजाब के कृषकों की कठिनाइयों एवं परेशानियों की अभि-व्यंजना अत्यन्त कुशलता से हुई है। इनमें लोकगीतों की धुनें, नृत्य सामूहिक गान, कठपुतली की हरकतें तथा छोटा सा सम्वाद–जो लेखिका की शैलीगत विशेषता को प्रकट करता है—प्रस्तुत किए गए हैं।

'श्री अमरीक सिंह ने—'राहां दे निखेड़वे', 'परछावियां दी पकड़' तथा 'कम्म की घड़म्म' आदि नाटकों की रचना की है। नाटककार को नाटकीय स्थितियों के नियोजन का ज्ञान बहुत कम है, यही कारण है कि 'परछावियां' नाटक का विषय बड़ा सुन्दर होते हु[ए] भी उनकी कथावस्तु में सजीवता औ[र] एकता का अभाव है। इसके तीन अं[क] दृश्य रहित हैं किन्तु इसमें सामूहि[क] एकता नहीं आ पाई, जिसके कारण वह अलग-अलग तीन एकांकियों का संग्रह बन कर रह गए हैं। 'राहाँ दे निखेड़वे' में कथावस्तु की योजनापरक थोड़ी परिपक्वता आई है। नाटक उचि[त] गति के साथ चरम लक्ष्य की ओ[र] अग्रसर होता है। इसके तीन अंकों म[ें] एक ही स्थान का उपयोग हुआ है। 'कम्म की घड़म्म' की आवयवि[क] अन्विति पुनः बिखरी हुई मिलती है। स्थान-भिन्नता के कारण लेखक वातावरण निर्माण में बड़ा सफल हुआ है। इनके नाटकों के संवाद स्वाभाविक हैं, उनकी भाषा ग्राम बोलचाल की है, इनमें व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियां कहीं-कहीं मिलती हैं। संवादों में नाटकीय संयम और तीव्रता का अभाव भी खटकता है। नाटककार को रंगमंचीय आवश्यकताओं का पूर्ण ज्ञान है, उनके नाटक पूर्ण सफल हो सकते हैं, यदि संवाद सम्बन्धी दोषों का निराकरण हो जाए।

श्री कपूर सिंह भी इस युग के उल्लेख्य नाटक रचयिता हैं। इनका चार अंकों का 'अनहोणी' नाटक दुःखान्त है। इसमें मानवीय क्रूरताओं से दुःखित नारी के प्रतिशोध का एक भयानक

रूप प्रकट किया गया हैं । श्री कपूरसिंह घुम्मन एक यथार्थवादी कलाकार है। इनके संवाद बड़े ही चित्ताकर्षक, प्रभावशाली एवं सरस हैं। इन्हें रंगमंच का पर्याप्त ज्ञान है, वह स्वयं नाटकों का निर्देशन और उनमें अभिनय भी करते हैं। यही कारण कि 'अनहोणी' रंगमंच पर बड़ा सफल रहा। 'बदलदी दुनियां' के लेखक श्री निहाल सिंह रस की यह रचना कार अंकों और सोलह दृश्यों मे विभक्त है। यह नाट्यकला का एक सामान्य सा प्रयोग है। श्री एस० एस० अमोल का 'जस्सासिंह आहलूवालिया' ऐतिहासिक नाटक है। प्रस्तुत रचना अभिनेय है। गोपालसिंह दर्दी का 'लाली' सामाजिक नाटक है, इसमें पांच अंक और सत्रह दृश्य हैं। प्रस्तुत रचना नन्दा जी की 'लिल्ली-दा विआह' से मिलती जुलती है। श्री निरंजन सिंह का 'जागीरदार' यथार्थ-वादी वातावरण से पूर्ण नाटक है। जगंदीश सिंह वोहरा का 'जीवन दे मोड़' एक सामाजिक व्यंग्य नाटक है। उपर्युक्त नाटककारों की नाटकीय उपलब्धियों के अतिरिक्त अन्य कुछेक नाटककार भी नाटयसृजन कार्य में लगे हुए हैं जिनकी नाट्य-सम्बन्धी योग्यता एवं प्रौढ़ता का निर्णय भविष्य ही करेगा।

सारांश यह है कि तीसरे युग की नाट्यकृतियों में जीवन की यथार्थता एवं वास्तविकता ही आधारशिला बनी है। इनमें तीन अंकों वाले नाट्यतंत्र का प्रचलन ही अधिक हुआ हैं। चरित्रचित्रण यथार्थ भावभूमि और यथार्थ परिस्थितियों पर आधारित है। अधिकांश चरित्र सच्चे मानव हृदय और मानव विज्ञान से पुष्ट दिखाए गए हैं। भाषा-शैली में स्वाभाविकता, यथार्थता एवं व्यंग्य के तत्व आ गए ह। रंगमंचीय प्रसाधनों के सरल और सुविधाजनक रूप का ही अधिक प्रचलन हुआ है। संक्षेप में विषय का जीवन-सामीप्य, विषय की गूढ़ता, चरित्र-अवतारणा यथार्थ एवं अर्न्द्वन्द्व से पुष्ट, संवादों में यथार्थवादी रंग और व्यंग्यात्मक चोट एवं रंगमंच की सादगी आदि विशेषताएं आज के पंजाबी नाटकों में लभ्यमान हैं।

एकांकी नाटकों का विकास १९४२ से होता है। इस युग में एकांकी और श्रव्य-नाटकों का शैलीगत विकास काफी हुआ है। दोनों क्षेत्रों में अन्य भाषाओं के समान नवीन प्रयोग किये गए हैं। आज के प्रसिद्ध एकांकी कार हैं:—सन्तसिंह सेखों, हरचरण सिंह, कर्तारसिंह दुग्गल, बलवन्त गार्गी, डॉ० मोहनसिंह, गुरदियाल सिंह खोसला, सुरजीत सिंह सेठी, अमरीक सिंह और प्यारा सिंह भोगल इत्यादि। प्रसिद्ध श्रव्य नाटककार

हैं ---अमृता प्रीतम, अचला सचदेव, राजेन्द्र राजन, फिकर तौंसवी, मखमूर जालन्धरी तथा गुरनाम सिंह धीर आदि। गीति नाटकों के प्रसिद्ध लेखक हैं-- शीला भाटिया, तेणसिंह चन्न, जुगिन्दर बाहरला तथा मोहन सिंह प्रभृति।

भारत की अन्य भाषाओं की अपेक्षा पंजाबी रंगमंच बड़ा पश्चात्पद रहा है। पंजाबी रंगमंच के जन्मदाता श्री ईश्वरचन्द नन्दा हैं, इन्होंने श्रीमती नोरा रिचर्डस से प्रेरणा प्राप्त करके पंजाबी रंगमंच को उन्नत करने का प्रयास किया। इन्होंने स्त्रीपात्रों के अभाव में स्वयं और कोमल शरीर वाले लड़कों के सहयोग द्वारा नारी पात्रों का अभिनय किया। यद्यपि व्यावसायिक पारसी रंगमंच ने पंजाब में अपने पैर फैला कर निकृष्ट अभिरुचि का विस्तार कर दिया था, तथापि इससे लाभ भी हुआ। इससे नाटकों के प्रति जनता की रुचि और भी अधिक जागरुक हो गई। जन-नाट्य संघ ने भी नई प्रतिभाओं को प्रकाशान्वित करने का अतुल प्रयास किया। १९४४-४५ में गवर्नमेंट कालिज लाहौर के खुले मंच ने पंजाबी रंगमंच के लिये एक नया मार्ग प्रशस्त किया। देश विभाजन के अनंतर पंजाबी रंग मंच का केन्द्र लाहौर से 'दिल्ली बन गया। गुरदियालसिंह खोसला ने 'लिटल थियेटर ग्रुप' के अध्यक्ष के नाते कार्य आरम्भ किया। तत्पश्चात् इन्होंने सन् १९५० में पंजाबी 'रंगमंच' के माध्यम से बहुत सी कृतियां रंगमंच पर उपस्थित कीं। आज 'दिल्ली आर्ट थियेटर' अपने चरमोत्कर्ष पर है। इसके प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं ने नई शैलियों की खोज, ऑपेरा के नए प्रयोग एवं लोक परम्पराओं के अन्वेषण द्वारा पंजाबी नाटक को सप्राण बना दिया है। स्कूलों, कालिजों के उत्सवों और सांस्कृतिक समारोहों के द्वारा भी पंजाबी नाटक समृद्धि को प्राप्त हो रहा है। रंगमंच के सक्रिय सहयोग से पंजाबी नाटककारों की कृतियों के पूर्ण परिष्कार की आशा है, जो पंजाबी-नाटक के विकास के लिये मंगलसूचक है।

● ● ●

(पृष्ठ २० का शेष)

बड़ा कलंक मानता रहा है और अनीति के उन्मूलन के लिये प्राणों की बाज़ी लगाता रहा है। अन्याय और अत्याचार का हमने सदा ही विरोध किया है। पराजय की घड़ी आने से पूर्व ही हम प्राण उत्सर्ग करते रहे हैं।

● ● ●

आर्यों के पूर्वज

उदय भानु हंस

ऋग्वद विश्व का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ माना जाता है। उस काल से आज तक कम से कम तीन चार हज़ार वर्ष पुराना भारतीय-संस्कृति का इतिहास अविच्छिन्न एवं प्रामाणिक रूप से प्राप्य है। इस महान् संस्कृति के निर्माण मे आर्यजाति का सब से अधिक एवं महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। विद्वानों ने वदिक-कालीन साहित्य और भाषा के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्राग्-ऐतिहासिक काल के अंधकारमय इतिहास को प्रकाश में लाने का अद्भुत तथा प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। वस्तुतः इस जटिल प्रश्न का समाधान खोजने में नृतत्त्वशास्त्रियों पुरा तत्त्ववेत्ताओं एवं सबसे अधिक भाषा-वैज्ञानिकों को अत्यंत परिश्रम करना पड़ा है। इस विषय में संसार भर की २७९६ भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके उनको सामान्यतः चौदह प्रमुख-भाषा-परिवारों में बांट दिया गया है।१ इस प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययन की कल्पना करने वाले सर्वप्रथम विद्वान् सर विलियम जोन्स थे, जिन्होंने १८वीं शताब्दी में संस्कृत भाषा का अध्ययन करते हुए उसे 'ग्रीक तथा लेटिन भाषाओं से भी अधिक पूर्ण और परिपुष्ट बताया। फिर इन तीन प्राचीन भाषाओं का गंभीर विश्लेषण करने पर उन्हें लगा कि इनका उद्भव किसी एक मूल-भाषा से हुआ है, जो कदाचित् जर्मन, केल्टिक एवं प्राचीन फारसी भाषाओं की भी जननी थी।' यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि आधुनिक भाषा-विज्ञान का जन्म उसी घड़ी में हुआ, जबकि संस्कृत, ग्रीक, लेटिन तथा गाथिक एवं प्राचीन पारसीक भाषाओं का एक ही कुल से संभूत होने की चमत्कार पूर्ण सूझ सर विलियम जोन्स के मस्तिष्क में आई।२

भारत में आर्यों के बाहर से आने की कल्पना अब अधिक मान्य होने लगी है। यद्यपि अविनाश चन्द्र दास के 'ऋग्वैदिक इण्डिया' तथा चिन्तामणि

१. डा० भोला नाथ तिवारी—भाषा विज्ञान, पृष्ठ ७१
२. डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ७

वैद्य के 'इप्पिक इण्डिया' के अतिरिक्त पण्डित भगवद्दत्त के 'भारतवर्ष का वृहत् इतिहास' आदि कई ग्रन्थों मे भारत को ही आर्यों का मूलनिवास सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, तथापि इस विषय में अनेक भारतीय और विदेशी भाषाविज्ञानी एवं दूसरे पुरातत्त्वविशेषज्ञों का अब यही सुनिश्चित मत है कि आर्य जाति बाहर से ही इस देश में प्रविष्ट हुई थी ।

सामान्यत: यह माना जाता है कि भारतवर्ष की सब से प्राचीन निवासी नेग्रिटो नामक आदिम जाति थी । ठिगने कद और काले रंग वाले ये लोग कदाचित् अफ्रीका से अरब तथा ईरान के समुद्र-तट के सहारे सहारे भारत में प्रविष्ट हुए होंगे । इन्हें खेतीबाड़ी और पशुपालन का ज्ञान नहीं था। संभवत: ये लोग भारत के दक्षिण प्रदेश में फैल गये और अण्डेमान द्वीप समूह में बस गए । आज भी इनके वंशज इस भाग में तथा फिलिपाइन, न्युगिनी द्वीपों में मिल जाते हैं। इस जाति के अवशेष जावा-सुमात्रा (मलय) के अतिरिक्त आसाम की भोट जातियों में भी पाए जाते हैं। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार 'नेग्रिटो' गण अत्यंत आदिम अवस्था के जन थे, इसलिये उत्तरकाल की आर्यसभ्यता के निर्माण में उनका कुछ भी हिस्सा न हो सका। आर्यों के भारत प्रवेश से भी पूर्व यह जाति अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठी तथा आर्यों से पूर्व भारत में आने वाली 'अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत, सभ्य एवं 'बलशाली जातियों (निषाद, किरात तथा द्राविड़) के सामने टिकी न रह सकी ।

नेग्रिटो जाति के पश्चात् भारत में आस्ट्रिक जाति' का प्रवश हुआ, जिन्हें आर्य 'निषाद' नाम से जानते थे । ये लोग चपटी नाक और काले रंग के थे। आगे चल कर इन की कुछ शाखाएं लंका, आस्ट्रेलिया एवं इण्डोनेशिया की ओर चली गईं, जहां उनके अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं। इन लोगों को कृषि की साधारण जानकारी थी । मैदानों मे चावल की खेती का प्रारंभ तथा केला, नारियल, हल्दी, सुपारी पान, काशीफल, अदरक, बैंगन, लौकी आदि का उत्पादन भी भारत में सर्वप्रथम इन्हीं लोगों न किया । ये लोग पशुपालक नहीं थे । दूध का उपयोग तो जानते ही न थे । हां, मुर्गीपालन, तथा बीस से गणना करने की पद्धति (हिन्दी कौड़ी) का आरम्भ करने वाले यही लोग थे । यह जाति पंजाब, उत्तर-भारत एवं मध्य प्रदेश तक फैली हुई थी ।

निषाद-जाति के पश्चात भारत में नगरसभ्यता को स्थापित करने वाले द्राविड़ों ने प्रवेश किया । इनका मूल

निवास भूमध्यसागर के निकट एशिया-माइनर में था । १ सिन्धु सभ्यता का संबंध इसी जाति से जोड़ा जाता है। सर जान मार्शल तथा राखालदास बनर्जी आदि ने मोहंजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त अवशेषों के आधार पर सिंधु-घाटी की सभ्यता का अत्यंत ही मूल्यवान अध्ययन प्रस्तुत किया है । एक से अधिक मंज़िल वाले मकान, पक्की ईंटों के बने घर, भूगर्भ के अन्दर बनी पानी की नालियां, स्नान घर, सुनियोजित नगर, चित्रित मिट्टी के बर्तन, लेखन कला, पूजा एवं सत्कार की विभिन्न प्रणालियां आदि देख कर विश्व के सामने मानवसंस्कृति एवं भाषाविज्ञान का जो नया द्वार खुला उसके अनुसार आर्यों से पूर्व भारत में पंजाब और सिन्ध की महान् सभ्यताओं का निर्माता द्राविड़ों को ही समझा जाने लगा। डा० चटर्जी का अनुमान है कि इस काल की आदिम लिपि से ही आगे चल कर ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ, जो आधुनिक भारतीय-लिपियों की जननी कही जाती है ।

द्राविड़ पश्चिम से भारत में प्रविष्ट हुए । बिलोचिस्तान में द्राविड़ भाषा परिवार की एक भाषा की उपस्थिति इसका मुख्य प्रमाण माना जाता है। आर्यों का सामना सर्वप्रथम द्राविड़ों से ही हुआ था, जो अपेक्षाकृत अधिक शांतिप्रिय, सहिष्णु और किसी अंश तक निर्बल भी सिद्ध हुए। पराक्रमी और साहसी आर्यों ने आकर उन्हें दक्षिण में धकेल दिया। उत्तरभारत के मैदानों में द्रविड़ जाति तथा निषाद-जाति के परस्पर संघटन का अभाव आर्यों की निर्बाध विजय का कारण बना । आर्य लोग द्राविड़ों को 'दास' अथवा 'दस्यु' कह कर पुकारते थे । वस्तुतः भारतीय-संस्कृति के निर्माण में इन अनार्यों की देन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही । कर्मकाण्ड, दर्शनशास्त्र, उमा और पशुपति शिव की कल्पना, योगसाधना एवं रहस्य-मार्गी पद्धति, विवाह और मृत्यु के अवसर पर अनेक रीतिरिवाज आदि की मूलकल्पना आर्यों ने द्राविड़ों से ही सीखी ।

द्राविड़ों के पश्चात् एवं आर्यों से पूर्व भारत में किरात जाति के प्रवेश का भी उल्लेख पाया जाता है। इन चीनी-भोट भाषी मंगोलवंशी लोगों की स्थिति हिमालय के पर्वतीय प्रदेश एवं भारतवर्ष के पूर्वी अचल तक ही सीमित रही, जिसके कारण इनका प्रभाव भारत के सांस्कृतिक इतिहास में विशेष नहीं पड़ा ।

---

१. डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी-पृ० ४४

आर्यजाति कहां से और किस भाग से भारत में पहुंची, इस विषय में देशी और विदेशी अनेक विद्वानों ने विशद विवेचन किया है । भाषा-शास्त्र के उद्भट विद्वानों ने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भारतीय आर्यभाषाओं का संबंध जिस भाषा-परिवार के साथ जोड़ा है, उसे अभी तक 'भारोपीय-भाषा परिवार' कहा जाता था, परन्तु अब नई खोज के अनुसार उसे 'भारत-हित्ती-परिवार' नाम दिया गया है । यह भाषा-परिवार विश्व का सब से बड़ा और सब से अधिक महत्त्वपूर्ण भाषा परिवार है क्योंकि न केवल इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाले ही संसार में सब से अधिक संख्या में पाए जाते हैं, अपितु भौगोलिक दृष्टि से भी इसका क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है । (इस प्रदेश का एक छोर भारत और दूसरा आयरलैण्ड तक फैला हुआ है।) इसके अतिरिक्त सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और धर्म (हिन्दू, बौद्ध, मुस्लिम, ईसाई) की दृष्टि से भी यह भाषा-परिवार संसार में सबसे अधिक व्यापक तथा गौरवशाली कहा जा सकता है ।

अब यह सिद्ध हो चुका है कि इस भाषा-परिवार की भाषाएं जहां जहां बोली जाती हैं, उनके पूर्वज एक ही थे और किसी प्राचीन काल में एक ही स्थान पर निवास करते थे । भाषा-वैज्ञानिकों ने ग्रीक, लैटिन, गाथिक, अवेस्ता और वैदिक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा केवल एक आदिम भाषा की ही कल्पना नहीं, अपितु उस भाषा को बोलने वाले मूलनिवासियों का नाम करण तक भी कर डाला है। उस आदि जनसमुदाय को 'विरोस' (Wiros) कहा गया है, यह आदिम भारत-हित्ती-भाषा का मनुष्यवाचक मूल शब्द है, जिससे वीर (संस्कृत), Vir (लैटिन), Wer (जर्मन) और Fer (आयरिश) शब्दों का विकास हुआ है। भारतीय आर्य तथा उक्त भाषा-परिवार के विशाल भूभाग के निवासी मूलरूप में इसी 'विरोस' जनसमुदाय की ही वास्तविक संतान हैं—यह तथ्य अब निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है।

आर्यों के पूर्वज 'विरोस' का मूल निवास स्थान कहां था, इस विषय में तीन मत प्रधान हैं। कुछ लोग भारत को, कुछ मध्य एशिया को तथा अन्य यूरोप को मूल भारोपीय अथवा भारत-हित्ती भाषा बोलने वालों की जन्मभूमि मानते हैं।

१—संस्कृत के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर आर्यों का आदि

स्थान मध्य-एशिया स्वीकार करते हैं।

२—स्कैंडेनेवियन भाषाओं के विद्वान् लैथम उक्त मत का खण्डन करते हुए युरोप को ही मूल स्थान सिद्ध करते हैं और स्कैंडेनेविया को विशेष रूप से उपयुक्त ठहराते हैं।

३—इटैलियन विद्वान् सेर्जी का विश्वास है कि एशिया माइनर का पठार ही मूल आर्यों की जन्म भूमि रहा होगा। हित्ती भाषा के अभिलेख भी यहीं उपलब्ध हुए हैं।

४—डाक्टर गाइल्ज ने 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया' में हंगरी को ही मूलस्थान प्रतिपादित किया है।

५—हर्ट महोदय पोलैण्ड को ही आदि स्थान घोषित करते हैं क्योंकि यहीं 'केण्टुम्' और 'शतम्' (भारोपीय–भाषा परिवार के दो प्रधान भेदों) का संधिस्थल है।

६—प्रो० श्रेडर ने दक्षिणी रूस में वोल्गा नदी के मुहाने और कैस्पेयिन सागर के उत्तरी तट के आस पास ही आर्यों के पूर्वजों का मूलस्थान सिद्ध किया है।

७—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने ज्योतिष शास्त्र के आधार पर उत्तरी ध्रुव को ही आर्यों का आदि स्थल माना है।

८—एक और भारतीय विद्वान् सरदेसाई रूस में बाल्कल झील के किनारे 'सात नदियों के देश' (सप्तसिन्धु) को ही अधिक तर्क-संगत कहते हैं।

९—स्वामी दयानन्द सरस्वती वेद-मंत्रों के आधार पर तिब्बत (त्रिविष्टप) में ही सृष्टि का आरंभ मानते हैं। १

१०—अविनाश चन्द्र दास और चिन्तामणि वैद्य पंजाब को ही आर्यों का मूलस्थान कहते हैं।

११—एल० डी० कल्ला के अनुसार आर्यों का आदि देश काश्मीर है।

१२—डी० एस० त्रिवेदी मुलतान (पंजाब) का अर्थ मूल स्थान करके उसे ही आर्यों की जन्मभूमि मानते हैं। चंद्रकांत बाली भी इसी मत के समर्थक हैं। २

१३—किन्तु डा० ब्रान्देन्शताइन ने

---

१. ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं
स्वर्गो लोक इति यं वदंति। अथर्व वेद ११।१।७

२. पंजाब प्रांतीय हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५

१९३६ में तुलनात्मक और ऐतिहासिक अर्थ-विज्ञान के आधार पर गवेषणात्मक अध्ययन किया और फिर से 'मध्यएशिया' वाले मत की पुष्टि की। उनके अनुसार यूराल पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित

विस्तृतप्रदेश ही भारतीय आर्यों की मातृभूमि है।

इससे स्पष्ट है कि मूल स्थान विषयक प्रश्न बहुत ही विवादास्पद है। पक्ष और विपक्ष में अनेक तर्क एवं प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं। फिर भी उक्त सभी मतों में रूस में वोल्गा नदी के समीप वाले प्रदेश को तथा मध्य एशिया वाले मत को ही अधिक मान्यता मिली है। डा० ब्रान्देन्श्ताइन की खोज ने तो पुनः 'मध्यएशिया' को 'आदि-स्थान' सिद्ध कर दिया है और डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या तथा अनेक अन्य विद्वान् भी बहुमत से इस का समर्थन करते हैं।[1]

डाक्टर महोदय का अनुमान है कि आदि भारोपीय लोग (विरोस) अपेक्षाकृत सूखे प्रदेश में पहाड़ की तराई में रहते थे। हरे भरे जंगलों से दूर थे। गाय, भेड़ बकरी, कुत्ता घोड़ा, सूअर, हिरन, खरगोश, चूहा, लोमड़ी आदि से परिचित थे। 'जंगली घोड़े को पालतू बनाना संभवतः 'विरोस' का अपने बर्बर काल की ऐहिक संस्कृति के लिये सब से बड़ी देन थी।[2] डा० ब्रान्देश्ताइन का मत है कि 'विरोस' भोजन के अभाव अथवा किसी अन्य कारण से अपने मूल स्थान से निकले। एक शाखा (भारत-ईरानी कुल की पूर्वज) संभवतः कुछ देर वहीं रही, जबकि दूसरी शाखा ने पश्चिम में पोलैण्ड की ओर मुंह किया, जहां आगे चल कर ग्रीक, लैटिन, गाथिक भाषा बोलने वालों के पूर्वजों ने जन्म लिया। फिर भारत-ईरानी-शाखा भी दक्षिण पश्चिम की ओर एशिया माइनर और मैसोपोटामिया तथा ईरान तक चली आई। यह दिग्विजय-यात्रा डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार लगभग ४५०० वर्ष पूर्व प्रारंभ हुई।[3] मैसोपोटामिया में १५०० ई० पू० में वैदिक देवताओं तथा संस्कृत के समान भाषा का व्यवहार देख कर कुछ विद्वानों का तो यह अनुमान भी है कि वास्तव में कुछ आर्य भारत में वैदिक संस्कृति की उन्नति के पश्चात् मैसोपोटामिया में फिर आ बसे थे। परन्तु यह मत अधिक मान्य नहीं है।

ईरान से आर्य भारत की ओर

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—पृष्ठ १५
२. वही,
३.ही—पृष्ठ ८

आए, परंतु एकदम नहीं, अपितु धीरे धीरे। संभवतः ईरान में आर्य दो दलों पर शाखाओं में विभक्त हो गए थे। एक तो देवपूजक थे और दूसरे असुरमेधा : या 'अहुर मजदाओं' के पूजक। देवपूजक आर्य भारत में चले आए, जबकि दूसरे आर्य वहीं रहे और वर्तमान ईरान के आदिवासी बने। भारत में आर्यों के प्रवेशकाल की चर्चा करते हुए डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या कहते हैं—"इस विषय में अपना मत प्रदर्शित करना दुःसाहस सा दिखाई देगा, परन्तु फिर भी यह समय ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के मध्य से अधिक प्राचीनतर तो हो ही नहीं सकता, पश्चात् का ही हो सकता है। (इस विषय का प्राचीन रूढ़ीवादी हिन्दूमत, —कि आर्य भारत में ही स्वयंभूत हुए थे—तो विचारणीय ही नहीं है।) १—अस्तु,

आर्य जब भारत में आए, तो यहां पहले से ही कुछ ऐसी जातियां विद्यमान थीं, जिनकी सभ्यता उच्चस्तर की थी आर्यों ने अपनी संघटित शक्ति के द्वारा भारत की तत्कालीन द्राविड़ निषाद एवं किरात जातियों को पराजित किया तथा उनके समन्वयात्मक रूप से एक संपूर्ण प्राचीन भारतीय संस्कृति को जन्म दिया, जिसकी भूमिका वहां पहले ही तैयार हो चुकी थी। इस प्रकार आर्य एवं अनार्य तत्वों से मिल कर ही सनातन भारतीय-संस्कृति का वटवृक्ष फलने से फूलने लगा जिसकी छाया में एक ऐसे समाज का निर्माण हुआ, जो 'भेद में अभेद भावना' का ज्वलंत उदाहरण था। उसका आधार वैदिक संस्कृत साहित्य था, जिका प्रचार आर्यों ने अनार्यों से लेखन कला सीख कर किया।

● ● ●

---

१. भारतोआर्यभाषा और हिन्दी—पृष्ठ २०

हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर

प्रो० श्रुतिकान्त

यह उक्ति उस व्यक्ति की है जो न तो परम्परा वादी था, न वेद-शास्त्रों का भक्त था, जिसका मस्तिष्क आज के तार्किक के मस्तिष्क से अधिक तर्कपूर्ण था और जो सत्य तथा असत्य को परख में किसी से भी पीछे नहीं था। वस्तु को ठोक बजा कर, तर्क की कसौटी पर कस कर स्वीकार करना उस व्यक्ति का स्वभाव था। जो वस्तु उसे नहीं जंची उसका उसने डट कर विरोध किया। अन्ध-श्रद्धा के नाम पर प्रचलित सभी विश्वासों को उसने अमान्य घोषित किया पर गुरु के विषय में उसके मुख से जो शब्द निकले उनमें उसके श्रद्धा-विगलित हृदय की झांकी स्पष्ट रूप में दीख पड़ती है। उपरोक्त दोहे के अर्धभाग में लेखक के यावज्जीवन अनुभव का निचोड़ हैं। वास्तविक बात तो यह है कि प्राचीन भारतीय मनीषा ने ज्ञानार्णव का मन्थन कर जिन अमूल्य रत्नों की उपलब्धि की है उनमें गुरु-भक्ति भी एक है। इस दुर्लंघनीय भव-सागर को पार करने के लिये सभी साधकों ने दीर्घकाल तक साधना की और परिणाम-स्वरूप उन्होंने आत्मा तथा परमात्मा एवं भक्ति तथा ज्ञान से संबंधित जिन अनेक सिद्धान्तों की स्थापना की उनमें पारस्परिक मत-विरोध होते हुए भी गुरु के स्थान और उसकी महत्ता के बारे में एक आश्चर्यजनक मतैक्य पाया जाता है।

वैदिक काल में गुरु का स्थान सर्वोच्च था। उन दिनों यज्ञों की प्रधानता थी और उसके लिये गुरु (पुरोहित) की शरण में जाना अनिवार्य था। कालान्तर में जब यज्ञों एवं कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई तब भी गुरु का महत्त्व ज्यों का त्यों बना रहा। उपनिषदों में यज्ञों की निस्सारता का उल्लेख है और कर्मकाण्ड के स्थान पर अध्यात्म की चर्चा है पर वहां भी गुरु का महत्त्व उसी प्रकार बना हुआ है। यदि कबीर ने गुरु और गोविन्द दोनों में गुरु की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है तो श्वेताश्वतरोपनिषत् में "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्देवो गुरुः साक्षात् महेश्वरः" कह कर गुरु को साक्षात् परमेश्वर का ही रूप

दे दिया है । स्नातक को दीक्षान्त-संस्कार में जहां अन्य शिक्षाओं को ध्यान में रखने की बात कही जाती थी वहां "पितृदेवो भव "आचार्य देवो भव" के साथ साथ "आचार्य" देवो भव" का भी उपदेश दिया जाता था । प्रत्येक जिज्ञासु गुरु की खोज में इधर उधर भटकता दीख पड़ता है ।

"मनुस्मृति" नामक विधि-शास्त्र में एक स्थान पर "आचार्य ब्रह्मणो मूर्तिः" कह कर उसे ब्रह्म का स्थान दिया गया है और दूसरे स्थान पर "उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान ब्रह्मदः पिता" कह कर उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। अति-प्राचीनकाल से प्रयुक्त "द्विज" शब्द ही भारतीय जीवन में गुरु के उच्च स्थान का द्योतक है । माता पिता बच्चे को जन्म देते हैं पर आचार्य शिक्षा द्वारा उसे दूसरा जन्म देकर द्विज बनाता है । कहा गया है कि गुरु की अकारण निन्दा करने वाला शिष्य गधा होता है । उसकी निन्दा सुनना भी पाप है । कहा गया है कि जहां गुरु की निन्दा हो रही हो वहां या तो कान बन्द कर लेने चाहिएं या वहां से उठ कर अन्यत्र चले जाना चाहिए ।

कवि-कुल-गुरु बाल्मीकि द्वारा विरचित "रामायण" भारत का सर्वप्रथम साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महाकाव्य है । वहां गुरु का स्थान माता और पिता से भी ऊपर है । उसकी आज्ञा वहां ब्रह्मवाक्य के समान अनुलंघनीय है । विश्वामित्र के कहने पर राजा दशरथ अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्रों को उनके हाथ सौंप देते हैं । महाभारत इस प्रकार की अनेक कथाओं से भरा पड़ा है । आयोद धौम्य ऋषि के शिष्य आरुणि खेत की कटी हुई मेढ़ के ऊपर से पानी बहता देख कर उसे रोकने के लिये किस प्रकार रात भर वहीं पानी में लेटे रहे और सुबह गुरु जी द्वारा ढूंढ निकाले जाने पर ही वहां से उठे । उनके दूसरे शिष्य उपमन्यु ने गुरु की आज्ञा पाकर किस प्रकार खाने पीने की सभी वस्तुओं का परित्याग कर दिया, किस प्रकार वह शिष्य अन्धा होकर कुएं में गिर पड़ा और गुरु के आदेश से बाहर निकल कर अश्विनी कुमारों की स्तुति द्वारा उसने दृष्टि लाभ किया आदि अनेकानेक कथाओं से भारतीय पाठक भली भांति परिचित हैं । कर्ण ने परशुराम को गुरु रूप में प्राप्त करने के लिये कैसी कठोर परीक्षा दी और एकलव्य, भील आचार्य द्रोण की मिट्टी की मूर्ति को ही गुरु मान कर अटल भक्ति से किस प्रकार साधना में संलग्न रहा ये बातें भी विद्वान् पाठकों से छिपी नहीं हैं।

संस्कृत-साहित्य के परवर्ती काव्य-ग्रन्थों में भी गुरु के प्रति इसी श्रद्धा और

सम्मान के दर्शन होते हैं। कालिदास के "रघुवंश" में बताया गया है कि कुत्स ऋषि का शिष्य ककुत्स्थ गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिये किस प्रकार सब कुछ करने को तैयार है। गीता में भगवान् कृष्ण ने ज्ञान की प्राप्ति के साधनों में सेवा (गुरु की) को जो गिनाया है वह भी इसी बात का द्योतक है। जहां कहीं गुरु का उल्लेख है वहीं लेखक का श्रद्धा-विगलित हृदय झलकता दीख पड़ता है।

देवताओं और दानवों की कलह साहित्य में प्रसिद्ध है। यह कलह चाहे जिन सिद्धान्तों को लेकर चली हो पर जहां तक गुरु भक्ति का संबंध है, दोनों का मत एक ही है। देवताओं में बृहस्पति का स्थान सर्वोच्च था और देवराज इन्द्र भी उनके आदेश का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकते थे। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य में उनकी मन्त्रणा आवश्यक होती थी और उनका आदेश सभी को शिरोधार्य होता था। दानवों के राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा से अप्रसन्न होकर जब देवयानी अपने पिता और दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य को लेकर राज्य से बाहर जाने लगी और दानवों (दैत्यों) के अनुनय विनय से भी जब वे न रुके तो गुरु को प्रसन्न करने के लिये शर्मिष्ठा ने एक सहस्र वर्ष तक देवयानी की दासी बन कर रहना स्वीकार किया था। सही बात तो यह है कि उन दिनों गुरु को रुष्ट करना दुःसाहस समझा जाता था और उसकी आशंकामात्र से उन धर्मपरायण व्यक्तियों के रोंगटे खड़े हो जाते थे।

संस्कृत-साहित्य के पश्चात् हमारा ध्यान बरबस हिन्दी के भक्ति-कालीन साहित्य की ओर आकृष्ट हो जाता है। इस काल के सगुण और निर्गुण, दोनों ही प्रकार के कवियों की रचनाओं में गुरु को उसी आदर के साथ याद किया गया है जिस आदर के साथ प्राचीन समय में किया जाता था। क्या सिद्ध-साहित्य, क्या नाथपन्थी साहित्य, सभी में गुरु का स्थान सर्वोच्च है। कबीर के लिये गुरु और परमेश्वर, दोनों ही समान रूप से श्रद्धा के पात्र थे। यदि फिर भी दोनों में से एक की ही छांट का प्रश्न सामने आ जाये तो वे गुरु को ही प्राथमिकता देंगे, इसमें सन्देह नहीं। वे एक बार हरि के रूठने को तो उपेक्षा कर सकते हैं पर गुरु का रूठना तो मानो सर्वनाश का सूचक है। गुरु के बिना शिष्य अन्धा है, मूक है और पशु है। गुरु ही उसे ज्ञान-चक्षुओं द्वारा देखना सिखाता है, उसे साधुजनों की सभा में बोलने योग्य बनाता है। और सब से बड़ी बात तो यह है कि वह उसे पशुत्व के नीचे

धरातल से ऊपर उठा कर सच्चे मानवत्व की ओर ले जाता है ।

भक्ति की विह्वलकारिणी रचनाओं द्वारा रसिकों के मन-मानस को आमोदित करने वाले अमर कवि सूरदास भी गुरु और ईश्वर को एक ही मानते हैं। उनसे यह पूछे जाने पर कि भगवान् की भक्ति में तो उन्होंने सहस्रों पद लिखे पर गुरु के लिये कुछ नहीं लिखा उत्तर दिया कि वे तो गुरु, को साक्षात् नारायण ही समझते हैं। दोनों में अन्तर न होने से नारायण की स्तुति गुरु की ही स्तुति थी। रामचरित मानस के अमरवैतालिक कवि-कुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास ने भी गुरु के प्रति अपार भक्ति-भाव प्रदर्शित किया है। उन्होंने अपने गुरु को नररूप में भगवान् "नररूप हरि" ही कहा है। गुरु के वचनों की उपमा उन्होंने भगवान् भुवनभास्कर की उन प्रखर किरणों से दी है जिन के आते ही विश्व भर का अन्धकार दूर हो जाता है प्रसिद्ध सन्त कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने ग्रन्थ "पद्मावत" में तोते के रूप में गुरु को ही मिलन मार्ग का सूत्रधार कहा है । जायसी के अनुसार निर्गुण और अव्यक्त ईश्वर की प्राप्ति गुरु द्वारा ही संभव है । सिक्ख धर्म में तो गुरु का ही महत्त्व सब से अधिक है। सिक्ख का अर्थ है शिष्य अर्थात् वह व्यक्ति जो गुरु द्वारा अनुशासित होने को तैयार हो शिष्य गुरु के हाथों में अपने जीवन की बागडोर सौंप कर उसी प्रकार निश्चिन्त हो जाता है जिस प्रकार शिशु मां की गोद में। अर्जुन भी तो अन्त में शिष्य बन कर ही कृष्ण की शरण में आ गया था—

"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।"

जिस प्रकार निर्जीव पाषाण-प्रतिमा कुशल शिल्पी के हाथों में पड़ कर सजीव हो उठती है, जिस प्रकार इधर उधर बिखरी हुई रेखा में सफल चित्रकार की तूलिका का सहारा पाकर मुखरित हो उठती हैं, जिस प्रकार अनगढ़ सोने का ढेर चतुर स्वर्णकार के करों से स्पृहणीय आभूषणों में परिवर्तित हो जाता है और जिस प्रकार झाड़झंखाड़ों से परिपूर्ण भूखण्ड माली के छूते ही उद्यान का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार साधारण से साधारण एवं नगण्य व्यक्ति भी गुरु चरणों के प्रताप से ऐसे महान् पुरुषों के रूप में सामने आते हैं कि उन्हें देख कर लोगों की आंखें चौंधिया जाती हैं। जिस प्रकार कुम्हार घड़े में हाथ डाल कर उसे इधर उधर से थपक कर उसकी कमी को निकाल देता है उसी प्रकार गुरु शिष्य के मानसिक और कायिक, सभी कालुष्य को दूर कर उसे नवीन आभा से मंडित कर देता है ।

अपढ़ व्यक्तियों की तो बात ही क्या, विद्वानों तक के जीवन में अनेक बार अनेक समस्यायें विकराल रूप धारण कर उपस्थित हो जाती हैं। गीताकार भगवान् कृष्ण के शब्दों में कर्म और अकर्म के निर्णय में बड़े बड़े मनीषियों की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। कर्म, विकर्म और अकर्म को जानना टेढ़ी खीर है। श्रुतियां और स्मृतियां जिन सिद्धान्तों का समर्थन करती हैं वे प्रायः एक दूसरे से भिन्न हैं, ऋषियों और मुनियों के वचन भी एक दूसरे से मेल नहीं खाते। ऐसी स्थिति में कर्त्तव्य का निर्धारण कठिन हो जाता है। यक्ष के प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने ऐसी स्थिति में महान् पुरुषों के आचरण को ही प्रमाण बताया है। पर यहां भी बुद्धि उलझन में फंस जाती है। शास्त्रों में दान देना पुण्य की बात कही गई है पर बालि को दान देने के कारण ही पाताल जाना पड़ता है और वह भी भगवान् विष्णु के हाथों। महाभारत में एक आचार्य दस उपाध्यायों के बराबर सौ आचार्य एक पिता के बराबर और एक मां सहस्र पिताओं के बराबर कही गयी है। महाभारत में ही एक अन्य स्थान पर मां को पृथ्वी से भी अधिक भारी कहा गया है। पर परशुराम पिता के कहने पर मां का बध कर देते हैं और पाप के भागी नहीं बनते।

एक जगह अहिंसा को धर्म का सार कहा गया है तो दूसरे स्थान पर आततायी को देखते ही मार देने का विधान है। कहीं सत्य और सत्यवादी की महिमा का वर्णन करते करते शास्त्र थकते नहीं और कहीं नीति का आश्रय लेकर असत्य बोलने में भी पाप नहीं माना गया। पितामह भीष्म ने कर्णपर्व में अर्जुन से और शान्तीपर्व में युधिष्ठिर से ऐसी ही बातें कही हैं। कितने ही स्थलों पर सत्य की अपेक्षा ऐसे वचन कहने की बात कही है जो सब के लिये हितकारी है। राजा शिवि कबूतर की रक्षा के लिये अपने शरीर से मांस काट कर देने को तैयार हैं तो दूसरी जगह जीवन-रक्षा के निमित्त अभक्ष्य का भक्षण करना भी शास्त्र-विहित कहा गया है। उषस्ति चान्द्रायण ऋषि हाथी के जूठे उड़द खाने में पाप नहीं समझता पर हाथीवान् का दिया जल पीना स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में पहला धर्म है और दूसरा अधर्म। कहीं गुरु को साक्षात् परमेश्वर का रूप दे दिया गया है तो कहीं थोड़ी सी गलती पर उसको अनुशासित करने की बात कही गई है। जब जीवन में ऐसे संकट उपस्थित हो जायें तो गुरु

के सिवाय और कौन मार्ग प्रदर्शन कर सकता है?

गुरु की आवश्यकता जीवन के सभी क्षेत्रों में होती है। चाहे वह राजनीतिक हो या धार्मिक। सामयिक परिस्थितियों के अनुसार हमारे कार्य का क्षेत्र भले ही बदल जाता हो पर हमारी मौलिक समस्यायें लगभग उसी प्रकार की बनी रहती हैं। पहले हमारे जीवन का संचालन धर्म के नाम पर होता था और अब राजनीति के नाम पर। इस ऊपरी आवरण के बदल जाने पर भी क्या किसी अनुभवी और ज्ञान निष्णात व्यक्ति के बिना हमारा काम चल पाता है? स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व बापू का आदेश हमारे लिये ईश्वर के आदेश के समान था। वे कांग्रेस के चवन्नी के सदस्य न होते हुए भी उसके सर्वेसर्वा थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात नेहरू जी का आदेश जन-साधारण को उसी प्रकार मान्य हुआ। नेहरू जी मृत्यु पर्यन्त कांग्रेस के गुरु रहे, मार्ग प्रदर्शक रहे। साम्य-वादियों के लिये मार्क्स का कथन उतना ही प्रमाणिक है जितना श्रद्धालु हिन्दू को वेद-वचन मान्य होता है। चीन में माओ त्से तुंग का कथन गुरु-वाक्य के समान मान्य समझा जाता है। यदि गहराई में जाकर दखें तो इनका रूप प्राचीन गुरु के रूप से भिन्न नहीं मिलगा। हम यह भी स्पष्ट करदें कि किसी को गुरु मान कर उसके बताये मार्ग पर चलने का अर्थ अपने मस्तिष्क को गिरवी रख देना नहीं है अपितु इसका अर्थ है दूसरे के दीर्घकालीन अनुभवों से लाभ उठा कर अपनी जीवन-यात्रा को सुगम बनाना।

दो शब्द आधुनिक युग के विषय में भी कह देना असंगत न होगा। आज विद्या-प्राप्ति के साधन बहुत अधिक सुलभ हो गये हैं। छापेखाने की सुविधा से ज्ञान विज्ञान की पुस्तकें दर दर ठोकरें खाती फिर रही हैं पर फिर भी सच्ची विद्या सीखने का अब भी एकमात्र उपाय गुरु सेवा ही है। "तो विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" कृष्ण की यह शिक्षा अति प्राचीन होते हुए भी चिरनवीन है और उसकी उपादेयता आज भी उसी प्रकार बनी हुई है। गुरु के चरणों में श्रद्धावनत हुए बिना विद्या प्राप्ति की आशा दुराशामात्र ही है। फिर आज के युग का जीवन उतना सरल नहीं जितना पहले का था। यदि आज ज्ञान विज्ञान की सुविधाएं बढ़ी हैं तो समस्यायें भी और जटिल हो गई हैं। इन्हें सुलझाने के लिये किसी न किसी गुरु की आवश्यकता होगी ही। चाहे वह कोपीनधारी हो या चाहे पैंट कोट में सजा धजा साहब हो।

यह ठीक है कि आजकल प्राचीन

युग के कर्मठ, निस्पृह एवं आचारवान् गुरुओं की कमी है पर फिर भी उनका नितान्त अभाव नहीं। "जिन खोजा तिन पाइया" के अनुसार डुबकी लगाने पर मोती मिल ही जाते हैं। रत्नगर्भा पृथ्वी में रत्नों की एकदम कमी नहीं हो गई है। आवश्यकता है सही दिशा में सही यत्न करने की। अन्त में हमें फिर याद करना है कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम का निर्माण अयोध्या के विशाल प्रासादों में नहीं अपितु विश्वामित्र और वसिष्ठ की पर्ण कुटीरों में हुआ था। आचार्य संदीपनी के चरणों में बैठ कर ही गोपाल कृष्ण योगीराज एवं भगवान् की पदवी तक पहुंचे थे। अर्जुन द्रोणाचार्य की कृपा से ही सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बन सके थे। शिवाजी समर्थ रामदास की प्रेरणा से ही छत्र-पति हिन्दु-सम्राट् के ऊंचे पद तक पहुंच पाये थे। आज की शैक्षिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का समाधान सच्चे मार्ग-प्रदर्शन द्वारा ही संभव है और यह मार्ग-प्रदर्शन अनुभव निष्णात व्यक्ति द्वारा ही संभव है, आप उसे चाहे जिस नाम से पुकारें।

● ● ●
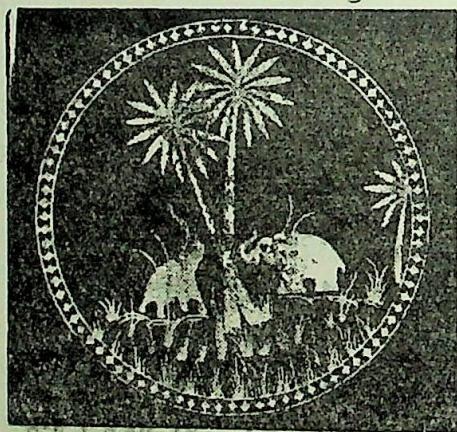
हरियाणा के भूले बिसरे कवि

महात्मा हरिदास

राजा राम शास्त्री

महर्षि वाल्मीकि को यौवन काल तक क्या पता था कि वे संसार के महान् प्रतापी महर्षियों में से एक होंगे ? उनका जीवन लूटपाट का जीवन था । बटमारी उनका धंधा था कि सहसा घटना चक्र तेज़ी से घूमा और वाल्मीकि का जीवन तपश्चर्या की ओर घूम गया । वे डाकू से महर्षि हो गए और सहसा महाकवि भी !

राणीला ज़िला महेन्द्रगढ़ में दादू पंथी मठ के संस्थापक श्री हरिदास जी का जीवनवृत्त ठीक वाल्मीकि जी से मिलता है । हरिदास जी आरम्भ में 'हरिसिंह' थे और ज़िला हिसार में आज से लगभग अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व लूटपाट का काम करते थे । उनका नाम बच्चे बच्चे की जिह्वा पर था । उनके भय के मारे लोग समूह बना कर एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते थे । उनका पूरे प्रदेश पर आतंक था ।

समय बदलते देर नहीं लगती । साधारण सी घटना बड़े से बड़े जीवन को पलट कर रख सकती है और वही श्री हरिसिंह जी के साथ हुआ ।

एक दिन बहुत से लोग समूह बना कर यात्रा कर रहे थे । जंगली रास्ता था। सायं समय होने वाला था । रात काटने के लिये उन्होंने स्थान निश्चित किया । हरिसिंह तो ऐसे लोगों की टोह में सदा रहता ही था । वह भी अंधेरा होते ही वहां आ पहुंचा । जब हरिसिंह वहां पहुंचा तब दैव योग से उसी के बारे में यात्री बात चीत कर रहे थे । एक निर्बल से व्यक्ति ने कहा 'कहीं ऐसा न हो कि हरिसिंह हमारी बात यहीं कहीं खड़ा सुन रहा हो ? ' दूसरे यात्री ने उत्तर दिया 'सुनता होगा तो क्या हम उससे कुछ कम हैं ?' वही दुर्बल यात्री बोल उठा 'भाई जी! यह हिम्मत तभी तक है जब तक वह आ नहीं जाता। उसके आने पर तो एक क्षण में सिट्टी

पिट्टी भूल जाओगे।' उन्हीं में से एक और बोल उठा। 'हरिसिंह बहुत ज़ालिम है। उसने आज तक न जाने कितने बच्चों को यतीम कर दिया है। कितनी सुहागिनों के सुहाग लूटे हैं।' यह सुनकर एक यात्री से न रहा गया। वह बोल उठा, 'हरिसिंह के बालबच्चे नहीं हैं क्या? उसे ख्याल नहीं आता कि यदि उसके बच्चे यतीम हो जायें तो उन की क्या दशा हो?

इन बातों का हरिसिंह पर बहुत प्रभाव हुआ। उसका पत्थर सा दिल आंसू बन कर पिघल चला। वह सहसा हाथ जोड़ कर उन यात्रियों के सामने आ खड़ा हुआ। अपना परिचय दिया और अपने पिछले कृत्यों के लिये उन के सामने पश्चात्ताप किया और उसी दिन से लूट मार का धंधा छोड़ वह साधु होगया।

आरम्भ में 'इन्होंने' गुरु की खोज की जो सच्चा मार्ग दिखा सके। उन दिनों हिसार के निकट 'उमरा' नामक गांव में नारायण दास नाम के एक उच्च कोटि के महात्मा रहते थे। उनकी कीर्ति दूर दूर तक फैली हुई थी। हरिसिंह जी भी उनका नाम सुन 'उमरा' पहुंचे और दीक्षा देने की प्रार्थना की। अपना जीवन वृत्त भी कह सुनाया और अन्त में इन्हीं महात्मा से दीक्षा लेकर ये हरिसिंह से हरिदास हुए। ये ही वे हरिदास जी थे जो बाद में महान् तपस्वी और पहुंचे हुए महात्मा प्रसिद्ध हुए।

इन्हीं दिनों राणीला के निकट 'माजरा' ग्राम में एक प्रसिद्ध वैष्णव महात्मा रहते थे जो महान् योगी थे। इनका नाम था स्वामी नित्यानन्द जी महारज। इनके नाम से इनका हरियाणा में एक सम्प्रदाय भी प्रचलित हुआ।

श्री हरिदास जी दीक्षा लेने के पश्चात् गुरु जी की आज्ञा से इधर उधर भ्रमण और महात्मा जनों का सत्संग करने लगे। ये बवाणी खेड़ा, भिवानी, बौंद आदि ग्रामों में होते हुए राणीला पहुंचे और वहीं पर्याप्त समय तक विराजे।

'माजरा' और राणीला परस्पर निकट थे अतः 'नित्यानन्द' जी और 'हरिदास' जी में परस्पर सत्सङ्ग भी चलता। श्री नित्यानन्द जी जब मालवा की यात्रा पर गए तब 'श्री दादू नगर' नरेणा भी पहुंचे और वहां श्री दादू जी के गुरुद्वारे पर शीश नवाते समय —

दादू तो आदू भये, अमरपुरी के राव।
नित्यानन्द की बीनती, बड़ी भेंट है भाव॥

आदि पांच साखियां उच्चारण कीं। जब स्वामी नित्यानन्द जी यात्रा से लौट कर पुनः 'माजरा' पधारे तब

इन्होंने स्वामी हरि दास जी को स्मरण किया ! कहते हैं कि हरिदास जी महाराज के साथ जब वे सत्संग में लीन थे तभी सहसा ब्रह्म लीन हो गए ।

इस घटना का श्री हरिदास जी पर विशेष प्रभाव हुआ और उस दिन से वे 'राणीला' में एकान्त में रह कर आत्म चिन्तन में लीन हो गए। कहते हैं कि इसी चिन्तन काल में उन्हें आत्म साक्षात्कार हुआ और तब से वे जन-कल्याण के लिये भ्रमण करने लगे । वे बौंद, कलानौर होते हुए 'मोखरा' की सघन वणी में पहुंचे । वह स्थान उन्हें बहुत भाया सो वहीं ठहर कर पुनः भजन मनन में लग गए ।

कलानौर प्राचीन राजपूतों की बस्ती है । वे प्रायः जंगल में शिकार खेलने जाते । एक दिन चूहड़खां नाम के एक शिकारी ने बणी में दूर से हरिण को बैठे देखा । उसने निशाना बांध कर गोली छोड़ी और भाग कर शिकार उठाने गया तो क्या देखता है कि कोई महत्मा अपने घायल पांव पर पट्टी बांध रहे हैं। चूहड़खां को यह देख कर बहुत पश्चाताप हुआ और वह अनुनय विनय कर हरिदास जी को अपने साथ कलानौर ले आया और सेवा में लग गया । गांव वालों ने इनकी तपस्या और साधुता से प्रभावित होकर इनके लिये एक कुटिया बनवा दी जो आज तक विद्यमान है और दादू सेवकों में बहुत ख्याति प्राप्त स्थान है ।

इन्हीं दिनों कलानौर में एक मुसलमान फकीर भी रहते थे जो बहुत पहुंचे हुए थे । दोनों महातमाओं की ज्ञान गोष्ठी प्रायः होती । इस ज्ञान गोष्ठी पर कही गई हरिदास जी की कविताएं 'नसीहत नामा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और हरियाणा के लोगों को कण्ठस्थ भी उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के तौर पर 'नसीहत नामा' की कुछ पंक्तियां उद्धृत कर देना असामयिक न होगा । काफिर का लक्षण सुनिये—

समझ सोचि के बोले सेख।
सो काफिर बूझे नहीं एक ।
दरद बिना दरवेस कहावै ।
सो काफर दोजग महि जावै ।
सो काफर काफर का खाह ।
ब्याज मूल दोन्यों ले जाह ।
हक हलाल हराम न जाने ।
माल बिराणा घर में आने ।
हुज्जत हिरस जुलम दुखदाई ।
काफर तिस कूं कहिए भाई ।
झूठा न्याव करे ले कौड़ी ।
बहुरि करे झूठे की ओड़ी ।
झूठ कपट सीखे ठग बाजी ।
सो काफर दोजग महिकाजी ।
सो काफर जो पूजै गैर ;

होते दरब न बांटै खैर ।
सो काफर जो जूवा खेलै ।
कै सो काफर जादू मेलै ।
सो काफर नीडर नहीं डरै ।
नेक पुरुष की निन्दा करै ।
गुनह दोष कछु खता न पावै ।
घरि बैठे कूं आणि सतावै ।
सो काफिर जो मिथ्या बोलै ।
पर नारी सौं परदा खोलै ।
बगनी गांजा मदिरा पीवै ।
भांग तमाखू देख्यां जीवै ।
पांच पहर धंधा में खोवै ।
तीन पहर पसुवा ज्यों सोवै ।
खैर बन्दिगी दोन्यों नाहीं ।
सो काफर दोजग महि जांहि ।
सो काफर कृतमकूं पूजै ।
सिर परसिरजन हार न सूझै ।
झूठे आगे साचा मारै ।
तिस कूं काफर कहैं हमारै ॥

दे काफिर हजरति नहे हरीदास हरिखोह
हनकूं मोमिन मुसलमान कहे सो
काफिर होई ।

इन पद्यों में हरियाणवी शब्दों की छटा दर्शनीय है । काफिर का लक्षण कहने के पश्चात् मोमिन (पक्के मुसलमान) का लक्षण भी श्रीहरि दास जी के शब्दों में दर्शनीय है ।

बहुरि अतीत फकर सौं कह्या ।
हजरत एक अन्देसा रह्या ।
काफर के सब अंग बखाणे ।
मोमिन के लक्षण नहीं जाणे ।

दोहा—हजरत कहै अतीत सों संसै रहै न
कोइ ।
मोमिन के लक्षण कहूं भिस्त सरीको
होय ॥

सो मोमिन मालिक सौं डरै ।
भंडारे मैं भेद न करै ।
दुबिध्या दुर्मति डारै धोइ ।
असली मोमिन कहिए सोइ ।
दरद बंद साहिब का प्यारा ।
हुज्जत हिरसि जुलम तैं न्यारा ।
नेकी नीति अकीन सबूरी ।
हरदम हाजिर होइ हजूरी ।
दीन गरीबी बाटै खांणां ।
हुर पियाले भिस्ति ठिकाणां ।
चोरी जोरी जूवा त्यागै ।
पर नारी सौं अलगा भागै ।
हक बिराणां माल न चाखै ।
सूर सर्प बिष्टा करि नाखै ।
मिहर मुहब्बत सब सुख दाई ।
मोमिन तिसकूं कहिए भाई ।
... ...
... ...

ये मोमन हजरत कहे, हरिदास करि प्यार
येई तालिब अलख के येई अला के यार ॥

महात्मा हरिदास जी जाति के राजपूत (हिन्दू) थे किन्तु इन कविताओं में उन्होंने हिन्दू मुस्लिम का भेद मिटा कर कौन वास्तव में मोमिन है और कौन काफिर यह दर्शाने का यत्न किया है । इन में शारीरिक चिन्हों को महत्व

न देकर पुण्यात्मा मोमिन और पापात्मा काफिर बताया गया है फिर चाहे वह किसी भी मत का मानने वाला क्यों न हो । इस प्रकार महात्मा हरिदास जी ने हिन्दू मुस्लिम भेद को मिटाने का यत्न अपनी कविताओं द्वारा किया ।

महात्मा हरिदास जी की शिष्य परम्परा पर्याप्त है जो प्रायः समस्त हरियाणा में फैली है । इनके २२ शिष्य इन्हीं के समान तपस्वी और योगी हुए जिनके आगे चल कर दो भेद हो गए । उन्हें बड़ी बाईसी और छोटी बाईसी के नाम से स्मरण किया जाता है । बड़ी बाईसी में उनके १७ शिष्यों की परम्परा सम्मिलित है और छोटी बाईसी में पांच शिष्यों की । वास्तव में बड़ी और छोटी दोनों को मिला कर ही बाईस की संख्य पूर्ण होती है । हरियाणा में इनके स्थान निम्न प्रकार हैं :—

१—राणीला २—बुवाणी ३—भिवानी ४—माणकावास ५—गागड़वास ६—सांभर ७—गूढ़ा ८—झाझर ९—तालाव १०—धामड़ ११—रमते-राम १२—उदे रामसर १३—रमते रहे १४—मोखरा १५—हरना १६—पीपलोद १७— छतू मोहड़ा १८ — भैणी १९—कलानौर २०—बूँद २१—काहनौर २२—दूबलधन ।

ऊपर उन स्थानों के नाम दे दिये गए हैं जहां इनके बाईस शिष्यों ने रह कर तपस्या की और स्थान बना कर धर्म प्रचार किया । इनके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थान श्री हरिदास जी के प्रशिष्यों के प्राप्य हैं ।

वैसे तो स्वामी जी अनेक स्थानों पर भ्रमण करते रहते थे किन्तु राणीला ज़िला महेन्द्रगढ़ के भक्तों की श्रद्धा विशेष के कारण वे अधिकतर राणीला में ही रहे । उनकी कविता भी प्रायः राणीला में ही रची गई । इनकी कविता को प्रायः पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम अंग नाम । जिसमें गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं —

पातिसाह रहिमान है,
सत गुर तहां दीवान ।
गुर उमरावां हरीदास,
मिलि करि दीन्हा ज्ञान ।।
हरि मक्का है हरीदास,
दरिया सागर मांहि ।
गुरु जहां जां वैसि करि,
मरद मुसाफिर जाहि ।।
हरि पर्वत में धातु सब,
खानि भरी है रेत ।
गुरु कारीगर हरीदास,
उलटि संवारै छेति ।।

इसके अतिरिक्त सुमिरण, बिरह, सुन्दरी, सूरातन आदि १३ विषय हैं जिन पर कुल ४८० पद्य कहे गए हैं ।

दूसरा भाग अरिल नाम से है। इसमें प्रायः ६६ पद्य हैं। पतिव्रता के विषय में इस भाग की कुछ पंक्तियां देखिए।

पतिव्रता का प्रण सुणाऊं तोयरे,
एक मर्द विन मर्द न दूजा कोय रे।
ऐसी प्रीति अखण्ड ब्रह्म सों कीजिये,
हरि हांयो हरीदास अमीरस पीजिये।
पतिव्रता का ज्यूं ध्यान धरणी का धार रे
जीवैगा कै काल धरम को हार रे।
कृत्म झूठा जाणि शरण ले श्याम की
यों हरीदास हरि हां दुहाई राम की ॥

सूम अर्थात् कंजूस के बारे में दो एक पद्य देखिए:–

माया बेटी सूम बंधी घर मांहि रे
ऊधलि जायगी बीर रहेगी नांहि रे।
अपणे हाथों आप धणी कूं सौंपिये
यहु हरीदास हरि हां पड्या जस लीजिये ॥
साहिब दीया तै देय बणें तो बांटिये
घर महि होते बीर कदे नहीं नाटिये।
रीते हाथों उठि इहां थैं जाहिंगे
हरीदास हरि हां बहुरि पछितांहिगे ॥

तृतीय भाग १६६ पदों का है जिसमें अनेक रागों का विस्तार है। कहते हैं कि महात्मा हरिदास स्वयं एक सिद्ध रागी थे। उनके बारे में प्रसिद्ध है कि राणीला में जब ये रह रहे थे तब चारों ओर घोर अकाल फैला हुआ था। एक दिन किसी ने महात्मा जी को सिद्धि के बल वर्षा करने के लिये बहुत तंग किया। पहले तो उन्होंने बहुत टाला पर जब वह किसी प्रकार न माना तो पूछ बैठे कितनी वर्षा चाहिए? इस प्रश्नोत्तर के समय वे एक ऊंचे वृक्ष के नीचे बैठे थे। वह सहसा बोल उठा 'महाराज कम से कम इस वृक्ष की चोटी तो डूबनी ही चाहिए।' कहते हैं महाराज हरिदास जी ने मलहार राग में स्तुति आरम्भ की और थोड़ी ही देर में उमड़ घुमड़ कर बादल आ पहुंचे। तब जो प्रलयंकारी वर्षा आरम्भ हुई उसने थमने का नाम न लिया। लोग त्राहि त्राहि कर उठे। तब तक सिद्धि वाली बात भी गांव में फैल चुकी थी। तब लोग जुड़ कर महाराज जी से वर्षा बन्द करने के लिये प्रार्थना करने लगे। उन्होंने वृक्ष की चोटी की ओर संकेत कर कहा? 'अभी चोटी दूर है।' बहुत प्रार्थना करने पर उन्होंने निर्देश दिया कि वृक्ष की चोटी की टहनी काट कर नीचे पानी में गिरा दीजे तभी वर्षा बन्द होगी और कहते हैं कि हुआ भी ऐसा ही।

चौथा भाग कवित्त और सवैयों का है। इनमें कवित्त की संख्या ४६ और सवैयों की संख्या २८ है। दो एक कवित्त देखिए—

खुद खाविंद के पास जार की सेज बिछावै।
जार जीव तें जाह नारि सो नाक कटावै ॥

ले पाजी की ओर मुंह नरपति सौं फेर
दे दोन्यूं की मसक, बांधि, कोल्हू में।
गेरै ।।
पड़े स्याल की शरणि नीच नाहर सौं तोड़ै ।
मारि करे चकचूर शीश दोन्यू का फोड़ै ।।
गुरु दादू की मौज सौं रज्जब लाधा ज्ञान ।
इन हालौं करि मारिये, जे हरि तजि पूजैं
आन ।।

हस्तलिखित इस पुरातन ग्रंथ के चतुर्थ भाग में अधिकतर पद्यों के साथ 'हरिदास' का नाम न आकर 'रज्जब' का नाम आया है । यहां एक बार थोड़ा सन्देह होने लगता है कि ये पद्य महाराज हरिदास जी के न होकर 'रज्जब' नामक किसी अन्य महात्मा के तो नहीं आ गाए हैं ? किन्तु 'राणीला' की गद्दी के वर्तमान अधिकारी महात्मा रामदास जी महाराज से पूछ-ताछ करने पर पता चला कि 'रज्जब' नाम से लिखने वाले महाराज हरिदास जी स्वयं थे । पंथ के अन्य सन्तों का मत भी ऐसा ही होने और भाषा आदि की दृष्टि से सामंजस्य होने के कारण यह स्वीकार करना पड़ता है कि बीच में उन्होंने 'रज्जब' नाम से भी लिखना आरम्भ किया और इस नाम से भी पर्याप्त लिखा है।

ग्रन्थ के पांचवें भाग में भक्त विरुदावलि है । इसमें विभिन्न भक्तों की संक्षिप्त जीवनियां और प्रभु की सहायता की चर्चा है । यथा रैदासजी के बारे में लिखते हैं :

जन रैदास नीच घरि जनम्यां,
जा के कुल के ढोर उठावैं ।
बहैं बाट बेगारि बापड़े,
भली ठौर बैठण नहीं पावैं ।।
सलिता तीर न्हाण को बैठे,
नींच नींच करि मारि उठाया ।
चरण परसि करि गंगा उलटी,
उहै नीर विप्रां मैं आया ।।
जा तनि कनक जनेऊ निकसे,
देखि भर्म विप्रां का, भाजै ।
तुम बिन हरिदास से स्वामी,
ऐसा बिरद कबण कूं छाजै ।।

८४ पद्यों के इस पांचवें भाग के साथ श्री स्वामी हरिदास का यह ग्रंथ समाप्त हो जाता है । इसके साथ ११० पद्यों का परिशिष्ट भी है । इस प्रकार इस हस्त-लिखित ग्रंथ की कुल पद्य संख्या १,०४९ है।

इसकी भाषा मे यत्र-तत्र हरियाणवी का पुट है । वास्तव में इसे हरियाणवी भाषा की ही कविता कहना अधिक उपयुक्त होगा जो सुन्दर और मार्मिक बन पड़ी है । इस प्रकार के अन्य अनेक हरियाणा के कवियों के ग्रंथ इस बार हाथ आए हैं जिन पर समय समय पर प्रकाश डालने का यत्न किया जाएगा। इसके बिना वे अनेक महान् कवि अंधकार के गर्त में चले गए और चले जा रहे हैं। इनका उद्धार कर प्रकाश में लाना भी आज के

शेष पृष्ठ ७० पर

लोकगीतों का उद्गम एवं विकास—एक विवेचन

जवाहरलाल हण्डू

लोकगीतों के उद्गम एवं विकास के विषय में विद्वानों में मत्तवैभिन्नय रहा है। लोकगीतों का सृजन कैसे हुआ? इनके रचयिता कौन है? कई ऐसे विवादास्पद प्रश्न, जिन का स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक हैं।

जर्मनी के प्रख्यात लोकसाहित्य मर्मज्ञ श्री विलियम ग्रिम (William Grimm) ने अपना सामूहिक उत्पत्ति (Communal Growth)[१] का सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि लोकगीत सामूहिक-रीति के निर्मित होते हैं। कुछ समय तक देश-विदेश के कई लोक साहित्य विद्वानों ने भी ग्रिम महोदय के सिद्धान्त का अन्धानुसरण किया। परन्तु यह सिद्धान्त लोकगीतों के वास्तविक स्रोत तथा विकास क्रम को उद्घाटित करने में भ्रामक सिद्ध हो सकता है। रूसी लोक-साहित्य-मर्मज्ञ श्री सोकोलोव, ग्रिम के इस सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते हुए लिखते हैं। "कोई भी कृति ऐसी नहीं जिसका कोई रचयिता न हो, या जो 'सब की रचना' हो।" लोकगीत का सृजन बीज—रूपेण सर्वप्रथम व्यक्ति द्वारा होता है और फिर मौखिक-परम्परा में रहने के कारण अन्य व्यक्तियों द्वारा संशोधित होता रहता है। यही कारण है कि एक ही गीत के कई पाठान्तर प्रायः उपलब्ध होते हैं। वास्तव में "लोक गीत व्यक्ति रचित इस दृष्टि से है कि सर्वप्रथम इसका बीजारोपण कभी ज्ञात और कभी साधारण लोक के किसी भी अज्ञात व्यक्ति द्वारा होता है। इसका सृजन

---

१. देखिये—Chambers Encyclopeadia, Vol. V page 76 फिल्प बेरी (Philip Barry)द्वारा प्रतिष्ठित Communal "re-creation" ग्रिम के सिद्धान्त के सनिकट है। (Bullition of the Folk song Society of North-East)—standard Dictionary of Folklore, Mythology and legend Edit. Maria Leach, Vol. III, Page 1047.

सदा स्वत : स्फूर्त रीति से हुआ हो, ऐसा ज़रूरी नहीं । लोकगीत सामूहिक इस अर्थ में है कि इसका मूलपाठ कभी स्थायी नहीं रहता, अपितु प्रक्षेपण, परिवर्धन एवं संशोधन सुगमता से किये जा सकते हैं। सामूहिक इस अर्थ में भी कि किसी भी लोकगीत, विशेषकर सामूहिक गीत, के वास्तव में दर्जन से भी अधिक रचयिता हो सकते हैं और गीत के एक एक छन्द का दायित्व हर किसी पर आयिद हो सकता है ।"

किसी भी देश के लोकगीतों के अध्ययनोपरान्त यह स्पष्टतः ज्ञात होगा कि लोकगीतों की उत्पत्ति सामूहिक विधि से नहीं हुई है अर्थात् लोगों ने एकत्र होकर किसी गीत का निर्माण नहीं किया है । निर्माण प्रक्रिया में सदैव, समुदाय नहीं अपितु समुदाय का व्यक्ति सक्रिय रहा है । जिसका नाम तथा व्यक्तित्व युगयुगान्तर के भयंकर अंधकारमयी गर्भ में खो गया है और जिसे हम आज लाख यत्न करने पर भी खोज निकालने में असमर्थ हैं। यही कारण है कि लोक गीत "दैव्य-वाक्य" सा प्रतीत होता है१ ।

लोकगीत का रचयिता प्रायः अज्ञात होता है । परन्तु रचयिता के अज्ञात होने का तात्पर्य कदापि यह नहीं हो सकता कि गीत का कोई निर्माता ही नहीं, या इसकी उत्पत्ति दैव्य योग से हुई हो । लोकगीत अज्ञात इस कारण हैं कि लेखकों ने अधिकांशतः नाम लिपिबद्ध नहीं किये, और यदि कई स्थितियों में किये भी हैं तो हम उहें खोजने में असमर्थ हैं। वे साधारण अनपढ़ व्यक्ति थे, पाण्डित्य के अहंकार से शून्य उनके पास आधुनिक युग की सुविधाएं न थीं । अपनी मौलिक रचनाओं का निर्माण उन्होंने कागज़ तथा सियाही से नहीं अपितु मौखिकता से किया । यही कारण है कि ढूंढने पर भी उनके नाम उद्घाटित नहीं होते और न ही होने की कोई संभावना है ।

आधुनिक युग में तो साहित्य के इतिहास लेखक की कलम कई स्थलों पर रुक जाती है जब उसे "पृथ्वीराज रासो" जैसे मौलिक, कलात्मक ग्रन्थों की प्रामाणिकता तथा रचनाकाल का ऐतिहासिक विवरण देना पड़ता है । लोकगीत न तो कभी लिपिबद्ध हुए थे, न इनके रचयिताओं की ज्ञेयता ही स्पष्ट है, फिर भी मौखिक परम्परा में आये हुए इन गीतों का रचनाकाल ढूंढ निकालना या इनके मूल रचयिताओं

१. डा० सत्येन्द्र—लोकसाहित्य विज्ञान पृष्ठ ३९० ।

की खोज करना कठिन ही नहीं असंभव भी है। वस्तुतः जब तक वेदों के रचयिताओं की ज्ञेयता स्पष्ट नहीं होती, तब तक लोकगीतों के रचयिता ढूंढना निरर्थक है।

लोकगीत मौखिक परम्परा में जीवित रहते हैं। मौखिक तत्व यद्यपि लोकगीतों की उपलब्धि का एक विशिष्ट साधन है तथापि इनके मूल स्रोतों को उद्घाटित करने में यह एक समस्या-जनक बाधा भी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लोक कवि आमान्य एवं साधारण जनसमूह का प्रतिनिधि होता है। गीत का सृजन करते समय वह लेखनी से अधिक अपने कण्ठ तथा जिह्वा का उपयुक्त प्रयोग करता है फलस्वरूप मौखिक प्रक्रिया से ही गीत लोक-प्रिय हो जाता है। ज्यों ही गीत एक या दो पीढ़ियों तक चला आता है तो मूल रचयिता का नाम स्वतः मिटता चला जाता है, अथवा सचेत या अचेत रूप में भुला दिया जाता है। अतः कालान्तर में गीत नितान्त अज्ञात हो जाता है। इस प्रक्रिया में यथेष्ठ सीमा तक लोकगायक का ही हाथ रहता है। गीत में अपने मनोनुकूल प्रक्षेपण करके वह इस परम्परा को आगे धकेलता है, परिणाम स्वरूप युगयुगान्तर के घिसाव के पश्चात् गीत न ही अपने मूलपाठ और न ही अपने मूलरचियता को सुरक्षित रखने में समर्थ रहता है। जहां कहीं किसी लोकगीत में गायक या लेखक का नाम मिलता भी है, वहां भी प्रामाणिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः गीत का मूल रचयिता वही है। बहुधा ऐसा होता है कि परम्परा में चले आये हुए गीत को गाने के लिये चुनते समय लोक गायक इसमें अपना नाम जोड़ देता है और आगे भी इसी तरह की प्रक्षेपण-पद्धति का अनुसरण गायक के उत्तराधिकारियों द्वारा होता है, और संभवतया उससे पहले भी इसी पद्धति का प्रचलन रहा हो। इस प्रकार गीत कई हाथों में पड़ने के कारण अपने वास्तविक रचयिता के चिन्ह मात्र तक खो बैठता है। वस्तुतः किसी भी गायक को लोकगीत का मूल रचयिता मान कर गीत का रचनाकाल इत्यादि निर्धारित करना सर्वथा भ्रामक होगा। इसी कारण श्री सोकोलोव लोकगायक को ही लोकगीत का प्रणेता मानने पर बल देते हैं। वे लिखते हैं "लोकसाहित्य का प्रत्येक वाहक अर्थात् मौखिक-काव्य का प्रदर्शक (लोकगायक) यथेष्ट सीमा तक उसका प्रणेता एवं सृष्टा भी है।" श्री सोकोलोव के इस कथन से यह सिद्ध नहीं होता

कि लोक गीत का मूल रचयिता लोक-गायक ही है परन्तु इस बात की पुष्टि अवश्य होती है कि लोकगायक का एक कलाकार है जो परम्परा का दायित्व निभाने में कुशल है और अंशतः गीत का स्रष्टा भी है। लोकगीत में प्रक्षेपण, परिवर्धन आदि की सम्भावनाएं स्पष्टतः अधिक रहती हैं अतः लोकगायक को ऐसा करने में किसी कठिनाई या दुरूहता का भास नहीं होता है। इसी लिये उचित ही लोक गीतों को "पुराने पर नये का पैवन्द कहा गया है१।"

प्रायः प्रश्न किया जाता है कि किसी लोकगीत का रचनाकाल क्या है ? इसका निर्माण कब और कैसे हुआ ? वास्तव में ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनका उत्तर देना सहज नहीं। जब तक रचनात्मक-लिखित-साहित्य की भांति लोकगीतों अथवा लोक साहित्य का इतिहास नहीं लिखा जाता तब तक ऐसे प्रश्नों का समाधान असंभव है। लोकगीतों का इतिहास लिखना यद्यपि असंभव नहीं परन्तु कठिन अवश्य है२। "वास्तव में लोकगीत उतना ही प्राचीन है जितना आदिम-मानव।" यह जंगल के उस वृक्ष की भांति है जिसके जड़ अतीत की गहराई में दफन होते हैं, परन्तु फिर भी नये शाख, नये पात तथा नया फल निरंतर देता रहता है ३।" लोकगीतों का महत्त्व इनके रचनाकाल या इतिहास के जानने में नहीं अपितु इसके सौन्दर्य में है, इनमें अभिव्यक्त सहज तथा सरल मानव भावनाओं में है।

भारत की समग्र बोलियां तथा उपबोलियों में प्रचलित गीतों के अध्ययनोपरान्त कोई ऐसा लक्षण प्राप्त नहीं होता जिसके आधार पर दढ़ता पूर्वक यह कहा जाये कि यहां के लोकगीतों का सृजन "सामूहिक विधि" से हुआ हो। आधुनिक अनुसंधान ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि यहां के गीतों की निर्माण-प्रक्रिया में समुदाय नहीं अपितु समुदाय का व्यक्ति ही अधिक सक्रिय रहा है। और यह प्रक्रिया आज भी चलती है। आज भी गीत बनते हैं, जिन्हें समुदाय नहीं व्यक्ति बनाता है।, विशेषकर स्त्रियां इस क्षेत्र में अग्रणीय हैं अस्तु : •

---

१. Encyclopeadia Britanica—Vol. 9, page 448.

२. Sokolov—Russian Folklore, page 18.

३. Encyclopeadia Britanica, Vol. IX, page 448,

लोकगीतों की उत्पत्ति न ही सामूहिक रीति और न ही किसी विशिष्ट जाति द्वारा होती है। लोकगीत लोकमानस की साधारण अभिव्यक्ति है जिसका रचयिता एक व्यक्ति हुआ करता है अतः जिसे "लोककवि" की संज्ञा दी जा सकती है। मौखिक परम्परा में रहने से गीत विकृत होते हैं जिसका दायित्व "लोकगायक" पर ठहरता है।

● ● ●

(पृष्ठ ६५ का शेषांक)

साहित्यकार का काम है। 'हरियाणा लोक-मंच' इस दुरूह कार्य के सम्पादन के लिए कृतप्रतिज्ञ है। उसे आशा है कि अपने प्रदेश के अनेक कविरत्नों को प्रकाश में लाने में वह सफल रहेगा।

वि" की
मौखिक
त होते
क" पर

ों को
।

सरस्वती नदी-जीवन इतिहास

सुन्दर लाल गुप्त

भारत के प्रवाह-मानचित्र का अध्ययन भारतभूमि पर प्रवाहित असंख्य नदियों का बोध कराता है। इन नदियों को दो बड़े भागों में विभक्त किया जा सकता है। १. उत्तरी भारत की नदियाँ और २. दक्षिणी भारत की नदियाँ।

सरस्वती उत्तरी भारत (पंजाब) की एक छोटी, बरसाती और अन्तर-प्रवाही नदी है जो अम्बाला जिले की सिरमूर पहाड़ियों से निकलकर दक्षिण-पश्चिम और फिर पश्चिम को बहती हुई हनुमानगढ़ के निकट बलुआ स्तूपों में विलीन हो जाती है। रसूला के निकट घग्गर नदी इसमें आकर मिलती है। घग्गर का प्राचीन नाम दृषद्वती है। ऋग्वेद और मनुस्मृति मे इसका उल्लेख मिलता है। रसूला के आगे संयुक्त नदी का नाम आजकल घग्गर ही रहता है यद्यपि प्राचीन काल में इसका नाम सरस्वती ही था और दृषद्वती इसकी सहायक मात्र थी। इन दोनों नदियों के दोआब का नाम ही ब्रह्मावर्त था। इसका वर्णन मनुस्मृति महाभारत तथा पुराणों मे मिलता है जल के अभाव और मरुस्थली भूभाग से गुजरते समय वाष्पीकरण और तली मे जलरिसाव की अधिकता के कारण नदी राजस्थान के शुष्क और रेतीले प्रदेश को पार करने में अपने को असमर्थ पाकर हनुमानगढ़ के निकट लुप्त हो जाती है। इसके दक्षिण से इसी दिशा का रुख लिये चितरांग अथवा चौटांग नदी इसमें आकर मिलती है। यह भी शुष्क और बरसाती नदी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान सरस्वती नदी एक अल्प, नगण्य और मौसमी नदी है। लेकिन प्राचीन काल में यही नदी एक महान शक्तिशाली, सततवाहिनी और जलयुक्त नदी थी जो हिमालय से निकल कर राजस्थान के रेगिस्तान को लांघती हुई कच्छ की खाड़ी में गिरती थी। सरस्वती नदी निम्न तथ्यों पर आधारित है।

१. **भौगोलिक आधार** :—यह उल्लेख किया जा चुका है कि वर्तमान सरस्वती नदी हनुमानगढ़ के आगे अपनी यात्रा को कायम रखने में असमर्थ

है पर वैदिक और पूर्व-वैदिक काल में यह समुद्र तक पहुंचाने और मार्ग में अपनी घाटी बनाने में समर्थ थी। यही कारण है कि सरस्वती की शुष्क घाटी जो २–५ मील चौड़ी है हनुमानगढ़ के आगे बहावलपुर तक स्पष्ट देखी जा सकती है। इतनी विशद और चौड़ी घाटी की उपस्थिति इस बात का शक्तिशाली प्रमाण है कि प्राचीन काल में सरस्वती निश्चित ही एक महान और सततवाहिनी नदी थी जो इतनी विस्तृत घाटी का निर्माण कर सकी। आज भी गंगा जैसी महान नदियां इतनी विस्तृत घाटी का निर्माण नहीं कर सकी हैं।

२. **साहित्यिक आधार :**—प्राचीन काल से ही नदियों की सुखद घाटियों ने मानव के जीवन में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया है। नील, यांगटिसीक्यांग, सिन्धु, और दजला-फरात की मनोरम और उपजाऊ घाटियों ने विश्व की महान सभ्यताओं को जन्म दिया है। नदियों की उपयोगिता के कारण ही साहित्य में नदियों को एक विशेष और महान स्थान प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद में सरस्वती का विशद वर्णन जो गंगा और यमुना के वर्णन से कहीं बढ़ कर है, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है प्राचीन काल में सरस्वती एक महान प्रवाह-व्यवस्था का निर्माण करती थी। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र इस तथ्य की पुष्टि करते दृष्टिगत होते हैं:—

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशास्तिमम्ब नस्कृधि।
(ऋग्वेद, २, ४१, १६)

नित्वा दधे वर आ पृथिव्या इलायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि॥
(ऋग्वेद ३,२३,४

इमं मे गंगे यमुने सरस्वतिशुतुद्रि स्तोमं सचता परुषण्या।
आसिकन्या मरुद्वधे वितस्तया ऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥
(ऋग्वेद, १०,७५, ५)

महाभारत में भी सरस्वती का वर्णन इस विधि से किया गया है जैसे कि यह कोई बहुत बड़ी नदी हो। शल्य पर्व का निम्न श्लोक इस सत्य की पुष्टि करता है-

'सरस्वती सर्वनदीषु पुण्या, सरस्वती लोकशुभावहा सदा।'
सरस्वती प्राप्य जना सदुष्कृतं सदा न शोचन्ति परत्र चेह च॥

शल्य पर्व का ३५ से ५४ श्लोक का प्रारम्भिकअध्ययन भी इसके सततवाहिनी और शीघ्रगामिनी होने का सबल प्रमाण है।

इतना ही नहीं पुराणों और मनुस्मृति में भी सरस्वती का सविस्तार वर्णन हुआ है। श्री विष्णु, श्रीमद्भागवत, ब्रह्म, मार्कण्डेय आदि पुराणों में सरस्वती का

वर्णन मिलता है जो निम्न श्लोक से प्रगट है:—

'चन्द्रवसा.....त्रिमासा कौशिकी मन्दाकिनी
यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती'
(श्रीमद् भागवत-महापुराण ५,१९,१८)

मनुस्मृति का निम्न श्लोक भी इसी सत्य की पुष्टि करता है:—

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।।
मनु० अ० २, पृ० २७)

पुरातत्त्व-सम्बन्धी आधार :—

सरस्वती की घाटी में रोपड़ से अनूपगढ़ तक अनेक छोटे और बड़े टीलों की उपस्थिति है। अनेक स्थानों पर सर आरेल स्टीन, ए घोष, एम० एस० वत्स आदि पुरातत्त्वशास्त्रियों द्वारा इनकी खुदाई से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ये टीले प्राचीन छोटे बड़े नगरों के खण्डहर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन टीलों की खुदाई से सरस्वती की घाटी में तीन विभिन्न सभ्यताओं का विकास और विस्तार स्पष्ट हुआ है। ये तीन सभ्यताएं जो सरस्वती सुखद घाटी में पनपी थीं, निम्नलिखित हैं:—

१. **हरप्पा सभ्यता—** यह सभ्यता ईसा से २८०० से २५०० वर्ष पूर्व की है।

२. **ग्रेवेयर सभ्यता—**यह सभ्यता महाभारत काल की है और आर० सी० मजुम्दार के अनुसार ईसा से १४०० वर्ष पुरानी है। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि महाभारत काल में इसके किनारे-किनारे एक लाख से भी अधिक तीर्थ विद्यमान थे। इनमें प्रभास, उपादान, विनशन, आधुनिक सरसा, सुभूमिकाय, सप्तसारस्वत, नागधन्वा आदि प्रमुख तीर्थ थे। ये तीर्थ-स्थल से आबादी के केन्द्र थे जो बाद में नदी के विलीन होने के साथ-साथ नष्ट-भ्रष्ट होकर खण्डहर में परिणत हो गये। शल्य पर्व में इन तीर्थों का विशद वर्णन मिलता है।

३. **रंगमहल सभ्यता—**यह भारत में प्रथम और पांचवीं शताब्दी के मध्य पनपी थी।

अतः स्पष्ट है कि वैदिक और महाभारत काल में सरस्वती निश्चित रूप से एक महान और जलयुक्त नदी थी। अब यह निश्चित करना है कि सरस्वती कब और क्यों विलीन हुई क्योंकि वैदिक और महाभारत काल में सरस्वती निःसन्देह हिमालय से निकल कर समस्त मरुस्थल को पार करती हुई कच्छ की खाड़ी में गिरती थी जो ऋग्वेद के निम्न मंत्र से सिद्ध होता है—

एकाचेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती
गिरिभ्य आ समुद्रात् ।
(ऋग्वेद ७, ९५, २)

पर यह कहना अनुचित न होगा कि महाभारत काल से ही नदी के विलीन होने के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे और नदी यत्र-तत्र भूमि में

प्रवेश करने लगी थी जोकि निम्न श्लोक से प्रगट है :—

"दृश्यादृश्य च भवति यत्र तत्र सरस्वती"

(महाभारत, शल्यपर्व ७,२०)

डा० एम० एस० कृष्णन् का मत है कि सरस्वती १३वीं शताब्दी में विलीन हुई जबकि कर्नल टॉड का विचार है कि यह नदी १०४४ ई० के ग्रास पास लुप्त हुई। पर सचाई इसके विपरीत है ग्रौर दोनोंही मनीषियों के मत भ्रामक ग्रौर ग्रमान्य हैं इसके कई कारण हैं। सर्व प्रथम तो यह कहा जा सकता है कि कोई भी नदी यकायक ग्रौर ग्रनायास ही शुष्क नहीं हो जाती। पहले नदी समुद्र के समीप शुष्क हुई होगी ग्रौर तत्पश्चात् वह पश्चिम से पूर्व को शुष्कीकरण का ग्रन्तिम बिन्दु पश्चिम से पूर्व को खिसकता गया होगा लेकिन कृष्णन् ग्रौर टॉड ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया। सब से मार्के की बात जिसके ग्राधार पर उपरोक्त दोनों विद्वानों के मतों का खण्डन किया जा सकता है, वृहत्संहिता में निहित तथ्य है जो यह स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है कि सरस्वती वृहत्संहिता के लेखक वराह-मिहिराचार्य के जीवम काल ग्रथवा इससे पहले ही विलीन हो गई थी।

"नष्टा यस्मिन् देशे सरस्वती पश्चिमोदेशः।"

(बृहत्संहिता, १६,३१)

से पूर्णतया स्पष्ट है सरस्वती भारत के पश्चिम देशों (प्रान्तों) में नष्ट होती है। यहां 'नष्ट' होने शब्दावली का प्रयोग वराहमिहिराचार्य ने बड़ी बुद्धिमत्ता से किया जान पड़ता है जो इस बात को भली भांति स्पष्ट करता है कि सरस्वती नष्ट हो चुकी है। महाभारत में 'दृष्यादृश्य' शब्दावली का प्रयोग इसके स्थान-स्थान पर लुप्त होने को प्रगट करता है 'नष्ट' होने को नहीं।

वराहमिहिर ज्योतिष शास्त्र के महान विद्वान् थे ग्रौर इनका जीवन काल पाँचवीं शताब्दी माना गया है। ग्रतः सरस्वती नदी ५वीं शताब्दी से पूर्व ही नष्ट हो चुकी थी। इसी सत्य का प्रतिपादन श्री ए० घोष ने भी किया है। श्री घोष ने सरस्वती की शुष्क घाटी में पुरातत्त्व सम्बन्धी बड़ा महत्त्वपूर्ण खोज कार्य सम्पन्न किया है ग्रौर वे इस निष्कर्ष पर पहूंचे हैं कि ग्रांशिक रूप से सरस्वती ईसा की ५वीं शताब्दी में ही नष्ट हो चुकी थी। पर ७वीं ग्रौर ग्राठवीं शताब्दी के पहुंचते-पहुंचते इसकी घाटी में ग्रबाद समस्त जनसंख्या नदी के नष्टीकरण के साथ-साथ घाटी को छोड़ कर घुमक्कड़ जीवन ब्यतीत करने लग गई थी।

सरस्वती के विनष्टीकरण के सम्भावित कारण

सरस्वती प्र[illegible] के विलीन होने के विषय में अभी तक किसी आधिकारपूर्ण खोज-कार्य का सम्पादन नहीं हो पाया है। कृष्णन् पिथेवाला, घोष, वत्स आदि चोटी के विद्वानों ने इसके विलीन होने के विभिन्न कारणों का प्रतिपादन किया है। यहां यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि सरस्वती किसी एक कारण से नहीं, प्रत्युत अनेक कारणों के योग से नष्ट हुई है। ये कारण निम्नलिखित हैं:—

१. प्राचीन काल में सरस्वती अन्य नदियों जैसे गंगा, सतलुज और सिन्ध की भांति हिमालय के हिमयुक्त प्रदेश से निकलती थी। बाद को किसी भूकम्प के प्रभाव के फलस्वरूप हिमयुक्त प्रदेश से पृथक् हो गई होगी। ऐसी कल्पना करने के हमारे पास प्रमाण भी हैं और वह यह कि भारत में हिमालय प्रदेश ही भूकम्प ग्रस्त क्षेत्र है। इस विषय पर नदी की ऊपरी घाटी में खोज-कार्य सम्पन्न होना अपेक्षित है, क्योंकि महाभारत में इसे हिमानीयुक्त प्रदेश से उद्भूत माना गया है जो निम्न श्लोक से प्रगट है :—

"सरितसा हिमवत्या पर्वत प्रश्तूता शीघ्रगामिनी।"

यहां पर 'हिमवत्य पर्वत' और 'शीघ्र-गामिनी' शब्दावली नदी के हिमयुक्त प्रदेश से उद्देश्य होने का बोध मिलता है।

२. [illegible] कृष्णन् का मत है कि प्राचीन काल में यमुना और सतलुज दोनों ही नदियां सरस्वती की सहायक नदियां थीं। बाद में इन्होंने अपने अपने मार्ग बदल लिये और यमुना गंगा तथा सतलुज सिन्धे की सहायक नदी बन गई। इस तथ्य का प्रमाण यह है कि चौटांग की शुष्क घाटी रोपड़ तक चली गई है। यहीं पर यमुना पहाड़ी प्रदेश को छोड़ कर मैदान में प्रवेश करती है। आधुनिक चौटांग की शुष्क घाटी ही यमुना का प्राचीन मार्ग है जिससे यमुना अपनी अथाह जलराशि सरस्वती को प्रदान करती थी। इसी प्रकार नवल नदी की शुष्क घाटी सतलुज के निकट तक निहारी जा सकती है। कहते हैं कि सतलुज इसी मार्ग से बहती हुई सरस्वती में गिरती थी। इन दो विशद नदियों का जल न प्राप्त होने के कारण सरस्वती का संकुचित होकर विलीन हो जाना स्वाभाविक ही जान पड़ता है। नदियों के मार्ग बदलने की प्रवृत्ति आज भी देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये कोसी आज से लगभग २०० वर्ष पूर्व पूर्णिया के पास बहती थी, लेकिन अब इससे १०० मील हट कर बहती है। इसी प्रकार टिस्टा नदी जो अब ब्रह्मपुत्र की सहायक है, कभी गंगा की सहायक नदी होती है। सतलुज और यमुना

के सरस्वती से पृथक होने के दो प्रमुख कारण हो सकते हैं :—

(क) मौसमी बाढ़ जो उत्तरी भारत की नदियों में वर्षा ऋतु में अकसर आया करती है।

(ख) हिमालय की तलहटी में नदियों के जमाव के कार्य से भाभर मैदानों का निर्माण और इनके मध्य में जाने से नदी का मार्ग बदला जाना ।

३. आर्यों द्वारा सरस्वती की घाटी से कृषि तथा ईंधन के लिये अन्धाधुन्ध जंगलों का काटा जाना। फलस्वरूप वर्षा की मात्रा में कमी आ जाना।

४. जलवायु की दशा में सामान्य ह्रास और रेगिस्तान का विस्तार ।

सहायक सामग्री

१. ऋग्वेद; द्वितीय, षष्टम्, सप्तम् और दशम् मण्लम ।

२. महाभारत (शल्य, भीष्म और अरण्य पर्व) ।

३. मनुस्मृति: द्वितीय अध्याय।

४. वराहमिहिर, बृहत्संहिता (५०१ ई०)

५. आर०सी० मजुम्दार और ए०डी० पुसाल्कर, वैदिक ऐज़, १९६०

६. एम० एस० कृष्णन्, ज्यौलौजी आफ इंडिया एण्ड वर्मा, १९६०

७. सुन्दर लाल गुप्त, भारतीय नदियां: एक दृष्टिकोण, 'विश्वज्योति जून १९६५ ।

८. ए० घोष आर्कोलौजिकल ऐस्पैक्ट आफ राजपूताना डेज़र्ट 'सिम्पोज़ियम आन राजपूताना डैज़र्ट १९५२ ।

● ● ●

द: १६।१।६६ उपमंत्री

(सील)
सत्यमेव जयते

उपशिक्षा मंत्री
भारत
नई दिल्ली

जनवरी १०, १९६६ ई०

प्रिय डा० परमानन्द जी,

आपके आदेश के अनुसार मैं अमृतसर गया था और वहां आपके विभाग द्वारा आयोजित वीर कवि सम्मेलन में सम्मिलित हुआ था। उसका स्तर अच्छा तथा ऊंचा रहा और व्यवस्था भी ठीक रही—इसके लिये मैं अपने आभार अंकित करता हूं।

वहीं पता लगा था कि अचानक आपकी तबीयत खराब हो गई थी। मुझे आशा है कि अब आपका स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक होगा और आप प्रसन्न-चित्त होंगे।

शुभकामनाओं के साथ—

भवदीय,

हस्त:—

(भक्त दर्शन)

डा० परमानन्द जी,
निदेशक, हिन्दी विभाग,
पंजाब सरकार,
पटियाला (पंजाब)।

हरयाणा प्रान्तीय :
पुरातत्व संग्रहालय,
गुरुकुल झज्जर (रोहतक) पंजाब
७ दिसम्बर, १९६५ ई०

ग्रादरणीय डाक्टर परमानन्द जी !

सादर नमस्ते ।

जन साहित्य के "हरयाणा लोकमानस की झलक" विशेषांक की उत्कृष्टता पर ग्रापको हार्दिक बधाई । ग्रापका विशेषांक ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के साथ साथ बड़ा ही रुचिकर भी है । परमात्मा ग्रापको चिरायु प्रदान करे जिससे जनता का कल्याण हो । जन साहित्य विशेषांक की दो तीन प्रतियां ग्राप ग्रौर भिजवा सकें तो बड़ी कृपा हो। (जोगियों को भी जिससे दी जा सके ।) शेष कुशल योग्य सेवा ।

भवदीय,
हस्त-
(भगवान् देव)

१६, कैवेलरी लाइंस, दिल्ली—७
दिनांक : २२-१२-६५

प्रियवर,

ग्रापका पत्र दिनांक १४-१२-६५ मिला। इससे पूर्व जन साहित्य का "हरयाणा लोक मानस" ग्रंक की प्रति भी मुझे मिल चुकी है । मूल विषय ग्रौर संकलित सामग्री की दृष्टि से यह ग्रंक निश्चय ही उपयोगी प्रकाशन है । कृपया मेरी बधाई स्वीकार करें ।

शुभैषी,
हस्त :—
(नगेन्द्र)

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु
मार्च, १९६६
५० पैसे

चरित्र

* मनुष्य का अनुमान कभी भी उसकी त्रुटियों से नहीं लगाना चाहिए। मनुष्य में जो महान् सद्गुण होते हैं वे उसके हैं। किन्तु उसकी त्रुटियां मानवता की सामान्य दुर्बलताएँ हैं, अतः उसके चरित्र के मूल्यांकन में उनका कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए।

—विवेकानन्द

* सच्चरित्रता के अभाव में केवल बौद्धिक ज्ञान सुगन्धित शव के समान है।—

—गांधी

* प्रवृत्तियों का सर्वोत्तम विकास एकान्त में होता है, किन्तु चरित्र का सुन्दर निर्माण विश्व के झंझावातों में ही हो सकता है। —गेटे।

* हम जिस चरित्र का निर्माण करते हैं, वह हमारे साथ भविष्य में भी रहेगा जब तक कि हम ईश्वर का साक्षात्कार कर उसमें लीन नहीं हो जाते।

—डा० राधा कृष्णन्

* यह चरित्र ही है जो विपत्तियों की अभेद्य दीवारों में से भी मार्ग बना लेता है।

—विवेकनन्द

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्याप्त नहीं, लिपटे रहत भुजंग—रहीम
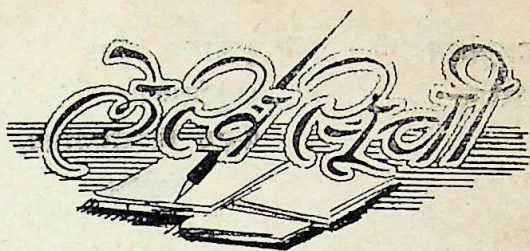
(मासिक प्रकाशन--मार्च, १९६६)

वर्ष १३ अंक ३

पृष्ठ

५।७।७५

परामर्श समिति

*श्री कृष्ण मधोक (सहायक निदेशक, अनुवाद)

*श्री त्रिलोकीनाथ रञ्जन (सहायक निदेशक, कोश)

*श्री ओम् प्रकाश भारद्वाज संयोजक (सहायक निदेशक, विकास)

*श्री गुरुदत्त शर्मा (सहायक निदेशक, अनुवाद)

*श्री हरिचन्द पाराशर (सहायक निदेशक, अनुवाद)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

परिचयात्मक आलोचना : लक्ष्य, स्वरूप और दिशा

●

डा. पद्म सिंह शर्मा कमलेश

परिचयात्मक आलोचना, आलोचना का वह प्रकार है जिसमें नवीन पुस्तकों की आलोचना पत्र--पत्रिकाओं में इस आशय से की जाती है कि पाठक यह समझ लें कि किस विषय की कौन सी पुस्तक प्रकाशित हुई और वह हमारे लिये कहां तक उपयोगी अथवा अनुपयोगी है। अंग्रेज़ी में आलोचना के इस प्रकार को 'रिव्यू' कहा जाता है। वैब्स्टर द्वारा लिखित 'अमरीकी भाषा के नूतन विश्व' कोष के आधार पर 'रिव्यू' का अर्थ है--समाचार पत्र अथवा मासिक पत्रिका में प्रकाशित वह आलोचनात्मक विचार-विमर्श अथवा लेख, जिसमें विशेष रूप से किसी नवीन पुस्तक, नाटक अथवा संगीत समारोह की चर्चा की गई हो। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'रिव्यू' के पुनर्निरीक्षण, पुनरावलोकन, सिंहावलोकन आदि अर्थ होते हैं। कारण, एक बार स्वयं किसी पुस्तक का प्रणेता अथवा किसी नाटक या संगीत समारोह का प्रस्तोता जिस सामग्री को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है उसे अपनी दृष्टि से देख चुका होता है और सब प्रकार से आश्वस्त होकर ही उसे पाठक अथवा दर्शकों के समक्ष उपस्थित करता है। पत्र-पत्रिकाओं में उसकी चर्चा दूसरी बार होती है। उस चर्चा में चर्चा करने वाला व्यक्ति उस रचना विशेष पर समग्रतः विचार करे। उसके निमित्त निर्धारित शास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर उसका मूल्यांकन करता है। इस प्रकार वह उसकी उपयुक्तता-अनुपयुक्तता ही सिद्ध नहीं करता वरन् उसकी उपयोगिता अनुपयोगिता का भी निर्णय करता है।

हिन्दी में नाटक-प्रदर्शन अथवा संगीत-समारोहों की समीक्षा का सूत्रपात अभी--अभी हुआ है और वह शीघ्र व्यापक हो जायग, ऐसी आशा है लेकिन परिचयात्मक आलोचना बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही होती चली आ रही है अतः उसका क्षेत्र "रिव्यू" की भांति व्यापक नहीं है और वह केवल नवीन

पुस्तकों की समीक्षा तक ही सीमित है। अस्तु,

परिचयात्मक आलोचना, आलोचना के अन्य प्रकारों से नितान्त भिन्न होती है। आलोचना के साथ "परिचयात्मक" विशेषण ही उस भिन्नता के रहस्य का उद्घाटन करने वाली कुंजी है। 'परिचय' में पूरी तरह जानने का भाव है। जब हम किसी एक व्यक्ति का किसी अन्य व्यक्ति से परिचय कराते हैं तो हम उसके निवास-स्थान, योग्यता, कार्यक्षेत्र, चारित्रिक विशेषता आदि के विषय में चर्चा करते है। जब हम यह कहते कि हमारा अमुक व्यक्ति से परिचय है तो हम यह सूचित करना चाहते हैं कि उस व्यक्ति की निकटता हमें प्राप्त है। अर्थात वह हमारे विषय में जानता है और हम उसके विषय में जानते हैं। परिचय की कई कोटियां होती हैं। वह सामान्य जानकारी से लेकर किसी के अन्तर के निगूढ़ भेदों तक की जानकारी की सीमा तक हो सकता है। लेकिन परिचयात्मक आलोचना में परिचय की जो ध्वनि है वह सामान्य जानकारी से ही सम्बद्ध है। हां, उस सामान्य जानकारी में उस कृति की वह विशेषता अवश्य सम्मिलित है, जिसके कारण उसका महत्त्व घोषित होने की संभावना है। अभिप्राय यह है कि परिचयात्मक आलोचना द्वारा आलोच्य कृति का प्रतिपादित विषय उसकी विशेषता के साथ स्पष्ट हो जाना चाहिए। पाठक को यह पता चल जाना चाहिए कि उसमें है क्या? जब यह पता चल जायगा तब वह आलोचक द्वारा गृहीत आलोचना-प्रणाली के मार्ग पर उसके साथ सहजभाव से चलता हुआ उस कृति के गुण-दोषों के आकलन में रुचि लेकर उसकी उपयोगिता- अनुपयोगिता के निर्णय से सहमत या असहमत हो सकता है। यह कार्य असाधारण योग्यता और सूझबूझ की अपेक्षा रखता है। कारण पत्र-पत्रिकाओं में इतना स्थान नहीं होता कि आप नवीन कृति का परिचय बहुत विस्तार से दे सकें। एक ही अंक में कई पुस्तकों का परिचय देना है और वह भी निर्धारित पृष्ठ संख्या में समाविष्ट हो जाना चाहिए। ऐसी दशा में यदि आलोचक सावधानी नहीं बरतता तो वह अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह ठीक से नहीं कर सकता।

जब हम परिचयात्मक आलोचना की सीमा रेखाओं से परिचित हो जाते हैं तो यह निश्चित करने में कठिनाई नहीं होती कि उसका लक्ष्य क्या है? इस दृष्टि से देखें तो पत्र-पत्रिकाओं का स्थान सांकोच्य परिचयात्मक आलोचना के संक्षिप्त होने का निर्देश करता है। अतः संक्षिप्त होना उसका पहला लक्षण है। इसके लिये आलोचक को थोड़े में बहुत कहना होगा। यदि पुरानी उक्ति के माध्यम से अपने बात कहें तो उसे गागर में

सागर भरना होगा । यह कुशलता आलोचक में तभी आ सकती है जब वह उसके मर्म को उसके केन्द्रीय सूत्र को पकड़ने का प्रयत्न करे । यदि वह लम्बी चौड़ी भूमिका बांधेगा या आलोच्यकृति के विषय और शैली को दृष्टि में रखकर उसकी ऐतिहासिक परम्परा का दिग्दर्शन करायेगा तो वह लक्ष्य भ्रष्ट हो जायगा । उसे तो सीधे कृति के विषय का उल्लेख करके आगे बढ़ना होगा और यदि किसी भूमिका अथवा एतिहासिक परम्परा का उल्लेख करना अनिवार्य भी होगा तो एक दो वाक्यों अथवा एक अनुच्छेद में कर देना होगा । इसके साथ ही वह अपने दृष्टिकोण को उतनी प्रमुखता नहीं देगा, जितनी कि उसे लेखक के दृष्टिकोण को देनी है । इसका कारण यह है कि उसे पुस्तक का परिचय कराना है । यदि वह अपने दृष्टिकोण को प्रमुखता दे देगा तो पाठक को पुस्तक में व्यक्त लेख के दृष्टि-कोण का परिचय नहीं मिलेगा प्रत्युत वह आलोचक के दृष्टिकोण से ही अवगत हो सकेगा । परिणामास्वरूप उसे पुस्तक में व्यक्त लेखक के विचारों और भावों को हृदयंगम करने में असुविधा होगी । एक प्रकार से वह यह निर्णय नहीं कर पायेगा कि पुस्तक पठनीय है या नहीं । फिर परिचयात्मक आलोचना मात्र बौद्धिक दृष्टि से उत्कर्ष प्राप्त पाठकों के विचार का ही विषय नहीं, उसे सामान्य बौद्धिक स्तर के पाठक के मस्तिष्क को भी विकसित करना है अत: उसकी शैली में मध्यममार्ग का ग्रहण श्रेयस्कर होगा । यही नहीं प्रबुद्ध पाठक तो स्वत: भी पुस्तक की उपयोगिता-अनुपयोगिता का निर्णय कर सकता है जब कि सामान्य बौद्धिक स्तर का पाठक आलोचक पर ही विश्वास करके चलने के लिय विवश है । कहने का सारांश यह है कि परिचयात्मक आलोचना आकार में संक्षिप्त और आलोच्यकृति के विषय को सरल शैली में स्पष्ट करने वाली तथा मुख्यत: लेखक के दृष्टिकोण को प्रमुखता देने वाली होनी चाहिए । लेकिन इसका यह आशय कदापि नहीं है कि आलोचक उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता अथवा उसकी श्रेष्ठता-निष्कृटता की ओर संकेत न करे । नहीं, उसे अवश्य ही उस विषय की पुस्तकों में उसका स्थान निर्धारित करना होगा क्योंकि वैसा न करके वह अपने कर्त्तव्य का पालन न कर सकने का दोषी ठहराया जायगा । हां, उसे यह कार्य भी संकेत से और विश्वसनीय ढंग से करना चाहिए । ऐसा न होना चाहिए कि पाठक आलोचक की नीयत पर ही संदेह करने लगे ।

इस प्रकार परिचयात्मक आलोचना का लक्ष्य महान है, लेकिन खेद का विषय है कि आज उसका स्वरूप विकृत हो गया है । यों कोई पत्र-पत्रिका ऐसी नहीं, जिसमें पुस्तक-समीक्षा का स्तम्भ न हो । यहां

तक कि सभी दैनिक पत्रों के रवि-वासरीय संस्करणों में भी यह स्तम्भ अनिवार्यत: रखा जाता है । मासिक और त्रैमासिक पत्रों में तो दर्जनों पुस्तकों की आलोचना छपती है । कुछ प्रकाशकों के तो पत्र केवल इसी उद्देश्य से निकलते हैं कि उनकी अपनी प्रकाशित पुस्तकों की परिचयात्मक आलोचना उनमें छप सके और उनके पाठक उन्हें खरीद सकें। ये आलोचनाएं विज्ञापन की कोटि की होती हैं, जिन में प्रशस्ति का स्वर ही प्रधान होता है । न केवल प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पत्रों में वरन् अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षाओं में भी अधिकांश ऐसी ही उथली होती है । वे बहुधा बिना पढ़े लिखी गई होती है और उनकी शब्दावली घिसी-पिटी रहती है । छपाई सफाई के बारे में एक-सी सम्मति, मूल की अधिकता की शिकायत, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा अथवा घोर निन्दा यही पद्धति अपनाई जाती है । इसका फल यह होता है कि बहुत कम पाठक इन आलोचनाओं पर विश्वास करते हैं

सबसे बुरी बात है असन्तुलन की। आलोचक अपनी रुचि-अरुचि से परि-चालित होने के कारण या तो पुस्तक को उठा कर आकाश में रख देगा या उसे रसातल में पहुंचा देगा । वह पुस्तक के लेखक के दृष्टिकोण को न समझ कर अपने दृष्टिकोण को आरोपित कर देगा और लेखक के श्रमों के श्रम को नगण्य ठहरा देगा । होना यह चाहिए कि जब वह पुस्तक की प्रशंसा करे तो कारण दे कि वह क्यों प्रशंसा कर रहा है और जब निन्दा करे तो उसका भी कारण बताये। साथ ही केवल पुस्तक की त्रुटियों की ओर निर्देश करना ही पर्याप्त नहीं है। उसे उन त्रुटियों के परिष्कार का भी उपाय बताना अपेक्षित है ताकि लेखक भविष्य में वैसी भूल न करे और पाठक भी वास्तविकता से परिचित हो जाये। आज की परिचयात्मक आलोचना में यह कमी है। वह पाठक का पथ प्रशस्त नहीं करती, उसे भटकाती है ।

इधर साहित्य की अन्य विधाओं की भांति आलोचना-विशेषरूप से परिचया-त्मक आलोचना भी अपनी प्रयोगात्मक भूमिका अदा करने लगी है । पुस्तक की चर्चा कहानी के ढंग पर की जाती है, उसका शीर्षक भी वैसा ही रखा जाता है और शब्दावली का प्रयोग भी ऐसा होता है जो नवलेखन के नाम पर प्रयुक्त अस्पष्ट अभिव्यक्ति के निमित्त स्वीकृत हो गया है । अपनी साहित्यिक परम्परा से हट कर नया मार्ग बनाने का श्रेय लेने वाले वे पत्र जो पूंजीवादी मनोवृत्ति से उत्पन्न अस्थायी जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा पर बल देते हैं और शाश्वत जीवन दृष्टि को उपेक्षा या उपहास का लक्ष्य बनाते हैं, इस प्रकार की आलोचना शैली को बढ़ावा

देने में जोरदार पहल कर रहे हैं । उनकी आलोचनाओं को सामान्य बौद्धिक स्तर का पाठक नहीं समझ पाता । किसी युग में जैसे दरबारी कवि कुछ गिने-चुने अवकाश-प्राप्त लोगों के मनोरंजन के लिये ज़मीन आसमान के कुलाबे मिला कर काव्य के नाम पर चमत्कार प्रदर्शन करते थे वैसे ही इस आलोचना-प्रणाली के ये समाज-विरोधी आलोचक केवल कुछ थोड़े से निदेशी-चिन्तन पद्धति के अनुकूल जीने की कृत्रिम चेष्टा करने वाले वर्ग के मनोरंजन के लिये लिखते-पढ़ते हैं । यही कारण है कि प्रतिवर्ष अनेक पुस्तकें प्रकाशित होती हैं पर पाठक की रुचि को परिष्कृत करने अथवा उसे अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति सजग होने की प्रेरणा देने का कार्य इनमें से कदाचित् ही कोई पुस्तक कर पाती हो । आश्चर्य तो तब होता है जब नूतन जीवन-दृष्टि रखने का दावा करने वाले एक ही वर्ग के दो लेखक या पाठक अपने ही वर्ग के किसी लेखक की कृति पर परस्पर विरोधी सम्मति प्रकट करते हैं । एक ही पुस्तक पर किसी पत्रिकायें में दो या तीन आलोचनाएं पढ़ कर इस प्रणाली की असलियत का पता लगाया जा सकता है । जब प्रबुद्ध लेखक और प्रबुद्ध पाठक ही किसी कृति के बारे में निश्चित अभिमत नहीं रखते तब सामान्य स्तर का पाठक उस चक्रव्यूह में फंस कर क्यों नहीं खो जायेगी ? परिचयात्मक आलोचना प्रणाली की इस विकृतावस्था के कारण अच्छी रचनाओं का भी जनता तक पहुंचना कठिन हो जाता है । इससे बड़ा दुर्भाग्य स्वतंत्र देश के लेखकों या पाठकों का और कुछ नहीं हो सकता कि किसी साहित्यिक विधा के बौद्धिक कलावाजों के हाथ पड़ जाने से उसके विकास का पथ ही अवरुद्ध हो जाये ।

अब प्रश्न यह है कि परिचयात्मक आलोचना को इस विकृति से कैसे बचाया जाये ? इसका उत्तर सम्पादकों, लेखकों और पाठकों तीनों की दृष्टि से दिया जा सकता है । यदि सम्पादकों की दृष्टि से इसका उत्तर दिया जाय तो हम कहेंगे कि उनका उत्तरदायित्व सबसे बड़ा है । सम्पादकों को चाहिए कि वे पाठकों की दृष्टि से अनुपयुक्त आलोचनाओं को न छापें । उनका यह भी कर्त्तव्य है कि जिस विषय की पुस्तक हो उसके विशेषज्ञ से ही उसकी परिचयात्मक आलोचना करावें । न केवल विषय वरन् अब तो साहित्यिक विधाओं के विशेषज्ञों को ही किसी विद्या की पुस्तक की आलोचना लिखने का कार्य देना चाहिए । अच्छा तो यह हो कि सम्पादकों, लेखकों और पाठकों की गोष्ठियां परिचयात्मक आलोचना प्रणाली के वर्तमान विकृत रूप पर विचार करें । वे ऐसी आलोचनाओं की खुल कर निन्दा करें और उनकी सामाजिक

उत्तरदायित्व हीनता को स्पष्ट रूप से सामने रखें। उसके साथ ही अच्छे सम्पादक ऐसी आलोचनाओं को प्रकाशित न करने का प्रण करें। जो सम्पादक ऐसा न करें उनकी भर्त्सना होनी चाहिए। यदि ऐसा होगा तो इस दिशा में कुछ सुधार होने की आशा की जा सकती है।

जो लेखक हैं उन्हें चाहिए कि स्थली, विकृत दृष्टियुक्त एवं अटपटी आलोचनाओं की अनुपयुक्तता बतावें। पुस्तक विशेष की आलोचना बिना पढ़े किये जाने से क्या हानि हुई या होने की संभावना है, आलोचक ने कैसे लेखक के दृष्टिकोण को प्रमुखता न देकर अपनी विचारधारा का प्रक्षेपण कर दिया है। व्यापक दृष्टि के होने से पुस्तक के साथ क्या अन्याय हुआ है, शैलीगत अस्पष्टता के कारण पुस्तक की विषयवस्तु को हृदयंगम करने में क्या कठिनाई हुई है आदि बातों को तो लेखक ही बता सकते हैं। इस कार्य को एक लेखक करे या दो या उसके अधिक लेखक मिल कर करें, परिचयात्मक आलोचना की महत्ता को अक्षुण्ण रखने के लिये यह कार्य होना अवश्य चाहिए।

अब रही पाठकों की बात। यदि सच पूछा जाय तो साहित्य के लक्ष्य पाठक हैं। वही उसकी श्रेष्ठता और निकृष्टता के भी निर्णायक हैं। यदि वे कटिबद्ध हो जायें तो किसी भी साहित्यिक विधा के विकृत होने का प्रश्न न उठे। इसलिये उनका भी यह कर्त्तव्य है कि यदि किसी पुस्तक का परिचय पढ़ कर वे उसे खरीदें और उस परिचय में उनके द्वारा खरीदी गई पुस्तक में वे बातें न मिले जिनका उल्लेख परिचयात्मक आलोचक ने किया है तो उसे प्रकाश में लाये। यह कार्य या तो वे स्वयं करें या किसी कर्त्तव्य-परायण लेखक के द्वारा करायें। यदि कुछ पाठक मिल कर यह कार्य करें तो अत्युत्तम हो। आजकल पाठकों की सम्मति भी अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में छपती है पर वह रचनाओं को लक्ष्य में रख कर ही भेजी जाती है। जिन पुस्तकों की आलोचना छपती है उनके विषय में भी संगठित रूप से निर्भीक सम्मति प्रदर्शन होना चाहिए। पाठकों की निर्भीक सम्मति से ही परिचयात्मक आलोचना विकृति से बच कर अपने लक्ष्य के अनुरूप उचित दिशा में प्रगति कर सकती है।

● ● ●

अब्दुर्रहीम खानखाना

डॉ० मुरारि लाल शर्मा 'सुरस'

जीवन वृत्त--अकबर के दरबारी इतिहासकारों--अबुलफजल अब्दुलक़ादिर बदायूंनी तथा अब्दुल बाकी आदि और स्वयं जहाँगीर ने 'तुज़ुक जहाँगीरी' में रहीम के जीवन की घटनाओं तथा साहित्यिक जीवन पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

रहीम के पिता का नाम बैरम खाँ था। बैरम खाँ तुर्कमान जाति की कराकूयल वंश की 'बहारलू' शाखा में उत्पन्न सेफ़अली के पुत्र थे। इन्होंने भारत का राज्य प्राप्त करने के लिये युद्धों में हुमायूं की बहुत सहायता की थी और उसके मरने पर वे अकबर के अभिभावक भी रहे थे। उनके घर जमालखां मेवाती की छोटी पुत्री से १४ सफर ६६३ हिजरी (संवत् १६१३ वि०) को लाहौर में एक पुत्रोत्पन्न हुआ जिसका नाम अकबर ने अब्दुर्रहीम रखवाया।[1] कालान्तर में बैरम खाँ के अनधिकृत हस्तक्षेप को समाप्त करने के लिये अकबर न उन्हें शासकीय कार्यों से पृथक कर दिया। इस पर बैरम खाँ ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह करने की चेष्टा की किन्तु पिछली सेवाओं को याद करके अकबर ने उसे क्षमा कर दिया। इसके बाद बैरम खां ने सपरिवार हज के लिये प्रस्थान किया। किन्तु गुजरात के पाटल नगर में माघ सुदी १५ संवत् १६१७ को मुबारकखां नाम के पठान ने बैरम खाँ का वध कर दिया। यह जान कर अकबर ने बहुत शोक प्रकट किया और ४ वर्ष के बालक रहीम तथा उसकी विधवा मां को अपने पास बुला लिया। बालक की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था कर दी। इतिहासकार अब्दुलबाकी के कथनानुसार रहीम ने ११वें वर्ष में काव्य रचना आरम्भ कर दी थी। उन्होंने

१ अकबरनामा, भाग २, पृष्ठ ७६।

किसी को भी अपना काव्य गुरु नहीं बनाया था बल्कि अपनी प्रतिभा के बल पर ही कविताएं लिखना प्रारम्भ कर दिया था ।१

बड़े होने पर अकबर ने इन्हें मिर्ज़ाखां की उपाधि प्रदान की२ और इनका विवाह खाने आज़म मिर्ज़ा अज़ीज़ कोहल्ताश की बहिन माहमानू बेगम से कर दिया। गुजरात तथा मेवाड़ की लड़ाइयों में इन्होंने असाधारण सफलता प्राप्त की जिससे प्रसन्न होकर बादशाह ने उच्चपद तथा जागीरें प्रदान कीं । बाद में इनको शाहज़ादे सलीम का शिक्षक नियुक्त किया गया । शिक्षण कार्य से जो समय शेष रहता था उसमें इन्होंने 'वाक़यात बाबरी' का तुर्की भाषा से फ़ारसी में अनुवाद किया। यह अनुवाद अकबर को बहुत पसंद आया। राजा टोडरमल की मृत्यु हो जाने पर रहीम को 'वकील' (महामंत्री) का पद प्रदान किया गया।३ इनके पिता बैरम खाँ को भी यह पद प्राप्त था। इसके बाद भी इन्होंने गुजरात सिंध तथा अहमदनगर आदि के युद्धों में सफलता प्राप्त की और अकबर के विशेष कृपापात्र बने ।

जहाँगीर के सिंहासनारूढ़ होने के समय ये दक्षिण में थे । कुछ समय बाद राजनीति के चक्र ने ऐसा पलटा खाया कि जहांगीर ने राजद्रोह का अपराध लगा कर इन्हें कैद कर लिया और इनकी सारी जागीर ज़ब्त कर ली । इस समय इनकी दशा सामान्य भिक्षुक जैसी हो गई थी। तब ये चित्रकूट में रहने लगे। अपने जीवन में रहीम चरमोत्कर्ष तक पहुंचे किन्तु दुर्दिनों में इन्हें संसार के कड़वे अनुभव भी हुए थे। इनके तीन पुत्र तथा एक पुत्री हुई लेकिन वे सब रहीम के जीवन काल में ही दिवंगत हो गए थे । अपने जीवन के अंतिम दिनों में रहीम को पुन: सम्मान मिला अवश्य किन्तु अस्वस्थता के कारण फाल्गुन संवत् १६८३ को इनकी मृत्यु हो गई । ४ स्व० पं० मयाशंकर याज्ञिक ने इनकी मृत्यु सं० १६८६ बताई है। ५ मआसिरुल उमरा के लेखक ने मृत्यु के समय इनकी अवस्था ७२ वर्ष बताई है। ६ श्री याज्ञिक की बताई तिथि से अंतर होने का कारण

१. मआसिरे रहीमी, भाग २, पृष्ठ ५६२।
२. अकबरनामा, भाग २, पृष्ठ २०३–२०४।
३. खानखानानामा, भाग २, पृष्ठ ३५ ।
४. मआसिरुल उमरा, भाग २, पृष्ठ १६६ ।
५. रहीम रत्नावली–भूमिका, पृष्ठ ८ ।
६. मआसिरुलउमरा, भाग २, पृष्ठ १६६ ।

यह है कि उन्होंने इन का जन्मकाल संवत् १६१३ माना है। १ स्व० मुंशी देवी प्रसाद जी ने 'खानखानानामा' में इनका मृत्यु समय फाल्गुन संवत् १६८३ या चैत्र संवत् १६८४ माना है। उनका कहना है कि 'तुजुक जहाँगीरी' में खान-खाना के मरने की मिति नहीं लिखीहै।२

समसामयिक साहित्यकारों से सम्बन्ध

खानखाना एक वीर सेनानी, गुणग्राही साहित्यकार एवं विद्वानों के आश्रयदाता थे। इनके साथ हिन्दी कवियों का एक समुदाय सदैव बना रहता था। कहते हैं कि गंग कवि को तो उनकी एक रचना पर ही उन्होंने ६ लाख रुपये दान कर दिये थे। इससे इनकी उदारता और दानशीलता का परिचय मिलता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशव दास का रहीम से घनिष्ट था। अपनी रचना 'जहांगीर जस चन्द्रिका में उन्होंने रहीम के विषय में भी कुछ छन्द दिये हैं ३ जिनमें उद्यम और भाग्य के प्रसंग तथा सरदारों के वर्णन में रहीम की वीरता और आतंक का वर्णन किया गया है। आसकरन नाम के चारण (उपनाम 'जाड़ा') ने रहीम की प्रशंसा में ४ दोहे लिखे। रहीम ने प्रत्येक दोहे पर एक-एक लाख रुपया देना चाहा किन्तु 'जाड़ा' ने उसे अस्वीकार कर दिया और अपने आश्रयदाता को मेवाड़ प्रान्त के जहाजपुर परगना को दिलवाने की प्रार्थना की। रहीम ने भी 'जाड़ा' के दोहों का जवाब एक दोहे में दिया। ४ खानखाना की प्रशंसा में 'प्रसिद्ध' कविरचित तीन छंद उपलब्ध हैं।५ इसी प्रकार (मंडन६, संत७, नरहरी के पुत्र हरिनाथ८, अकलाकुली९, तारा१०, मुकुन्द११, आदि कवियों ने रहीम की

---

१. रहीम रत्नावली, पृष्ठ ३ तथा ३४।
२. खानखानानामा, भाग २, पृष्ठ ९७।
३. रहीम रत्नावली, पृष्ठ ७५।
४. वही, पृष्ठ ७७–७८।
५. (क) खानखानानामा, भाग २, पृष्ठ १४०; (ख) शिवसिंह सरोज (१८८३) पृष्ठ १९४; (ग) रहीम रत्नावली, पृष्ठ ७९।
६. वही, पृष्ठ ७८।
७. तथा ८. वही, पृष्ठ ८५।
९. खानखानानामा, पृष्ठ १३८।।
१०. रहीम रत्नावली, पृष्ठ ८६।
११. माधुरी पौष, सं० १९८४।

शंसा में कविताएं लिखी हैं। रहीम रत्नावली में खानखाना की प्रशंसा में अज्ञात कवि के नाम से सात छंद दिये गये हैं[1] इन छंदों में रहीम की वीरता और दानशीलता का अच्छा परिचय दिया गया है। कहा जाता है रहीम और तुलसीदास का परस्पर स्नेहभाव था। रहीम रचित बरवै छंद को देख कर ही तुलसी दास के बरवै रामायण की रचना करने का लोग अनुमान लगाते हैं किन्तु यह सत्य नहीं है। बरवै छंद में रामायण लिखने की प्रेरणा का स्रोत तो तुलसीदास को लक्षदास से मिला था।[2]

रचनाएँ --हिन्दी साहित्य जगत् में अब्दुर्रहीम खानखाना के नाम से उपलब्ध रचनाओं में कवि का नाम रहिमन या रहीम मिलता है। मआसिरुल उमरा और मआसिरे रहीमी में अब्दुरहीम खानखाना का तखल्लुस 'रहीम' बताया गया है। हिन्दी साहित्य के इतिसहासकारों ने, भ्रमवश, दो रहीम माने हैं। शिवसिंह सरोज में प्रसिद्ध कवि खानखाना के सिवाय एक अन्य रहीम कवि का उल्लेख किया गया है।[3] दास कवि ने 'काव्य निर्णय' में एक कवित्त भी उद्धृत किया है।[4] सरोजकार ने रहीम के नाम से जो कवित्त दिया है[5] वही दूसरे स्थान पर अनीस के नाम से दिया गया है[6] वस्तुतः यह कवित्त अनीस कवि का है, रहीम का नहीं। इसको देख कर अनुमान होता है कि मिश्रबन्धुओं ने भी इसी प्रकार के किसी भ्रम में पड़ कर हिन्दी साहित्य में दो रहीम मान लिये हैं। वस्तुतः हिन्दी साहत्यि में रहीम खानखाना के नाम से जो रचनाएं उपलब्ध हैं वे अकबरी दरबार के प्रसिद्ध सेनानी एवं हिन्दी के कवि रहीम की ही हैं।

पं० नक्छेदी तिवारी ने रहीम कृत ६ ग्रंथों का उल्लेख किया है --
(१) रहीम सतसई (२) बरवै नायिका भेद (३) रासपंचाध्यायी (४) मदनाष्टक (५) दीवान फारसी (६) वाक़यात बाबरी का फारसी अनुवाद। शिवसिंह सरोज में इनका 'श्रृंगार सोरठा' नामका

---

१. रहीम रत्नावली, पृष्ठ ८७ से ९० तक।
२. साहित्य संदेश, दिसम्बर, १९६३, पृष्ठ २४१।
३. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ४९१।
४. काव्य निर्णय– भिखारी दास, पृष्ठ ३।
५. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ३०२।
६. वही, पृष्ठ २४।

एक ग्रंथ और बताया गया है।[१] रहीम की रचनाओं के अनेक संग्रह उपलब्ध हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य है :—

१—रहिमन विलास
   सम्पादक बा० ब्रजरत्नदास
२—रहिमन विनोद
   सम्पादक पं० अयोध्याप्रसाद शर्मा
३—रहीम कवितावली
   सम्पादक पं० सुरेन्द्रनाथ तिवारी
४—रहीम
   सम्पादक पं० रामनरेश त्रिपाठी
५—रहिमन चंद्रिका
   सम्पादक श्री रामनाथ लाल 'सुमन'
६—रहिमन शतक
   लाला भगवान दीन
७—रहीमरत्नावली
   सम्पादक पं० मयाशंकर याज्ञिक

उपर्युक्त संग्रहों में पं० मयाशंकर याज्ञिक द्वारा सम्पादित 'रहीम रत्नावली' पूर्ण और प्रमाणिक प्रतीत होती है क्योंकि कवि के सम्बन्ध में ज्ञात प्रकाशित तथा अप्रकाशित (हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में) सारी सामग्री के आधार पर यह संग्रह तैयार किया गया है ।

रहीम सतसई—प्रसिद्ध इतिहासका डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने कवि रचित कई रचनाओं की ओर संकेत करते हुए 'रहीम सतसई' का उल्लेख किया है ।[२] वैसे रहीम की रचनाओं के संग्रहकारों ने सर्वप्रथम 'रहीम दोहावली' के नाम से दोहे दिये हैं उनकी संख्या ३०० से भी कम है। इनमें कुछ संदिग्ध दोहे भी ह किन्तु जब तक इनके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलता इन्हें रहीम रचित ही मानना पड़ेगा । पं० मयाशंकर याज्ञिक ने 'रहीम सतसई' के होने की संभावना प्रकट की है[३] किन्तु डॉ० सरयू प्रसाद अग्रवाल रहीम रचित किसी 'सतसई' के लिखने के प्रयत्न को स्वीकार नहीं करते क्योंकि रहीम का जीवन राजनीतिक तथा शासन सम्बन्धी कार्यों से इतना ओतप्रोत था कि किसी विशेष प्रकार की रचना का उन्हे अवकाश ही नहीं था ।[४] डा० अग्रवाल के इस तर्क में कोई जान नहीं है क्योंकि जिस व्यक्ति की जिस काम में रुचि होती है उसे सम्पन्न करने का अवसर वह किसी न किसी प्रकार निकाल ही लिया करता है : अतः व्यस्त जीवन के होते हुए भी ७०० दोहे लिख लेना कोई असम्भव

१. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ४६१ ।
२. हिस्ट्री आव मुस्लिम रूल इन इण्डिया—पृष्ठ ७०८ ।
३. रहीम रत्नावली, पृष्ठ १७ ।
४. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि (२००७ वि०), पृष्ठ १६६) ।

बात नहीं है क्योंकि सारे दोहे एक बार में ही नहीं लिखे गये, वे तो सुविधानुसार लिखे जाते रहे होंगे । श्री याज्ञिक जी ने 'सतसई' के शृंगारिक वृत्ति के दोहों के लुप्त हो जाने की जो बात कही है[1] उसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है और डा० अग्रवाल का यह तर्क भी मान्य नहीं हो सकता कि "रहीम की शृंगारिक भावनाओं की पूर्ति उनकी अन्य रचनाओं --सोरठे, बरवै, दोहे, अष्टक आदि छंदों में पूर्ण हो गई है फिर अब भी उनकी दोहावली में ही अभिव्यक्त करने की आवश्यकता क्योंकर शेष रहती है[2] तुलसीदास जी ने रामचरित मानस के अतिरिक्त दोहावली, गीतावली, बरवै रामायण तथा कवितावली आदि रचनाओं में वर्ण्य विषय को आधार राम की कथा को बनाया है । सूरदास की रचनाओं में तो कृष्ण लीला की विभिन्न घटनाओं की आवृत्ति विभिन्न भावों एवं छन्दों के द्वारा की गई है तब फिर रहीम की शृंगार या अन्य विषय के दोहों की आवृत्ति ही क्योंकर रह सकती थी? इसलिये सम्भव है रहीम ने ७०० दोहे लिखे हों जो आज पूरी संख्या में उपलब्ध नहीं हैं ।

वर्ण्य विषय--रहीम की सर्वाधिक प्रचलित रचनाओं में उनके दोहे हैं, तुलसी, बिहारी, वृन्द तथा कबीर आदि की भांति इनके नीति के दोहे भी लोगों को याद हैं । इन दोहों में कवि की अनुभूति जैसे साकार रूप धारण करके अन्तर्भुक्त हो गई है । भक्ति, ज्ञान, उपदेश, प्रकृतिवर्णन आदि के लिये कवि की यह गर्वोक्ति बिल्कुल ठीक है --

दोहा दीरघ अर्थ के आखर थोरे माहिं ।
ज्यों रहीम नट कुण्डली सिमिटि कूदि चढ़ि जाहिं ॥[3]

कवि के इन दोहों में उसके व्यक्तिगत जीवन की छाया भी मिलती है । ऐसा प्रतीत होता है उनके भक्तिभाव, दैन्य तथा व्यावहारिक जीवन के कड़वे अनुभव इन दोहों में जीवन की साधना को समेटे हुए बैठे हैं ।

नगर शोभा--इसकी एक हस्तलिखित प्रति पं० मयाशंकर याज्ञिक को मिली थी[4] इसमें ग्रंथ का रचना काल नहीं दिया गया किन्तु पुस्तक के प्रारम्भ में 'अथ नगर शोभा नवाब खानखाना कृत' दिया गया है । इसमें १४२ दोहे हैं जिनके आरम्भ में मंगलाचरण

---

१. रहीम रत्नावली, पृष्ठ १७ ।
२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि– पृष्ठ १६६ ।
३. रहिमन विनोद, सं० १९८४, पृष्ठ ४५ ।
४. रहीम रत्नावली, पृष्ठ १८ ।

दिया गया है । इससे स्पष्ट है कि यह एक स्वतंत्र ग्रंथ है और 'रहीम सतसई' का अंश नहीं है । इसमें देव कवि के 'जाति विलास' की भांति ही अनेक जाति की स्त्रियों का वर्णन बड़ी सुंदरता से किया गया है। दोहों की शब्द योजना वर्णित स्त्री की जाति का जीता जागता चित्र खींचने में पुर्णतया सफल हुई है । इसी ग्रंथ के भावों से मिलते-जुलते कुछ बरवै भी श्री याज्ञिक जी को प्राप्त हुए। रहीम को दोहा और बरवै छंद विशेष रूप से प्रिय था, इसलिये संभव है कि उन्होंने दोहों में इस रचना को लिख कर बरवै छंदों में भी लिखना प्रारम्भ किया हो ।

वर्ण्य विषय--नगर शोभा में रहीम ने विविध जाति की स्त्रियों का वर्णन एक-एक या दो-दो दोहों में किया है। इनमें ब्राह्मणी, परजापति, खतरानी, कैथिनी, जौहरिन, बरइन, रंगरेजिन, तुरकिन तथा गूजरी आदि के सजीव चित्र से खींच दिये गए हैं। इस वर्णन को पढ़ कर यह अनुमान होता है कि अकबर द्वारा आयोजित मीना बाजार में एकत्र होने वाली सभी वर्ण एवं पेशों वाली स्त्रियों को देख कर ही रहीम को इस रचना की प्रेरणा मिली होगी ।

बरवै नायिका भेद--यह रचना पूर्ण रूप में उपलब्ध है। इसमें अवधी भाषा में विभिन्न नायकाओं के भेद केवल उदाहरणों द्वारा समझाये गए हैं, उनके लक्षण नहीं दिये गए हैं। अभी तक इस ग्रंथ के ११७ बरवे प्राप्त हुए हैं।१ यह रचना सबसे पहले 'कवि वचन सुधा' में प्रकाशित हुई इस के अनन्तर भारत जीवन प्रेस ने उसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया२ इस ग्रंथ की कई हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हुई हैं । ३ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट (१९०९–१९११) में रहीम रचित 'बरवै नायिका भेद' की एक प्रति के प्राप्त होने की सूचना है ।४

रहीम कृत यह ग्रंथ स्वतंत्र रूप में उपलब्ध नहीं होता । उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में मतिराम के दोहे और रहीम के बरवै साथ मिला कर लिखे गये हैं । मतिराम के दोहों में रहीम के बरवों से प्रभावित होकर ही ये दोहे लिखे हों जिन का बाद में संग्रह कर दिया गया हो। कहा जाता है कि गो० तुलसीदास ने रहीम की बरवों से प्रभावित होकर 'बरवै रामायण' की रचना की थी। इसके समर्थन में बाबा बेनीमाधवदास के 'मूल गोसाईं

१. रहिमन विलास, पृष्ठ ४१ ।
२. वही, पृष्ठ ३५ ।
३. रहीम रत्नावली, पृष्ठ २२–२३ ।
४. खोज रिपोर्ट (१९०९–११), पृष्ठ २५ ।

चरित' को उद्धृत किया जाता है किन्तु यह सत्य नहीं है। इस सम्बन्ध में ऊपर संकेत किया जा चुका है कि तुलसीदास की बरवै रामायण की रचना का प्रेरणा स्रोत लक्षदास की बरवै रचना हैं।

वर्ण्य विषय--बरवै नायिका भेद में कवि ने नायिका के भेद तथा उपभेद के उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार नायकों के भेद तथा उपभेद उदाहरण सहित दिये गये हैं। दर्शन के अंतर्गत श्रवण, स्वप्न चित्र साक्षात् और सखीजन कर्म के सम्बन्ध में मंडन, शिक्षा, उपालम्भ तथा परिहास के सजीव उदाहरण दिये गए हैं।

बरवै--इस रचना की एक हस्त-लिखित प्रति पं० मयाशंकर याज्ञिक को मेवात से प्राप्त हुई थी जहां रहीम के मातामह जमाल खाँ की ज़मींदारी थी। ग्रन्थारम्भ 'श्री रामोजयति अथ खानखाना कृत बरवै आरम्भ' से किया गया है। प्रारम्भ के ६ बरवों में गणेश जी, श्री कृष्ण, सूर्यदेव, महादेव हनुमान तथा गुरु की वंदना की गई है जिस से यह एक स्वतंत्र ग्रंथ प्रमाणित होता है। 'रहीम रत्नावली' में याज्ञिक जी ने १०१ बरवै दिये हैं[१] और बाद के ४ बरवै अन्य फुटकर संग्रहों से एकत्र किये गए हैं, [२] इस ग्रंथ का न तो रचनाकाल ही दिया गया है और न इस ग्रंथ की समाप्ति के सम्बन्ध में ही कोई उल्लेख है। इन बरवों में कोई क्रम नहीं है। मुख्यतः ये शृंगार विषयक स्फुट रचनाएं हैं जिनके बीच-बीच में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के छंद भी आ जाते हैं। ।

वर्ण्य विषय--बरवै छंदों में शृंगारिक भावनाओं का समावेश है। इनमें विशेष रूप से विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन किया गया है। कृष्ण के विरह वर्णन को लेकर जो बरवै लिखे गये हैं वे 'बारहमासे' की पद्धति पर हैं। इनमें विरहिणी की दयनीय दशा का चित्रण किया गया है।

शृंगार सोरठा --शिवसिंह सरोज में 'शृंगारसोरठा भाषा' के दो उदाहरण दिये गए हैं।[३] सरोजकार ने इसे स्वतंत्र ग्रंथ माना है। रहीम के दोहों में बहुत से सोरठे भी सम्मिलित थे। इनमें से ६ सोरठे शृंगार रस के मिलते हैं। भाषा एवं भाव की दृष्टि से ये सोरठे अत्युत्तम हैं। इनको देख कर यह अनुमान होता है कि शृंगारिक सोरठों की रचना रहीम ने अलग से की होगी।

१. रहीम रत्नावली, पृष्ठ ६१ से ७१ तक।
२. वही, पृष्ठ २४–२५।
३. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ३९९।

रास पंचाध्यायी—यह रहीम की रचना कही जाती है किन्तु अप्राप्य होने के कारण इसका विवरण नहीं दिया जा सकता है। भक्तमाल की टीका में दो पद हैं वे रासपंचाध्यायी के ही कहे जाते हैं।[1]

रहीम काव्य—रहीम रचित कुछ संस्कृत श्लोक तथा कुछ संस्कृत मिश्रित हिन्दी श्लोक मिलते हैं। संग्रह ग्रंथों में ये 'रहीम काव्य' शीर्षक के अंतर्गत दिये गये हैं। यही श्लोक मुंशी देवी प्रसाद ने खानखाना नामा में भी दिये हैं। इन श्लोकों में कोई क्रम नहीं है। रहीम ने दो श्लोकों के भाव को एक छप्पय तथा एक दोहे में प्रकट किया है।[2]

खेटकौतुक जातम—यह रहीम लिखित ज्योतिष विषयक ग्रंथ है जो फारसी तथा संस्कृत भाषाओं में दिया गया है। यह ग्रंथ ज्ञानसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित भी हो चुका है। इस ग्रंथ के अंत में राजयोग पर एक अध्याय दिया गया है। इससे कवि के ज्योतिष विषयक ज्ञान का भी पता चलता है।

रहीम रत्नावली में पं० मयाशंकर याज्ञिक ने रहीम रचित शतरंज के खेल की पुस्तक का भी उल्लेख किया है[3] किन्तु वह उपलब्ध नहीं है।

वर्ण्य विषय—इस ग्रंथ में ज्योतिष विषय पर १२३ श्लोक लिखे गये हैं। आरम्भ में मंगलाचरण है, उसे बाद सूर्य, चन्द्र, मंगल बुध, गुरु, शुक्र, शनि नक्षत्रों के भाव-फल श्लोकों में दिये गए हैं। इसके बाद राहु का भाव फल १२ श्लोकों में और केतु का केवल एक श्लोक में बताया गया है। ग्रंथ के अंत में राजयोग पर २५ श्लोकों का एक अध्याय लिखा गया है।

मदनाष्टक—यह एक शृंगारिक कृति है जो संस्कृत कवियों की शैली पर मालिनी छंद में लिखी गई है। यह छंद संस्कृत मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी में लिखे गए हैं। संवत् १३८२ में अमीर खुसरो ने फारसी मिश्रित हिन्दी भाषा में कविता लिखी थी। उनके बाद संवत् १४०० के लगभग शारंगधर की रचना 'शारंगधर पद्धति' में इसी मिश्रित भाषा में श्रीकृष्ण सम्बन्धी एक छन्द मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि मिश्रित भाषा की इस प्रकार की रचनाएं रहीम से पूर्व भी पर्याप्त मात्रा में प्रचलित थीं। संवत् १६०२ में नारायण भट्ट ने केदार भट्ट रचित 'वृत्त रत्नाकर' की संस्कृत टीका की थी। इसका एक छन्द पं० मयाशंकर

---

१. रहीम रत्नावली, पृष्ठ ३२।
२. रहिमन विलास, पृष्ठ ७३।
३. रहीम रत्नावली, पृष्ठ ३३।

याज्ञिक ने 'रहीम रत्नावली' में उद्धृत किया है।१

शिवसिंह सरोज में रहीम कृत मदनाष्टक के नाम से एक छन्द दिया गया था२, उसके बाद खोज रिपोर्टों तथा पत्रिकाओं में मदनाष्टक के नाम से से रहीम रचित रचना के उपलब्ध होने की सूचना प्रकाशित हुई तदनुसार वही पाठ संग्रह ग्रंथों में संकलित किये गए। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में दो अष्टक प्राप्त हुए।३ इसकी एक प्रति मुअज्ज़माबाद से प्राप्त हुई थी, दूसरी असनी से। सं० १९७९ में सम्मेलन पत्रिका में एक अष्टक प्रकाशित हुआ।४ आषाढ़ संवत् १९८५ की माधुरी में भी एक मदनाष्टक छपा। इसके अनंतर काशीनागरी प्रचारिनी सभा की खोज रिपोर्ट में एक मदनाष्टक और प्रकाशित हुआ जो पठानी मिश्र की रचना बताई गई है।५

इस प्रकार मदनाष्टक की ५ प्रतियां मिलती हैं --

(१) मुअज्ज़माबाद से प्राप्त (२) असनी की प्रति (३) सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित (४) माधुरी में उद्धृत (५) खोज रिपोर्ट में निर्दिष्ट मैनपुरी से प्राप्त पठान मिश्र की रचना।

'मदनाष्टक' शीर्षक से उपलब्ध इन प्रतियों के पाठ में एकरूपता नहीं है। सभी के छन्दों के क्रम तथा पाठों में अन्तर है। अतः निश्चित प्रमाणों के अभाव में पाठों की वैधता तथा रचना के रहीम कृत होने के विषय में विद्वानों में मतभेद रहा है। हम संक्षेप में इसके विषय में विचार करेंगे।

(१) असनी तथा मुअज्ज़माबाद वाले अष्टकों के प्रथम छन्द में नायक की उक्ति है, शेष में नायिका की। पं० मयाशंकर याज्ञिक ने सम्मेलन पत्रिका वाले अष्टक को रहीम रचित मानने का एक कारण यह भी दिया है कि उसके आठों छन्द नायिका की ही उक्तियां हैं। इससे भाव का क्रम गठा हुआ प्रतीत होता है।६ विचारणीय है कि मैनपुरी से प्राप्त प्रति के नौ छन्दों में भी नायिका की ही उक्तियां हैं और फुटकर रचना होने पर भी उनमें भावपूर्ण क्रमबद्धता है। यह पठानी मिश्र की रचना बताई

१. वही, पृष्ठ २६।
२. शिवसिंहसरोज, पृष्ठ ५९।
३. खोज रिपोर्ट (१९२०-२२), पृष्ठ ३८०।
४. सम्मेलन पत्रिका सं० १९७९ भाद्रपद-कार्तिक मास का अंक।
५. खोज रिपोर्ट (१९३५-३७), पृष्ठ २२५।
६. रहीम रत्नावली, पृष्ठ २८।

गई है । सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित प्रति तथा पठानी मिश्र की रचना का प्रथम छन्द ही मिलता है, शेष कोई नहीं ।

(२) सभी अष्टकों में प्रायः संस्कृत मिश्रित खड़ी बोली तथा अरबी-फारसी मिश्रित खड़ी बोली का प्रयोग हुआ है जिसका उस समय पर्याप्त प्रचलन था ।

(३) इन प्रतियों में 'मदन' शब्द का प्रयोग होने से ही उसे 'मदनाष्टक' कहा गया है। वस्तुतः कविता में 'मदन' शब्द का प्रयोग केवल एक वाक्य में टेक या आवृत्ति के रूप में होने से ही बार-बार आया है ।

(४) रहीम कृत माने जाने वाले सभी मदनाष्टकों में 'शिवसिंह सरोज' में दिया गया छंद (कलित ललित जवाहर...) मिलता है, केवल मअज्जमाबाद तथा मैनपुरी की प्रति में नहीं ।

(५) 'मदनाष्टक' के नाम से संकलित छन्दों की संख्या में असमानता है । असनी की प्रति में १० छंद, माधुरी में प्रकाशित ९ छंद, मैनपुरी से प्राप्त पठानी मिश्र की रचना में ९ छंद तथा शेष प्रतियों में ८ छंद मिलते हैं । तब फिर किस रचना को रहीम कृत मान लिया जाय ? और किस आधार पर ?

(६) माधुरी तथा सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित अष्टक में 'झुक झुक मतवाला गावता रेखता था' लिखा मिलता था । इससे यह अनुमान होता है कि दक्षिण से आकर रेखता का प्रयोग (रहीम के समय तक) हिन्दी में भी प्रचलित हो गया था ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर इस रचना को न तो 'मदनाष्टक' ही कह सकते हैं और न इसे रहीम रचित ही मान सकते हैं क्योंकि रहीम के नाम से उपलब्ध प्रतियों के पाठों में भिन्नता है तथा छन्दों की संख्या में असमानता है । यदि मदनाष्टक रहीम कृत रचना होती तो इसके सभी पाठ एक से होने चाहिएं थे । इन पाठों के कुछ छन्द तो परस्पर मिल जाते हैं, शेष में पर्याप्त भिन्नता है ।

पठानीमिश्र के नाम से उपलब्ध रचना में दूसरा छन्द बिलकुल वही है[१] जो 'सुभाषित रत्न भाण्डागारम्'[२] में दिया गया है । इस छन्द के पाठ में 'वृत्त रत्नाकर' की टीका के पाठ से कुछ भिन्नता है,[३] यही छन्द कुछ पाठान्तर से रहीम कृत कही जाने वाली मदनाष्टक की कुछ प्रतियों में भी मिलता है । इससे इतना तो सुस्पष्ट है ही कि रहीम कृत मदनाष्टक के नाम से संकलित

१. खोज रिपोर्ट (१९३५–३७), पृष्ठ २२५ ।
२. सुभाषित रत्न भांडागारम्, पृष्ठ २१७ ।
३. रहीम रत्नावली, पृष्ठ २६ ।

पाठों के सभी छन्द रहीम रचित नहीं हैं, इस सम्बन्ध में पं० मयाशंकर याज्ञिक की यह संभावना कुछ सीमा तक मान्य हो सकती है कि 'मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी' को समस्या मान कर रहीम ने उसकी पूर्ति की हो और कुछ छन्द लिखे हो,१ कालान्तर में उन्हें संकलित कर लिया गया हो । निश्चित प्रमाण के अभाव में रहीम रचित इस प्रकार के छंदों की संख्या को बता सकना कठिन है ।

माधुरी में प्रकाशित प्रति को छोड़ कर शेष सभी प्रतियों में 'इति वदति पठानी' लिखा है जिसके आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे भ्रमवश रहीम की रचना मान लिया है किन्तु वास्तव में यह 'पठानी' नाम के किसी अन्य व्यक्ति की रचना है क्योंकि (जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है) रहीम ने अपनी रचनाओं में 'रहीम' या 'रहिमन' उपनाम ही दिया है, 'पठानी' उपनाम उनकी अन्य किसी भी रचना में नहीं मिलता । दूसरी इतिहास सिद्ध ज्ञातव्य बात यह है कि रहीम शुद्ध तुर्क थे, पठान नहीं ।

मैनपुरी से प्राप्त प्रति के प्रारंभ में 'अथ पठान मिश्र कृत श्लोक लिख्यते' लिखा गया है और उसके ९ छन्द दिये गए हैं ।२ यह छंद संस्कृत मिश्रित खड़ी बोली की शैली में लिखे गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि यह न तो अष्टक है और न रहीम कृत ही कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में खोज रिपोर्ट के सम्पादक का मन्तव्य भी द्रष्टव्य है । उन्होंने यह संभावना प्रकट की है कि "हिन्दू देवी देवताओं में श्रद्धा रखने तथा अत्यंत धर्म परायण होने के कारण रहीम को पठानी मिश्र या ब्राह्मण कहा गया हो परन्तु यह भी असम्भव नहीं कि इसका रचयिता कोई भिन्न व्यक्ति हो जो ब्राह्मण से मुसलमान होने के कारण पठानी मिश्र कहलाता हो और जिसने रहीम की सेवा में रह कर अपने स्वामी के नाम से उक्त ग्रंथ की रचना की हो।"३ खोज रिपोर्ट के सम्पादक की उपर्युक्त टिप्पणी के आधार पर हम रहीम को पठानी मिश्र या ब्राह्मण स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि रहीम के इस नाम के बारे में इतिहास ग्रंथों में कोई उल्लेख नहीं मिलता । यह तो पठानी मिश्र नाम के भिन्न व्यक्ति की ही रचना है । जहांगीर नामा में बताया गया है कि पठानी मिश्र को जहांगीर ने एक सहस्र रुपये से पुरस्कृत

१. रहीम, रत्नावली पृष्ठ २८–५३ ।
२. खोज रिपोर्ट (१९३५–३७), पृष्ठ २२५ ।
३. वही, पृष्ठ १८ ।

किया था । (१६०८ ई०)[1] इसके अतिरिक्त पठानी मिश्र के बारे में और कोई विवरण अभी तक नहीं मिल पाया है ।

वाक़ेयात बाबरी--मुग़ल साम्राज्य के संस्थापक सम्राट् बाबर वीर सेनानी होने के साथ-साथ एक भावक लेखक भी थे । उन्होंने अपने जीवन के उत्थान-पतन तथा कठिनाइयों का तुर्की भाषा के माध्यम से सजीव वर्णन किया । रहीम ने फ़ारसी भाषा में उसका बहुत ही शुद्ध और उत्तम अनुवाद किया है । पाश्चात्य विद्वानों ने इस अनुवाद की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है ।

फ़ारसी दीवान--इसमें कवि की फ़ारसी लिखित कविताएं संकलित की गई हैं ।

हिन्दी साहित्य को रहीम की देन--मुसलमानी परम्परा और वातावरण में जन्म लेकर भी रहीम ने भगवान् राम और कृष्ण की विविध रूपों में वंदना की है । कवि रचित दोहों, बरवों तथा पदों में जो वर्णन या संकेत किया गया है उससे स्पष्ट है कि उनका झुकाव कृष्ण की ओर अधिक था । यह भी सम्भवतः इसलिये कि वे कृष्ण की लीलाभूमि के समीप आगरा में ही अधिकांश समय तक रहे थे । हिन्दू देवी-देवताओं के प्रति उनमें श्रद्धा भाव था अतः उन्होंने रामकृष्ण विषयक साहित्य का भी अध्ययन किया था जिसका स्पष्ट संकेत उनकी रचनाओं को पढ़ने पर मिल जाता है ।

रहीम रचित काव्य की भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा है किन्तु उसमें भी अवधी के सर्वनाम, कारक और विशेषणों का प्रयोग मिलता है। 'बरवै' तथा "बरवै नायिका भेद" दोनों अवधी की सर्वश्रेष्ठ कृतियां हैं। इसमें यह स्ष्ट है कि उनका ब्रजभाषा और अवधी पर पूर्ण अधिकार था। इनके अतिरिक्त वे तुर्की, फ़ारसी, अरबी और संस्कृत के भी ज्ञाता थे । शब्द चयन और भावानुवर्तिनी भाषा के प्रयोग में रहीम बड़े ही पटु थे । उनकी इन रचनाओं से उनके अनुभव, व्यवहार-कुशलता और स्वाभाविक वर्णन का पता चलता है ।

---

१. जहांगीरनामा, प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ २३०

गुरुमुखी लिपि में रचित ब्रज-भाषा के प्रबन्ध काव्यों में वात्सल्य-रस

डा० जयभगवान गोयल

[यह निबन्ध भारतीय हिन्दी परिषद् के २१वें वार्षिक अधिवेशन में पढ़ा गया था] ——सम्पादक

मध्ययुग में पंजाब में गुरुमुखी–लिपि के माध्यम से जो हिन्दी साहित्य लिखा गया उसके आधार पर यह दृढ़ता से कहा जा सकता है कि १७वीं शती से १९वीं शती तक पंजाब के हिन्दु और सिक्ख लेखकों की प्रमुख साहित्यिक भाषा हिन्दी ही थी।१ दूसरे, उत्तरभारत के हिन्दी-भाषी प्रदेशों में जिस समय भक्ति-आन्दोलन मंद पड़ रहा था और उसमें गद्दियों के स्थापित हो जाने के कारण शृंगारिकता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी, तथा संतमत का शक्तिशाली प्रभाव साम्प्रदायिक संकुचितता, एवं बाह्याचारों की प्रमुखता के कारण क्षीण हो रहा था, उसी समय पंजाब में सिक्ख-मत इस्लामी आतंक एवं विरोध के बावजूद दिन-प्रतिदिन जोर पकड़ रहा था। सिक्ख-गुरुओं के आदर्श जीवन, क्रांतिकारी सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण, जनता की प्रेरणा और उत्साह के स्रोत थे। उन्होंने विदेशी संस्कृति एवं मुग़ल शक्ति के विरुद्ध जिस सांस्कृतिक आन्दोलन का अभ्युदय किया था उसकी प्रेरणा स्वरूप पंजाब में ब्रज-भाषा के कई महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध काव्य लिखे गये। सिक्ख-गुरुओं के जीवन पर आधारित ये प्रबन्धकाव्य नवीन आशा, अडिग विश्वास, तथा अदम्य उत्साह से ओत प्रोत हैं। और इनमें मति और वीरता की प्रवृत्ति प्रधान है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनमें से अधिकतर ग्रंथों में कथात्मक इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है तथा ऐतिहासिकता की अपेक्षा इनमें सांस्कृति पक्ष अधिक सशक्त हैं। फिर भी मानवीय मनोवेगों की व्यंजना भी इनमें मार्मिक

१. When Hindi was the literary language of Pb. The Tribune 11-5-65.

ढंग से हुई है । [illegible] कुछ सुन्दर झांकियां इनमें देखने को मिलतीहैं।

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों में वातसल्य को स्वतन्त्र रस के रूप में मान्यता प्रदान करने में मतभेद रहा है।[१] परन्तु हम आचार्य विश्वनाथ के अनुसार इसे दशम् रस मानना चाहते हैं क्योंकि वात्सल्य का रसास्वादन स्वतंत्र रूप में अनुभूत होता है । वातसल्य रस के अन्तर्गत शिशु अथवा बालक आलम्बन होता है, उसकी मधुर, भोली भाली, सुन्दर आकृति, लावण्य, एवं चंचल चेष्टाएं या क्रीड़ाएं उद्दीपन का कार्य करती हैं। उसकी क्रीड़ाओं को देख कर मन का उल्लसित होना, मुग्ध होना, आनन्द विभोर होकर उसे देखना, बलाएं लेना, न्यौछावर करना, मुस्कराना, मुख चूमना आदि अनुभाव तथा हर्ष, स्पर्धा, चिंता आदि संचारी हो सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य की भी शृंगार की भांति संयोग एवं वियोग की दो अवस्थाएं स्वीकार की हैं। वियोग की स्थिति में माता पिता का पुत्र को स्मरण करना, चिंतित रहना, मूर्च्छित होना आदि अनुभाव होते हैं और स्मृति चिंता, विषाद आदि संचारी ।

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने भागवत् के आधार पर कृष्ण की बाल लीलाओं का बहुत ही मधुर चित्रण किया है । सूरदास [illegible] वात्सल्य सम्बन्धी मनोवेगों की अत्यन्त सूक्ष्म और मार्मिक व्यंजना की है । पंजाब के हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम हरियाजी ने सूर की गीति-शैली में कृष्ण की बाल लीलाओं से सम्बन्धित कुछ पद लिखे ।

उदाहरण के लिये--

१--"जसौदा तुमसरि अवरि न माई,"

२--"टुक समझावहु अपने बारकूं सुनहु जसोधे माई ।

बार गुआर ले संगी साथी बेकुट बोले जाई ।"

आदि पद देखे जा सकते हैं। परन्तु वात्सल्य रस का विशद चित्रण सर्वप्रथम हमें गुरुगोविन्द सिंह द्वारा रचित 'विचित्र नाटक' में ही मिलता है। कृष्णावतार से सम्बन्धित अपने प्रबन्धकाव्य में उन्होंने कृष्ण की अनेक बाललीलाओं का वर्णन किया है। उसमें कृष्ण के जन्म, पालने पर झूलने, घुटने चलने, तोतले मधुर वचन बोलने, माखन खाने, तृणावर्त, वकासुर तथा अघासुर को मारने, आदि से सम्बन्धित प्रसंग उल्लेखनीय हैं। कुछ उदाहरण देखिए :-

पलने पर झूलना :--

बालक रूप धरे हरि जी पलना पर झूलत है तब कैसे ।

---

१. संस्कृत के कतिपय आचार्यों ने इसे दशम रस माना है। विश्वनाथ के अतिरिक्त भोजराज ने भी इसे स्वतंत्र रस माना है। रुद्रट ने भी इसका उल्लेख किया है।

माता लड़ावत है तिह को औ डुलावत है
करि मोहित कैसे ।
ता छवि की उपमा अति ही कवि स्याम
कही मुखते फुनि कैसे
भूमि दुखी मन मैं अति ही जनु पालते हैं
रिप-दैतन जैसे ।
(दशम ग्रंथ पृ० २६५)

घुटने चलना तथा खेलना :--
कान्ह चले घुटुवा घरि भीतर मात करे
उपमा तिह चंगी ।
(वही, पृ० २६६)

गोपन सौ मिलकै हरि जी जमना तट
खेल मचावत है ।
जिम बोलत है खग, बोलत है, जिम
धावत है तिम धावत है ।
(वही पृ० २६७)

माखन चोरी:-
खेलन के मिस पै हरि जी घरि भीतर
बैठे माखन खावै ।
बाकी बच्यो अपने करि लेकर बानर के
मुख भीतर पावे ।
(वही, पृ० २६८)

बालक्रीड़ा :-
सैन बनाई भलौ हरि जी वसुधा दध को
मिल लूटन लाए ।
हाथन सौ गहि के सब बासन के बल को
चहूँ ओर बगाए ।
फूट गए वह फैल गयो दध भाव इहे कवि के
मन आए ।
कंस की भामू विकटता को अगुवा जन
आंगन कान्ह जनाए ।
फोर दिये तिन जो सब बासन क्रोध भरी
जसुधा तब धाई ।
कांध उठे कपि रुखन रुखन ग्वारन ग्वारन
सैन भगाई ।
(वही पृ० २७०)

स्पष्ट है इन वर्णनों में स्वाभाविकता है और कहीं-कहीं कवि ने कल्पना का भी सहारा लिया है तथापि कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन इस ग्रंथ में अधिक विस्तार से नहीं हुआ। सूर के बाल्य-वर्णन के सामने उसमें कोई विशिष्टता भी दिखाई नहीं देती। इस ग्रंथ में कवि का ध्यान युग-पुरुष कृष्ण की ओर अधिक था, यही भावना युग की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी और यही कवि की वीरतापूर्ण प्रकृति के अनुकूल थी। कृष्ण के कर्मवीर रूप का चित्रण उन्होंने अधिक तन्यता से किया है। बाल-लीला के अन्तर्गत भी असुरों के वध से सम्बन्धित प्रसंगों के वर्णन में काव्यत्व अधिक निखरा है। कुछ उदाहरण देखिए --

तृणावर्त वध :-
रुण्ड गिर्‌यो जन पैडि गिरयो इम मुण्ड
प्रयो जन डारते खरए
(वही, पृ० २६६

वकासुर वध——

खेलबे के काज बन बीच गये बारक,
ज्यो लै कै कर मद्धि चीर डारै
लांवै घास को (पृ० २१३)

कालिनाग नाथना——

कान्ह लपेट बड़ो वह पन्नग फूकत है कर
क्रुद्धहि कैसे ।
ज्यों घन पात्र गये धन ते अति झूरत लेत
उसासन तैसे ।
बालत ज्यों घमिया हरि भै सुर के मधि
स्वास भरे वह ऐसे ।
भूमर बीच परे जल ज्यों तिह ते फुनि होत
महा घुन जैसे ।
(पृ० २७९)

वीररस के ओजपूर्ण चित्रण में कवि को जो असाधारण सफलता मिली है उसी का प्रकाश इन स्थलों पर देखा जा सकता है । वस्तुतः 'दशमग्रंथ' का वात्सल्यवर्णन सूर के अनुकरण पर हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है तथापि उसमें सूर जितनी सजीवता और मार्मिकता नहीं है । इसका कारण भी है; सूर के लिये जहां कृष्ण का बाल्य रूप उपास्य है और भक्ति के उन्मेश में उन्होंने कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है वहां गुरु गोविंदसिंह मूलतः वीर-भाव के कवि हैं । ये वर्णन उन्होंने प्रसंगवश ही किये हैं । परन्तु 'दशम ग्रंथ' के इन वर्णनों का एक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है । 'दशम ग्रंथ' के पश्चात् सिक्ख गुरुओं के जीवन पर अतिरिक्त जो प्रबन्ध काव्य पंजाब में लिखे गये और जिनके लिये 'दशम ग्रंथ' कथातत्व, तथा काव्य-शैली की दृष्टि से आधार ग्रंथ रहा है, उनमें गुरुओं के बाल्य-जीवन से सम्बन्धित जो प्रसंग आए हैं, उन्हें लिखने में 'दशम ग्रंथ' के कृष्ण की बाल-लीला सम्बन्धी इन प्रसंगों से ही अधिक प्रेरणा मिली है । यद्यपि अपनी प्रतिभा के बल पर प्रत्येक कवि ने उसमें परिवर्तन, परिवर्धन और परिमार्जन किया है ।

पंजाब के ब्रज-भाषा प्रबन्ध काव्यों में वात्सल्य-वर्णन को भागवत् तथा सूर के काव्य ने भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में प्रभावित किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, जब हम इन प्रसंगों की तुलना भागवत् तथा सूर द्वारा वर्णित प्रसंगों से करते हैं । दूसरे, पंजाब के इन कवियों ने सिक्ख-गुरुओं को अवतारी–पुरुष के रूप में चित्रित किया है और उनके चरित्र को पौराणिक रूप देने में विष्णु पुराण, तथा भागवतपुराण जैसे ग्रंथों से पर्याप्त सहायता मिली है । वैसे भी पंजाब में इन धार्मिक ग्रंथों का काफ़ी प्रचार रहा है । भागवत् पुराण का तो ब्रजभाषा में पद्यानुवाद भी हुआ है । इसलिये भागवत् की कृष्णलीला का यदि इस प्रबन्ध काव्यों पर सीधा प्रभाव पड़ा तो कोई आश्चर्य नहीं । इन ग्रंथों में वर्णित

वात्सल्य में भी [illegible] भावना सर्वत्र आरोपित है ।

पंजाब के हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में गुरु नानक, हरिगोविन्द सिंह तथा गुरु गोविन्द सिंह के बाल जीवन के आधार पर ही वात्सल्य का वर्णन अधिक हुआ है । गुरु नानक के जीवन पर आधारित दो ग्रंथ प्रमुख हैं । गुरु नानक दिग्विजय, तथा 'नानक प्रकाश' । श्री हरिगोविन्द सिंह के जीवन पर अधारित 'गुरुविलास' 'छवी पातशाही' तथा दशम गुरु के जीवन के सम्बन्धित 'गुरुविलास १०वीं पातशाही' उल्लेखनीय रचनाएं हैं । इनके अतिरिक्त 'महिमाप्रकाश' 'गुरु प्रताप सूरज' आदि ग्रंथों में सभी गुरुओं का चरित्र वर्णित है ।

सभी गुरुओं के जीवन पर आधारित 'महिमा प्रकाशन' का कुछ अंश गद्य में भी लिखा गया है । डा० हरभजनसिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध में १८३३ वि० में रचित सरूपचन्द भल्ला की इस रचना को कथा संग्रह की कोटि में रखते हुए लिखा है कि "इतिहास अथवा काव्य की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व नहीं ।" तथा ५ पृष्ठों से भी कम में ३१०० पृष्ठ के इस बृहद् काव्य ग्रंथ का बहुत चलता सा विवेचन करके तथा उसके काव्य प्रयास को 'सौन्दर्य हीन' बता कर उसकी अपेक्षा की है, जो सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्यत्व की दृष्टि से यह रचना साधारण कोटि की है, परन्तु पंजाब के हिन्दी साहित्य की परम्परा में इसका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से कम महत्त्व नहीं है। भाषा तथा छन्द प्रयोग की दृष्टि से भी यह एक उपयोगी रचना है । इसके साथ ही कहीं-कहीं काव्यत्व की भी सुन्दर आभा मिलती है। युद्ध वर्णन में विशेष रूप से कवि की काव्य प्रतिभा के दर्शन होते हैं। जहां तक वात्सल्य रस की अभिव्यंजना का प्रश्न है, यह सब से पहला ग्रंथ है जिसमें गुरुओं के बाल जीवन का काव्यमय चित्रण हुआ है । (प्रथम प्रयास होते हुए भी काव्यत्व की दृष्टि से वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं 'महिमा प्रकाश' में कवि ने 'दशम गुरु' के अवतार का वर्णन भक्तों के प्रतिभाव तथा 'दुष्ट बिदारन हेतु' माना है इसलिये उनका रूपचित्रण पर पौराणिकता का प्रभाव स्पष्ट झलकता है । झूले में झूलते हुए, चन्द्र के समान मुख वाले, माता तथा अन्य सिखों के हृदय को प्रफुल्लित करने वाले गोविन्दसिंह के रूप का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है--

मुदत मात मन भई बधाई ।
मन चिंदिआ भइ आपूरन फल पाई ।
झूलने झूलत बाल मुकंदा ।
जिम अध्र सोहत ध्रुह अटल अनंदा ।
यह दासन गुरमुख सिख करे ।

जनम जन[illegible] हरे ।
बाल मुकंद मुख पूरन चंद ।
हिरदे धरे सिख परमानन्द ।
सहज द्रिसटि जिह ठिग प्रभधरे ।
ताके दुख सोक परहरे ।
महातेज अससोभ बिसाला ।
बालक रूप परम गुरदिआला ।१६

यहां कवि का ध्यान गुरु के दिव्य रूप की ओर ही अधिक है फिर भी उनके आकर्षक सौन्दर्य की एक झलक के साथ माता के मुदित मन की ओर भी संकेत किया गया है ।

गोविन्द सिंह का जो चित्रण कवि ने किया है वह अधिक सजीव और मानसल बन पाया है । देखिए :—

जब सतगुर जी निज ग्रिह आए ।
श्रीगोविंद जी लेन सिधाए ।
आइ सतगुर के चरनन परे ।
देख दिआल आनंद रस भरे ।
अत सुंदर सोभा अमित अपार ।
जिम दशरथ ग्रिह रघुवंश कुमार ।
मुख देखत दिआल गुरु मगनाने ।
विध राजजोग पूरन परमाने ।३।
पूरन परकास मुखचंद गिआन ।
तेज पुंज तपग्रीषम भान ।
कमल नैन सुन्दर सुभ द्रिसटि ।
पलक झलक होइ अमित त्रिसटि ।४।
मसतक दिख जोत परकास ।
ऊन मनी तिलकु सहजि सुखरास ।
धनरव अकार भवा सुख राजे ।
कामं आदिक वाइस निरखत भाजे ।५।

दोहरा :—

मकराक्रित कुंडल लसत सोभा अमित अपार ।
जिम ध्रुवनिकटि सदा सोहत सपत रिख परम उदार ।६।

अलिक-सिआम सुन्दर मुख सोहै ।
धर अनंत बिब रूप मुख जोहैं ।
ग्रीवा कंबु सत जोत प्रकाश ।
निरखत सोभा ब्रह्म बिलास ।७।
बहु रंगी चीरा सुख रास ।
कलगी राजत तडत प्रकाश ।
तपु तेज धरम मरतन वपुधारा ।
गुरु बाल मुकंद संग वासा करा ।८।
कंध भुजा पूरन बल रास ।
सिख महाइक दुसट प्रनास ।
हसत कमल जिह ठिक विसभरे ।
दे भगत दान पग इन करे ।९।
छाती सुन्दर सुख की रासि ।
पावन हिरदा ब्रह्म प्रकासा ।
सुंदर उदर गुनन रतनागर ।
नाम गंभीर अत्रित अभ सागर ।१०।
केहर कट, सतगुर धनी बाल मुकंद उतार ।
रणझुण कार अनंत धुन पूरन सबद अपार ।११
सुंदर जांघधरम सतखंभा ।
कलू माहि भगत जग थंभा ।
चरन कमल सोभा सुखधाम ।
मुकत भुगत दाइक अभिराम ।१२।

गुरु चरन कमल अर्विंध ज्हाज ।
चड़ पार होवत भव सिख समाज ।
आनंद कंद बंदन त्रई लोक ।
धिआन धरत हरि भगत संजोग ।१३।
गुर ससत्र दिवपुन परमान ।
धर खड़ग रूप सोहत विगिआन ।
तेज रूप धर धनखतुनीर ।
गुरुगिआन सरूप डाल सत धीर ।१४।
दिव वसत्र ससत्र प्रभ भूषन ।
धिआन धरत मेटत सभ दूषन ।
सुध सोभा अमित अपार ।
सेस गणेस न पावत पार ।१५।

(साखी २०८) पत्र सं० ३९२

यहां गुरु गोविन्द सिंह की मुखाकृति नख–सिख, वेशभूषा आदि का चित्रण बहुत ही मोहक और सजीव है । सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल व सुन्दर मुख, कमल नेत्र, अमृत वृष्टि करने वाले पलक, ज्योतिपूर्ण मस्तक, धनुष के समान वक्र भौं, मकराकृत कुंडल, कंवु समान ग्रीवा तड़ित के समान कलगी, शस्त्रों से सन्नद्ध केहरी समान कटि, धर्म के स्तम्भ के समान जंघाएं, मुक्ति दायक चरण कमल, आदि का अनेक उपमाओं से सुसज्जित वर्णन उनके बाल-सौन्दर्य की एक मनोहर और पौरुषपूर्ण झांकी प्रस्तुत करता है । उपमान उपमान योजना कितनी सार्थक और सुरुचिपूर्ण है। वह उनके चरित्र का उद्घाटन तो करती ही है साथ ही कवि की वीर-भावना राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक दृष्टि को भी प्रकट करती है। ऐसे अद्भुत, सुन्दर, तेजपूर्ण, वीर पुत्र को देख कर पिता का हृदय प्रफुल्लित हो उठता है । वे ऐसे परम प्रिय पुत्र को उठा कर हृदय से लगा लेते हैं, गोद में बिठा कर उसका मस्तक चूमने लगते हैं। उस समय वे ऐसे शोभित हो रहे थे मानो दशरथ रघवीर को अंक में बिठाए हुए शोभित हो रहे हों, मानों सूर्य के पास चन्द्रमा आ बैठा हो। देखिए कवि ने पिता के इस अपार स्नेह और हर्ष का मार्मिक चित्रण किया है।

अद्भुत सुन्दर देख छब स्री सतिगुर सुखमान।
देख प्रताप लगाइहीय अति प्रिय खान समान ।१६।

तप तेज अमित अपारे ।
बालक सरूप धारे ।
आतप समान पिआरे ।
सतिगुर हीउ लगाए ।१७।
सुभ करम धरम भूम ।
मस्तक दिआल चूंम ।
हीउ विगस हरख रोम ।
बिच गोद ले बिठाए ।
जिम दसरथ गोद रघुवंश मन सोहत सोभा सार ।
तिम सतगुर श्री गोविन्द प्रभ सोभा अमित अपार ।२१।

जिम जोगी को होत अनंद ।
रवि ऊपरि ले राखे चंद ।
गिआन भान गुर परमानंद ।
सोहत गोद सिस गुर गोविंद ।
बाल मुकंद सोभा अमित अनभै छबि सुख सार ।
निरख मगन सतगुर भए, किरपा करी अपार ।२६।

(पत्र संख्या ३९३—साखी २०८)

गुरु तेग़बहादुर को दशरथ तथा गोविन्दसिंह को रघुवीर के समान बता कर कवि ने हिन्दुओं और सिखों की सांस्कृतिक अभिन्नता की ओर भी संकेत किया ही। इस प्रकार बालक के रूप तथा माता पिता के अह्लाद, हर्ष आदि का इस ग्रंथ में बहुत ही सजीव चित्रण हुआ है यद्यपि बालक की क्रीड़ाओं के वर्णन का इसमें प्राय: अभाव है।

गुरु नानक विजय

'संतरेण' द्वारा रचित 'गुरु नानक विजय' गुरु नानक के जीवन चरित्र पर आधारित एक ऐसा वृहद् प्रबंध काव्य है, जिसमें ऐतिहासिकता की अपेक्षा पौराणिक धार्मिकता तथा सांस्कृतिक तत्त्व इतना प्रमुख है कि कवि ने स्वयं इसे 'पुराण' की कोटि में रखा है। इस ग्रंथ में गुरु नानक के पिता कालू तथा माता तृप्ता को क्रमशः कश्यप तथा अदिति का अवतार माना गया है। जिनके सामने वरदान स्वरूप भगवान विष्णु—चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए, और आदि में नानक रूप में उनके पुत्र बने। नानक को कवि ने अकाल पुरुष का अंशावतार माना है। दुष्टों के उत्पीड़न के निकरण तथा लीला हेतु ही उन्होंने अवतार धारण किया है—

तुरक कौ बहु दुंदि। भगती भई समिकुंद।
नहि देव पूजन पाहि विघन करै बहु ताहि।
परम निरंजन निरगुन जोई ।
मन बानी ते परे सु जोई ।३९।
भगती बस सरगुनि सो भयो ।
अहि अतार तहिलै लयो ।
रूप रस गुनि परम उदार ।
लीला खातर लयो उतार ।४०।

इसी लिए उनकी माता तृप्ता भी उनका अभिवादन करती है।

करुणा सुख सागर रूप धरे ।
अभिनंदन तोर दयाल हरे
तुम दीन दयाल कृपाल सदा ।
तब बारंबार नमामि सदा

२।१२।११।१८।२।४।५३।१५५।

उनके इस दिव्य रूप का आरोप उनके चरित्र में आरम्भ से अन्त तक रहता है। यहां तक कि गौरख शिशु नानक के दर्शनों के लिये आते हैं तथा वे उनसे वाद-विवाद करके गोरख को भी विस्मय में डाल देते हैं। यही कारण है कि वात्सल्य का स्वाभाविक विकास इस ग्रंथ में नहीं हो पाया। फिर भी कुछ उदाहरण ऐसे मिल जाते हैं जहां कवि ने नानक के रूप तथा वेश-भूषा तथा पिता के हर्ष और

उल्लास का वर्णन किया है। नानक की वेश-भूषा का एक चित्र देखिए :--

पट भूरवणि सोभहिं अंग बिरबै,
कट खूतरी अंगद है भुज धारे ।
झुगला मणि ताहि जरी लसकै,
नग मैं ससि ताहि लसैं जिम तारे ।
बरि कुंडल कानन मैं लसकै ।
तडिता सम जोति सुतहि अफरे ।
रतनागन तहि अमोल लगै ।
इक तै इक सुन्दर ताहि सुसारे ।
(३।१।२५।२१६)

ऐसे अवसरों पर कवि ने बालक नानक के रत्न मणियों से जड़े वस्त्राभूषणों का उल्लेख किया है और उनके पिता की आर्थिक स्थिति को भी ध्यान में नहीं रखा । वस्तुत: जब हम नानक के प्रति कवि की मूल भावना तक पहुंचते हैं– जहां वे उन्हें ब्रह्म का अवतार मानते हैं तब इनके वर्णनों का यह रूप सहज स्पष्ट हो जाता है । यहां कवि की आशामयी दृष्टि, विजयोन्मुखी लालसा, एवं भारतीय समृद्धि की आकांक्षा की ओर भी संकेत मिलता है ।

नानक के पिता कालू को जब पुत्र जन्म का सन्देश मिलता है उस समय के उनके अह्लाद तथा हर्ष का चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है --

दासी कालू को कह्यो जादू सु आय उदार ।
भगवति तुम को सुत दीउ अद्भुति रूप अपार ।४७।
सुनि कर कालू भयो अनंद ।
जनु मिलियो तिस को गोविंद
अपने कर के कंगन दोई ।
दासी को तिन दीने सोई ।४८
परम अनंद ताहि उर भयो ।
मानो पारब्रह्म मिलि गयो ।
भयो आनंद ताहि अधिकाई ।
ताहि अनंद सु बरना जाई ।४९
यथा दरिदरी पारस पाई ।
निज मन महिपरम हरखाई ।
सामराज जिम पाइ कंगाल ।
निरध वण्धया पाइ जु बाल ।५०।

जन्म के अवसर पर ज्योतिषी भी बुलाए जाते हैं, महीनों तक मन-चाहा दान भी दिया जाता है । और जन्मोत्सव भी धूम धाम से मनाया जाता है । नौबत बाजे बजते हैं, स्त्रियां मंगल गान करती हैं सभी वधाइयां देते हैं, ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है । खुद मनि दर्शनों के लिये आते हैं। परन्तु बालक के मनमोहन रूप तथा मनोहारी क्रीड़ाओं का यहां भी प्रायः अभाव है ।

वात्सल्य के वियोग पक्ष की एक झलक उस समय मिलती है जब सच्चे सौदे में धन को लगा देने से पिता के रुष्ट होने पर नानक घर से निकल कर चल देते हैं। पिता को उनके लुप्त होने पर भारी चोट लगती है, उनकी वेदना पूर्ण दशा का चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है--

नानक कालू देखते गुपति भयो ततकाल।
देखति गिरियो मही पर रही न देहि संभार।

दिन तीन अचेतन जोइ रह्यो,
पर प्रान रहे तिसके मन माही ।
तिस का मन नानक साथ गयो,
तन की सुधि ताहि रही कछु नाही ।
तन का सुधि कौन लए,
मन के बिन ताहि गयो मन नानक जाही ।
मिलिकै सभ लोक भए इको पछताप करें
अब काई कराही ।२

यहां कालू का दुख सब का दुःख बन गया है । वात्सल्य में व्यापकता आ गई है ।

गुरु बिलास–१०वीं पातशाही' १८५४ वि०

दशम गुरु के जीवन पर आधारित यह सर्वप्रथम वृहद् प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें उनके जीवन की विविध घटनाओं का विशद चित्रण किया गया है । इसमें भी गुरु गोविन्द सिंह को पौराणिक रूप में चित्रित किया गया है। उनके बाल्य-जीवन की घटनाओं के वर्णन में भी बालोचित स्वाभाविक क्रीड़ाओं और चेष्टाओं की अपेक्षा उनके अलौकिक रूप का महत्त्व अधिक स्थापित किया गया है । कहीं तो वे नौकर लेकर किसी को पुत्र का वरदान देते दिखाई देते ह तो कहीं पांच बार प्रणाम करने पर एक पुत्र की कामना करने वाली स्त्री को पांच पुत्रों की वर प्राप्ति हो जाती है। कवि ने गुरु के बाल्य-जीवन से सम्बन्धित ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन किया है जहां वह चाहता तो अनेक मनमोहक क्रीड़ाओं के चित्र उपस्थित कर सकता था, परन्तु कवि का ध्यान उनके महत्त्व स्थापन की ओर ही अधिक रहा है। बालक गुरु सखाओं के साथ उपवन में क्रीड़ा करने जाते हैं––तो वहां सेवक उनके साथ हैं, जिससे वे स्वतंत्र होकर खेल कूद भी नहीं सकते । यहां एक प्रसंग उद्धृत किया जा रहा है जिससे पता चलेगा कि कवि ने उनके बाल्य कौतुक को कैसे धार्मिक रूप प्रदान किया है।

गुरु के घर में मीठे जल का एक कुआंथा, जिससे नगर के बहुत से स्त्री पुरुष जल भरने आते थे । एक दिन एक तुरकनी जल भरने आई तो गोविन्दसिंह ने गुलेल का निशाना उसके मस्तक पर दे मारा। वह लहु लुहान होकर उनकी माता के पास जाती है । यहां तक तो उनकी चंचल क्रीड़ा का वर्णन ठीक था, यद्यपि यहां भी तुरकनी को गुलेल मारने का उल्लेख करके कवि ने तुरक विरोधी भावना को प्रकट किया है । इसके पश्चात् तो अलौकिक तत्व की छाया मानो प्रसंग की स्वाभाविकता को ही नष्ट कर देती है । माता दुखी होकर 'गुरु नानक' से प्रार्थना करती है कि कुएं का जल खारा हो जाए––जिस से न कोई जल लेने आये और न वह ऐसे उत्पात

कर सकें और [illegible] जाता है ।१

कवि ने यहां गुरु घर की तुरक विरोधी भावना तथा अलौकिकत्व की ही स्थापना की है । कौतुक क्रीड़ा की स्वाभाविकता तथा बाल-सुलभ मनोवृत्ति की मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजना का वहां भी प्राय: अभाव है । माता के रोष की ओर भी "कछुक वचन बोलति माई" द्वारा संकेत ही किया गया है, जोकि [illegible] नहीं है । गुरु बालक की माता के आने पर बस किवार अड़ा लेते हैं न कुछ कहते हैं न सुनते हैं। इसी प्रसंग को भाई संतोखसिंह ने भी 'गुरु प्रताप सूरज' में वर्णित किया है परन्तु उन्होंने इसे बहुत ही स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक रूप दिया है । अस्तु, इस ग्रंथ में कवि ने बाल वर्णन के प्रसंगों को उठाया तो है, परन्तु धार्मिक भावना के आरोपण के कारण उसे अधिक सफलता नहीं मिली।

---

१. सुन्दर कूप अधिक इक जानहु । स्त्री हरि मंदर बीच पछानहु ।
अम्रित वांको नीर भणिजै । को तांके पटतर जल दिजे ।१२१।
पानी-भरन सहर के लोग । आवत अधिक भीवह होइ लोगा ।
एक दिवसु तिह ठौर मंझाए । आइ एकु तुरकनी नारा ।१२२।
वह आई जल को निज काजा । लई विलोक गरीब निवाजा ।
चटपट हाथि गलोल संभारी । निरखी ऊपरि बैठि अटारी ।१२३।
बीचु अटारी महल की ठोढि अधिक रिस धारि ।
त गलोल मारियो अधिक तांके मधि लिलार ।१२४।
दुखित भंई अधिक वहु तरनी । निरख सोकु कछु जाति न बरनी ।
स्रोनत पुलत तबै उठि आई । माता जु के निकट सु धाई ।१२५।
रोवत पीटत अधिक दुखारी । गुर जननी पहि आन पुकारी ।
वांको निरख बिहाल सुमाई । आदरू दे निज धीर धराई ।१२६।
कछुक कोप माता जीया धारी । निज मुख सौ इह भांति उचारी ।
गुरु नानक साहिब क अवतारा । वेग होई इह सु खारा ।१२६।
यौ कह माता ऊपरि धाई । आगै लीस किवार अड़ाई ।
कुछक वचन बोलती माई । बहुरे उतारि तरे कऊ आई ।
तिह अबला को आदरू कीना । कछक दखु वाकहि ले दीना ।
उत वहि गइ धाम निज नारी । इत सत्र भयो कूपजल खारी।३। १३०पत्रसंख्या५१

इस युग के पंजाब के साहित्य में वात्सल्य का सर्वोत्कृष्ट चित्रण भाई संतोखसिंह ने किया है । उनके दो बृहद्‌कार प्रबन्ध-काव्यों--'गुरु नानक प्रकाश' तथा 'गुरु प्रताप सूरज' में इन भावों की विस्तृत व्यंजना हुई है । गुरु नानक प्रकाश में श्री नानक देव के शैशव एवं बाल्यावस्था की कुछ सुन्दर झांकिया मिलती हैं । उनके शिशु-सौन्दर्य का एक चित्र देखिए --

लोचन अमल कमल दल जैसे,
नासा तिल प्रसून नहिं वैसे ।३
सुन्दर अलंकार धरवाए,
बिन दूषन पै भूषण पाए ।
बनी बाजनी किंकनी चारी,
कटि महि पाई अति छवि धारी ।
कर मंहि कर पद नूपर सोहे,
जो देखे तिस को मन मोहे ।
दुइ दुइ रसन अधर दुतिहोति,
संपुट विद्रुम जिऊं जुग मोती ।
अंझन महिं रिंझण अतिकारी,
चरणों ब्रज खैयंत बलकारी ।
हेरत हसंत हसावत औरी,
किलकत मुखते माधुर ढोरी ।
बोलैं वचन तोतरे मीठे,
सभिह नार न लागहि इठे ।
हेरहि मात तात अनुरागहि,
फिरति भ्रमिकाम्रित का लागहि ।
लगी धूर तन धूसर होए,
अब लेय अंबा अंग धोए ।

[illegible] करवायो,
पौंछ सरीर अंक बैसायो ।

यहां श्री नानकदेव के सुन्दर नेत्रों, नासिका, किंकणी, नूपुर, दसन पंक्ति, अंजन, तोतरे बैन, धूलि-धूसरित तन की शोभा का सुन्दर चित्रण किया गया है । माता पिता का उल्लसित होना और पुत्र को अंक में बिठाना आदि अनुभाव भी विद्यमान है ।

नानकदेव के पाठशाला जाने एवं गो महिषी चारण का चित्र भी अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोहर है । हाथों में कंगन पहने, गुरि हाथ में पकड़े कटि मे किंकणी, कानों में कुंडल तथा सिर पर पगड़ी पहने कोमल चरणों से सुन्दर नेत्रों वाले नानक बार बार सखाओं को पुकारते हुए पाठशाला की ओर जा रहे हैं --

जलजात से है पद जात चले,
गहि तात करां गुरिहाथ ऊंचाई ।
कर कंकन सो कटि किंकनि है,
कल कुंडल लोल कपोलन झाई ।
दल लोचन कंज बिसाल भले ,
सिर पै अशनीकहि नीक बनाई ।
चटसार जहां अति चारू बनी,
बहु बारक बारहि बार अलाई ।

(ना. प्र. पू. २२:६)

प्रातःकाल ही अपने हाथों से गौ-महिषी को खोल कर हाथ में लाठी लेकर

उनकी टोली को हांकते हुए वे उन्हें चराने के लिये जा रहे हैं --यथा --

श्री नागर अरुणोदय जागे,
गो महिखी चारन अनुरागे ।१३
निज हाथन दामन ते खोली,
हांकतचले इकत करि टोली ।
लए लशटग देत हंगूरा,
चारति हेरत त्रिगुन सुख पूरा ।१४
मनहु गुपाल सु पाछल नामा,
प्रगट करत है जन सुखधामा ।
मंद मंद सुभ सुरभी पाछे,
सभ बासर चारण त्रिण आछे ।
भई संझ परिदिस को मोरी,
आई अघाई सबली गोरी ।
समिहि सभ सुरभी तन पीना,
छीर दहि बहु बड़ आपीन ।
दिन प्रति माखन होति सवाथाया,
कालू हेरि हेरि हरखाया ।
(नानक प्र० अ० १०:५१)

जब नानक गृह त्याग कर चले जाते हैं और बहुत समय के पश्चात् उनके माता पिता उन्हें देखते हैं तो चिरकाल के विरह के पश्चात् इस पुर्नमिलन से जो वात्सल्यपूर्ण भाव उठते हैं, तथा पुत्र को मिलने के लिये उत्कंठित एवं आतुर माता पिता की जो दशा हुई उसका भी कवि ने मार्मिक व्यंजना की है। माता की पुत्र के विरह में जो दशा हुई उसका चित्र देखिए :--

सुन माता बहु अकुलाई,
जनु बृण पाके पावक लाइ ।
बोल न आवई विकल तनुहोइ,
जनु सुत विरह में पक्के सोई ।
इक तो वृद्ध हीन बल देही,
पुनि न पाय सुधि तात सनेही ।
ज्यों खतांग भरमहि दे भेदा,
परी विवरण होय अतिखेदा ।
कितक बार महि पुनि सुधि आई,
लोचन ते आंसुन जल जाई ।

कुछ समय के लिये तो माता तृप्ता सुध-बुध खो कर मूर्छित पड़ी रहती है जब उसे कुछ होश आता है तो तुरन्त पुत्र को मिलने के लिये भागती है। पुत्र से भेंट करने पर तो उसकी ममता, स्नेह एवं, विरह जनित वेदना का स्रोत बांध तोड़ कर बह निकलता है । अश्रुओं से वस्त्र भीग जाते हैं, बार बार पुत्र का मुख देखती है, माथा चूमती है, स्नेह से सिर पर हाथ फेरती है और उन्हें आलिंगन से नहीं छोड़ती । देखिए :--

बहिर चल्यो उठ तूरण जहिवा,
होय आत्मज मेरो तहिवा ।
बहु दिन बिते आया घर माही,
बासर रह्यो एक भी नाहीं ।
इस विधि जननी मन गुजत,
मधुर अश्न ले आेल ।
तूरन गवनी धायकर,
लीने रुचिर निचोल ।
(वही उत्त० ५:१०:१५)

कौरी भर नानक को जननी,
रोदन करत न जाई गननी ।
चल्यो बिलोचन तें बहु नीर,
सुत्त विरहानल जनु करतीर ।
अश्रुपाति सो वस्त्र भिगोये,
जो देखत सो गद गद होये ।
कौरी ते सुत को नहिं तजई,
अधिकविरह ते मिलत न रजई ।
वदन बिलोकत सूंघतमाथा,
करत नेह शिरफेरत हाथा ।
हुती वृद्ध बल ते तनु हीना,
पुनि समीप बैठी सुखलीना ।

(वही ऊ० अ० ५: २०: २२)

पुत्र के आने का समाचार सुनकर पिता कालू भी तत्क्षण उन्हें मिलने को दौड़ते हैं तथा उन्हें हृदय से लगा कर इतने प्रसन्न होते हैं मानो बहुत दिनों के भूखे को भोजन तथा प्यासे मरते को जल मिल गया हो, नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी, कंठ गद् गद् हो गया........यथा--

जब कालू ने सुधि यो पाई,
बैठ्यो वहिर तात मम आई ।
तत्दिन जीन तुरंगन पावा,
ह्वै अरूठ तूरण तब आवा ।
जन बहु भूखे मिल्यो अहारा,
मरत्यो प्यासे पायो बारा ।
नीर बिलोचन मोचन दरते,
गद गद बोल्यों जाय न गरतें ।

वही ऊ० ५।२३।२५

इसी प्रकार कवि ने उनके पिता की उत्कंठा आतुरता, व्याकुलता, विह्वलता, उत्सुकता आदि का भाव-पूर्ण चित्रण किया है।

श्री हरिगोविन्दसिंह एवं गोविन्दसिंह के जन्म, शैशव एवं बाल्यावस्था का चित्रण इन कवियों ने अपेक्षाकृत विस्तार से किया है । "गुरूविलास छेवीं पातशाही (अज्ञात) में भी कवि ने हरिगोविन्दसिंह के जन्म एवं वाल्यावस्था की घटनाओं को दिव्य रूप देकर प्रस्तुत किया है।

विशेष रूप से जन्मोत्सव का वर्णन विस्तृत और सजीव है। फिर भी उसमें पर्याप्त रसात्मकता है । बाबा बुड्ढे के वरदान से जब माता गंग से स्वयं चतुर्भुज रूप में भगवान अवतरित हुए तो वह गद्गद् होकर स्तुति करने लगती है। तदनन्तर भगवान अपने अवतार का उद्देश्य–मलेच्छनास बता कर शिशु रूप धारण कर लेते हैं और माता में भ्रम बुद्धि उत्पन्न कर देते हैं, तो माता पुत्र को देख कर हर्षित हो उठती है, शिशु का शब्द सुनकर दासियां दौड़ आती हैं, घर भर में कोलाहल छा जाता है। स्त्रियां मंगल गाने लगती हैं, गुरु अर्जुन इतना दान देते हैं कि सुमेरु को भी भय लगने

लगता है कि कहीं उसे ही दान में न दे दें । १

उनके अवतार धारण करने पर नभ से देव पुष्प वर्षा करने लगते हैं वन के तृण आदि सब हरे हो जाते हैं। जब जन्मोत्सव मनाया जाने लगता है तो गृहद्वार पर वंदन वार बांधे गए, स्त्रियां बधाइयां देती हैं, वहां उस समय इतनी शोभा हुई कि शेष, महेश, गणेश, शारदा भी उसका वर्णन नहीं कर सकते--कवि की तो शक्ति ही क्या है ।२

इस उत्सव में दूर दूर से नर नारी आते हैं मंगल गाते और बधाइयां देते हैं और दर्शन करके आनन्द विभोर होकर लौटते हैं। बाबा बूड्ढा एवं गुरदास भी बधाई देने आते हैं, तुरही ढोल नगारे

---

१. देख पुत्र माता हरखाई, बाल शब्द सुन दासी धाई ।
घर घर भयो कुलाहल भारी, आवत मंगल गावत नारी ।
श्री गुरअरजन सुनओ जबही, पुत्र जनम सुख पायो तब ही।
दान दीओ जिह वार न पारा, तब सुमेर निज भय मन धारा।
मो को बांट गुरु जिन देई, उनकी सरन परिओ रख लेई ।
ता समें जे नर आवत भयो, मन बांछत गुर ते तिनलयो ।

(गुरु विलास : ६ : १०३)

२. नभ में तब देव अए सभही, जै जै सुख भाख सुफूलन डारी ।
मंगल होहि धराधर मे, उतरियो अवितारन को अवतारी ।
वण त्रिण सर्म हरिआ भयो, सरबजीअ सुरवपाई । १०४
मन इछे हम फल दीए श्री गुरनानक राई ।११३
बंदनवार बंधे दरि आई। सभ अबला मिल देति बधाई ।
कागद धरा सिंध मख करै। वनस्पति कलम हाथ निज धारै।
लिखै गनेश गिरा उचरावे। तउ उतसव का अंत न पावै ।
भुवन सभै भयो मंगलाचार । सभ देवन मन आनंद धारा ।

(गुरुविलास :६) ६।११४)

बजते हैं, माता [illegible] है, पिता दान देते नहीं थकते १

देवांगनाएं भी नारी रूप धारण करके इस उत्सव में भाग लेने ग्राती हैं, ग्रौर वहां ग्रानन्द का सागर लहरा उठता है, बालक का रूप देख देख कर सभी बलिहारी जाते हैं। चन्द्रमा जैसे पुत्र को देख कर माता तो ग्रानन्द विभोर हो उठती हैं। २ पुत्र के तोतले बैन सुनकर [illegible] सुख प्राप्त होता है। किंकणी एवं नूपुर ध्वनि सुनकर सभी नारी नर मोहित हो जाते हैं। जब हरिगोविंद खेलने लगते हैं तो माता सभी कार्य छोड़ कर उसके कौतुक देखने लगती †३ है।

हरिगोविंद के बालचरित्र में कवि ने उनके द्वारा एक दाई एवं सर्प के मारने का वर्णन किया है। ईर्ष्यालु प्रिथिग्रा श्री हरिगोविन्द को मारने की इच्छा से एक दाई को ग्रपने

---

१. चढ़लो सूर जब कछु दिन ग्रायो, नरनारी मिल मंगल गायो।
तुरही ढोल नगारे बाजे, देव फूलों के ग्रंजन साजे।
दूर दूर की संगति ग्रावै, देहि वधाई ग्रति सुख पावै।
पर सुतरीत जेतक जग गाई, नर ग्रनुहार सभभात कराई।
श्री गुरुग्ररजन देवत दाना, रंक भूप हुइ करैं सिधाना।
तब लौं साहिब बुढ्ढा ग्राइग्रो, साथ भाइ गुरदास लिग्रायो।
ग्राइ दरस श्री गुर के कीनो, दइ बधाइ ग्रानंद लीनो।
(२:३)

सुधा सरोवर के नर नारी, धरकै रूप सुमंगल कारी।
ग्राइ वडाली देहि वधाई, वाल दरस कर ग्रानन्द पाई।

२. देवांगन वपु नार बनाए। इन नारी में मिली सुग्राए।
ग्रानंद बसकोउ सिग्रान न करै। ग्रपन बिगान नहिं मन धरै।
सभ नारी मिल मंगल गावैं, बलि रूप दिख बलि बलि जावै।
मात गंग मन ग्रानंद पाइ, वचन कहै सम नार सुनाइ।(२:६)
बुढ्ढे निहाल कियो हमको जिहके वच पुत्र लहिग्रो सुखकारी।
ग्रंगन मौर सुहात भयो जन दूज को चंद चढ़ियो सुखधारी।
ग्राज के दिवस पै हो सजनी, सु ग्रबै बलि जाऊं महा सुखधारी।
बालका रूप निहार तबै सभनार गई मन ग्रानंद पाई।
नारनि जाइ सुधासर भै मुंख बालक की ग्रति उपमा गाई।
(२:८)

विष लगे स्तन हरिगोविन्द के मुख में देकर उसका वध करने के लिये भेजता है। हरिगोविन्द पहले ही माता के स्तनों से दूध नहीं पीते थे। माता चिंतित होकर वृद्धाओं से पूछती है कि क्या किया जाए तभी वह दाई वहां आ पहुंचती है और अपने स्तन उसके मुख में दे देती है तथा बालक हरिगोविन्द उसके प्राणों का अन्त कर देते हैं। तो उसके शरीर से अपार रूप निकला, और वह गुरु जी की स्तुति करने लगी तथा उन्हें प्रिथिए की कुटिलता बताई। माता चकित होकर देखती रही तभी गुरु ने उसमें भ्रम बुद्धि उत्पन्न कर दी और माता चिन्तित एवं आशंकित हो उठती है। (२:१६:२२)। इसी प्रकार एक दिन माता का ध्यान किसी काम में लगा हुआ था। कि घर में एक सर्प निकल आया हरिगोविन्द ने घुटनों के बल चल कर सर्प को पकड़ लिया और जब तक माता का ध्यान उधर जाता है और वह हाहाकार करती हुई उसकी ओर भागती है तब तक वे उसके प्राणों का अन्त करके भू पर फैंक देते हैं और वह नवीन रूप धारण करके वैकुंठ की ओर चला जाता है। माता का मन विस्मय ग्रस्त हो जाता है और वह भयातुर हो उठती है।

किसी काज में मात तब भई धिआन में लीन।
घुटरनि पर श्री गुरचले तबै काज अस कीन
एक सरप निकसिओ तबै लांबो डील सुहाइ।
निज कर मै श्री गुर लयो दुहं हाथ मुख पाई। २८
जब मात मुड नैन निहारयो।
हाहाकार कर बड़ सबद पुकारयो।
दौर मात बालक को गहा।

---

†३. हरिगोविन्द के तोतल बैना, सुन सुन मात करै बड़ चैना।
किंकन नूपर सबद अपारा, मोहि हिदेख सवै नर नारा।
नेत नेत जिह वेद उचारे। सो गुरु अरजन अजर विहारे।
मात गंग सभ काज तिआगे हरिगोविन्द जब खेलन लागे।
बाल चरित बहु भांत अपारा। लोनो हरिगोविंद करतारा।
(२:६६)
मात गंग को भाख्यो दाई। अपनो असथन देउं पिआई
जुग जुग जीवै बाल तुमारा, अस कहि निज गोदी महि डारा।
कर रही जतन न असथन लयों। कछुक काल इवही बिठ गयो।
देर करन का अरथ निहारा। कुछुक प्रान तिहं देह मझारा।१४।
जान अंत तिह नार को श्री गुर असथन लीए।
गरल दूध रतपान को करिव क्रिया निध कीन। (२:१२)

म्रितक सरप तिह मनहि [illegible] ।
श्री गुर डार सरप भुजन दीनो ।
धरिओ रूप तिह तरत नवीनो ।
तब माता मन बिसमै पाई ।
बोली वचन बहुत भै खाई ।
(२:२८)

अब मेरो सुत प्रभु बचायो ।
नातर काल भुजंगम खायो ।२।
अस कहि दीनो दान बिअंता ।
कीन बाटने गुर अतिअंता ।
(२:३६)

गुरु हरिगोविन्दसिंह के जन्मोत्सव, बालरूप, उसकी मनोहारी क्रीड़ाओं तथा धाय और सर्प आदि के इन प्रसंगों को भाई संतोखसिंह ने और भी अधिक विस्तार दिया है और उन्हें अधिक मार्मिक, रसपूर्ण काव्यमय एवं स्वाभाविक रूप देने का प्रयत्न किया है । इसके अतिरिक्त गुरु गोविन्दसिंह के जन्मोत्सव, शैशव एवं बाल्यावस्था के सौन्दर्य, वेशभूषा, चंचल मनमोहक क्रीड़ाओं का भी उन्होंने सुन्दर चित्रण किया है। उनके काव्य में माता-पिता के स्नेह तथा पुत्र को पिता के प्रति प्रेम की भी कुछ सुन्दर झांकियां मिलती हैं।

पटने में गोविन्दसिंह के जन्म पर सभी सिक्खों में हर्ष छा जाता है। भाट, ढाडी आकर बधाइयां देने लगते हैं, देव वधुएं कवीलनो का रूप धारण कर दर्शनों के लिये आती हैं और ढोलक, टलका, घुंघरू तथा तालियां बजा कर नृत्य करने लगती हैं (१२:१०–१२) गंधर्व मनुष्य का रूप धारण करके गाने लगते हैं। माली मालाएं लेकर आते हैं, द्वार पर दर्शकों की इतनी भीड़ लग जाती है कि पांव रखने को स्थान नहीं मिलता (१२:१३) माता किसी भी भिक्षु को खाली हाथ नहीं जाने देती। इस प्रकार 'गुरु प्रताप सूरज' के जन्मोत्सव के उल्लास एवं आनन्द का चित्र 'गुरु विलास' से प्रभावित होते हुए भी अधिक पूर्ण, रसात्मक एवं सजीव है। एक उदाहरण देखिए —

भाट कलावत ढाडी आवहिं ।
मनहिं बधाई बांछति पावहि ।१०
बेख कवीलन देव वधूटी ।
धरि आवहिं जनु जग दुति लूटी ।
ढोलक, टलका, घुंघरू ताली ।
गाइं बिलावत लेति भवाली ।११
सभि बाजे अरु हाथनि ताल ।
गन पाइन के घुंघरू नाल ।
अंग चलावहि ताल मिलाई ।
गावहिं नाचहिं राचहिं चाई ।१२।
श्री गुर के मंदरि धर पौर ।
भई भीर थित लहै न ठौर ।१३

(रा० १२:१२)

श्री हरिगोविन्द एवं गोविन्दसिंह के शैशव एवं बाल्यावस्था के चित्रण में तो भाई संतोखसिंह ने अपनी मनोरम

कल्पना-शक्ति एवं सरस काव्य-प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। हरिगोविन्दसिंह के शैशव के लावण्य का एक चित्र देखिए :—

लाल म्रिदुल पद मनहु कोकनद,
उरध उठावति जनु दिखराइ।
अंग बिलंद सकल शुभ लच्छन मच्छ
अकार देख करपाइ।३३
नरवगन रकत सुभिति सभि अंगुरी
वतलाकार बदन है बाम।
रुचिर चिकर मेचक लघु चितबन,
बड़े बिलोचन बरनी बाम।
बालक वपु बिराजत श्री प्रभु बरनति
बानी ब्रह्मा काम।
(३:५:३५)

पालने में झूलते हुए, गोविन्दसिंह का नखसिख, वेशभूषा, शिशु कौतुक तथा उन्हें देख कर माता के हर्षित, पुलकित, एवं उल्लसित होने का चित्रण भी उन्होंने मार्मिकता से किया है। एक उदाहरण देखिए :—

प्रभु विराजति मातल अंका।
सुंदर दरशन मदन मयंका।१६
श्याम बिंदु जननी शुभ लाइव।
डीठ न लगै रिदा अकुलाइव।
मनहु सुलछन चंद सुहावा।
दास चकोरन गन हरखावा।२०
बिकस्यो मनहुं अलप अरबिंद।
बैठ्यो शोभति बतस मलिंद।
सुधा कुंड मुख मंडल मनो।
विकसित कवि कवि बीची सनो।२१।
हाथनि चरन उछारति डारति।
कवि जिन पर उतपल दुति बारति।
हाटक कटक जटे बिच हीरे।
लागी अंगुरी लगौ जंजीरे।
जटी मुंदरी सुन्दर संगि।
झगुली झीन पीत शुभ रंग।२३।
लोचन पुतरी इत उत फेरति।
करति क्रितारथ संगति हेरति।
आयुत भाल केस बर छोटे।
सिर पर बसत्र दमकते गोटे।२४।

श्री गुजरी बड भाग भरी तट बैठि बिलोकि
नन्दन को
बालेति है बतरावन को सुत लालति
हैं अभिनन्दन को
मात दिशा पिखि कै मुसकावति रार्ख
धरम जु हिंदुन को
अंक बिठाई दुलारति है कवि सुन्दर
जगबंदन को। ६

१. गुर रा० १२:१६
२. रा० १२:१२ : १२:१६
३. रा० १२:१७:
४. रा० १२: १७:६:७

इसी प्रकार जब वे हाथों पर बल देकर आंगन में चलते हैं। किंकणी का मधुर स्वर करते हैं अथवा गडीलनों के सहारे चलने लगते हैं तो अपनी मनोहर मुसकान से तथा अपने तोतले वचनों से सभी को मोहित कर लेते हैं।

चदं उगे जुग सुन्दंर सोहति ओठनि साथ
महा दुति जागे।
मानो प्रवाल के संपुट में इह हीरसरेख
पथूख में पागे ।८।
किलकंति हसंति बिलोकति है,
चलि रिंझण अंझण में फिरि आवै ।
गुलकार गुलाब गलीचन पै,
पद ऐंचिति नूपर को रुणझावै । (१२:६)
किंकनि बाजति है चलते उतलावति
रिंझण है कबि धीरे ।१२:१७:२१

x x x

हाथ गडीरन पै धरि कै पद मंद ही मंद
उठावनि लागै ।
सुन्दर श्री मुख ते बिकसावति शोभति दंत
अमी जनु पागे । (ए.१२:१७)

x x x

कोऊ कोऊ बाक लगे बोलन अमोल छबि ।
तोतरे परम प्रिया माधुरी रसाल करि
(१२:१७:२२०)

इस प्रकार के वर्णनों में कवि उत्प्रेक्षाओं की तो झड़ी सी लगा देता है। ऐसे रसपूर्ण मार्मिक वर्णनों का 'गुरुविलास' एवं 'पंथ प्रकाश' में अभाव है। ऐसे स्थलों पर कवि सीधा महाकवि सूर का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । एक ऐसा और उदाहरण प्रस्तुत है जिस पर सूर के वात्सल्य का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

अंग शनान विधान कराइ विधान सों
सूंघति भाल ज्यो आनन्द बारी ।
अंबर को पहिराइ विभूषन लौन सु गई लै
ऊपर बारी ।१४
दधि-ओदन कों अचवाई भले अनमोदन
नन्दन मात करे ।
बहु चंचलता जुति आवति जाति इते उते
होवति आनि थिरे ।
किलकंति हसंति हंसावति औरनि भावति
ही दुःख दोख हरे ।
शुभ शोभ धरे परयंक चरै कवि फेर फिरै
निज खेल ढरै । १५
(१२:१७)

यहां कवि ने बालक की चंचलता मृदुता का सुन्दर चित्र अंकित किया है।

भाई संतोख सिंह ने गोविन्दसिंह के लकड़ी के अनेक खिलौनों, सारिका कोकिल, कोक, कबूतर, तीतर, चकोर, बुलबुल आदि पक्षियों तथा गज, अश्व, कूकर आदि पशुओं के साथ खेलने और मन-बहलाने का वर्णन भी कवि ने किया है ।

(रा० १२:१७:१)

हरिगोविन्दसिंह की शिशु क्रीड़ाओं के अन्तर्गत धाय-बध तथा सर्पवध की जिन दो घटनाओं का वर्णन 'गुरुविलास' में किया गया है, भाई संतोखसिंह ने भी उनका चित्रण किया है, परन्तु यहां

वे घटनाएं विस्तार से आई हैं और उनमें अधिक स्वाभाविकता, सरसता एवं सजीवता है । भाई संतोखसिंह ने 'धाय प्रसंग' को इस प्रकार वर्णित किया है " ईर्ष्यावश हरिगोविन्द को मारने के के लिये प्रिथिआ एक 'धाय' को भेजता है। वह सुन्दर वस्त्र धारण करके जन्मोत्सव में आ जाती है, जहां शिशु हरिगोविन्द बहुत सी स्त्रियों से घिरा हुआ खेल रहा था । माता किसी कार्यवश भीतर चली गई थी, धाय के मन की क्रूरता को जान कर हरिगोविन्दसिंह ने भूख के कारण मचलना आरम्भ कर दिया। धाय ने अवसर पाकर उसे अंक में उठा लिया और विष लगे अपने स्तन उसके मुख में दे दिये । हरिगोविन्दसिंह ने एक हाथ से उसकी वेणी पकड़ी, दूसरे से दूसरा स्तन और दोनों स्तन इतने जोर से खींचे कि उसके प्राण ही खींच लिये । उसके मुख से झाग निकलने लगी, शरीर पीला पड़ गया, सभी स्त्रियां अपना अपना स्थान छोड़ कर भाग गईं। माता गंगा इस दृश्य को देख कर घबरा जाती है और अब वह न तो उन्हें अधिक बाहर लाती है, न किसी स्त्री को देती है। यहाँ कवि ने बालक, धाय तथा अन्य उपस्थित स्त्रियों के अनुभावों का तथा माता की चिंता, आकुलता एवं आशंका आदि का भी सजीव चित्रण किया है । जिसका 'गुरुविलास' में प्रायः अभाव है। इस प्रयत्न के असफल होने पर 'प्रिथिआ' ने उनके घर में एक सर्प छुड़वा दिया। माता का ध्यान कहीं और लगा हुआ था। गुरु हरिगोविन्द ने उस सर्प का उद्धार करने के लिये गुड़लियों को चल कर उसे कस कर पकड़ लिया और दबा कर मार दिया। २ भाई संतोखसिंह के इन दोनों प्रसंगों पर स्पष्ट रूप से 'गुरुविलास' के अतिरिक्त सूर के पूतना वध तथा कालीदमन प्रसंगों का प्रभाव भी लक्षित होता है परन्तु कवि ने अपनी प्रतिभा से उन्हें अपनी व्यथा के अनुकूल ढाल लिया है, और उपयुक्त अवसर पर देशकाल के अनुरूप रंग देकर उनका प्रयोग किया है। गुरुओं की क्रीड़ाओं के अन्य कई प्रसंग भी कृष्ण की लीलाओं से प्रभावित हैं परन्तु कवि ने देश काल का पूरा ध्यान रखा है।

गोविन्दसिंह की बाल-क्रीड़ाओं का भी कवि ने सुन्दर वर्णन किया है । पढ़ने में [illegible] के बालकों के साथ वह वीथियों में हंसते खेलते ऊधम मचाते हुए उपवन मे खेलने जाते हैं जहां वे अनेक क्रीड़ाएं करते हैं। कुछ वृक्षों पर चढ़ कर बैठ जाते हैं और

---

१. वही, रा० २:८:१६:२२

२. वही रा० ३:६:१–१२

३. वही रा० १२:१०:३३:१२:१८:१–६

कुछ कर तथा [illegible] देते हैं।१ और कभी अनेक सखाओं के साथ नौका विहार२ तथा जल-क्रीड़ा करने लगते हैं। ३ बालकों के साथ गेंद खेलने का देखिए कितना स्वाभाविक वर्णन किया गया है।

दिन माँहि तांहि गन बालिक मेल ।
बहिर ग्राम ढिग खेलति खेल ।
किंदुक डंडा गहि जुग हाथ ।
फैंकहि दूर मार करि हाथ ।३।
बालिक धाइ गहैं तहि गेरहिं ।
पुन डंडा हति किंदुक प्रेरहिं ।
कबहुं ब्रिछन पर चढ़ि चढ़ि कूदहिं ।
हारहि बाल तांहि द्रिग मूंदहि ।४।
कबहूं भाग चलहि किह आगे ।
अधिक भ्रमावंहि हाथ न लागे ।
कबहूँ दुइ दिशि बालिक सभि होइ ।
खेलहि परे बंध करि दोइ ।५।
जीत हार की खेल मचावहि ।
धावहि एक ओज को लावहिं ।
इक ऐंचहि इक छुट करि जावैं ।
इक लर करि निज सदन सिधावें ।६।
इक को इक खिडाइ करि रोकहिं ।
इम खेलति जे लोक विलोकहिं ।

(१२:५६:३७)

यहां गुरु गोबिन्दसिंह की तीन अन्य बाल क्रीड़ाओं का उल्लेख करना हम [illegible] हैं। उनमें एक त किसी बुढ़िया को चिढ़ाने से सम्बन्धित है दूसरी पटने के शासक को तथा तीसरी तुरकनि के घड़े को निशाना मारने से सम्बन्धित हैं।

उनके पड़ौस में एक बुढ़िया रहती थी, उस वृद्धा को वे नित्यप्रति चिढ़ाया करते थे। उसकी पूणियां, तिल्ले रखने की पिटारी, तूल, सूत आदि उठा कर ले जाते। यदि वह उनकी माता के पास शिकायत करने की धमकी भी देती तो भी कोई चिन्ता न करते। एक दिन तंग आकर वह माता गूजरी से शिकायत करने चली ही जाती है। उनसे वह कहती है कि अपने पुत्र की करतूत देख लो, कितना उधम मचता फिरता है, जरा भी कातने नहीं देता, मूढे, सूत आदि बिखरा कर भाग जाता है.........।" पुत्र की चंचलता को सुन कर मां गूजरी मन ही मन प्रसन्न होती है और वृद्धा को अपने मूल्यवान वस्त्र देकर पुत्र पर क्रोध न करने का विनय करती है। बुढ़िया कहती है,

"अरी। मैं क्रोध करती ही कब हूँ, मैं तो चाहती हूँ कि वह प्रतिदिन मेरे घर खेलने आता रहे ....जब मैं उसका पीछा करती हूँ तो वह भाग कर बाहर आता है जब मैं बाहर आती हूँ तो भीतर

१. वही, रा० १२:१२:१८:१२–१३
२. वही, रा० १२:१६
३. वही रा० १२:२०

आ घुसता है । [illegible] चंचलता को देख कर तो मेरे नेत्र प्रफुल्लित हो जाते हैं। मैं तो चाहती हूँ तुम्हारा पुत्र सौ वर्षों तक जीवित रहे । मुझे तो वह ऐसा प्रिय लगता है जैसे सर्प को अपनी मणि प्रिय होती है ।१ तुम्हारा पुत्र आज घर की छत पर उधम मचाता फिर रहा था । इसीलिये मैं आज आई हूँ ताकि वह सचेत हो जाए--नहीं तो वह प्रतिदिन ही मेरे घर आता है ।२

गुरु गोविन्दसिंह के पटना में प्रस्थान के समय इस वृद्धा की 'आकुलता' अधीरता आदि की भी व्यंजना की गई है।३

निज परोस महिं बिरधा जोइ ।
जिसहि खिझावहिं सो दुख पाई ।
बहुत बिनै को करति बरवान ।
हे गोविन्द मम प्रेम महान ।३४
नहिं मन थिहि बहुत अकुलाऊं ।
बारिबारि करि किसहिं बुलाऊं ।
इत्यादिक बहु प्रेम करंति ।
बलिहारी हुइ कशट लहंती ।३५(१२:४२)

दूसरा प्रसंग इस प्रकार है कि गोविन्दसिंह बालकों के साथ गुलेल चलाने का अभ्यास किया करते थे । एक दिन पटने का शासक वहां से जा रहा था गोविन्दसिंह ने "ताक" कर उसे निशाना दे मारा। जब उसने उन्हें पकड़ने का प्रयत्न किया तो वे इसे दांत दिखाते हुए और मुख विकृत करके चिढ़ाते हुए भाग जाते हैं ।४

तीसरा प्रसंग इस प्रकार है कि एक बार एक तुरकनि पनघट से पानी भर कर अपने सिर पर घड़ा रखे हुए जा रही थी । उन्होंने इसके घड़े पर गुलेल से निशाना लगाया, घड़ा तो बच गया परन्तु उसके मस्तक में घाव हो गया। इसने जाकर माता गुजरी से शिकायत की और शासक से शिकायत करने की धमकी दी। माता को बड़ा क्रोध आया और वह छड़ी लेकर गोविन्दसिंह को मारने चली । गोविन्दसिंह माता के रोष को देख कर अटारी में जा छिपे और भीतर से ही कहने लगे कि मैंने कोई जान बूझ कर उसे थोड़ा ही निशाना मारा है। मैं तो निशाना लगा रहा था, वह सामने क्यों आई, भला इसमें कोई मेरा दोष है।५ मां विवश होकर नीचे उतर आई, तुरकनि को पांच रुपये देकर

१. वही, रा० १२:२०:२१-२५ (२)
३. वही, रा० १५-५६ ३-६
४. वही रा० १२:३१
५. रा० १२:३६: १-३६

क्षमा मांगी और घाव ठीक होने का खर्च देने का देने का वचन दिया ।

कहना न होगा कि ये वर्णन अत्यन्त मार्मिक है । कवि ने बालक की चंचल एवं उदण्ड क्रीड़ाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है । यहां धार्मिकता का भी उतना आग्रह नहीं है जितना 'गुरुविलास' में ।

इन ग्रन्थों में हमें एक न्यूनता अवश्य दिखाई पड़ती है । बहुधा उपवन में क्रीड़ा करते हुए अथवा जल-विहार करते समय गोविंदसिंह के मामा कृपाल उनके साथ रहे हैं । अच्छा होता यदि कवि उन्हें स्वतन्त्रता से क्रीड़ा करने देता । दूसरे, वे माली से पूछ कर ही पुष्प तोड़ते हैं १ जब वह शासक को गुलेल का निशाना बना सकते हैं तो पुष्प स्वयं तोड़ने में क्या दोष था । इससे उनकी बालोचित चंचलता ही प्रकट होती । फिर उनके सखा भी उन्हें गुरु जी कह कर सम्बोधित करते हैं जिससे उनमें समानता का भाव नहीं आ पाता ।२ और मित्रों की पारस्परिक लड़ाई तथा खीझ आदि का चित्रण नहीं हो सका । फिर भी इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि उनकी क्रीड़ाओं के वर्णनों में यथेष्ठ मार्मिकता है ।

शैशव तथा बाल्यावस्था की इन क्रीड़ाओं के अतिरिक्त कवि ने इनके माता-पिता तथा सखाओं के स्नेह, आशंका, चिंता, उत्कंठा, मिलनाभिलाषा, हर्ष, सुख, उल्लास तथा आकुलता एवं अधीरता आदि मनोवेगों की भी सुन्दर व्यंजना की है ।

हरिगोबिन्द सिंह द्वारा दाई के वध के पश्चात् उसकी माता अनिष्ट की "आशंका" से पुत्र को बाहर नहीं निकलने देती । जो लोग दर्शनों के लिये आते हैं, उन्हें भी किसी मिस टालने का प्रयत्न करती है । बाहर यदि निकालती भी है तो ढिढौना लगा कर कि कहीं उसे नज़र न लग जाये ।३

बालक को खेलते देख कर वह प्रमुदित हो जाती है और जैसे धेनु अपने बछड़े को छोड़ना नहीं चाहती उसी प्रकार वह पुत्र को अपने से दूर नहीं जाने देती । उसे बार-बार बुला कर प्रमुदित होकर उसका मुख चूम लेती है ।४ उसको ज्वर आ जाने पर माता गंगा इतनी 'चिन्तित' होती है कि खाना-पीना त्याग कर उसी के समीप बैठी रहती है। बार-बार उसकी सुधि पूछती है, किसी भी काम करने को भी उसका मन

१. वही, रा० १२:२०:२–३
२. वही, रा० १२:२० १५–१६
३. वही, ३:८ १९–२२
४. रा० ३–१२ १९–२१
५. रा० ३:३०:७:८

नहीं करता, आंखें फाड़ फाड़ कर उसकी ओर देखती है, उसकी कुशलता के लिये गुरु नानक से प्राथना करती है और अनेक मनौतियां मनाती हैं।

इसी प्रकार पुत्र के दिल्ली जाते समय वह "व्याकुल" हो जाती है और जब वह दिल्ली से वापिस आता है तो उसके हृदय में उल्लास की लहरियां उद्वेलित होने लगती हैं, पुत्र को देख कर उसे उतना ही सुख होता है जितना सद्यः प्रसूता धेनु को अपने बछड़े को देख कर होता है।१ इसी प्रकार कवि ने गुरु गोविन्दसिंह के उपवन में देर लगा देने पर माता नानकी की उत्कंठा 'आतुरता एवं चिंता' तथा उनके आगमन पर उसके 'हर्ष' और 'उल्लास' आदि का चित्रण इस प्रकार किया है—

धाम गए अभिराम गुरुसुत देखिन को उतकंठति माई।
धेनु महां लघु ज्यों बछ को बिछुरे न थिरे अति ह्वै अकुलाई।
द्वार बिलोचन संमुख ते मुख नंदन देखति ही हरखाई।
धीर ते बैठ्यो गयो न तहां,
उठी शीघ्र उछंग मैं लेनि की आई।१७।
गोदि लियो उर भीच भरयो चहुं कोद बिनोदति बाल महा।
शूंघति माल बिसाले मनोहर जोगी जिसे बिच ध्यान लहा।२८।
(१२:१८)

पुत्र की पिता के प्रति स्नेह की एक सुन्दर झांकी अर्जुनदेव के लवपुरी जाने के प्रसंग में मिलती है। यहां पिता के दर्शनों के लिये उनकी 'चिन्ता' 'उत्कंठा' 'आतुरता' 'अधीरता' एवं व्याकुलता की सुन्दर अभिव्यंजना की गई है। उनके शरीर के 'रोमांच', 'अश्रु', 'वैवर्ण्य', क्षीणता आदि सात्विकों का भी वर्णन किया गया है।२ जब पिता को इनकी इस दिशा का ज्ञान होता है तो 'स्नेहवश' उनके लोचन भर आए, कंठ रुक गया, उनसे बोला तक न गया।३ लवपुरी से लौटने पर "जब अर्जुन देव ने भानु समान तेजस्वी अपने पिता के दर्शन किये तो उनका मुखारविंद विकसित हो गया, चकोर की भांति वह उनके मुख की ओर देखते रहे, और आतुर होकर उनके चरणों में गिर पड़े, नेत्रों से अश्रु बहने लगे, मानो वह अपने दृग जल से उनके

१. आइ प्रवेशे जबि घर बीची। गंगा सम गंगा उठ बीची।
जथा तुरत की धेनु प्रसूता। पिख्यो सपूत महा मन पूसा।
सूघती मस्तक धन बहु वारति। देखि न त्रिपते वदन निहारति।
(रा० ५:८ ३७–३९)

३. वही रा० २:२०:१७

२. वही रा० २;१९ ३९–४१

चरणों की पखारे रहे हों ।१ पिता ने विह्वल होकर उनका मस्तक चूम लिया।२

कहना न होगा कि यहां पुत्र के पिता के प्रति उत्कट स्नेह के चित्रमय अनुभूति की तीव्रता एवं स्वाभाविकता है। पटने से प्रस्थान के समय गोविंदसिंह के बालसखाओं की 'व्याकुलता' का भी वर्णन किया गया है। उनमें तो कुछ रुदन करने लगे और कुछ उनके साथ चलने का आग्रह करने लगे। उनकी वही दशा हुई जो 'गोबिन्द' के मथरा जाते समय ग्वालों की हुई थी।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों में वात्सल्य की मार्मिक झांकियां देखने को मिलती हैं। जहां माता-पिता तथा सखाओं एवं सम्बन्धियों का स्नेह एवं हित भावना प्रकट की गई है, वहां विरोधियों की ईर्ष्या एवं द्वेष को भी व्यक्त किया गया है। सूर की कृष्णलीलाओं के वर्णन से प्रभावित होने पर भी इन कवियों ने अपनी कल्पना एवं अनुभूति का रंग भर कर उन्हें सर्वथा स्थानीय रूप दे दिया है। वात्सल्य का इस प्रकार का अनुभूतिपूर्ण मार्मिक एवं विशद चित्रण हिन्दी प्रबन्धकाव्य में कम ही हुआ है। 'रामचरित मानस' में भी मातृप्रेम का तो यथेष्ट विकास हुआ है परन्तु वात्सल्य की इतनी विविध झांकियां वहां भी नहीं है। 'पृथ्वीराजरासो', 'पद्मावत' 'रामचन्द्रिका तथा रीतिकालीन वीरकाव्य में तो वात्सल्य का प्रायः अभाव ही है।

---

१. वही रा० २०:२८:२६

२. वही रा० ३:२०:३०

३. शाहुनि के सुत केतिक कहैं। हम तौ इनके संग रहै।
जबि इस देश आइ है फेरे। निज सनबंधनि की पुन हेरे ।।३१।
तिन के मात पिता समझावै। हे सुत ! अबि इह फेर न आवै।
केतिक निज पुत्रनि गहि राखहि। जे गुर संग गमन अभिलाखहिं।
टिकहिं नहीं, रोदन को करिहीं चार बारि समुझाइ सुधरहिं ।२२। (१२:४२।

महाकवि स्वयंभू की काव्य-दृष्टि

डा० छविनाथ त्रिपाठी

स्वयंभू पहले अपभ्रंश कवि हैं। जिनका समूचा साहित्य उपलब्ध है। कला और भाव-संवेदना की दृष्टि से भी वे एक प्रौढ़ शिल्पी सिद्ध हुए हैं। इनकी कृतियां अपभ्रंश ही नहीं परवर्ती हिन्दी साहित्य को भी एक सीमा तक प्रभावित करती रही हैं। पुष्प दन्त के महापुराण की टीका में स्वयंभू को पद्धड़ीबन्ध का कर्त्ता कहा गया है। स्वयंभू के सामने बाल्मीकि का रामायण और विमल सूरि का प्राकृत पउम चरिय अवश्य रहा होगा। अपने दृष्टिकोण और भावना के अनुसार इन्होंने राम का चरित प्रस्तुत किया है और राम चरित के सम्पूर्ण कथानक को सामान्य मानवीय धरातल पर उतार दिया है। वे एक ऐसे राजा के प्रतीक बन गये हैं जो शस्त्र-जीवी ही नहीं साम, दाम, दण्ड, भेद सहित कूटनीति का पूर्ण ज्ञाता है और धीरे धीरे भरत का राज्य और अपनी शक्ति का संचय किसी विशेष लक्ष्य के लिए करता जा रहा है। अनन्तवीर्य को छल से पकड़ने की घटना इसके समर्थन के लिये पर्याप्त है।२ पउमचरिउ का प्रथम विद्याधर काण्ड वंशानुचरित सा है। अनेक राजाओं के चरित वर्णन से ऐसा लगता है जैसे कवि अपने काव्य को पुराण में ढाल देना चाहता हो।

जिन वन्दना के उपरान्त कवि कहता है--'दीर्घ समास ही जिसका नाल है, शब्द ही दल और अर्थ ही कि अंक का सुगंधित पराग; बुधजन रूपी मधुकर जिसका रसपान करते हैं ऐसे स्वयंभू का काव्योत्पल विजयी हो। ३

१. द्रष्टव्य--उन उन भाषाओं के साहित्य के विविध इतिहास ग्रन्थ।
२. द्रष्टव्य--पउम चरिउ
३. दीहर-समास-णालं, सद्द-दलं, अथ केसरुग्घवियं।
बुह-महुयर-पीय रसं सयम्भु कव्वुप्पलं जयउ ।।१।२।। मंगल

I. पउम चरिउ--स्वयंभू-संपादक-डा० हरिवल्लभ चूनी लाल भायाणी भारतीय विद्या भवन बम्बई २ भाग पृ० सं० १९५३।

II. पउम चरिउ (भाग १-२) भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्र. सं० क्रमशः १९५७ १९५८।

काव्य के आरम्भ में ही स्वयंभू [illegible] बतला देते हैं कि उन्होंने पूर्ववर्ती आर्ष रामकथा को देखा है ।१ इन्होंने रामकथा को एक नदी के समान माना है जो वर्धमान के मुख-कुहर से निकली हुई है और क्रमागत रूप से चली आई है । यह अक्षर-विन्यास के जलसमूह से मनोहर, सुन्दर अलंकार तथा छन्द रूपी मत्स्यों से भरी, दीर्घ समास रूपी प्रवाह से अंकित, संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनों से अलंकृत है। देसी भाषा ही जिसके दो उज्ज्वल तट हैं । कहीं कहीं कठिन घन शब्द ही शिला तल (चट्टाने) हैं जिन पर अर्थ विस्तार का कल्लोल निर्भर करता है । आश्वास ही तीर्थ के समान इस पर स्थित हैं । इस सुशोभित रामकथा रूपी सरिता को बहते हुए गणधर देवों द्वारा देखा गया । २

उसी निर्मल पुण्य से पवित्र कथा का आरम्भ कर रहा हूँ, जिसके जानने से [illegible] है और अपनी विनम्रता प्रगट करते हुए वे कहते हैं कि मैं बुधजनों से विनती करता हूँ, मेरे सदृश अन्य कोई कुकवि नहीं है । कभी व्याकरण नहीं जाना, नहीं वृत्ति और सूत्रों को बखाना, न प्रत्याहारों का चिन्तन किया, न सन्धि के ऊपर बुद्धि स्थिर हुई न, सात विभक्तियों को सुना, न छः प्रकार, की समास-प्रक्रिया को जाना, छः कारक दस लकार, बीस उपसर्ग और बहुत से प्रत्ययों को भी नहीं सुना । धातुओं का बलाबल, निपात, गण, लिंग, उणादि, वक्रोक्तियां और वचन भी मेरे सुने हुए नहीं हैं। न तो पांच महाकाव्य मेरे सुने हुए हैं, न हीं भारत के सारे गीत (नाट्य) लक्षण । पिंगल और उसका प्रस्तार भी नहीं समझता, न हीं भामह और दण्डी के अलंकार: तब भी मैं यह व्यवसाय (काव्य-रचना) नहीं छोड़ पा रहा हूँ

---

१. पुणु आरम्भिय रामकह आरिसु जोएप्पिणु ।। संधि १।१।१

२. वद्धमाण—मुह कुहर-विणिग्गय । राम कहा—णइ एह कमागय ।१।२।१
अक्खर-वास-जलोह मणोहर । सु-अलंकार-छन्द-मच्छोदर ।।१।२।२।
दीह समास पवाहावंकिय । सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय ।।१।२।३।
देसी भासा उभय तडुज्जल । कवि दुक्कर-घण-सद्द सिलायल ।१।२।४
अत्थ वहल कल्लोलाणिट्ठिय । आसासय-समतूह-परिट्ठिय ।।१।२।५ ।
एह राम कह-सरि सोहन्ती । गणहर देवहिं दिट्ठ वहन्ती ।।१।२।६

३. णिम्मल-पुण्ण-पवित्त-कह, कित्तणु आढप्पइ ।
जेण समाणिज्जन्तएँण थिर कित्ति विढप्पइ ।।१।२।१२।

और 'रड्डावद्ध काव्य करता हूँ ।१ वह ग्रामीण भाषा के परित्याग द्वारा अपनी तुच्छ कविता को सुभाषित वचन बनने की कामना करता है ।२ उसकी यह विनम्रता केवल सज्जनों के लिये है, खलों के लिये नहीं ।३ काव्य का आरम्भ उसने मगध देश के वर्णन से किया है।

कवि ने अपनी काव्य रचना का ध्येय आत्माभिव्यक्ति माना है ।२४ जिन-बन्दना के उपरान्त वह कहता है कि 'फिर रामायण काव्य में' अपने को प्रकट कर रहा हूँ ।४

इन कथनों से कवि का काव्य रचना का प्रयोजन और लक्ष्य तो स्पष्ट हो ही जाता है यह भी ज्ञात होता है कि वह व्याकरण, छन्द और अलंकार सहित भरत के नाट्य शास्त्र ।५ से पूर्ण परिचित है ।

प्रायः प्रत्येक उपकथा के आरम्भ में कवि ने विजयी पात्र को जिन भवन में बन्दना के लिये भेजा है और पराजित किन्तु जीवितपात्र को 'जिन की' शरण में भेज दिया है क्योंकि वह जिन के अतिरिक्त किसी के सामने सिर झुकाना नहीं चाहता ।६ एक स्थान पर वे ऋषभ के प्रवचन के उपरान्त पड़े प्रभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं 'सभी ने अपने मन में जीवन को चंचल समझ लिया, उनका भव-भय और शंसय उपशम हो

---

१. बुहयण सयम्भु पइँ विण्णवइ । मइँ सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ ।१।३।१
वायरणु कयाविण जाणियउ । णउ वित्ति-सुत्तु बक्खाणियउ ।१।३।२
णउ पच्चाहारहोंतत्ति किय । णउ संधि हें उप्परि बुद्धि थिय ।१।३।३
णउ णिसुणउ सत्त विहत्तियउ । छव्विहउ समास पउत्तियउ ।
छक्कारय दसलयार ण सुय । वीसोवसग्ग पच्चय बहुय ।
णबलाबल धाउ णिवाय-गणु । णउ लिंगु उणाइ ववकु वयणु ।
णउ णिसु णिउ पञ्च-महाय कव्वु । णउ भरहु गेउलक्खणु वि सव्वु ।
णउ बुज्झिउ पिंगल पत्थारु । णउ भम्मह दण्डि-अलंकारू ।।
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि । वरि रड्डावद्धु कव्वु करमि ।।१।३।४-६

२. छुडु होन्तु सुहासिय वयणाइं :। गाभिल्य भास परिहरणाइँ ।१।३।११

३. द्रष्टव्य--१।३।१२-१३ ।

४. पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण कावें ।१।१।१६ ।।

५. द्रष्टव्य २।४।१-८ जहां नौ रस और आठ भावों से युक्त भरत के नाट्य प्रदर्शन की बात कही गई है और भी २।६

६. द्रष्टव्य-पउमचरिउ ३०।६।१-६।।

गया ।[1] जैन धर्म की महत्ता स्थापना और उसकी ओर राजाओं सहित जनता को आकृष्ट करना इस काव्य का लौकिक प्रयोजन और लक्ष्य है । युद्ध जैन धर्मावलम्बी राजाओं के लिये भी यश का कारण है, वे परस्पर भी लड़ते हैं, जैन मुनि राजनीति में हस्तक्षेप भी करते हैं[2] कुल मिला कर यह अहिंसा-धर्म के विरुद्ध नहीं है ।[3] रावण परमवीर जैन था, राम भी अनेक बार जिनवन्दना करते हैं ।

कवि के स्वयं के कथन से यह स्पष्ट है कि भामह और दण्डी के अलंकार शास्त्र से वह परिचित है । इस प्रकार भरत का रसवाद और भामह का अलंकारवाद सिद्धान्त रूप में उसके सामने थे । वीर और शृंगार कवि के दो प्रिय रस हैं यद्यपि वह इनका पर्यवसान शांत रस में करता है । इस सम्बन्ध में वह अलंकारों को भुला नहीं देता । स्वयंभू ने जहां इतने स्पष्ट रूप से अपने काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है वहां उन्होंने एक और पद्धति अपनाई है-- उपमानों के रूप में काव्यविचारों की अभिव्यक्ति । कुछ ऐसे उद्धरण देखे जा सकते हैं--

१. जैसे मूर्खों के बीच सुकवि के वचन । (४।१।१)
२. श्रमण संघ के सभी ऋषि महाकवि.....वागीश्वर थे । ५।१५।२
३. दोनों और की सेनायें सुकवि के काव्य वचनों की भांति आपस में गुथ गईं । खंभे और मंच वैसे ही टूटने लगे जैसे कुकवियों के अनगढ़ काव्य-शब्द ।५।५।३
४. कुलपुत्री की उक्तियों प्रतिमुक्तियों से पुंश्चली पराजित हो जाती है ।१२।६।१०
५. उसका वह गान सुन्दर स्त्री की तरह अलंकार और सुन्दर स्वरों से युक्त विदग्ध और सुहावना था । १३।१०।१
६. वह धर्म, अर्थ और कामतत्त्व को समझता है । १४।११-६-८ । धर्म सुखमूल ६।१४ अर्थ प्रधानता २८।१२।७-१०।
७. जल क्रीड़ा[4] में स्वयंभू को, गोग्रह कथा में चतुर्मुख को, और मत्स्यवेध में भद्र को आज भी कवि लोग नहीं पा सकते ।१४।१३।१०

१. द्रष्टव्य---२३।१२।१ पउमचरिउ ।
२. द्रष्टव्य---१५।६।६--८।
३. द्रष्टव्य १७।५।६
४. जलक्रीड़ा पुष्कर युद्ध की तरह थी---२६।१५।६

८. मुक्ति रूपी वधू का पाणिग्रहण करूँ ।१५।७।६
९. बहुओं के लिये सासें वैसी ही शत्रु होती हैं जैसे सुकवि की कथा के लिये दुर्जनों की बुद्धि।१६।४।६
१०. सयल-कला-कलाप-संपण्णी । २१।२।६,२१।४।८
११. लक्ष्मण के लिए कलि-कलुष-सलिल-शोषण-पतंग ।२२।४।४
१२. वे वस्त्र मानों सुकवि कृत शास्त्र के समान सालंकार थे ।२६।१६।६
१३. श्रेष्ठ कवि के१ काव्य पदों की तरह दोष रहित, चारणों२ के वचन की तरह हलके।२६।१७।४ आदि ।

वैसे तो सारा ही पउम चरिउ 'रण-रस' और 'यश-रस' लोभी वीरों के शस्त्रों से झंकृत हो रहा है पर उसमें रूप चित्रण जल विहार, ऋतुवर्णन, दूत-दूती प्रेषण और बहुविवाह के अनेक वर्णनों से ऐसे जड़ित है जिससे रसिक-जण भी काव्य के प्रति आकृष्ट रहें । रसों के वर्णन मे वे भरत का पूर्ण अनुसरण करते हुए संकेत देते हैं --

(१) उसका गीत सुरतितन्त्र (शृंगार) की तरह आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी भाव की गतियों सहित था ३।१३।१०।३
(२) रण रस लोभी अनावृत यक्ष से कहा ।६।८।२ और भी ३७।१।१
(३) यशलोभी रावण--१५।१०।६
(४) जिनेन्द्र की पूजा के अनंतर रावण ने जो गंधर्व गान आरम्भ किया उसमें--मूर्छना, क्रम, कंप, त्रिग्राम, षडज आंधार....आदि का प्रयोग था। १३।६।१-१०
(५) युद्ध आरम्भ होते ही रण-रस से भरी सेनायें ।१७।१०।७
(६) करुण महारस मानो पीड़ित होकर ही आँसुओं की अविरल धारा के बहाने झर झर कर बाहर निकल रहा था। १६।१०।१०
(७) रामायण बुधजनों के कानों के लिये रसायन है।२३।१

वीर रस का सहायक शृंगार और दोनों की शान्त रस में परिणति से यह स्पष्ट है कि अलंकार को वे काव्य का साधन मानते हैं और रस को काव्य की आत्मा। पुरुषार्थों में मुक्ति उनका लक्ष्य है ।

काव्य के वाह्य रूप के सम्बन्ध में कवि ने स्पष्ट ही कहा है कि वह रड्डाबन्ध में काव्य प्रस्तुत कर रहा है । भायाणी

---

१. द्रष्टव्य ६।१४।६ भी
२. द्रष्टव्य २८।१।X, २८।६।५;
३. कामदशा--२६।८।३ नर नारी का एक साथ रूप चित्रण २६।१०।१-१२। कीर्तिवधू--३०।३।६

द्वारा संपादित ग्रौर भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित तथा भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'पउम चरिउ' के संस्करण काव्यबन्ध के सम्बन्ध में ग्रधिक स्पष्ट नहीं है। काण्डों ग्रौर सन्धियों के द्वारा विभाजन कवि कृत नहीं है जैसा कि सम्पादित ग्रन्थों में है। इनमें से एक विभाजन तो लिपिकर्त्ता की है ग्रौर लिखवाने वाली स्वयं कवि की दो पत्नियां हैं। कवि कृतविभाजन केवल 'ग्रासास' (ग्राश्वास) है बीसवें ग्राश्वास के ग्रन्त में कुछ पंक्तियां दी गई हैं जो लिपि कर्ता या लिपिकारयित्री की हैं ––

'इय विज्जाहर कण्डं बीसहिं ग्रासास एहि मे सिद्धं।
एण्हि उज्झा कण्डं साहिज्जन्तं णिसामेह ।। २०।१२।प्रक्षिप्त १–२ पंक्तियां
सिरि विज्जाहर कण्डं, कण्डं पिव काम एवस्स ।।२०।१२।प्रक्षिप्त ६ पंक्ति।

यहीं यह भी कहा गया है कि ग्रमृतत्वा ने बीस ग्रासासों से प्रतिबद्ध इसे लिखवाया। ५ पंक्ति। यहां भी इन बीस विभाजनों को ग्रासास कहा गया है। रामकथा की एक सरिता से तुलना करते हुए कवि ने ग्रासासों को तीर्थ माना है। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि कवि ने प्रत्येक ग्राश्वास के ग्रंत में ऐसे घत्ते दिये हैं जिन में एक साथ कुछ ऐसे वर्ण या शब्द दिये गये हैं जिनसे ग्रंथ का नाम बन जाय। यह नियम-निर्वाह ग्रारम्भ से ग्रन्त तक के ग्राश्वासों में एक सदृश हुग्रा है: जहां बीसवीं सन्धि के ग्रंत में काण्ड सूचक पंक्तियां दी गई हैं। वहां भी पहले ग्राश्वास की समाप्ति का सूचक घत्ता इसी प्रकार का है–

'विज्जाहर-कीलए णिय-णिय लीलए
पुरइँ सइं भुञ्जन्त थिय।२०।१२।१२

ग्रन्यत्र भी है जैसे––

'सुविलासिणि जेम, लंक स ई भुञ्जन्त थिय। ७।१४।६
'स इँ भुग्र फलिहेंहिं ग्रवरुण्डि लक्खणु ग रामें ।।२५।२०।१०
'पम्मुक्कु स इं भुव दण्डेहिं कुसुमवासु सिरे लक्खणहो। ।४४।१६।११ ग्रादि

यह स्पष्ट है कि कवि ने ग्रपने काव्य का विभाजन केवल ग्राश्वासों में किया। प्रत्येक ग्राश्वास में एक विशिष्ट घटना है। ये ग्राश्वास कई कडवकों में हैं जिनकी संख्या निश्चित नहीं है। छन्दों की विविधता पचासवें ग्राश्वास के बाद ही ग्रधिक दिखाई पड़ती है। सारी कथा 'कण्डों' में विभक्त न होकर ग्रविरल गति से एक प्रवाह के रूप में प्रस्तुत की गई है।१ एक स्थान पर कवि कहता है कि–– फिर कवियों के ग्रनेक भेद हैं जो सहस्रों

१. पहली, दूसरी, तेरहवीं, सत्रहवीं ग्रौर ग्रट्ठारहवीं सन्धियों के उपरान्त 'पव्व' (पर्व) विभाजन नाम भी लिपिकों की देन है।

सज्जनों से आदृत हैं। जो [illegible], स्कन्धक, पवनोद्धत, रासा लुब्धक, मञ्जरीक, विलासिनी नवकुड और खडहड जैसे शुभ छन्दों से शब्दों को बांधते या वर्णन करते हैं १

कवि ने वर्णन के समय छोटी छोटी उक्तियों द्वारा कवि, काव्य, अलंकार और रस की भांति ही छन्दों के सम्बन्ध में भी अपने विचारों का कभी कभी संकेत कर दिया है। उदाहरण के लिये देखिए--

१. णं छन्दहों णिग्गय गायत्ती।२३।६।४
(मानों छन्द से गायत्री निकली हो)

२. कव्वं पिव छन्द-सद्द गहिरु।३०।६।४

स्वयंभू छन्दः शास्त्र के भी उतने ही मर्मज्ञ थे जितने अलंकार और रस के; 'स्वयंभू छन्द' के नाम से प्रकाशित२ उनका ग्रन्थ ही इसका प्रमाण है। अपने काव्य में भी उन्होंने ५० से ऊपर विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है।३

कवि द्वारा संकेतित रामकथा के लिये रसायण, रासालुब्ध छन्द, चत्वर४ और चर्चरी५ आदि ऐसे शब्द हैं जो परवर्ती काव्यों के स्वरूप के अध्ययन में सहायक हो सकते हैं। 'णवइ छाया पेक्खणउ' (५२।८।१०) में इन्द्रजाल या छाया प्रेक्षण के छाया नाटक के प्रचलन का संकेत है।

पउम चरिउ महाकाव्य है ! इसके स्वरूप निर्माण में आर्ष शैली का अनुकरण है। छन्द और अलंकार की ओर सतर्क दृष्टि रखते हुए भी कवि काव्य की आत्मा रस को ही मानता है चाहे वह शृंगार हो वीर हो या शान्त। उसका विश्वास है कि शिष्य ही सुकवि का यश फैलाते हैं।६ परवर्ती काव्यों पर, चाहे वे चरित काव्य हो या रासउ, रासो सब पर पउम चरिउ का प्रभाव देखा जा सकता है। पउम चरिउ में जम्भेहिया दुवई (जंभटिका द्विपदी) की टेक देकर

१. कइ अत्थि अणेय भेय-भरिय। जे सुयण-सासेंहिं आयरिय।२३।१।५
चक्कलएंहिं कुलएंहिं खन्धएंहिं। पवणुद्धुअ-रासा लुद्धएंहिं।२३।१।६
मञ्जरिय-विलासिणी-णक्कुडेंहिं। सुह-छदेंहिं सद्देंहिं खडहडेंहिं।।२३।१।७
२. प्रकाशित-राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान, जोधपुर से।
संपादक--प्रो० एच. डी. वेलणकर, प्र. सं० १९६२।
३. द्रष्टव्य--भाषाणी जी का Introduction
४. द्रष्टव्य--५६।१४।६ चौपालया रास स्थान के लिये।
५. द्रष्टव्य--णाइं सुरउ चच्चरि चरियालउ।२८।६।७।
रणे खेल्लन्ति परोप्परू चच्चारि।३८।११।४।
६. सीस व सुकइहं जसु विक्खिरन्ति।३१।६।४

अड़तालीसवीं सन्धि को एक पूर्ण 'रासउ' काव्य का रूप दिया गया है । यह रास हनुमान और लंका सुन्दरी के संवाद, युद्ध और हनुमान की विजय की घटना को आश्रित कर रूप पा सका है । 'तेन तेन तेन चित्ते' की टेक प्रत्येक कडवक के आरम्भ में दो बार दो द्विपदी के साथ दिया गया है । यह 'रासउ' का रूप अनजाने ही नहीं बन गया है अपितु कवि 'इसे लगुड रास' के रूप में प्रस्तुत ही करना चाहता था । इसके पढ़ने से ऐसा लगता है कि वाद्य-वृन्द के साथ बहुत से व्यक्ति ध्रुवक की टेक देते हैं, बीच में लंका सुन्दरी और हनुमान का संवाद और नृत्य चल रहा है । युद्ध और चुनौती का दृश्य अभिनय द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है । विजयी होने पर हनुमान हर्ष से तीव्र गति से नाचने लगते हैं और उत्साह के आवेग में बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञायें करते हैं । १ यह सारा रास

---

१. इस रास के स्वरूप को समझने के लिये सांकेतिक दृष्टि से कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं --

तं णिसुणेप्पिणु, कुइय किसोयरि ।
चडिय महारहे, लंका सुन्दरि ।। तेन तेन तेन चित्ते । ४५।८।४।१
धणुहर हत्थिय, वाणु ग्गाविरि ।
सहुँ सुर चार्वण, णं पाउस सिरि ।। तेन तेन तेन चित्ते।८।४।२
धुरे अइर परिट्ठिय रहु पयट्ठु, परवल विणासु अखलिय मरट्ट् ।।८।४।३
तहिं चडेवि पधाइय रणे पचण्ड, मायाङ्गहो करिणिव उद्ध सोण्ड।।८।४।४।

घत्ता

तं णिसुणेवि भड कडमद्दणेण, णिब्भच्छिय पवणहो णन्दणेण ।
ओसरु मं अग्गएँ थाहि महु, कहे कहि मिजुज्झु कण्णाएं सहुँ।८।४।९

(९)

हणु वहो वयणहि, पवर धणुद्धरि ।
हसिय स विब्भमु, लंका सुन्दरि ।। तेन तेन तेन चित्ते ।४।१
हउँ परियाणमि, तुहुँ बहु जाणउ ।
एणालावेण, णवरि अयाणउ ।। तेन तेन तेन चित्ते ।४।२।।
एउ काइँ चविउ पइँ दुव्वियहु, किं जलण -तिड़िक्कएँ तरु ण दड्ढ ।।४।३

४९।१

सुरवहु णयणाणन्दयरू (स-स-ग-ग-म-म-नि-नि-नि स-स- नि-धा ।१।।
(२) विजयोपरान्त ४ तक

सुमण दुअइ सुमरन्ति या
सहुँ वलेण सहरिसणच्चिया ।।१।।
अच्छइ रामचन्दु आरुट्ठउ, णं पंचाणणु चित्ते दुट्ठ उ ।२
अच्छइ अज्जु किल्ले संचल्लमि, पलय समुद्द् जेम उत्थल्लमि ।। ३

भावपूर्ण अभिनय-ग्रन्थ और शब्द-प्रयोग की दृष्टि से रणनात्मक तथा संगीतात्मक है । इसे 'हनमल्लंका सुन्दरी रासउ' कहा जा सकता है ।

कवि ने अपने पउमचरिउ को (उसी के कथनानुसार) रड्डाबंध में प्रस्तुत किया है । रड्डाबन्ध का अर्थ है--किसी छन्द में कडवक और घत्ते के रूप में द्विपथक या द्विपदी (वह किसी प्रकार की हो) ।१ कडवक वाले अंश में ६ पंक्तियां या चारण होनी चाहिएं । इस नियम का उसने सामान्यत: पालन किया है ।

अपभ्रंश के छन्दों की चर्चा करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने कुछ विचार प्रगट किये हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं "संस्कृत साहित्य में श्लोक का उदय नई साहित्यिक मोड़ की सूचना है ।" इसी प्रकार गाथा का उदय दूसरी सूचना है और दोहा का तीसरी।२ जिस प्रकार 'गाथा प्राकृत का प्रतीक हो गया है उसी प्रकार दोहा अपभ्रंश का।'३ 'अपभ्रंश को दूहा विद्या कहा गया है।'४ जहां दोहा है वहां संस्कृत नहीं, प्राकृत नहीं, अपभ्रंश है ।५ दोहा वह पहला छन्द है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ।'६ यह छन्द नवीं दसवीं शताब्दी में लोक प्रिय हो गया था ।७ आचार्य जी ने तुक मिलाने की परम्परा को (गद्य-या-पद्यमें) ईरानी प्रभाव, और छटी-सातवीं शताब्दी के आस पास का

---

१. द्रष्टव्य--स्वयंभू छन्द--सं० प्रो० एच० डी० वेलणकर -राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान, जोधपुर प्र०. सं० १९६२, पृष्ठ ५७ पर 'रड्डा'

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल –पृष्ठ ९७,

३. वही, पृष्ठ ९८

४. वही, पृष्ठ ९९

५. वही, पृष्ठ ९८

६. वही, पृष्ठ १००

७. वही, पृष्ठ १००

काल, माना है ।१ विक्रमोर्वशीय के एक छन्द की सामान्य रूप से चर्चा की जाती है--उसे दोहा कहा जाता है और भाषा अपभ्रंश मानी जाती है । आचार्य जी ने भी उसे, इसी सामान्य मान्यता के कारण, स्वीकृति देते हुए उद्धृत किया है--

मइँ जाणिअँ मिय लोयणी, णिसयरू कोइ हरेइ ।
जाव ण णव जलि सामल, धारा हरु बरसेइ ।।विक्रमोर्वशीय ।४।८।२

इस छन्द को दोहे का शुद्ध उदाहरण नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके तृतीय चरण में केवल बारह मात्राएं हैं। विक्रमोर्वशीय के उसी चतुर्थ अंक में कुछ ऐसी पंक्तियां हैं जो चौपाई के विशुद्ध रूप को प्रगट करती हैं---

'दूर विणिज्जिअ, ससहरुकंती ।
दिट्ठी पिअ पइँ सम्मुह जंती ।
विक्रमो० ४।४५
'ता रण्णे विणु करमि णिभंति ।
पुण णइ मेल्लुइं ताह क अन्ती ।
विक्रमो० ४।६६।।

इसमें तुक भी है और चौपाई के सामान्य रूप और लक्षण के अनुसार सोलह मात्राएं तथा अन्तिम वर्ण गुरू भी है ।

तुक को बाहरी प्रभाव, विशेषता, ईरानी प्रभाव, मानना किसी भी परिस्थिति में उचित प्रतीत नहीं होता । कालिदास को अधिक से अधिक चौथी शताब्दी तक नीचे खींचा जा सकता है, उस समय तक या कालिदास के ग्रन्थों पर ईरानी प्रभाव मानना एक निराधार तथ्य को स्वीकार करना मात्र ही होगा । तुकों के कारण छन्द में स्वाभाविक संगीतात्मकता उत्पन्न होती है । गेय बनाने के कारण ये तुक स्वाभाविक रूप से ही आये हैं।

अपभ्रंश कालीन छन्द-सम्बन्धी इन विचारों की पृष्ठ भूमि पर यदि 'पउम चरिउ' के छन्द प्रयोग पर ध्यान दिया जाय तो कुछ और महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। कडवको में तो सैकड़ों पंक्तियां ऐसी हैं जो चौपाई के विशुद्ध रूप को ही नहीं प्रगट करतीं अपितु एक साथ कई कई

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृष्ठ १००

२. कालिदास ग्रन्थावली में यही दोहा निम्नलिखित रूप में दिया गया है --
मइँ जाणिअँ मिअलोअणी, णिस अरु कोइ हरेइ ।
जावणु णण तलि सामल , धाराहरु वरिसेइ ।।विक्रमो० ४।८
ग्रन्थावली के संपादकों ने इसे प्राकृत के समीप रखने के लिये ग, च के लोप में अ शेष रखा है । अ के स्थान में य का पुनरागमन परवर्ती है।

अर्धालियां भी हैं।१ आरम्भ से सुन्दरकांड के अन्त तक छप्पन संधियों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि दोहा छन्द का घत्ते के रूप में प्रयोग केवल एक सन्धि (५४) में हुआ है, किन्तु पादा-कुलक या सोलह मात्राओं के समछन्द का प्रयोग कडवकों में भी हुआ है और घत्ते के रूप में भी । तुकान्त और गुर्वन्त होने के कारण अधिकांश चौपाई ही हैं। पादाकुलकों का उपयोग घत्तों के रूप में तीन सन्धियों में हुआ है ।२ जहां तक अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों का प्रश्न है दोहे की स्थिति दुर्बल है चौपाई की प्रबल है । पउमचरिउ में पज्झटिका का प्रयोग घत्ते के रूप में अधिक संधियों में हुआ है ।३ दुवइ का घत्ते के रूप में (४०।१२।१५) में भी उपयोग हुआ है और कडवकों के आरंभ में (१३) भी; विशेषत: जहां कवि ने एक ही संधि के कडवकों में विविध प्रकार के छन्दों का उपयोग किया है । मात्राक्रम ९-१३, ९-१४ और १४-१३ वाले छन्दों का उपयोग चार चार संधियों४ में घत्ते के रूप में हुआ है जिनके नाम उन्होंने अपने छन्द ग्रन्थ मे क्रमश: अभिसारिका, कुसुम निरंतर, और कुसुमित केतकी दिये हैं। ११-१२ के मात्रा क्रम वाले अरविन्दक का तीन (५,२३,२४) संधियों में घत्ते के रूप में प्रयोग हुआ है । घत्ते के रूप में सहकार मंजरी कवि को पज्झटिका के बाद सर्वाधिक प्रिय लगी है इसका उपयोग पांच (८,११,१९,२१,५०) संधियों में हुआ है ।

---

१. द्रष्टव्य--णं छन्द हो णिग्गय गायत्ती। णं सद्द हो णीसरिय विहत्ती।२३।६।४
णाइ कित्ति सप्पुरिस विमुक्की। णाइँ रम्भ णिय थाणहो चुक्की।६।५
सुललिय-चलण-जुयल मल्हन्ती। णं गय घड-भड-ड विहडन्ती।६।६
णेउर हार डोर गुप्पन्ती। बहु तम्बोल पंके खुप्पन्ती ।।६।७

और--

केसरि-मरिचण्ड जमघण्टा। कोंकण-मलय-पण्डियाणट्टा।३०।२।८
गुज्जर-गङ्ग-वङ्ग-मङ्गाला। पइविय पारियत्त-पञ्चा ।२।९
सिन्धव कामरूप गम्भीरा। तज्जिय पारसीय-परतीरा।२।१० आदि.

२. द्रष्टव्य--३४,३५, ३७ संधि, तथा चौपइ के लिये ९,२७,४८ संधि जिसे उस काल में पारणक कहा जाता था । संधि १८ में घत्ते के रूप में भी प्रयुक्त है।

३. द्रष्टव्य--संधि--४,१७, २०,२९,३०,३१,३७,५२

४. अभिसारिका संधि--७,४१,४२,५४, कुसुम निरंतर-२२,३६,३८,४६ कुसुमित केतकी-१३,४४, ४९, ५६ में ।

कवि ने विश्रम [illegible] से रोला का भी प्रयोग किया है।[1] कुछ छन्द शास्त्रियों ने रोला की तरह ही चौबीस मात्राओं वाले छन्द को बारह बारह मात्राओं का चरण मान कर सम छन्द के रूप में शालभंजिका नाम दिया है। स्वयंभू ने छियालीसवीं सन्धि की कडवकों के आरंभ में इसका उपयोग किया है--

अवरु चाउ किर गेण्हइ जाम महिन्द णन्दणो ।
मरु सुएण बिद्धंसिउ ताव सरहिं सन्दणो ।।
४६।६।१

यह ध्वन्यात्मकता में रोला सदृश ही है जब विराम बारह बारह पर है तो शालभंजिका ग्यारह तेरह पर है तो रोला [illegible] जाता है। स्वयंभू ने ध्वन्यात्मकता पर अधिक ध्यान दिया है यति पर कम। जैसे--

अञ्जणाएँ जणणेण विलक्खीहूय चित्तेणं ।
गयविमुक्क भामेप्पिणु, कोवाणल पलित्तेणं।
४६।८।१।

यहां प्रथम पंक्ति में ११,१३ पर यति है जबकि दूसरी पंक्ति में १२,१२ पर ।।

स्वयंभू ने अति बरवै का जम कर प्रयोग किया है, संख्या की दृष्टि से नहीं पर अनुकूल भावात्मकता की दृष्टि से। इसका प्रथम बार प्रयोग कवि ने प्रत्येक कडवक के आरम्भ में उन्नीसवीं सन्धि में उस समय किया है जब अंजना का पति पवनं जय, रावण की सहायता

---

१. तावतेत्थु णिज्झाइय वावि असोय मालिणी ।
हेम वण्ण स-पओहर मणहर णाइँ कामिणी ।४२।१०।१
चउ दुवार चउ गोउर चउ तोरण खणिया ।
चम्पय-तिलय-वउल-णारङ्ग-लवङ्ग छण्णिया ।।१०।२।।
तहिं पएसे वइदेहि ठवेप्पिणु गउ दसाणणो ।
झिज्जमाणु विरहेण विसंथुलु विमणु दुम्मणो ।।१०।३।।
मयण-वाण जज्जरियउ जरिउ दुवार-वारओ ।
दूई आउ आवन्ति जन्ति सयवार-वारओ ।।१०।४।।
वयणएहिं खर-महुरेंहि मुहु सूसई विसूरए ।
छोहे छोहे णिवडन्तएँ जूआरोव्व जूरए ।।१०।५
सिरु धुणेइ कर मोडइ अङ्ग वलेइ कम्पए ।
अहरु लेविणिज्झायइ कामसरेण जम्पए ।।१०।६ ।
गाइ गाइ उव्वेल्लइ हरिस-विसाय दावए ।
वार वार मुच्छिज्जइ मरणावत्थ पावए ।।१०।७ ।
चन्दणेण सिञ्चिज्जइ चन्दण लेउ दिज्जए ।
चामरेंहि विज्जिज्जइ तो वि मणेण झिज्जिए ।।१०।८।।
घत्ता--किं रावणु एक्कु, जो जो गरु अइँ गज्जियउ ।
जिण धवलु मुएवि, कामें को ण पर ज्जियउ ।।१०।९।।

के लिये, व[illegible] में [illegible] गया है और रत्न गर्भा अंजना को उसकी सास लांछित कर घर से निकाल देती है। जंगल में अंजना के विलाप के समय बरवै का प्रयोग कवि की काव्यात्मक सूझ और छन्द प्रयोग की कुशलता का परिचायक है।१ पवनंजय और अंजना दोनों के विरह में इस छन्द का प्रयोग हुआ है। दूसरी बार पैंतालीसवीं सन्धि में कडवकों के आरम्भ में ही हुआ है जिसमें हनुमान राम के यहां से अंगुलीयक और सन्देश लेकर चलने का उपक्रम करते हैं।२

इस संक्षिप्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार से लौकिक संस्कृत का आरम्भिक अनुष्टुप् ही मानो संगीत तत्त्व के अन्वेषण में शार्दूल-विक्रीडित, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता आदि की ओर उन्मुख हुआ और बुद्ध के समय से प्रचलित गाथायें हाल के समय लौकिक गाथाओं और काव्य-शृंगार तथा गीति तत्त्वों से युक्त गाथाओं में बदल कर प्राकृत में अधिक प्रयुक्त हुईं, वे ही गाथा परम्परायें अपभ्रंश के दुवई रूप में अपभ्रंश में दिखाई पड़ती हैं। गाथाओं की दुवई के रूप मे परिवर्तित होने या दुवई के विविध प्रयोगों में घुल मिल जाने की कहानी संगीतात्मकता की उपलब्धि के लिये उत्सुकता और खोज की कहानी है। तुकों की उपलब्धि तो मार्ग में यात्रा पथ में ही हो गई है। दोहा केवल दुवई के अनेक रूपों में से एक है। स्वयंभू ने मध्यकाल में आगे चल कर प्रयुक्त होने वाले छन्दों–चौपाई दोहा, रोला, बरवै

---

१. कूर वीरे परिअत्तएँ रवि अत्थन्त ओ ।
अञ्जणाय केरउ दुक्खु व असहन्त ओ ।।१९।३।१
भणेवि एम पडिपुच्छिउ पुणु वद्धावओ ।
कइ तुरंग कइ रहवर को वोलावओ ।।४।१
सासु आण सुण्हाण जणे सुपसिद्धइं ।
एक्कमेक्क वइराइँ अणाइ–णिवद्धइं ।।५।१
वार वार सोआउर, रोवइ अज्जणा ।
का वि णाहिं मइँ जेही दुक्खहं भायणा ।।६।१
हा समीर पवणञ्जय अणिल पहञ्जणा ।
हरि कियन्त दन्तन्तरे वट्टइ अञ्जणा ।।८।१।।

२. तं णिसुणेवि सुग्गीवहो हरि सिय गत्तहो ।
फिट्ट भन्ति जिण वयणे हिं जिह मिच्छत्त हो ।।४५।२।१।।

गीत१--आदि का प्रयोग किया है । ढूंढने पर सोरठे का रूप भी मिल सकता है ।२ महाकाव्य या चरित काव्य के स्वरूप, वर्ण्य विषय, अलंकार, रस और छन्द प्रयोग सभी की दृष्टि से उनके संकेतित और व्यवहृत काव्य सिद्धान्त अत्यन्त मूल्यवान है और परवर्ती कवियों के लिये अनुकरणीय ।

---

१. लगुण रास में गीतों के उपयोग की परम्परा रही है उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ ताल-ध्वनियां देखिए --

डउँ डउँ- डउँ डउँ--डमरूअ सद्देहिं । तरडक तरडक तरडक णद्देहिं ।
धुम्मुकु धुम्मुकुधुम्मुकु तालेहिं । रुँ रुं-रुं -रुञ्जन्त वमालेहिं ।
तक्किस तक्किस -सरेहिं मणोज्जेहि । दुणिकिटि-दुणिकिटि थरिमदि --बज्जेहि ।
गेग्गदु गेग्गदु गेग्गदु घाएँ हि । एयाणेय भेय संघाएं हि ।।५६।१।८--११।

२. सीय सलक्खणु रामु, पणमिउ णरवर विन्देहिं ।
तं वन्दिउ आहिसउ, जिणु बतीस हिं इन्देहिं ।।२३।१२।६
ओहर मयर रउद्द, सा सरि णयण कडक्खिय ।
दुत्तर दुप्पइ सार, णं दुग्गइ दुप्पेक्खिय ।२३।१३।६
जिह णक्खत्तेहि चन्दु, इन्दु जेम सुर लोएं ।
तिहतुहुँ भुञ्जहि रज्जु, परिमिउ वन्धव लोएं ।।२४।६।६
(मध्य पदों में तुक के लिये तुकान्तमयी भाषा--३१।१।१ पूरा कडवक)

अज्ञेय के काव्य में अलंकारों का अनुसंधान!

प्रो० कृष्ण 'भावुक'

आजकल नई कविता के सत्यखोजी कवि और स्वतन्त्रचेता समीक्षक बड़े ही ढोल-ढुमक्कल से शत-सहस्र बार इस बात की गुरु-गंभीर गर्जना और उद्घोषणा कर चुके हैं कि नई कविता अलंकारों के पूर्ण बहिष्कार को स्वीकार करके नये अलोक-क्षितिज दिपा रही है, नये दिशा-संकेत दर्शा रही है। उनके विचारानुसार रीतिकालीन तामझाम वाली छंदों और अलंकारों की पिंगलशास्त्र-सिद्ध और निगड़बद्ध कविता को धकियाती हुई उनकी यह नई कविता कला और शिल्प की 'लेबोरेटरी' (प्रयोगशाला) में बड़े ही मनोयोग से अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व प्रयोग कर रही है। किन्तु यह एक ऐसी पूर्वाग्रहयुक्त धारणा है जिससे सर्वजिह्वाग्रवर्तिनी और सर्वदिग्गामिनी क्रांति की अपेक्षा काव्य-प्रदेश में दिग्भ्रांति की ही अधिक संभावना है।

अज्ञेय ने नई कविता के वस्तु प्रेमी कवियों को चेतावनी देते हुए सावधान किया था कि—'नया कवि नयी वस्तु को ग्रहण और प्रेषित करता हुआ शिल्प के प्रति कभी उदासीन नहीं रहा है, क्योंकि वह उसे प्रेषण से काट कर अलग नहीं करता है। नयी शिल्प-दृष्टि उसे मिली है।'[1] स्वयं उनकी कविताओं द्वारा इस मत का अनुमोदन और समर्थन हो जाता है। उनमें अलंकारों का जिस स्वाभाविक रूप से प्रवेश और उन्मेष हुआ है उसकी ताम्रवर्णी विद्युच्छटा देखते ही बनती है।

शब्दालंकार

भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकारों का विभाजन दो रूपों में किया जाता रहा है—शब्दालंकार और अर्थालंकार। अनुप्रास पुनरुक्तिप्रकाश, यमक, वक्रोक्ति और श्लेष आदि शब्द चमत्कार के हेतु बनने वाले अलंकार शब्दों के ही आश्रित

१. अज्ञेय, तीसरा सप्तक, भूमिका, पृष्ठ १८

रहने के कारण 'शब्दालंकार' कहलाते हैं। इनकी स्थिति किसी शब्द-विशेष के ही कारण होती है और उस अर्थ के बोधक अन्य शब्द के रखने से 'शब्दालंकार' की योजना नहीं हो सकती। अज्ञेय की कविताओं में निम्नलिखित प्रयोगों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उदारचेता और शिल्पवेत्ता कवि काव्य-कला के प्रति असाधारण रूप से सजग और जागरुक है। ये शब्दालंकार उनकी कविताओं में ज्वलन्त आलोक-शिखाओं से इस प्रकार देदीप्यमान हैं ––

१. अनुप्रास

अनुप्रास पद के तीन अवयव हैं–– 'अनु', 'प्र' और 'आस'। अनु-अर्थात् बार बार, 'अ' से प्रकर्ष और 'आस' से 'न्यास' का आशय लिया जाता है। समग्रत: अर्थ हुआ––'कई बार प्रकषता से वर्णों का पास पास रखना।' अनुप्रास के कई भेद हैं––

(क) छेकानुप्रास–– जहां अनेक वर्णों की केवल एक बार आवृत्ति की जाए। यहां वर्णों की उसी क्रम से आवृत्ति उपेक्षित होती है यथा मन्द–मन्द। अज्ञेय की कविताओं में छोटी छोटी चिड़ियां चिट्टी चिट्टी पेटियां, बड़े बड़े पांखी, लाल लाल कनियां आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। नीचे लिखी पंक्तियों में भी छेकानुप्रास ही दुबके बैठे हैं। :––

१. किस अंधेरी रात में अभिसार का अभिनय किया था १

२. वैसा अभिसिंचित अभिमंत्रित सघनतम संगोपन कल्पाते २

(ख) वृत्यनुप्रास:––वृत्तिगत अनेक वर्णों को अथवा एक वर्ण की अधिक बार आवृत्ति किये जाने को वृत्यनुप्रास कहते हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं––

१. क्या दूं देव ! तुम्हारी इस विपुल विभुता को मैं उपहार ?३
२. सहम कर थम से गये हैं बोल बुलबुल के ४
३. लिए अलक्षित अनुनय अंजलि५
४. वे उद्विग्न अबाध, अगाध, अकथ्य कथाएं ६
५. अथाह, अकूल, अपलक नीलिमा७

---

१. संग्रह 'चिता', पृष्ठ ७६
२. संग्रह 'आंगन के पार द्वार', कविता 'झील का किनारा'
३. संग्रह 'भग्नदूत' से
४. संग्रह, 'इत्यलम्', कविता 'भादों की उमस'
५. संग्रह, 'चिता', पृष्ठ ३५
६. संग्रह, 'चिता', पृष्ठ १५२
७. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'उन्मत्त'

६. अविराम अनगिन झांकित झींगुर१

२. **पुनरुक्तिप्रकाश** कई बार अर्थों में अधिक रोचकता लाने के लिये शब्दों की एक या अनेक बार आवृत्तियां की जाती हैं जैसे इन पंक्तियों में हुआ है–

(क) एक मूक आह्वान सदा एकस्वर
कहता जावे, कहता जावे निर्झर२

(ख) रजनी उषा में हुई मूक कुछ रो रो कर, कुछ कांप कांप३

३. **यमक** निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न भिन्न अर्थ वाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या उनके पुनः श्रवण को 'चमक' कहते हैं। निरर्थक वर्णों के ये निदर्शन अनुपम हैं —

(क) स्वर लाया सरसर पीपल का....
खड़खड़ पलास का, अमलतास का४

(ख) संझा गोधुलि की लघु टुन टुन५

सार्थक वर्णों वाले यमक दुर्लभ हैं। अपवाद स्वरूप एक पंक्ति यह है—
जगती जगती की मूक प्यास (संग्रह 'चिन्ता' की पंक्ति)

यहां वर्णों की आवृत्ति तो क्रमशः हुई ही है साथ ही उनके अर्थ भी भिन्न भिन्न हैं। प्रथम 'जगती' क्रिया है और दूसरा शब्द 'सृष्टि' के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहां भी यमक की छटा छविमान है।

४. **वक्रोक्ति**––किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा श्लेष से अथवा 'काकु' उक्ति से अन्य अर्थ-कल्पित किये जाने को वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं। 'काकु' का शाब्दिक अर्थ एक विशिष्ट प्रकार की कंठ-ध्वनि है। काकु वक्रोक्ति का एक उदाहरण देखिए––

और हम अपने को छलते हैं
'थोड़ा और खट लो, थोड़ी और पिस लो
यन्त्र का उद्देश्य तो बस शीघ् अवकाश
और अवकाश, एक मात्र अवकाश है।'६

'कंठध्वनि' से क्लर्कों के कथन का यह तात्पर्य निकलता है कि 'हमें इस जीवन में कभी भी अवकाश नहीं मिलेगा।'

ठीक इसी प्रकार एक और उदाहरण दर्शनीय है––

'जिन्हें मुक्त जीना चाहिए,
उन्हें अपनी कारा में
इसकी खबर ही ना हो
कि उन का यह हक है' ७

१. संग्रह, वही, कविता, 'दाता और भिखारी'
२. संग्रह 'चिंता' पृष्ठ १५२
३. संग्रह 'चिंता', पृष्ठ १६४
४. संग्रह 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', कविता 'वैशाख की आंधी'
५. संग्रह 'आंगन के पार द्वार', खण्ड, 'असाध्य वीणा'
६. संग्रह 'बावरा अहेरी', कविता 'दफ्तर : शाम'।
७. संग्रह 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' कविता 'विपर्यय'।

यदि इन पंक्तियों को सहज भाव से सीधा ही पढ़ दिया जाए तो अर्थ का अनर्थ हुए बिना नहीं रहेगा । यहां वक्ता की दुख-दग्ध और आश्चर्य-व्यंजक कथन शैली ही उस 'व्यंग्य' को उभार कर हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है जो युग युग से चली आई शोषितों की प्रसुप्त चेतना पर किया गया है ।

५. **श्लेष**--शिल्ष्ट शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान किये जाने को श्लेष कहते हैं । 'शिलष्ट' शब्द के पीछे 'शिलष' धातु की स्थिति है जिसका अर्थ मिलना या चिपकना है । कवि अज्ञेय को 'स्नेह' के शब्द श्लेष से विशेष मोह है--

(क) तुम स्नेह पात्र उरके मेरे १

(ख) दीप थे अगणित, मानता था मैं कि
पूरित स्नेह है......
बहा दूं सब दीप । बुझने दो
अगर है स्नेह कम २

(ग) तुम्हारे स्नेह को भरना
पुरानी कुप्पियों में स्वत्व की मैं
ने नहीं चाहा ३

'स्नेह' शब्द से कवि ने तेल (या घृत) और प्रेम इन दो अर्थों का एक साथ लाभ उठाया है। बस 'आम के आम, और गुठ-लियों के दाम' वाली बात ही समझिए । यहां 'स्नेह' संपूर्ण शब्द के दो अर्थ हैं अत यह अभंग शिलष्ट शब्द भी है । एक और नमूना है--

'सूप-सूप भर धूप कनक,
यह सूने नव में गई बिखर' ४

यहां 'कनक' से अनाज और स्वर्णवर्ण दोनों का युगपत् आशय अभीष्ट है ।

अर्थालंकार--अर्थों का अभिषेक करने वाले अलंकार अर्थों के अधीन रहने के कारण अर्थालंकारों की संज्ञा से अलंकृत किये जाते हैं । हमें अज्ञेय की कविताओं में अनेक अर्थालंकार की सहज ही उप-लब्धि हो गई है अतः इस अनुसंधान से यह सिद्ध हो जाता है कि यदि नई कविता के पृष्ठ पोषक न चाहें तो भी उनकी कविता-कामिनी स्वभाववश चोरी छिपे अलंकार-भार को सहर्ष संभारती ही चलती है । अज्ञेय की काव्य-मंजूषा में जो अर्थालंकार जगमग जगमग करते हुए चमचमा रहे हैं उनका विवेचन इस प्रकार है--

१. **अतिश्योक्ति**--अतिशय का अर्थ है 'अतिक्रांत' । 'अतिशयतः अतिक्रांते' (शब्द-चिंतामणि) अर्थात् उल्लंघन । इस अलंकार में तथा-कथित लोकमर्यादा का अतिक्रमण करने वाली उक्ति होती है।

---

१. संग्रह 'चिंता', पृष्ठ १३१
२. संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर', कविता, 'दीप थे अगणित', पृष्ठ २०–२१
३. संग्रह 'हरि घास पर क्षण भर', कविता 'पहला दौंगरा', पृष्ठ ५५
४. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'धूप', पृष्ठ ६२

इसी का एक भेद है संबंधातिशयोक्ति जहां कि असम्बंध में भी सम्बंध की कल्पना की जाती है । इसके आगे दो उपभेद हैं संभाव्यमाना और निर्णयमाना पहले में यदि, जो आदि शब्द-प्रयोगों द्वारा असंभव बात की संभावना की जाती है। अज्ञेय की एक कविता में इसका एक मनोहारी निदर्शन शोभायमान है --

यह क्या पलास की लाल लहकती आग रही कारण,
जो वनखंडी की हवा हो चली गर्म आज ? १

२. **अपह्नुति**--प्रकृत उपमेय का निषेध करके अन्य (उपमान) के आरोप किए जाने को अपह्नुति अलंकार कहते हैं। 'अपह्नुति' शब्द का अर्थ ही है निषेध या छिपाव । इसमें कहीं पहले निषेध करके फिर दूसरी वस्तु को आरोपित किया जाता है जैसे इन शब्दों में--

१. **भावनाएं नहीं हैं सोता भावनाएं खाद हैं केवल** २
२. **हूं ही नहीं प्रतिध्वनि भर हूं** ३

कहीं पहले आरोप करके उसके बाद वस्तु का निषेध किया जाता है यथा--

'हम हैं द्वीप, हम धारा नहीं हैं' ४ आगे धारा न होने का कारण भी दिया है 'हम बहते नहीं हैं, क्योंकि बहना रेत होना है' अतः यहां हेतु अपह्नुति अलंकार समझना चाहिए ।

किंतु ये उदाहरण शद्धापह्नुति के नहीं हैं क्योंकि इनमें प्रकृत अर्थात् भावनाएं और हम आदि उपमेयों का निषेध नहीं है प्रत्युत् एक उपमान का निषेध करके दूसरे उपमान की स्थापना की गई है अतः यह अलंकार भ्रान्त्यापह्नुति के ही अधिक समीप पड़ता है क्योंकि उसमें केवल उपमान का ही निषेध होता है । उपर्युक्त उदाहरण प्रश्न-रहित वाच्य निषेध वाले 'परिसंख्या' अलंकार के भी अन्तर्गत माने जा सकते हैं ।

३. **अप्रस्तुत प्रशंसा**-- प्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत के वर्णन को अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार कहते हैं । प्रशंसा का यहां केवल वर्णन मात्र से ही आशय है अतः इसे स्तुति नहीं समझना चाहिए । यहां अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत का बोध कराया जाता है --उदाहरण देखें --

यह कली झुटपुट अंधेरे में पली थी देहात की गली में
भोली, भली, नगर के राजपथ, दिपते प्रकाश में गई छली ५

१. संग्रह, 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता, 'बसंत' ।
२. संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर', कविता 'कवि हुआ क्या फिर ?'
३. संग्रह, वही, कविता 'शरद की सांझ के पंछी'
४. संग्रह, वही, कविता, 'नदी के द्वीप '
५. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'यह कली', पृष्ठ ६०

यहां 'कली' अप्रस्तुत है जिसके कथन द्वारा वास्तविक 'प्रस्तुत' (अर्थात् 'ग्रामबाला') की व्यंजना कराई गई है। इस उदाहरण मे ग्रामबाला के विषय में कोई बात नहीं कही गई है अत: यह सारूप्य निबंधना नामक भेद वाला अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है जिसमें प्रस्तृत को न कह कर उसके समान दशा वाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है।

४. **अर्थान्तरन्यास**--सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से समर्थन किये जाने को ही 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है किसी अर्थ विशेष के समर्थन के लिये अन्य अर्थ का 'न्यास' करना (रखा जाना) जैसे:—

किन्तु हम बहते नहीं हैं,
क्योंकि बहना रेत होना है [१]

यहां 'रेत' शब्द अनस्तित्व का प्रतीक है जिसे समझ लेने पर यह अलंकार स्पष्ट हो जाता है। प्रथम पंक्ति में अर्थ विशेष का उल्लेख है और पंक्ति का उत्तरार्द्ध एक सामान्य तथ्य कथन है जो कारण बन कर पहले आने वाले कार्य का समर्थन कर रही है।

५. **उत्तर**--उत्तर अलंकार में चमत्कारिक उत्तर दिये जाते हैं। निबद्ध प्रश्न वाला उत्तर अलंकार उसे कहते हैं जिसमें कई बार प्रश्न किये जाने पर कई बार अप्रसिद्ध उत्तर दिये जाएं--। इस के निम्न लिखित उदाहरण में उत्तर देने वाला स्वयंमेव प्रश्नकर्त्ता भी है —

क्या है प्रेम? घनीभूत इच्छाओं की ज्वाला है,
क्या है विरह? प्रेम की बुझती राख का प्याला है। [२]

६. **उत्प्रेक्षा**--इस अलंकार में प्रस्तुत (उपमेय) की अप्रस्तुत (उपमान) के रूप में संभावना की जाती है और उपमान का बोध उत्कटता से होता है। यहां उपमेय और उपमान में भेद की अनुभूति भी बनी रहती है। प्रायः मनु, जनु, मनहु, मानों, जानहु, निश्चय, इव, क्या आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है—

१. मेरी दीप्त जीवन चेतना निश्चय नहीं है [३]
२. छोटे छोटे बिखरे से शुभ्र बादलों को पार करता
मानों कोई तपक्षीण कापालिक चांह भागा जा रहा है। [४]

ये दो उदाहरण उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा के हैं क्योंकि उनमें उत्प्रेक्षा के

---

१. संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर', कविता 'नदी के द्वीप'
२. संग्रह 'चिन्ता', कविता 'गान', पृष्ठ ३०
३. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'मछलियां,' पृष्ठ ८६।
४. संग्रह 'इत्यलम्' कविता 'चार का गजर', पृष्ठ १७८।

विषयों जीवन-चेतना और चांद इन उपमेयों का पहले और पीछे कथन किया गया है ।

७. **उदाहरण**--जहां सामान्य रूप से कहे गये अर्थ को भली प्रकार समझाने के लिये उसका एक अंश दिखला कर उदाहरण दिया जाता है वहां इस अलंकार की स्थिति होती है । जो सामान्य अर्थ कहा जाए उसका इव, यथा दृष्टांत जैसे आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा नमूना या निदर्शन् प्रदर्शित किया जाता है :--

साधना रुकति नहीं

आलोक जैसे नहीं बंधता १

यहां पहली पंक्ति मे कही हुई बात का दूसरी पंक्ति में उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

८. **उपमा**--'उपमेय और उपमान में सादृश्य की योजना करने वाले समान धर्म का नाम उपमा है' (काव्य-प्रकाश ।) उपमालंकार के दो भेद हैं--पूर्णोपमा और लुप्तोपमा ।

(क) **पूर्णोपमा** :– पूर्णोपमा उसे कहते हैं जहां उपमेय, उपमान, समान धर्म और उपमानवाचक चारों अंग शब्दों द्वारा कहे जाते हैं । कुछ उदाहरण वीक्षणीय हैं --

१. **रूई के गाले का चौंधी आंख सा झपकना**२

२. **जम्हाई-सी स्फीत लम्बी रात में**३

३. **फुहार तले मोर-सा प्रमत्त मन झूमा था**४

यहां रूई का गाला, रात और मन उपमेय हैं । आंख, जम्हाई तथा मोर उपमान हैं । चौंधी, लम्बी और प्रमत्त क्रमशः साधारण धर्म हैं । 'सा' और 'सी' वाचक शब्दों के प्रयोग के कारण यह श्रौती (या शाब्दी) पूर्णोपमा कही जा सकती है ।

(ख) **लुप्तोपमा** --उपमेय, उपमान, समान धर्म और उपमा वाचक शब्द में से किसी एक दो अथवा तीन के लोप हो जाने में, कथन नहीं किये जाने में लुप्तोपमा होती है । जो अंग लुप्त हो उसी के अनसार उसका नाम रखा जाता है यथा --

(अ) धर्म लुप्ता (i) क्रूरकाल-करका कराल शर मुझ को तेरे वर सा आए५

१. संग्रह 'बावरा अहेरी', कविता 'जनवरी छब्बीस'
२. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'रात कटी'
३. संग्रह 'इत्यलम्', कविता 'नन्ही शिखा'
४. संग्रह 'इत्यलम्', कविता 'वीर बहू'
५. संग्रह 'इत्यलम्', कविता 'क्षण भर सम्मोहन छा जाए'

यहां 'शर' उपमेय है, वर उपमान है, सा वचक शब्द है। समान धर्म का लोप होने के कारण यह धर्मलुप्ता उमपमा कहलायेगी।

(ii) रहा आतप-सा यही विश्वास[1]

यहां 'आतप' उपमान है और विश्वास उपमेय। सा–वाचक शब्द है। किंतु धर्म का यहां भी लोप होने से धर्मलुप्ता उपमा ही कही जाएगी।

(आ) उपमान लुप्ता :

'बालुका में अंकी-सी रहस्यमयी वीर बहु[2]

यहां उपमेय 'वीर बहु', साधारण धर्म 'रहस्यमयी' और वाचक सी है पर उपमान लुप्त है अतः उपमान लुप्ता का उदाहरण समझें।

(इ) वाचक लुप्ता:––

(१) मेरे सूखे प्राण-दीप में एक बूंद[3]

(२) आज थका हिय-हारिल मेरा[4]

(ई) वाचक उपमान लुप्ता :––

आज मुझ को चढ़ गई है
यह अथाह अकूल अपलक नीलिमा
आकाश की[5]

यहां नीलिमा शब्द उपमेय है। उपमान मदिरा और सी वाचक शब्द दोनों का लोप है। इसी तरह के और उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं।

(उ) मालोपमा:– इसमें एक उपमेय के लिये अनेक उपमानों का विधान किया जाता है और यदि उपमान तथा उपमेय के अंगों को नहीं ग्रहण किया जाता वह निरवयवा मालोपमा कहलाती है अन्यथा सावयवा मालोपमा।––

भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
छा गया इन्द्र का नील वक्ष
वज्र सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ-सा[6]

यहां 'नभ' ही उपमेय है जिसकी 'नील वक्ष' उपमान के अनेक धर्मों (झुका झुलसा) से समानता बताई गई है। घनमेचक तिमिर आकाश का ही एक अंग है जिसकी श्यामल रोमावली से उपमा देते हुए उसे झुलसा हुआ-सा कहा गया है। अतः यह उपमा सावयवा मालोपमा का उदाहरण है। इसे समुच्चयोपमा भी माना जा सकता है।

९. **उल्लेख**––एक वस्तु का निमित्त भेद से––ज्ञाताओं के भेद के कारण अथवा विषय भेद के कारण अनेक प्रकार से उल्लेख किये जाने को उल्लेख अलंकार

---

१. संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर', कविता 'कितनी शांति, कितनी शांति'
२. संग्रह 'इत्यलम्' कविता 'वीर बहु'।
३. संग्रह वही, कविता, 'मेरी थकी हुई आंखों को'
४. संग्रह वही, कविता 'आज थका हिय हारिल मेरा'
५. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'उन्मत्त', पृष्ठ ९०
६. संग्रह 'इत्यलम्', कविता 'सावन-मेघ'

कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं। प्रथम उल्लेख और द्वितीय उल्लेख।

जहां अनेक रूपों में एक ही वस्तु देखी और समझी जाए वहां प्रथम उल्लेख नामक अलंकार विद्यमान रहता है। अज्ञेय के कविता 'आंगन के पार द्वार' में 'असाध्य वीणा' के अंतर्गत साधक का संगीत देखा जा सकता है जिसे 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुरूप भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न रूपों में ग्रहण करते हैं।

किन्तु जहां एक ही वस्तु को एक ही व्यक्ति द्वारा विविध रूपों में देखा जाता है वहां द्वितीय अलंकार की स्थिति होती है। अज्ञेय की एक कविता में अनेक बार इसी अलंकार की छटा विच्छुरित हुई है —

उल्का कुल की रज-परिमल-सी, जल
प्रपात के उत्थित जल सी
थी वह करुण दृष्टि तुम्हारी !१

ठीक इसी प्रकार प्रणय और मिलन के लिये भी विविध उपमानों का विधान किया गया है।

१०. **काव्यलिंग**—यहां लिंग शब्द का अर्थ है कारण या हेतु। इस अलंकार में किसी बात को सिद्ध करने के लिये वाक्य या पद के अर्थ में कारण दिया जाता है। इस अलंकार के दो स्वरूप हैं।

(१) वाक्यार्थता अर्थात् सारे वाक्य के अर्थ में कारण कहा जाना :—

एक दिन कर सकूंगा नहीं बातें प्यार की,
सुननी न होगी दुख की गाथा।
एक दिन जब बनेगा उत्सर्ग स्वीकृति
उच्चतर आदर्श की२

यहां उच्चतर आदर्श को स्वीकार करने के फलस्वरूप उत्सर्ग अपनाना ही कारण है जो 'प्यार की बातें न कर सकने और दुख की गाथा न सुनने' इस संपूर्ण वाक्यार्थ वाले 'कार्य' का समर्थन कर रहा है।

(२) पदार्थता अर्थात एक पद के अर्थ में कारण कहा जाना।

सागर को पूजा मिलती है, गिरगट कुत्सा
पर पलता है
या यह, गिरगट का जीवनमय होना ही
हम मनुजों को खलता है३

यहां सागर की पूजा और गिरगट की कुत्सा—इस संपूर्ण वाक्यार्थ का कारण बताने की अपेक्षा गिरगट की कुत्सा का कारण बता कर ही संतोष कर लिया गया है। अत: यह पदार्थता वाला 'काव्यलिंग', अलंकार है।

---

१. संग्रह 'इत्यलम्', कविता 'कहो कैसे मन को समझा लूं'
२. संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर', कविता 'बंधु हैं नदियां'
३. संग्रह 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये', कविता 'सागर और गिरगट'।

११. **तद्गुण**—अपना गुण त्याग कर उत्कट गुण वाली निकटवर्ती दूसरी वस्तु के गुण ग्रहण करने के वर्णन को 'तदगुण' अलंकार कहते हैं। यहां किसी वस्तु में अन्यदीय गुण का कथन किया जाता है। 'गुण' शब्द का अर्थ है रंग और रूप। एक बड़ा ही सटीक उदाहरण प्रस्तुत है—

नदी की बांक, गोरी चमक बालु की
विदा की आर्द्र लालिम मेघ की रेखा१

यहां मेघ की रेखा ने अपना श्वेत या श्याम गुण त्याग कर अस्तंगत सूर्य का रक्तिम आलोक आत्मसात् कर लिया है।

१२. **दीपक**—इस अलंकार का नाम 'दीपक-न्याय' के अनुसार है। जिस प्रकार दीपक एक साथ अनेक वस्तुओं को आलोक प्रदान करता है वैसे ही इस अलंकार में भी उपमेय और उपमान दोनों एक ही धर्म के द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं :—

बूंद स्वाति की भले हो
बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरासे
वज्र जिससे फोड़ता चट्टान को२

यहां 'बेधती' और 'फोड़ता' एक ही अर्थ वाले भिन्न भिन्न क्रियात्मक शब्दों की आवृत्ति हुई है अत: यहां अर्थावृत्ति नामक आवृत्ति दीपक अलंकर है।

१३. **दृष्टांत**—इस अलंकार में उपमेय, उपमान और साधारण धर्म विम्ब प्रतिविम्ब भाव से स्थित रहते हैं। यहां इव, यथा, दृष्टांत, जैसे आदि उपमा-वाचक शब्दों का निषेध रहता है। दृष्टांत का अर्थ है—'दृष्टोऽन्तः निश्चयोऽसदृष्टान्तः' (काव्यप्रकाश) यहां एक निश्चित वाक्यार्थ प्रस्तुत करके किसी अनिश्चित वाक्यार्थ का बोध कराया जाता है अर्थात् एक दृष्टांत सामने रख के पहले कही हुई बात को निश्चित किया जाता है। यहां उपमेय और उपमान के दोनों वाक्यों में ऐसे पृथक् पृथक् परन्तु सदृश धर्मों का होना अत्यन्त आवश्यक है जिन में आपस में कुछ न कुछ समानता हो—

नदी कूल के चल नरसल झर उमड़ा हुआ
नदी का जल
ज्यों क्वारपने की केचुल में यौवन की
गति उद्दाम प्रबल३

यहां प्रथम वाक्य उपमेय है और दूसरा उपमान। ज्यों शब्द परिभाषा का प्रत्याख्यान कर रहा है। उमड़ा हुआ जल और यौवन की उद्दाम प्रबल गति में धर्मों की अत्यंत निकट की समानता है। अत: यह दृष्टांत अलंकार का बहुत अच्छा दृष्टांत माना जा सकता है।

---

१. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'नदी तट : एक चित्र'
२. संग्रह 'इद्र धनु रौंदे हुए ये' कविता 'सर्जना के क्षण'
३. संग्रह 'बावरा अहेरी', कविता, 'ये मेघ साहसिक सैलानी'

१४. **प्रतीप**--प्रतीप का अर्थ प्रतिकूल या विपरीत है । इस अलंकार में उपमान को उपमेय कल्पित करने की ही प्रतिकूलता रहती है । नीचे की पंक्तियों में 'जीवन' के ऐतिह्य उपमान 'सागर' को उलट दिया गया है परन्तु इससे उपमेय या उपमान की हीनता या निरादर अभीष्ट नहीं है अतः यह प्रथम प्रतीप अलंकार का समुचित निदर्शन है --

१. पहले सागर आँक : चंचल, उत्सृष्ट--
जैसे जीवन ! १

२. अभ्र लख भ्रू-चाप-सा २

दूसरे उदाहरण में भौहों के प्रसिद्ध उपमान 'अभ्र' (बादल) को उपमेय के रूप में प्रदर्शित किया गया है और 'भ्रू' उपमान है ।

१५. **भाविक**--भूत और भावी के भावों को प्रत्यक्ष (वर्तमान) की भांति वर्णन किये जाने को भाविक अलंकार कहते हैं। कवि अज्ञेय ने एक कविता में नेपाल की सीमा पर पूर्वानुभूत दृश्यों का प्रत्यक्ष -घटित की भांति वर्णन किया है--

ये हंसावलियां नहीं, ये ब्रह्मपुत्र की
मछलियां हैं
जिन्हें चीनी सिपाहियों ने डायनामाइट
लगा कर सन्न कर दिया है ३

अज्ञेय की एक और कविता है--साम्राज्ञी का नैवेद्य-दान । स्वयं कवि ने पाद-टिप्पणी दी है --'जापान की साम्राज्ञी कोमियो प्राचीन राजधानी नारा के बुद्ध मंदिर में जाते समय असमंजस में पड़ गई थीं कि चढ़ाने के लिये क्या ले जावें और फिर रीते हाथ गईं थीं ।' यही घटना कविता का आधार है। उसी प्राचीन घटना का अज्ञेय प्रत्यक्ष की भांति वर्णन कर रहे हैं । साम्राज्ञी का ही स्वगत कथन है कि--

हे महाबुद्ध ! मैं मन्दिर में आई हूँ
रीते हाथ : फूल मैं ला न सकी ४

१६. **रूपक**--उपमेय में उपमान के निषेध-रहित आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं । इस अलंकार के दो भेद हैं--अभेद रूपक और ताद्रूप रूपक । अभेद रूपक के आगे दो उपभेद हैं--सांग रूपक और निरंग रूपक ।

(क) सांग रूपक:-- उपमेय में अभेद से आरोप किये जाने को अभेद रूपक कहते हैं । जहां अवयवों के साथ यह आरोप हो वहां सांग या सावयव

---

१. संग्रह 'आंगन के पार द्वार', कविता 'बना दे चितेरे'
२. संग्रह 'इत्यलम्', कविता, 'जैसे तुझे स्वीकार हो'
३. संग्रह 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', कविता 'इतिहास की हवा', पृष्ठ ३२
४. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'साम्राज्ञी का नैवेद्य दान'

रूपक माना जाता है । अज्ञेय के काव्य-कानन से एक नमूना उठाएं--

तुम्हारे नैन पहले भोर की दो ओस बूंदें हैं
अछूती, ज्योतिमय, भीतर द्रवित !१

(ख) निरंग रूपक :--अवयवों से रहित केवल उपमान का उपमेय में आरोप किए जाने से निरवयव या निरंग रूपक होता है । अज्ञेय जी ने शुद्ध निरंग रूपकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है । एक उदाहरण देखें जिस की शब्द-माला में दो निरंग रूपक गुंथे हुए हैं --

रूप केकी नाचते हैं, सारघन बरसो २

ठीक इसी प्रकार रूपकप्रिय कवि ने स्वप्न-वीथी, मानस, मुकुर, शब्द-रत्नों मेघ-पताकाओं, स्वागत, पंखुड़ियों, और काल सूर्य जैसे समासों के माध्यम से शुद्ध निरंग रूपकों का मनोरम विधान किया है ।

१७. **ललित**--प्रस्तुत धर्मी के वर्णनीय वृत्तान्त के प्रतिबिम्ब स्वरूप वर्णन किए जाने को ललित अलंकार कहते हैं।

'लता टूटी, कुरमुराता मूल में है
सूक्ष्म भय का कीट३

मनुष्य में 'भय' की स्थिति होने से उसका तृप्तिमय जीवन निष्फल हो जाता है ऐसा न कह कर 'लता की जड़ में सूक्ष्म भय का कीट कुरमुराता है' इस प्रतिबिम्ब का उल्लेख किया गया है ।अतः यह ललित अलंकार है ।

१८. **विनोक्ति**--एक के बिना दूसरे के शोभित अथवा अशोभित होने के वर्णन को विनोक्ति अलंकार कहते हैं । विनोक्ति का शब्दिक अर्थ है किसी के बिना उक्ति होना :--

बिन पाये क्या था मैं पर अब क्या न हुआ
पा तेरा प्यार
धूलि स्वयं पर आज मुझे है तुच्छ धूलि से
भी संसार४

यहां पुरुष प्रेयसी के प्यार बिना अपने को अशोभित घोषित करता है किन्तु उसी का बेमोल प्यार पाकर वह स्वयं मृण्मय होता हुआ भी समस्त संसार को धूल से भी तुच्छ समझने लग पड़ता है । अतः उसकी शोभा या अशोभा प्रिया के निमित्त ही है इसलिये यहां विनोक्ति नामक अलंकार सार्थक हुआ ।

१९. **विभावना**--इस अलंकार में कारणान्तर की कलपना की जाती है । विभावना के कई भेदों में सर्वप्रथम भेद 'प्रथम विभावना' के दो उपभेद हैं --
१. उक्त-निमित्ता २. अनुक्त निमित्ता ।

१. 'स्नेह बिना भी इस प्रदीप की बाती
जलती जाती है'५

१. संग्रह 'बावरा अहेरी', कविता 'नखशिख',
२. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'रूप केकी'
३. संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर', कविता 'देखती है दीठ'
४. संग्रह 'चिंता' का एक गीत ।
५. संग्रह, 'चिन्ता', पृष्ठ ५२

यहां 'स्नेह' कारण के बिना भी वाती जलने का उल्लेख हुआ है। एक तो प्रसिद्ध कारण स्नेह अर्थात तेल या घृत का अभाव होने से और इस अभाव के होते हुए भी वाती किस प्रकार जल रही है इसका कारण न बताने से अनुक्तनिमित्ता प्रथम विभावना अलंकार है।

२. **निरुद्देश्य, निर्लक्ष्य, तीर से रहित धनुष की**
प्रत्यंचा को देता हूँ टंकार अनमना
दूर कहीं, पर हाय मर्म में कोई बिंध जाता है १

निशाना तभी ठीक बैठता है यदि लक्ष्य निर्दिष्ट हो। धनुष में तीर का होना भी उतना ही आवश्यक है किन्तु यहां आखेटक निरुद्देश्य और निर्लक्ष्य ही शर-विहीन चाप को केवल टंकार ही देता है जोकि 'कारण' (शर्संधान करना) की अपूर्णता सूचित करता है। किन्तु आश्चर्य ! किसी के मर्मबिद्ध होने पर 'कार्य' सिद्ध हो गया है। अतः यहां द्वितीय विभावना अलंकार है। यहां 'अकारण' से ही कार्य का होना बतलाया गया है इसलिये इसे चौथा विभावना अलंकार भी माना जा सकता है जिसमें रूपकातिशयोक्ति भी मिश्री-सी घुली रहती है।

२०. **विरोधाभास**-- वास्तविक विरोध न होने पर भी विरोध प्रदर्शित किए जाने को 'विरोधाभास' अलंकार कहते हैं। यहां जो वैषम्यसूचक शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं उनका दोषपूर्ण होना ही विरोध-प्रतीति का कारण बनता है।

१. **आज प्रत्येक स्वप्नदर्शी के आगे**
गति से अलग नहीं पथ की यति कोई२

२. **सुनें गूंज भीतर के सूने सन्नाटे में३**

३. **जो मरणधर्म हैं वे ही जीवनदायी हैं४**

४. **और वह धूलिकण....बढ़ता चला गया**
शून्यता भी पूर्ति से छलक गई।५

२१. **विशेषोक्ति**--अखण्ड कारण के होते हुए भी कार्य के न होने के वर्णन को विशेषोक्ति कहते हैं। यहां 'वि' का अर्थ 'गत' है और शेष का अभिप्राय है 'कार्य'. अतः विशेषोक्ति हुई 'गत हो गया है कार्य, जिसका का ऐसे कारण की उक्ति'। इस प्रकार यह विभावना अलंकार का ठीक प्रतिपक्षी है।

---

१. संग्रह 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' कविता 'आखेटक', पृष्ठ ९७
२. कविता 'सपने मैंने भी देखे हैं'
३. संग्रह, 'हरी घास पर क्षण भर' कविता 'हरी घास पर क्षण भर'
४. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'मैंने कहा, पेड़--'
५. संग्रह 'चिंता', पृष्ठ २६

कई बार आकर्ण तान धनु, लक्ष्य साध कर
तीर छोड़ता हूँ मैं, कोई गिरता नहीं ।१

यहां लक्ष्य के निश्चित होते हुए भी शर-संधान करने पर निशाना चूक जाता है अतः यह सुष्ठूरूपेण अचिन्त्य निमित्ता विशेषोक्ति अलंकार है जिसमें कारण अज्ञात् ही रहने दिया जाता है ।

२२. **व्यतिरेक**––जहां उपमान की अपेक्षा उपमेय की उत्कर्षता का वर्णन हो वहां व्यतिरेक अलंकार की स्थिति होती है। व्यतिरेक अर्थात् आधिक्य । यह उपमेय में किसी गुण विशेष का आधिक्य सूचित किया जाता है ––

तुम्हारी आंखों की ज्योति से
अधिक है चौंध जिस रूप की
उसका अवगुण्ठन मत खोलो २

यहां 'रूप' उपमेय है, और उपमान नेत्र-ज्योति है । इन पंक्तियों 'रूप में 'चौंध' नामक गुण का उत्कर्ष प्रकट करना ही अभीष्ट है । उपमान की निकृष्टता का कारण यहां नहीं कहा गया है।

२३. **व्याजस्तुति**–– निन्दा के वाक्यों द्वारा स्तुति और स्तुतिपरक वाक्यों द्वारा निन्दा करने को व्याजस्तुति अलंकार कहते हैं। शुद्ध व्याजस्तुति देखें ––

आपने दस वर्ष हमें और दिये
बड़ी आपने अनुकम्पा की, हम नतशिर हैं३

वस्तुतः यहां स्तुति के व्याज (बहाने) से नयी कविता के समालोचकों की ही व्यंग्यपूर्ण निन्दा की गई है।

२४. **संदेह**––किसी वस्तु के विषय में सादृश्यमूलक संशय होने से संदेह अलंकार सार्थक होता है । दूसरे से भिन्नता करने वाले धर्म का कथन न होकर केवल संशय प्रदर्शित करने से शुद्ध संदेह अलंकार माना जाता है । उदाहरण भी देखिए:––

ना जाने मछलियां हैं या नहीं
आंखें तुमहारी४

२५. **समासोक्ति**––प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से जहां अप्रस्तुत का बोध होता है वहां समासोक्ति अलंकार माना जाता है। यहां प्रस्तुत के वर्णन द्वारा ही दो अर्थों का बोध कराया जाता है। ये पंक्तियां दर्शनीय हैं:––

फूल खिलते रहे चुपचाप,
मंजरी आई दबे पांव संकुचाती
किंतु मधु-मक्खियां भौंरे
तड़फड़ाते रहे करते रोर.....५

---

१. संग्रह 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये,' कविता 'आखेटक'
२. संग्रह वही, कविता 'जितना तुम्हारा सच है'
३. संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर', कविता नई कविता––'एक संभाव्य भूमिका'
४. संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय', कविता 'मछलियां', पृष्ठ ८९
५. संग्रह वही, कविता 'दाता और भिखारी', पृष्ठ १९०

यहां श्लेष रहित समान विशेषणों (दाता के प्रसंग में 'सकुचाती' और भिखारियों के संदर्भ में 'तड़फड़ाते') द्वारा मंजरी और मधुमखियां-भौरों में क्रमश: दाता और भिखारियों की प्रतीति कराई गई है। यहां श्लेष रहित साधारण विशेषण समासोक्ति है। पूरी कविता ही समासोक्ति का नमूना है।

२६. **सूक्ष्म**--किसी इंगित या आकार से जाने हुए सूक्ष्म अर्थ (रहस्य) को किसी युक्ति से सूचित किये जाने को 'सूक्ष्म' अलंकार कहते हैं। यहां सूक्ष्म का आशय तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा सहृदय लोगों के जानने योग्य रहस्य से है। 'सूक्ष्मः तीक्ष्ण मति-संवेद्य' (काव्यप्रकाशवृत्ति)

लो; मुट्ठी भर रेत उठाओ
ठीक कह रहा हूँ मैं हंसी नहीं है
उसे अंगुलियों में से बह जाने दो : बस ! यों।
इस यों में ही हैं सब जिज्ञासुओं के उत्तर १

२७. **स्मरण**--पूर्वानुभूत वस्तु के सदृश्य किसी अन्य वस्तु के देखने पर उसकी स्मृतिकथन करने को स्मरण अलंकार की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस अलंकार में कालान्तर में कोई वस्तु दृष्टपूर्व पदार्थ का पुनः वही संस्कार जगाती है --

तुम्हारी देह-मुझको कनक चम्पे की कली है
दूर ही से स्मरण में भी गंध देती है ! २

२८. **स्वभावोक्ति** --बालक आदि की स्वाभाविक चेष्टा या प्राकृतिक दृश्य के चमत्कारपूर्ण वर्णन को स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं। अज्ञेय का काव्य तो मानों इस बहु-प्रशंसित अलंकार का समृद्ध संभार ही है। दिङ्मात्र के लिये ये पंक्तियां प्रस्तुत हैं--

१. **ऊपर फैला है आकाश, भरा तारों से**
भार मुक्त-से तिर जाते हैं पंछी,
डैने बिना हिलाये ।३

२. **सारसों के जोड़े, मौन खड़े पर**
तोलते४

---

१. संग्रह 'बावरा अहेरी', कविता 'वर्षान्त', पृष्ठ २७
२. संग्रह वही, कविता, 'नखशिख'
३. संग्रह 'बावरा अहेरी', कविता 'शरद की सांझ के पंछी', पृष्ठ २५
४. संग्रह 'आंगन के पार द्वार', कविता 'भीतर जागा दाता'

राष्ट्रीयता के सबल स्वर—"पूजागीत"

प्रो० लीला धर 'वियोगी'

'पूजागीत' के प्रणेता श्री सोहन लाल द्विवेदी जनजागरण, राष्ट्रीय भावना एवं आशावाद के कवि हैं। उनके स्वरों में ओज है, भावों में उच्छवास है और विचारों में दृढ़ता। वह आत्म-सम्मान के उद्बोधक एवं उत्सर्ग के सन्देश वाहक हैं। वह राष्ट्रीय ऐक्य के प्रबल गायक तथा उदार दृष्टिकोण के सबल समर्थक है। राष्ट्र की तरुण शक्ति में नव रक्त का संचार करने तथा उनको राष्ट्र के लिये प्राणोत्सर्ग करने की बलवती प्रेरणा देने की अद्भुत क्षमता है द्विवेदी जी के गीतों में। वह युवक को प्रबुद्ध करते हुए लिखते हैं :—

—"उदय गिरि पर बज रहा है आज भैरव राग।
अग्नि पथ पर चढ़ रंगीली, प्रलय पथ पर बढ़ हठीली,
जल रही होली निरन्तर खेल जीवन फाग।।
चल अमृत का पान कर ले, अमरता में स्नान कर ले,
मातृ भू के शुभ्र अंचल का मिटा दे दाग।
ओ जवानी जाग।।

द्विवेदी जी साम्प्रदायिक संकीर्णता एवं धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध हैं। भारत की अखण्डता एवं प्रभुसत्ता की सुरक्षा एकता में ही निहित हैं। वह लिखते हैं :—

है सभी घट में रमा वह फिर कलह की बात क्या रे।
सब मठों में एक प्रतिमा, है सभी की एक महिमा।

उनकी दृष्टि में मन्दिर, मस्जिद, मठ और विहार एक हैं। हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख और ईसाई भारत मां की सन्तान हैं :—

मन्दिर क्या हैं नहीं तुम्हारे ? मसजिद जिनकी क्या वे न्यारे?
मठ, विहार किस के हैं सारे ?
हिन्दु, मुसलिम सिक्ख ईसाई, क्या न सभी हैं भाई भाई ?
जन्म भूमि है सब की माई।

राष्ट्रीय-ऐक्य एवं बन्धु-भाव का कितने सीधे एवं अकृत्रिम शब्दों में निरूपण किया गया है। ऐसे ही उदार विचारों से भारत एक सशक्त तथा सबल राष्ट्र बन सकता है।

श्री सोहन लाल द्विवेदी गौरवमय अतीत से प्रेरणा लेते हैं, वर्तमान की दुर्दशा से व्यथित हैं, पर व्यथा में भी वह निराश नहीं हैं। उन्हें राष्ट्र के मंगलमय भविष्य में तथा अखिल विश्व के कल्याण में दृढ़ आस्था एवं अटूट विश्वास है। 'पूजागीत' की प्रत्येक पंक्ति ओज एवं दृढ़ता से परिपूर्ण है। प्रत्येक गीत साहस, उत्साह, बलिदान की भावना, आत्म-गौरव तथा नई आशा हृदय में जागृत करता है। यद्यपि 'पूजागति' का प्रकाशन भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व, सन् १९४६ ई० में हो गया था और उसमें देश की परतन्त्रता जनित पीड़ा एवं स्वतन्त्रता प्राप्ति की गहरी तड़प की प्रधानता है तथापि स्वतन्त्रता के आगमन के पश्चात भी इन गीतों की महत्ता एवं प्रभविष्णुता कम नहीं हुई। उनका सन्देश चिरस्थायी है, क्षणिक नहीं। वे प्रचार के सामयिक गीत नहीं, उनके तल में देश-प्रेम की अविरल धारा प्रवाहमान है। स्वर्गीय डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में—"राष्ट्रीय चेतना को आपने काव्य का सच्चा रूप दिया है।"

द्विवेदी जी यौवन के गायक हैं, पर उनके गीतों में यौवन का उन्माद नहीं, तेज है। मादकता नहीं उल्लास है। प्रणय की मदिरा नहीं, सेवा एवं भक्ति की पावन भावना है। युवक के समक्ष श्रेय और प्रेय का, प्रणय और प्रलय का द्वन्द्व है। उसे इनमें से एक पथ का चुनाव करना है। वह भ्रान्त, चकित एवं जड़ित होकर इस दोराहे पर खड़ा है:—

इधर है रण का निमंत्रण,
उधर कर में प्रेम कंकण।
भ्रमित चकित जड़ित बना मन,
मैं किधर निज पग बढ़ाऊँ?
मृत्यु आलिंगन इधर है,
अधर का चुम्बन उधर है।
मधु भरे दोनों चषक हैं,
किन्हें प्राणों से लगा ऊँ?

किन्तु गहन-मन-मंथन के पश्चात मातृपद वन्दना तथा मुक्ति पथ पर शीश अर्पित करना ही उसे अभीष्ट होता है। वह प्रलय का पथिक बनता है:—

प्राण! दो तुम भाल चन्दन,
विदा दो, हो मातृ वन्दन,
शक्ति दो तुम भक्ति जागे,
मुक्ति पथ पर शिर चढ़ाऊँ।'
आज रण की ओर जाऊँ॥

देश के प्रति गहन अनुराग और उसकी पराधीन, दीन एवं असहाय अवस्था पर वेदना एवं विक्षोभ की भावना 'पूजा-गीत' में सर्वत्र परिलक्षित होती है। पराधीनता की शृंखलाओं में आबद्ध भारत माँ की विषाद मूर्ति कवि के हृदय को प्रतिपल मथित एवं व्यथित करती रहती है:—

अन्नपूर्णे! तुम क्षुधित हो?
फिर न क्यों मानस मथित हो?

देवि ! यह दुर्दैव कैसा ?
आज तुम रजवासिनी ।
केश रूखे धूलि लुंठित,
बनी वीणा-पाणि कुण्ठित,
राजराजेश्वरी ! बनी हो,
आज तुम कंगालिनी ।
है फटा अंचल अंचल लहरता,
बन दरिद्र ध्वजा फहरता,
रत्न आभरणे ! बनी तुम,
आज पंथ भिखारिणी ।

किन्तु कवि भारत मां की इस करुणा जनक स्थिति में भी हताश नहीं है। वह देश की स्वतन्त्रता एवं पुनर्निर्माण की आशा से आप्लावित है वह जागृति का उद्घोष करते हुए कह उठता है:--

जाग माँ ओ जगद्धात्री !
तू दया की बन ना पात्री ।
ले त्रिशूल सतेज कर में,
ओ त्रिशूल-विनाशिनी !

निराशा की निबिड़ निशा में भी कवि भारत में नई शक्ति, नवसाहस, तथा नव स्फूर्ति का संचार कर, नई उषा का आह्वान करके भारत मां के भाल को गौरव से दीप्त कर देना चाहता है :--

तुम उठो माँ ! पा नवल बल,
दीप्त हो फिर भाल उज्ज्वल ।
इस निबिड़ नीरव निशा में
किस उषा की रश्मि लाऊँ ।।

भयंकर विपत्तियों एवं दुर्दम्य बाधाओं में भी कवि को निराशा स्वीकार नहीं है। वह किसी भी स्थिति में आशा और विश्वास का सम्बल छोड़ना नहीं चाहता। चाहे घनघोर गर्जन हो, अथवा वज्रपात, कोई भी बाधा उसे पथ से विचलित नहीं कर सकती । वह अडिग रह कर दुर्दिनों का नाश करता जाएगा :--

बिजली चमके, झंझा गरजे,
मेघ वज्र रव कर के बरजे ।
डिग न तनिक भी, अडिग चलाचल,
होगा दुर्दिन नाश राही ।
फिर भी हो न निराश राही ।।

कवि का आशावाद निराधार नहीं है। इसके पीछे है अतीत के गौरव की बलवती प्रेरणा और बलिदान की उत्कट भावना। प्राणार्पण के वेगवती भावना से अनुप्राणित होकर वह कह उठता है:--

आज चल उस ओर--है,
जिस ओर बलि चढ़ती जवानी ।
रहे युग के भाल पर
तेरी अरुण जलती निशानी ।।

यदि कवि एक साँस में 'अब नहीं वे दिन सुनहले' कह कर निराश होने लगता है तो दूसरे ही साँस में जागरण का गीत--'जाग सोये देश' गा उठता है । 'देवता तुम राष्ट्र के' नामक गीत में बापू की इस लिये भी प्रशंसा की है कि उन्होंने राष्ट्र को प्रबुद्ध किया, देश में आत्म-गौरव एवं आत्म-बल जागृत किया । राष्ट्र-मुक्ति के महान यज्ञ में सर्वस्व समर्पण तथा प्राणों की आहुति देने की प्रेरणा देते हुए द्विवेदी

जी कहते हैं :— तुम भी अपनी आहुति चढ़ाओ"। राष्ट्र की स्वाधीनता ही नहीं, उसके नव-निर्माण के लिये भी तन, मन, धन का अर्पण करने की प्रेरणा देते हुए कवि ने कहा है :—

उठो फिर खण्डहर संवारो,
प्राण तन मन जन्म वारो ।
आज नव-निर्माण में, दो दान,
जो भी देश मांगे ॥

श्री सोहन लाल द्विवेदी पूंजीवाद के विरोधी हैं। वह शोषण एवं शोषक वर्ग से विक्षुब्ध हैं। वह कृषक श्रमिक एवं शोषित और दलित वर्ग के प्रबल पृष्ठ पोषक हैं, किन्तु वह साम्यवाद में विश्वास नहीं रखते, जिसका प्रतिपाद्य वर्ग संघर्ष तथा विध्वंस है। उनका दृष्टिकोण विधायक है, विनाशक नहीं। कवि जानता है कि धन के मद में चूर, वैभव-शाली लोग किस प्रकार दुर्बलों को पद दलित कर रहे हैं। वे शक्ति के बल पर अन्याय को न्याय बना रहे हैं :—

उधर धन बल पर सकल अन्याय बनते न्याय ।
इधर दुर्बल पद दलित अगणित विकल असहाय ॥

निश्चित रूप से कवि की सहानुभूति दुर्बल एवं असहाय जनों की ओर है। वह पूंजीपतियों को सम्बोधित करता है कि यह वैभव एवं सम्पत्ति एक कारागृह के समान हैं। स्वर्ण और मणियां यदि सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधक हैं तो वे त्याज्य हैं :—

तुम उस राह न जाओ !
जो जाति वैभव के गृह में,
सुख संपत्ति के कारागृह में ।

कवि पूंजीपतियों को प्रेरित करता है कि वे दीन-दुर्बल के सहायक बनें। उनकी शक्ति विनाश में नहीं निर्माण में लगे :—

बनो दीन दुर्बल के अंचल,
बनो न तुम दुर्योधन के बल ।

यद्यपि आक्रोश एवं आवेश में आकर कहीं-कहीं कवि 'तरु के पीले पत्तों के झड़ने तथा 'युग के शीर्ण वल्कल के गिरने' का वर्णन करता है तथापि यह उसका प्रधान स्वर नहीं है। उसमें "आज जागें भाग्य मरु के" और "खिले सुख के सुमन सुन्दर" के ही स्वर अधिक सबल हैं। आधुनिक युग की सामाजिक अवस्था की, उस की आहत चीत्कार की कवि उपेक्षा नहीं कर पाता। वह जानता है :—

"है मानव में रही न ममता,
स्वप्न बनी प्राणों की समता,
फिर किस में हो करुणा क्षमता ?"

इसके साथ ही उसे ज्ञात है :—

हिंसा नृत्य कर रही गृह गृह,
मृत्यु ग्रसित करती है रह रह,
रक्तधार बहती है रह रह.........।"

किन्तु कवि को यह दृढ़ विश्वास है कि समाज बदलेगा, विषमता के पथ सम बनेंगे। सबका जीवन शान्त तथा

सुखमय बनेगा। एक नये युग का आगमन होगा :--

विषम पथ ये सम बनेंगे,
सुखद जीवन क्रम बनेंगे ।
जन्म नव, जीवन नवल,
नवदेश नवयुग ज्ञात हो गा !

कवि एक ऐसे विश्व का निर्माण करना चाहता है जहाँ सत्य की किरणों के नद में समस्त कालुष्य बह जाये, जहां भ्रमजाल टूट जायें तथा सत्य का फूल विकसित हो जाये । वह एक ऐसे जगत की कल्पना करता है जहाँ जीवन की वीणा के तार स्नेह की पावन झंकार से झंकृत हो रहे हों । मानव मानव में भावात्मक एकता हो, दुराव एवं दुर्भाव का नाममात्र भी न हो :--

प्राण में बजे एक ही तार,
स्नेह की हो पावन झंकार ।
वचन में हो अमृत की धार,
विश्व में हो मंगल कल्याण ।।

राष्ट्रीयता की भावना, आत्म-सम्मान, साहस, उत्साह और बलिदान के स्वर 'पूजागीत' में प्रस्फुटित हुए हैं । 'पूजागीत' के भावपक्ष के विषय में श्री हरिभाऊ उपाध्याय के शब्दों में कहना चाहूँगा--"सोहनलाल जी दुर्बलता, पीड़ा रोदन, आँसू के नहीं, जीवन, उत्साह, तारुण्य, वेग, प्रभाव व बल के कवि हैं।"

'पूजागीत' के गीतों का भाव-पक्ष जितना सबल है, उनका कलापक्ष भी उतना विकसित है। 'भैरवी' तथा कतिपय अन्य कृतियों की अपेक्षा 'पूजागीत' में कलात्मकता अधिक है । कवि स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ा है । राष्ट्रीय नेताओं, देश की बाह्य घटनाओं तथा अन्य स्थूल विषयों पर वर्णनात्मक कविताएं न लिख कर अब वह अन्तस् की रागिनी गा उठा है। उसकी बहिर्मुखी दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई है । भैरवी में सामाजिक एवं राष्ट्रीय जागरण का उद्घोष था तो 'पूजागीत' में वन्दना के कोमल स्वर हैं । डॉ० केसरी नारायण शुक्ल के अनुसार--"उस की राष्ट्रीयता अब उसके व्यक्तित्व में घुलमिल गई है, इसी से उसके गीतों में संवेदना है , सचाई है , और उसके बीच कवि के अन्तस् की झलक भी मिल जाती है। इन गीतों की सचाई मे कवि का आत्मीय राग भी मिला हुआ है । इसी में 'पूजागीत' की प्रभाव आत्मकता और कवित्व का रहस्य है।" 'पूजागीत' में प्रचार की नहीं, आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है , इसी लिये इसकी प्रभविष्णुता भी बढ़ गई है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में--"इनकी कविता सीधी हृदय से निकलती हुई, हमारे मर्म को स्पर्श करती है और चिरस्थायी प्रभाव उत्पन्न करती है ।"

'पूजा-गीत' के शब्द-चयन को देख कर कवि का भाषा पर असाधारण अधि-कार लक्षित होता है । कहीं-कहीं तो

शब्द-प्रयोग सम्बन्धी उनकी सामर्थ्य-
'बाण' का स्मरण दिलाती है । छोटे
छोटे, कोमल-कान्त पदों, तथा मधुर एवं
प्रसन्न शब्दों का प्रयोग गीतों में अत्यन्त
श्रुतिमधुर झंकार उत्पन्न कर देता है
सामान्यतया इन गीतों में संस्कृत-निष्ठ
भाषा का ही व्यवहार हुआ है, यद्यपि
कुछ शब्द उर्दू के भी प्रयुक्त हुए हैं। सरल
तथा समास हीन शब्दों के प्रयोग के कारण
गीतों में झरने का सा प्रवाह एवं अनोखी
गतिशीलता आ गाई है। गीतों की लय और
आन्तरिक तुकान्तता के कारण मन मुग्ध
हो जाता है । श्री हरिभाऊ उपाध्याय
के शब्दों में--"यदि प्रसन्नता, सजीवता,
प्रभावोत्पादकता कविता का प्रधान गु
है, तो सोहनलाल जी इस में लाजवा
हैं।" श्री सोहन लाल द्विवेदी की कवि
के भावपक्ष एवं कलापक्ष के विषय
कविर श्री सुमित्रा नन्दन 'पंत' ने जो सा
गर्भित विचार व्यक्त किये हैं, अन्त
उनको उद्धृत करने का लोभ मैं संवर
नहीं कर पा रहा हूँ :--"उनकी कवि
सुविज्ञ साहित्यिकों की ही नहीं, जन
जनार्दन की भी प्रिय वस्तु है। उन
सरल, प्रसादमयी भाषा, सहज भावुक
सुबोध-कल्पना तथा विश्वास और भाव
मयी देश-भक्ति जनता के लिये विशेष
आकर्षक है।"
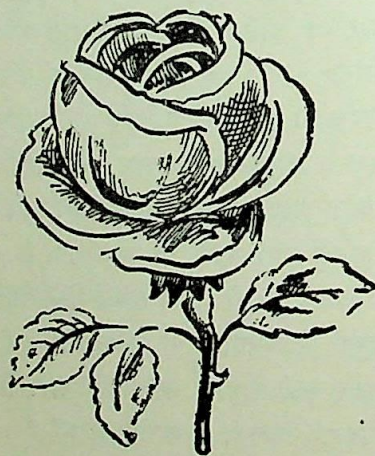
"बांगरू भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन"

प्रो० भगत सिंह वेदी

बांगरू या हरियाणवी भाषा पंजाब प्रान्त के बांगर या बांगड़ प्रदेश की एक प्रादेशिक भाषा है जिसका विकास और शौर सेनी के पश्चिमी अपभ्रंश रूप से हुआ। साहित्य वाचस्पति डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने इसे जानपद हिन्दुस्थानी या प्रादेशिक हिन्दुस्तानी की संज्ञा से अभिहित किया है जिसका प्रयोग हिसार, जींद, रोहतक, करनाल, अम्बाला और पटियाला के कुछ भागों में एवं दिल्ली के निकटवर्ती इलाकों मे किया जाता है। इसके उत्तर में अम्बाला, पश्चिमोत्तर में पटियाला, दक्षिण-पश्चिम में हिसार और पूर्व-दक्षिण में गुड़गांवा है। चूंकि इस समूचे प्रदेश को हरियाणा-प्रान्त भी कहते हैं, इसलियें प्रान्त विशेष की दृष्टि से इसे हरियाणवी, देसड़ी या देसवाड़ी भी कहा जाता है। दिल्ली के निकटवर्ती चमारों की बस्तियों में प्रचलित होने के कारण इसे चमारू या चमरवा और करनाल रोहतक के वीर जाटों की बोली होने के कारण इसे जाटू नाम भी दिया जाता है। इसके बोलने वालों की संख्या २५ लाख के लगभग है।

शौरसेनी अपभ्रंश के अन्तर्गत तीन प्रमुख भाषाओं का उल्लेख मिलता है-- पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती भाषा-वैज्ञानिकों ने पश्चिमी हिन्दी की पाँच बोलियाँ मानी हैं :-- बाँगरू, बुंदेली, कन्नौजी, खड़ी बोली और ब्रज भाषा। अभिप्राय: यह है कि बांगरू भाषा का विकास पश्चिमी हिन्दी से हुआ है और इस लिये ध्वनि, रूप या पदादि पर उसके प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। हिन्दी की सब से बड़ी विशेषता यह है कि क्रियार्थक संज्ञा के प्रयोग से इसकी व्यंजना शक्ति द्विगुणित हो गई है जिस कारण अर्थ में तो स्पष्टीकरण हुआ ही है, साथ ही क्रिया रूप के लिये प्रत्याश्रित नहीं रहना पड़ता। इसकी दूसरी विशेषता व्यंजनात्मक ध्वनियों के स्पष्टीकरण और सरलीकरण में निहित है। हिन्दी की क्रियार्थक संज्ञा के अन्त में 'ना' का प्रयोग होता है--करना-- जबकि

बांगरू की असमापिका में 'णा' जोड़ दिया जाता है । इसकी व्यंजनात्मक ध्वनियां भी प्रायः वही हैं परन्तु महाप्राण ध्वनियों के उच्चारण में कुछ भिन्नता पाई जाती है। हिन्दी की ही भांति बांगरू भी । 'आकारान्त' प्रवृत्ति वाली भाषा है।

डा० ग्रियर्सन जैसे विद्वानों का विचार है कि बांगरू के रूप-अर्थ, वाक्य-गठन, ध्वनि और शब्द-समूह आदि पर पंजाबी, राजस्थानी और ब्रज-भाषा का प्रभाव है । आकारान्त प्रवृत्ति वाली पंजाबी में युग्म व्यंजनों का प्रयोग अधिक मात्रा में होता है और अघोष महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण भी विशेष रूप से कंठ्य नाली से होता है और बांगरू में भी । ऐसी महाप्राण ध्वनियों के विशिष्ट उच्चारण का मूल कारण यह है कि जब पद के आरम्भ में घोष-महाप्राण का सुर परिवर्तन होता है तो तो अनुदात्त सुरों का उदात्तीकरण हो जाता है । जब हकारात्मक पद के मध्यांत में स्वर अथवा व्यंजन का लोप हो तो ऐसा ही दूसरा परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में--तब पद में उदात्त की अपेक्षा अनुदात्त सुर आ जाता है । कहने का भाव यह है कि बांगरू भाषा में उदात्तानुदात्त सुर में जो परिवर्तन होता है या घोष अथवा अघोष महाप्राण ध्वनियों के उच्चारण में जिस विशिष्ट ध्वनि का प्रयोग किया जाता है, उसमें पंजाबी का प्रभाव निहित है । इसके अतिरिक्त 'णा' और 'ल' ध्वनियाँ दोनों भाषाओं में समान रूप से अधिक मात्रा में प्रयुक्त की जाती हैं। यद्यपि राजस्थानी की भाँति बांगरू 'ओकारान्त' भाषा नहीं है, तथापि उसकी अघोष 'ह', 'ल़' और मूर्द्धन्य ध्वनियों की प्रचुरता इसमें भी विद्यमान है । दोनों के सर्वनाम रूप भी प्रायः मिलते जुलते हैं जैसे :--

	बाँगरू	राजस्थानी
उत्तम पुरुष एकवचन		
कर्त्ता	मैं	मैं
विकारी	मेर	मेर
उत्तम पुरुष बहुवचन		
कर्त्ता	हम	हम
	हम, म्हारै	हम, म्हारै

जिस प्रकार राजस्थानी में 'श' 'स' में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार बाँगरू में भी । यकार का जकारादि में बदल जाना दोनों में समान रूप से पाया जाता है। राजस्थानी में 'न' की अपेक्षा 'ण' और 'ल' की अपेक्षा 'ल़' का प्रयोग अधिक होता है । यही प्रवृत्ति हमें बांगरू में भी देखने को मिलती है । अतएव कहा जा सकता है कि राजस्थान के सीमावर्ती इलाकों में--हिसार और गुड़गाँवा— बोली जाने वाली बाँगरू भाषा राजस्थानी की कुछ विशेषताओं को ग्रहण किए है।

पंजाबी और राजस्थानी के इलावा बाँगरू पर ब्रजभाषा का प्रभाव भी कहा

जाता है । ब्रजभाषा में 'ण' शब्द अपने ही वर्ग के व्यंजनों से पहले शब्द के बीच में अथवा स्वतन्त्र रूप से दो स्वरों के बीच मे मिलता है, जैसे 'कुण्डल' उसी प्रकार बाँगरू में भी——माणस । ब्रजभाषा के कई परसर्ग तो बांगरू मे ज्यों के त्यों मिल जाते हैं । उदाहरणार्थ सै, सैं, सूं, सौं, सों और ने, नै आदि । यद्यपि बाँगरु में ब्रज भाषा की भांति हकार लोप अधिक मात्रा में नहीं मिलते या बहुतायत से नहीं पाये जाते, तथादि इसमें जब ह-कार स्थानान्तरित होता है तो अपने से पूर्व अल्प-प्राण में महाप्राणत्व ला देता है ।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बाँगरू भाषा की जो सीमा निर्धारित की गई है, इसको सम्मुख रख डा० ग्रियर्सन के कथन को सही कहा जा सकता है, परन्तु जब हरियाणा प्रदेश की विशिष्ट हरियाणवी भाषा को लिया जाता है तो, ऐसा कहना उचित नहीं जान पड़ता । जैसा कि डा० नानक चन्द शर्मा का कथन है कि "हरियाणवी मुख्यतः ज़िला रोहतक और ज़िला हिसार के पूर्वी भाग में बोली जाने वाली उपभाषा है ।.......यह उपभाषा पंजाबी भाषा-भाषी क्षेत्र से बहुत दूर हट कर मिलने वाली उपभाषा है। विभाजन से पूर्व इस क्षेत्र के निवासियों के लिये पंजाबी एकदम अपरिचित भाषा थी, क्योंकि पंजाबी की किसी भी उपभाषा की सीमाएं हरियाणवी सीमाओं से नहीं टकराती।१ तालव्यीकरण के नियम के कारण बांगरू और हरियाणवी में अन्तर पाया जाता है । द्वित्व-विधान अथवा सुर-परिवर्तन को लेकर यह कह देना कि बाँगरू भाषा पंजाबी से प्रभावित है या इसमें मूर्द्धन्य ध्वनियों को तथा 'ल़' आदि के अधिक प्रयोग को देख कर इसे राजस्थानी से प्रभावित मान लेना और परसर्गों की समानता के कारण इसे ब्रज भाषा से प्रभावित कह देना, भाषा विज्ञान की दृष्टि से उचित नहीं । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि बांगरू भाषा का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है जिसमें द्वित्व-विधान और सुर-परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं । पंजाबी में जिस प्रकार घ्, ध्, म्, झ् आदि का उच्चारण किया जाता है, वैसा बाँगरू में नहीं । बाँगरू में संयुक्त स्वरों का ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार का सम्मिलित उच्चारण होता है लेकिन पंजाबी में नहीं । इसके अतिरिक्त बाँगरू और पंजाबी की क्रियाओं में भी बहुत कम समानता है। यही बात राजस्थानी और ब्रजभाषा के विषय में भी कही जा सकती है । राजस्थानी में अ-कार इ-कार

---

१. हरियाणवी, पंजाबी और मेवाती——डा० नानक चन्द शर्मा

में और उ-कार अ-कार में मिलता है, जैसे हिरण-हरिण और मानुष-माणस। परन्तु बाँगरू में ऐसा नहीं होता। राजस्थानी ओकारान्त भाषा है और बांगरू आकारान्त। इसी प्रकार ब्रज भाषा और बांगरू में भी पर्याप्त अन्तर है। ब्रज भाषा में 'ण' का प्रयोग बहुत कम मिलता है, प्राय: नहीं के बराबर है, यदि कहीं मिलता भी है तो शुद्ध 'ण' का, बोध न करा कर 'न' का बोध करता है, जबकि बांगरू में इसका प्रयोग अत्यधिक होता है। इसके अतिरिक्त दोनों के द्वित्व-विधान और व्यंजनों के समष्टिकरण में भी पर्याप्त अन्तर है। ब्रजभाषा में दो से अधिक व्यंजनों की समष्टि एक साथ नहीं आ सकती। हाँ, स्वर प्रयोग से ऐसी व्यंजन-समष्टि से बचा जा सकता है, परन्तु बांगरू में युग्म व्यंजनों का आम प्रयोग मिलता है।

पश्चिमी हिन्दी की खड़ी बोली की भाँति बांगरू भी एक जीवित भाषा है जिसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यह धीरे-धीरे वियोगावस्था की ओर जा रही है। कुछ वर्ष पूर्व बाँगरू के विषय में विद्वानों का मत था कि इसके स्वर और व्यंजन अनियमित रूप से उच्चरित होते हैं, परन्तु डा० शंकर लाल यादव और डा० नानक चंद शर्मा जैसे इस भाषा पर अनुसन्धान करने वाले विद्वानों ने उक्त मत का खंडन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि बाँगरू भाषा के स्वर और व्यंजन नियम-विशेष के आधार पर उच्चरित होते हैं। डा० शर्मा के मतानुसार —"हरियाणवी के स्वरों का उच्चारण विवृत एवं अपेक्षाकृत विलंबित है। इसके आ, ई, ऊ, ए और ओ, में से प्रत्येक स्वर के ह्रस्व और दीर्घ दो-दो उच्चारण हैं क्योंकि इस भाषा में दीर्घ स्वरों को ह्रस्व करने की और साथ ही ह्रस्वीकृत स्वर से अगले व्यंजन को द्वित्व करने की प्राकृत भाषाओं वाली प्राचीन प्रवृत्ति आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान है।"[१] बांगरू भाषा का सब से बड़ा महत्त्व इस बात में निहित है कि ऐसी ही बोलियों के आधार पर आधुनिक सशक्त साहित्यिक खड़ी बोली के व्याकरण का निर्माण हुआ है। जैसा कि डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने कहा है कि —"प्रादेशिक जनपद हिन्दुस्तानी में पश्चिमी उत्तर-प्रदेश तथा पूर्वी पंजाब के क्रमश: रूहेल खंड एवं मेरठ डिवीज़न तथा अम्बाला ज़िले की बोलियां तथा उनके निकट वर्ती प्रदेश—करनाल, रोहतक के कुछ भाग, पैप्सू-राज्य के कुछ भाग तथा जमुना के पश्चिमी तट पर के लगभग सारे दिल्ली इलाके में बोली जाने वाली बाँगरू बोली सम्मिलित है। इन भाषाओं को बुनियाद बना कर खड़ी बोली — हिन्दुस्तानी, नागरी हिन्दी तथा उर्दू के व्याकरण का निर्माण हुआ।"[२]

१. हरियाणवी और उसका शब्द-कोष—डा० नानक चन्द शर्मा
२. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी —डा० सुनीति कुमार चैटर्जी पृष्ठ १८०

'श्री गुरु नानक सूर्योदय : विचारात्मक परिचय

पुरुषोत्तम शर्मा

आदिकाल से ही 'सप्तसिन्धु' और 'पंचनद' के नामों से प्रसिद्ध पंजाब की इस महिमामयी भूमि के कण-कण में काव्य है। इसका सुरम्य एवं उन्मुक्त वातावरण, रम्य एवं उर्वरा भूमि, कल-कल, निनादिनी सरिताएं एवं उनके तटवर्ती वन्य-प्रदेशों की मोहक छटा तथा उल्लास एवं उत्साहपूर्ण जन-जीवन स्वतः ही साहित्य-सर्जन की प्रेरणा देते हैं। पंजाब के जन-जीवन में पग-पग पर गीत है, ताल है, लय है और है छन्द। विश्वव्यापिनी छन्दोधारा जोकि अखिल सृष्टि के कण–कण में व्याप्त है, वह अनायास ही पंजाब के वायुमण्डल में हिल्लोलित हो रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व लगभग सात-आठ शताब्दियों तक सम्पूर्ण आर्यावर्त में पंजाब का स्थान प्रत्येक दृष्टि से अग्रगण्य रहा है। इस अवधि में पंजाब (तत्कालीन सप्तसिन्धु अथवा पंचनद) ही भारतवर्ष का सर्वाधिक प्रबुद्ध जागरूक एवं प्रगतिशील प्रदेश था। इसीलिये तत्कालीन साहित्य में पंचनद की विपुल महिमा एवं गौरव का अखंड गायन मिलता है। भारतीय अध्यात्म-विद्या का आदि-केन्द्र यह प्रदेश साहित्य-सृजन में भी अग्रणी रहा है। असंख्य अवर्णनीय संघर्षों तथा युद्धों के प्रतिपल वर्द्धनोन्मुख गगनभेदी डिंडिम निनादों के बीच भी, जबकि साहित्य-सृजन एवं अनासक्ता-चिन्तन लुप्तप्रायः हो जाते हैं, साहित्य-साधना तथा ज्ञान मन्दाकिनी दोनों ही अजस्र गति से इस पुण्यशीला वसुधा पर प्रवाहित होती रही हैं। आर्यवाणी के मण्डलों एवं ऋचाओं के पीछे पंजाब प्रान्त की पृष्ठभूमि के दर्शन आज भी किये जा सकते हैं। वैदिक ऋचाओं में शब्द-संयोजन एवं स्वरलहरियों के साथ उठती हुई शतद्रु, विपाशा तथा सरस्वती की वीचियों को आज भी गिना जा सकता है। तथ्यात्मक दृष्टि से देखने पर भी इस चौंकाने वाले सत्य को स्वीकारना ही होगा कि हिन्दू-जाति, हिन्दुत्व

एवं हिन्दू-संस्कृति --इन सब का जन्म एवं विकास इसी मनोहारिणी एवं स्व-नामधन्या भूमि पर हुआ । एक दृष्टि से भारतीयता का बीजवपन यहीं पर हुआ और तदनन्तर सम्पूर्ण आर्यावर्त में उसका विस्तार हुआ । ऋग-वैदिक वीर पुरुकुत्स तथा दिवोदास की जन्मभूमि भी यही है। उपनिषदों के ललित-गम्भीर छन्दों तथा ब्राह्मण-साहित्य की मनोहर विवरण परम्परा में भी इस प्रदेश का यशोगान किया गया है। यह वही भू-भाग है जिसे आर्य-कुल के निवास एवं विकास के लिये उनके आराध्य सुरपति वज्रपाणि ने उन्हें प्रदान किया था। उस समय इसका नाम 'सप्तसिन्धु' था । ऋगवेद में इस घटना का उल्लेख मिलता है । १ 'सप्तसिन्धु' अर्थात् सप्त नदों द्वारा वलित एवं अभिसिंचित प्रदेश। ऋगवेद में कितने ही अन्य स्थानों पर भी 'सप्तसिंधु' नाम का उल्लेख मिलता है । उदाहरणत: –

सुदेवो यस वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः ।
. ..क्षन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषारमिव ।।

वैसे भी "वैदिक प्रमाणों ऐतिहासिक अन्वेषणों, धार्मिक अभिमतों, तथा विभिन्न विचारों से यह सहज सिद्ध है कि सचमुच पंजाब हिन्दू-जाति एवं हिन्दू संस्कृति का आदि स्थान है।" २ पंजाब की सभी परम्पराएं--सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, तथा धार्मिक निजी है, आदि हैं, तथा गौरवमयी हैं। पंजाब सच्चे अर्थों मे भारतीय जनजीवन के सभी पक्षों का 'गुटका-संस्करण' है ।

पंजाब आरम्भ से ही विभिन्न धर्मों, साधनाओं तथा सम्प्रदायों की कर्मभूमि रहा है । भारतीय इतिहास के मध्यकाल में अत्याधिक विदेशी आक्रमणों से आक्रान्त भारतीय जन-मानस की वृत्ति धर्मोन्मुखी हो गई थी । यह वही समय है जिसे हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने 'भक्तियुग' की संज्ञा से अभिहित किया है। यही वह काल है जब देश में विभिन्न धार्मिक धाराओं, उपधाराओं एवं सम्प्रदायों की बाढ़ आ गई थी, ईश्वर के निर्गुण और सगुण रूपों की आराधना का आरम्भ हुआ। इसी काल में, पंजाब की इस धरा पर सिक्ख-धर्म के आदि-प्रवर्तक गुरु नानकदेव का अवतरण हुआ। यही वे संत नानक हैं, जिन्हे 'श्री गुरु नानक सूर्योदय' के कवि बाबा गणेश सिंह वेदी ने अपनी अप्रतिम काव्य रचना का कथानायक बनाया है, और

---

१. अहम् भूमिमाददामार्य्यायाहं वृष्टिं दादुषे मर्त्याय । --ऋगवेद ४।२६।२
२. पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास : चन्द्रकान्त बाली, पृष्ठ ६ ।

जिसका विचारात्मक परिचय प्रस्तुत करना ही इस निबन्ध का मूल उद्देश्य है।

स्वयं सिक्ख-मत के अनुयायी तथा इसके प्रवर्तक के समीपस्थ वंशज कवि गणेश सिंह वेदी की यह रचना ब्रज-भाषा एवं गुरुमुखी लिपि में लिखित एक वरेण्य एवं अनुपम ग्रन्थ है। सिक्खों के आद्याचार्य संत नानक के जीवन-चरित के आधार पर कवि ने 'गुरु नानक सूर्योदय' नामक इस विस्तीर्ण-वपु ग्रंथ का प्रणयन किया है। कवि वेदी के ग्रंथ के कथानायक संत नानक मध्यकालीन भारतीय संत-परम्परा के उज्ज्वल रत्न हैं। "इन संतों की ज्योतिष्क मंडली में गुरु नानक देव ऐसे सन्त हैं जो शरत्काल के पूर्णचन्द्र की तरह ही स्निग्ध, उसी प्रकार शान्त निर्मल, उसी प्रकार रश्मि के भण्डार। कई सन्तों ने कस-कस के चोटें मारीं, व्यंग्य बाण छोड़े, तर्क की छुरी चलाई, पर महान गुरु नानाक देव ने सुधालेप का काम किया। यह आश्चर्य की बात है कि विचार और आचार की दुनिया में इतनी वड़ी क्रान्ति ले आने वाला यह सन्त इतने मधुर, इतने स्निग्ध इतने मोहक वचनों को बोलने वाला है। किसी का दिल दुखाए बिना, किसी पर आघात किये बिना, कुसंस्कारों को छिन्न करने की शक्ति रखने वाला, नई संजीवनी-धारा से प्राणिमात्र को उल्लसित करने वाला, यह संत मध्यकाल की ज्योतिष्क मण्डली में अपनी निराली शोभा से शरत् पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह ही ज्योतिष्मान है।........वह सब प्रकार से लोकोत्तर है। उसका उपचार प्रेम और मैत्री है। उसका शास्त्र सहानुभूति और हित-चिन्ता है। वह कुसंस्कारों के अंधकार को अपनी स्निग्ध ज्योति से भेदता है। मुमुर्ष प्राणधारा को अमृत का भाण्ड उड़ेल कर प्रवाहशील बनाता है। वह भेदों में अभेद देखता है, नानात्व में एकत्व का संधान बताता है, वह सब प्रकार सें निराला है।"[१] संक्षेप मे यही नानक का महत्त्व है। इस प्रकार के पुण्यश्लोक महामानव को यदि 'गुरु नानक सूर्योदय' के प्रणेता ने अपने काव्य का नायक बनाया है, तो कोई अभूतपूर्व कार्य नहीं किया। क्योंकि इस काव्य में जो पद नानक को प्रदान किया गया है, वे सर्वथा उसके अधिकारी हैं, और योग्यता का सम्मान कभी भी अभूतपूर्व एवं अद्भुत नहीं हुआ करता। संत नानक सचमुच ही उस उदात्त एवं महान् सम्प्रदाय के संस्थापक हैं जिसकी मूलभूत भावना 'कर्मयोग' है, जिसके बाह्याभ्यंतर दोनों ही पक्ष ईशाराधन, तत्त्वचिन्तन तथा आध्यात्मिक जीवनोन्मेष में समाहित हैं। ऐसे महापुरुष के

१. कुटज (निबन्ध संग्रह); आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, 'गुरु नानकदेव' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ १२१–१२२।

यशोमय जीवन-चरित ... रचना हुई है। गुरु नानक सूर्योदयाकार ने भी उसी सनातन कथा का गायन करते हुए काव्यात्मक दृष्टि से उसे नवीन स्वर एवं रूप दिया है और साथ ही अपनी मननशीला कवित्व-प्रतिभा एवं वर्चस्विनी शैली के माध्यम से इस 'आदि-कथा' के 'जुग जुग अटल' होने की साक्षी दी है।

के लिये कोटि-कोटि ग्रन्थों का निर्माण होना चाहिए, 'गुरु नानक सूर्योदय' तो ऐसी ग्रंथ-परम्परा की एक कड़ी मात्र है।

सिक्ख-साहित्य में 'जन्मसाखी-साहित्य' का विशेष महत्त्व है। मनोरंजक कथाओं से भरपूर साखी-साहित्य में पग पग पर गुरुओं के व्यक्तित्व की अलौकिकता, एवं उनकी चमत्कार-प्रदर्शिनी शक्ति का अद्भुत विवरण मिलता है। इस कोटि के साहित्य में सिक्ख गुरुओं को सहज मानवीय धरातल से उठाकर सीधे अवतारों की पंक्ति में लेजा कर खड़ा कर दिया गया है। गुरुओं के व्यक्तित्व के सहज मानवीय गुण अतिमानवीय हो गए हैं। विवेच्य ग्रन्थ भी सिक्खों के समृद्ध साखी साहित्य की एक मूल्यवान निधि है। परन्तु वास्तव में 'साखी' शब्द का तात्पर्य क्या है? आचार्य प्रवर द्विवेदी जी ने 'साखी' को 'साक्षी' के अर्थ में प्रयुक्त माना है।[१] साखी (साक्षी) अर्थात् पूर्ववर्ती वृत्तों पर परवर्ती विद्वान कवियों की गवाही। 'गुरु नानक सूर्योदय' पर साखी की यह परिभाषा पूर्णतः सटीक बैठती है। संत नानक के सनातन जीवन-चरित को लेकर न जाने कितने चरित काव्यों की

'गुरु नानक सूर्योदय' के कर्ता कवि गणेश सिंह वेदी के जीवन-वृत्त सम्बन्धी अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। किन्तु फिर भी पंडित चन्द्रकान्त वाली प्रभृति विद्वानों के ग्रन्थों एवं 'गुरु नानक सूर्योदय' में आए कवि के आत्मकथनों के आधार पर उनका जीवन वृत्त तो निश्चित किया जा सकता है, किन्तु जीवन काल नहीं। कवि बेदी गुरु नानक की ही वंश-परम्परा के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका जन्मस्थान सिक्खों का प्रसिद्ध तीर्थ एवं 'खालसा' की जन्मभूमि आनन्दपुर साहिब (पंजाब) था। कुछ काल पर्यन्त वे यहीं रहे और तदनन्तर सम्भवतः राजाश्रय की अभिलाषा से बिलासपुर (वर्तमान हिमाचल-प्रदेश) चले गये। 'गुरु नानक सूर्योदय)' में यह तथ्य स्पष्ट रूप से वर्णित है।[५] किम्वदंती है कि रससिद्ध कवीश्वर होने के साथ-साथ वे उच्चकोटि के सं...

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ४२।
५. 'कवि गृह प्रिथम अनंदपुर अब बिलासपुर बासा।' ——छं० स० १८, पृष्ठ ३।

और संभवतः उदासी सम्प्रदाय में दीक्षित थे । यह कहना कठिन है कि बिलासपुराधीश ने उनकी विलक्षण कवित्व प्रतिभा एवं वैदूषय से प्रभावित होकर उन्हें आश्रय दिया था अथवा उन‌के संत-व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वे उनके श्रद्धालु बन गये थे । परन्तु कवि बेदी ने जिस अतिश्योक्ति, अन्योक्ति एवं चाटुकारितापूर्ण शैली में अपने आश्रयदाता की प्रशंसा की है, उससे तो उनके 'भूषण परम्परा' के किराया लेकर प्रशंसा-गीत लिखने वाले कवि होने की भ्रान्ति ही अधिक होती है ।१ कवि लिखित राज-स्तुति इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि बिलासपुर दरबार में वे कवि के रूप में ही अधिक प्रतिष्ठित थे ।

गुरु नानक सूर्योदय के आरम्भिक छन्दों में कवि ने अपने वंश का विस्तृत परिचय देते हुए स्वयं को गुरु नानक का वंशज सिद्ध किया है।२ इसके साथ ही कवि ने वेदीकुल की महिमा का गायन करते हुए अपने अनुजत्रय --हरिसिंह, शक्तिसिंह तथा श्यामसिंह एवं सुतद्वय--- गजेन्द्रसिंह और मातंगसिंह का परिचय भी दिया है । कवि की इच्छा सम्भवतः तनिक विस्तृत रूप में वेदी-वंश का यशोगान करने की थी, परन्तु विस्तारमय से उन्हें थोड़े में ही सन्तोष कर लेना पड़ा ।३

---

१. 'सुमति सुधीर बीर बांकुरो उदार महा संभुज मृगंद धरा लीनो तोल तकरी ।
प्रबल प्रताप कौ बखाने नृप हीराचंद पेखकर कौन कीन छाती धकधकरी ।
विक्रम ते बीस पांडु पूत ते पचास गुनी नीति सुरराज ते सहसर गुनी पकरी ।
पेख सब चकरी रही न काहु अकरी किए हैं सब जकरी समान बाघ बकरी ।।
--छं० सं० २०७ पृष्ठ ३ ।

२. "गुरु नानक सुत सिरी चंद लखमी सुचंद गान ।
लखमी चंद को धरम चंद तिहि मानक ससी भान ।।
ताहि दातार मयंक ताहि तारा ससी जानो ।
दुनीचंद के राम कौर तिहि अरजन मानो ।।
गुर हरदास तांके भए तिहि सिरी गंडासिंह बरा ।
तिहि सुत कवि गणेश सिंह नमो सबन कर जोर करा ।। --छं सं० १५, पृष्ठ ३ ।

३. 'करामात के धनी सब बेदी कुल मति चारा ।
ग्रन्थ बढ़न ते नहीं भने गुन गनं ताहि अपारा ।।
तीन सहोदर और मम सुनो नाम तिन केरा ।
हरीसिंह अरु सकतीसिंह स्याम सिंह लघु हेरा ।।
कवि गृह प्रिथम अनंदपुर अब बिलासपुर बासा ।
सिंह गजेन्द्र मतंग सिंह दोई तनज सुख रासा ।।'
।छं० सं० १६,१७, १८, पृष्ठ ३ ।

पुस्तक का अध्ययन करते समय अध्येता के मन में स्वाभावतः ही इसके लेखन की मूलभूत-प्रेरणा के सम्बन्ध में भी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। कवि वेदी ने इस जिज्ञासा का समाधान स्वयं ही प्रस्तुत कर दिया है। १ उसके साथ ही उन्होंने एक छन्द में स्वयं को शास्त्र-ज्ञान-विहीन घोषित करके परम्परागत भारतीय विनम्रता का भी पालन एवं प्रदर्शन किया है, ठीक बाबा तुलसीदास की ही भान्ति।

'गुरु नानक सूर्योदय' का रचना-काल संदिग्ध है। फिर भी इसके प्रकाशन-काल के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका प्रणयन या तो विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अथवा बीसवीं शताब्दी (विक्रमी) के आरम्भिक वर्षों (लगभग प्रथम दशक) में हुआ होगा। यह रचना बिलासपुराधीश राजा हीराचन्द के शासन काल में लिखी गयी। कवि गणेश सिंह इसी नरेश के आश्रित थे। इसलिये इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण का प्रकाशन स्वयं राजा हीराचन्द के प्रयत्न स्वरूप 'रघुनाथ प्रेस जम्मू' से हुआ। दूसरे संस्करण का प्रकाशन-कार्य गुरु नानक सम्वत् (नानकशाही) ४२६, विक्रमी सम्वत् १९५२ में, 'चश्मेनूर यंत्रालय अमृतसर' से बिलासपुरपति महारज हीराचन्द के पौत्र महाराज विजयचन्द के संरक्षण में सम्पन्न हुआ। स्वयं प्रकाशक, ने इस तथ्य का उल्लेख किया है। २ पुस्तक सुन्दर एवं

---

१. 'निसचै लोक प्रलोक को वहै वसीठा चीना।
कवि संभुज हरि जासु गुन रीठा मीठा कीना।।
तिहि गुन गाथा कहन को उपज्यौ रिदे उमंगा।
तांते पूर्व ग्रन्थ लख बरनत कछुक प्रसंगा।।
छंद रीति रस धुनि को नाहि न कछु विचारा।
जिहि चूक परै तहा कवि जन लेहु सुधारा।।
मो मति जड़ बानी विरस गुरु विमल सुरंगा।
कबहूँ बाहनि सोभ है कांच पाच को संगा।।'

छं० सं० २१ से २४, पृ० ३,४

२. इह श्री गुरुनानक सूर्योदय जन्म साखी कृत बाबा गणेस सिंह जी बेदी पहिले राजा हीराचन्द जी महाराज नै जम्मू रघुनाथ प्रैस में छपाई सी—अब दूसरी बार तिनां दे पोतरे महराज राजा विजैचन्द जी वाली रियासत बिलासपुर नै यंत्रालै चसमै नूर प्रेस सिरी अमृतसर में लाला नरसिंह दास मालक मतबा के अधिकार मैं छपवाई।। सु० संमत सिरी गुरु नानक जी का ४२६ वि० १९५२ चैत्र २०।

—पुस्तक के आरम्भ से उद्धृत।

सुवाच्य अक्षरों में तथा लिथो में छपी है। भाषा इसकी शुद्ध एवं साहित्यिक व्रज है। कहीं-कहीं संस्कृत, फ़ारसी तथा पंजाबी शब्दों का भी गहरा पुट है। लिपि गुरुमुखी है। पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के पुस्तकालय में इसके द्वितीय संस्करण की लगभग तीन प्रतियां उपलब्ध हैं।

पुस्तक के आरम्भ में ही 'स्कन्दपुराण' तथा 'भविष्यत पुराण' के श्लोकों के सानुवाद प्रस्तुतिकरण के द्वारा सन्त नानक को कलि-दोष निवारणार्थ अवतरित ईश्वरीय अवतर सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। १

कवि वेदी मूलत भक्त कवि हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में ही अन्य भक्ति-काव्यों की भान्ति मंगलाचरण के रूप में मुख्यतः गणेश, सरस्वती, शिव, इन्द्र, चन्द्रमा, नक्षत्र, गण, सूर्य, वरुण, कुबेर, भूमा, शेषनाग, नर, दानव तथा सरस्वती, यमुना और गंगा आदि नदियों की वन्दना की गई है। २ सरस्वती-वन्दना के छंद में ही कवि की अपूर्व कवित्व-मेधा का परिचय मिलता है।

"हंस गति अवतंस सजे हरी अंस हिमंस
प्रभा सुख रासा।
खीन कटी कुच पीन कृसोदरि हीरन सों
रद प्रात प्रकासा।।
बोध मति अवरोध सदा सुख वारधि
सारद नाम है जासा।
कोकल वैन लिये कर वैन करो कवि वैन
निवास प्रकासा।। ३

गुरुकुल (गुरु-वंश) की परम्परा में उत्पन्न होने के कारण कवि वेदी उसके अनन्य भक्त हैं, और उसमें भी प्रथम तथा दशम गुरु के। इस तथ्य का प्रमाण इस गुरुयुगल की प्रशस्ति में लिखे गए उनके छन्द हैं। ४ इस के साथ ही लगभग पांच दोहों में सम्पूर्ण गुरुकुल को औपचारिक नम्न५ किया गया है।

यह जीवन-चरितात्मक काव्य ५६० पृष्ठों की विस्तीर्ण-वपु रचना है। संत नानक के जन्म से स्वर्गारोहण तक का

१. कलिदोषहत प्रज्ञलोकस्योद्धारहेतवे ।
क्षत्रियाणां कुलश्रेष्ठद्वेनानकेमि स्वनामतः ।।
तथा--
पश्चिमेतुश्रमेदेशेवेदीवंशेच नानक । आदि दृष्टव्य हैं।
२. देखिए, छन्द संख्या १ से १४, पृष्ठ १ से ३।
३. छन्द संख्या ३, पृष्ठ १।
४. देखिए, छन्द संख्या ७ तथा १४, पृष्ठ २, ३।
५. देखिए, छन्द संख्या ८ से १२, पृष्ठ २।

सम्पूर्ण एवं विशद् वृत्तान्त लालित्ययुक्ता छन्दोबद्ध भाषा तथा तत्कालीन लगभग सभी प्रचलित छन्दों में, प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थ दो खण्डों में विभाजित है--पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध । दोनों ही खण्डों में कुल मिला कर १२३ प्रसंग हैं, ६५ पूर्वार्द्ध में और ५८ उत्तरार्द्ध में। पूर्वार्द्ध का आरम्भ 'मंगलाचरण' से तथा अन्त सन्त नानक के 'हरि दर्शन-प्रसंग' से होता है । उत्तरार्द्ध में 'रिखियन प्रसंग' से लेकर 'सिरी गुरु जी को सचखंड पयान' तक की कथा वर्णित है। लगभग २१५० विभिन्न छंदों में नानक के पुण्य-चरित का गायन किया गया है ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में कवि के निजी व्यक्तित्व की प्रछन्नता इस ग्रन्थ के प्रणेता की निजी और महान उपलब्धि है। इसी उपलब्धि के अर्जन के लिये ग्रन्थ के आरभ में ही गुरु नानक के अभिन्न सखा भाई बाला, अपूर्व भक्त भाई लालो तथा द्वितीय गुरु अंगद देव से सम्बन्धित एक कथा जोड़ कर 'कथावाचक' की योजना का विधान कर दिया गया है । पर्दे के पीछे बैठा निर्देशक--कवि अपने इन योजित पात्रों के मुख एवं कर्णों से क्रमशः नानक-चरित का गायन एव श्रवण करवाता है।१ मुझे लगता है कि इस प्रकार के उप-कथा विधान की प्रेरणा अवश्यमेव मानसकार से ग्रहण की गई है ।

ग्रन्थ के पुर्वार्द्ध का स्वर मुख्यतः कथात्मक, ललित, काव्यात्मक, वर्णन-प्रधान एवं पौराणिक है । स्थान-स्थान पर नानक कृत अलौकिक, अतिमानवीय एवं अवतारोचित घटनाओं का समावेश है। कवि द्वारा वर्णित संख्यातीत अलौकिक घटनाओं के विवरण के प्रभाववशात् ज्यों-ज्यों काव्य के आकार में विस्तार आता जाता है, त्यों-त्यों 'जन-नानक' सिद्धत्व की ओर बढ़ते जाते हैं। पूर्वार्द्ध के अन्त तक आते-आते नानक का सरस व्यक्तित्व ज्योतिस्वरूप के अंश से युक्त मानव के महनीय एवं परमोच्च व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेता है । इस खण्ड का स्वर मूलतः अलौकिकता-युक्त एवं कथात्मक होते हुए भी कतिपय प्रसंग इसमें विशेषतः द्रष्टव्य हैं । जिनमें--'गोपाल पांधे को । उपदेस प्रसंग, मुलाणे उपदेस प्रसंग, मूले का प्रसंग, नवाब को प्रसंग, मसीत को प्रसंग, सरोतन संदेह प्रसंग, बुलार प्रसंग, मक्का मदीना प्रसंग, सिद्धन संग चर्चा प्रसंग, बराह अवतार प्रसंग' आदि प्रमुख हैं।

---

१. देखिए, छं० सं० २ से २६ तक, प्रसंग संख्या, २, पृष्ठ ५, ६।

उत्तरार्द्ध [illegible] अपेक्षा अधिक है । काव्यात्मक दृष्टि से भी और विचार एवं चिन्तन की दृष्टि से भी । विचार-गाम्भीर्य-सिक्ख-दर्शन के प्रतिपादन के बाहुल्य एवं पौराणिकता के आभाव के कारण यद्यपि यह खंड तनिक नीरस सा प्रतीत होता है, फिर भी यह महत्त्वपूर्ण है । इस खण्ड में कवि ने नानक की विचारधारा को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देकर तथा सिक्ख सिद्धान्तावली का प्रतिपादन करते हुए तत्कालीन अन्य सभी मत-मतान्तरों एवं साधनाओं पर सिक्ख–धर्म की विजय का प्रदर्शन किया है ? इस खंड का प्रत्येक छंद निगूढ़ दार्शनिक विवेचन का प्रतिनिधि है । विचार के उस नीरस क्षेत्र में भी कवि अपनी ओजस्विनी एवं प्रवाहमयी भाषा के बल पर निर्द्वन्द्व विचरण करता है । दार्शनिकता के प्राबल्य ने काव्यात्मक सरसता को यहां दबा दिया है। पूर्वार्द्ध जैसा अखण्ड शब्द प्रवाह भी यहां नहीं है । किन्तु गुरु नानक सूर्योदय का कवि सचेतन एवं मनस्वी कलाकार है। खण्डन-मण्डन पद्धति से काव्यगत लालित्य की रक्षा करने के लिये उसने 'संमूर्तन-कौशल' का आश्रय लिया है। 'रिखियन प्रसंग, नानक म े प्रसंग, तथा सिद्धन-चर्चा प्रसंग ' आदि गम्भीर प्रसंग में निर्गुणमार्गी भक्तिधारा के गूढ़तम तत्वों एवं रहस्यों का विवेचन

[illegible] मानस में नानक साहित्य के उस द्वारा किए गए गम्भीर अध्ययन के प्रभाववशात्, सूक्ष्मतम प्रश्न उठते हैं। विशुद्ध दार्शनिक शब्दावली में चिन्तनधारा तरङ्गित होती है। एक पर एक सूक्ष्म विचार आते हैं, साम्प्रदायिक साहित्य के उद्धरणों के माध्यम से गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन किया जाता है, समकालीन (नानक की) साधना पद्धतियों की विवेचनात्मक चर्चा होती है । परन्तु ऐसे नीरस स्थलों पर आकर विशुद्ध काव्य-रसिक पाठक को भी अरूप एवं गूढ़ चिन्तन का बोझ नहीं झेलना पड़ता । अपने संमूर्तन कौशल एवं अलंकार-पटुता के बल पर कवि मनोहारी शब्दचित्तों एवं अलंकार-युक्त रुचिरा शब्दावली की शृंखलाएं खड़ी कर देता है । इस तथ्य के उदाहरण रूप में 'सिद्धन- चर्चा प्रसंग' को लिया जा सकता है । उस प्रसंग में गोरक्ष तथा मत्स्येन्द्र के अनुयायियों पर सिक्ख–साधना की विजय का वर्णन है। संत नानक की यह विजय वस्तुतः जटिल-योग पर सहज-साधना की विजय है। किन्तु इससे पूर्व कि इस प्रसंग को आगे बढ़ाया जाए । नानक के समकाली मुख्य प्रतिद्वन्द्वी सिद्धों के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त विचार कर लेना आवश्यक है। "जालन्धरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और कृष्णपाद के प्राप्य ग्रन्थों से उद्धरण देकर यह

सिद्ध किया जा सकता है कि ये लोग वेदों की परवा करने वाले न थे । इन सबके शिष्य और अनुयायी भारतीय धर्मसाधना के इस उथल पुथल के युग में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विचार इतने भ्रष्ट थे कि वे किस प्रकार के योग-मार्ग का अंग बन ही नहीं सकते थे, उन्हें उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया । शिवजी के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए ! वे निश्चय ही बहुत पुराने थे ।"१ सिद्ध-साहित्य हिन्दी साहित्य के इतिहास में दशम से त्रयोदश शताब्दी तक लिखित भारतीय धार्मिक-साहित्य का प्रतिनिधि है ।"सिद्धों ने बौद्धों के कठिन साधनात्मक जीवन के स्थान पर मानवीय जीवन के सहज भोगमय रूप को ही अपना आदर्श माना। ब्राह्मणों के वर्णाश्रम- धर्म में भी उन्होंने अविश्वास प्रकट किया । वेदों और शास्त्रों में विश्वासी होने के स्थान पर उन्होंने आत्मानुभूति और उससे भी बढ़ कर सहजानुभूति पर विश्वास प्रकट किया । ब्राह्मणों के विरोधी सिद्धों ने बौद्धों से भी अलग अपना मार्ग प्रशस्त किया ।'२' सिद्ध-मत ने अपने परवर्ती सम्प्रदायों पर अपनी विचारधारा की अमिट छाप लगा दी । यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है । किन्तु इसमें कतिपय दोष भी थे । "....परन्तु उसमें बड़ी त्रुटि यह थी कि एक तो उसमें रागात्मिकता वृत्ति के उदात्तीकरण का प्रयास नहीं था, दूसरे ये सिद्ध अपने को जन-समूह से अलग समझने की वृत्ति का शिकार थे ।३

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि सिद्ध तथा नाथ मत दो भिन्न सम्प्रदाय हैं तथा इनमें मौलिक एवं सैद्धांतिक मतभेद हैं। किन्तु यह कहना बड़ा कठिन है कि सिद्ध-मत तथा नाथ मत में मौलिक अन्तर क्या है । "परन्तु इतना स्पष्ट है कि पुरानी पोथियों में नाथ-सम्प्रदाय को सिद्ध-मत कहा जाता था " ४ वस्तुतः सिद्ध-सम्प्रदाय भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में एक क्रान्तिदर्शी सम्प्रदाय के रूप में आया । ऐसा सम्प्रदाय जो विधि-विधानों से दूर, आत्मानुभूति एवं धक्कड़ साधना का विश्वासी तथा

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ८१ ।
२. पंजाब का धार्मिक साहित्य (द्वितीय भाग) : प्रो० सत्यपाल रणदेव तथा डा० धर्मपाल मैनी, पृष्ठ १० ।
३. कुटज (निबन्ध संग्रह) ; आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १२६ ।
४. नाथ सम्प्रदाय : (आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७९ ।

'कायागढ़' विजित करने के लिये प्रयत्न-शील रहा है। 'कायागढ़' की विजय ही उसकी सिद्धि है। इसी विजय के माध्यम से सिद्ध-सम्प्रदाय के अनुयायी परमशक्तिमय का सामीप्य पाने में विश्वास करते हैं। उनकी पूजा अर्चा मानसिक विकारों के शमन तथा सहज एवं क्लिष्ट दोनों ही प्रकार की साधनाओं के द्वारा जितेन्द्रिय बनने तक ही सीमित है। यह ठीक है कि सिद्धों के साधनात्मक साहित्य में इन सभी बातों की चर्चा तनिक अटपटी असामाजिक तथा कहीं-कहीं घोर शृंगारिक शब्दावली में की गई है। किन्तु उसकी यह शब्दावली प्रतीकात्मक है और अर्थ सांकेतिक। कुल मिला कर कहा जा सकता है कि एक क्रांतिकारी सम्प्रदाय होते हुए भी सिद्ध-मत सात्विक साधना से च्युत, वेद विरोधी, सामाजिक मान्यताओं एवं आचारात्मक मूल्यों का अस्वीकर्ता, फक्कड़, धक्कड़ एवं किसी सीमा तक मुसटण्ड श्रेणी के साधुओं का सम्प्रदाय रहा होगा। परवर्ती-काल मे गोरक्ष (गोरख) द्वारा इसमें कतिपय सुधार भी किये गए और सिद्धांतों का स्तर भी निश्चित किया गया, ऐसा प्रतीत होता है।

'गुरु नानक सूर्योदय' में आए सिद्धन चर्चा प्रसंग में सहज-साधक नानक को ऐसे ही बलशाली एवं अवधूत सम्प्रदाय से टक्कर लेनी पड़ी थी। इस बात का उल्लेख पहले भी हो चुका है। इस टक्कर में सिद्धों के जटिल एवं असामाजिक दर्शन तथा कुण्डली एवं सहस्त्रात्र चक्रों वाली क्लिष्ट-सिद्ध-साधनाओं का खण्डन नानक ने केवल 'राम-नाम' का महत्व प्रतिपादित करते हुए किया है। इस खण्डन से अनेकानेक गुत्थियां खुली हैं। किन्तु साधारण पाठक उस गम्भीर चिन्तन में भी काव्यरस का अस्वादन कर सकता है। इसी 'प्रसंग' का प्रस्तुत द्वन्द्व द्रष्टव्य है—

रातभई बड़ तल छयौ कुछ दिसै नाहीं।
वगी अंधेरी उड़ि कंकर जुति आही॥
पुनि क ड़की तड़िता तबै गरजी घटकारी।
औरनि की बरखा भई लगि सीत अपारी॥

इस छन्द का अध्ययन करने पर पूर्वोक्त विचार की सार्थकता स्वत: सिद्ध है। इसका जो सूक्ष्म अर्थ है, उसे केवल गम्भीर-प्रवृत्तिशाली, चिन्तन-शील एवं साधनात्मक साहित्य का ज्ञाता जिज्ञासु पाठक ही जान सकता है। किन्तु काव्यशास्त्रीय में जिसे शब्दों द्वारा 'वातावरण निर्माण कौशल' कहा जाता है, उसका भी यह एक ज्वलन्त उदाहरण है।

यों तो उत्तरार्द्ध के लगभग सभी स्थल 'प्रसंग गाम्भीर्य' की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु 'रिखयन प्रसंग', सिद्धन चर्चा प्रसंग, तथा लहणे को उपदेस प्रसंग' आदि प्रसंगों का विशेष महत्त्व है।

'लहणे (द्वितीय गुरु अंगद का वास्तविक नाम) को उपदेस 'प्रसंग! में सिक्ख धर्म की विशालता, औदात्य, सार्थकता तथा परोपकार-प्रियता एवं दयाशीलता का अत्यन्त सुन्दर विवेचन हुआ है।

'गुरु नानक सूर्योदय' यद्यपि निर्गुण-भक्त कवि की रचना है तथापि उसकी रचना शैली पूर्णतः कथात्मक है। कवि वेदी भावुक कवि तो हैं, किन्तु मस्तमौला कलाकार नहीं। ग्रन्थ का छन्दोलंकार विधान स्तुत्य है, शब्द सौन्दर्य की वहां वर्षा हुई है, रागात्मक ऐश्वर्म की भरमार है, मध्ययुगीन बिम्बावली का प्राधान्य है, साहित्य के गौरव-ग्रन्थों जैसी सर्वांगीण कलात्मक पूर्णता है, धार्मिक सांस्कृतिक तथा दार्शनिक क्षेत्रों की गहन शब्दावली का प्राचुर्य है और सबसे बढ़ कर सार्थक अभिव्यक्ति तथा अनुभूति की गहराई है। कवि वेदी की ही सब से बड़ी विशेषता है। वे सचेतन प्रतिभा के कलाकार हैं। किसी सीमा तक मानसकार जैसे चैतन्य से वे युक्त हैं। प्रसंगविहीन तथ्यों को कलात्मक चैतन्य के बल पर विलुप्त कर देना उनकी विशेषता है।

'सिक्ख जगत में 'जन्मसाखी' लिखने को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। गुरविलास परम्परा इसी के अनार्गत् आती है। वेदी कृत जन्मसाखी कई दृष्टियों से अनन्य है। एक तो वंशगत संस्कारों तथा दन्त-कथाओं की बहुलता से जन्मसाखी का स्वतः महत्व है, दूसरे कवि सिद्धवाक् है, तीसरे इसकी मानस जैसी शैली है।'[2] सहज-साधना, विवेक की प्राप्ति तथा परमार्थ द्वारा परमानन्द की उपलब्धि सिक्ख धर्म का मुख्य ध्येय है। कर्म-योग सिक्खों का सर्वोच्च दर्शन है तथा सहजता एवं सरलता सर्वोत्तम आदर्श। कवि वेदी ने अपन ग्रन्थ में इन्हीं तथ्यों को काव्यात्मकता की पुट देकर सहज-ग्राह्य बनाया है तथा विचार और अभिव्यक्ति में तदात्म्य स्थापित किया है। अभि-व्यक्ति उनकी प्रयत्नसाध्या न होकर सरल किन्तु सचेतन, दिल की गहराइयों से निकली हुई और वह बेचैनी लेकर निकली हुई प्रतीत होती है, पूर्णतः अभिनव एवं अद्भुत !

---

१. देखिए, टिप्पणी संख्या ७।
२. पंजाब प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास: पंडित चन्द्रकान्त बाली, पृष्ठ ३५६

पुस्तक समीक्षा

लक्ष्मी नारायण मिश्र के सामाजिक नाटक–एक समालोचना

लेखक :–भारत भूषण चड्ढा. एम.ए.
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली–६
मूल्य : ५.००.

यह महत्त्वपूर्ण प्रकाशन जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य के मूर्धन्य नाटककार श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक नाटकों की समालोचना के सम्बन्ध में है। पुस्तक मौलिक चिन्तन तथा अनुसन्धान के क्षेत्र में चाहे नवीन प्रयोग नहीं, तो भी अपने विषय की एक सफल कृति मानी जा सकती है।

पुस्तक का विषय-क्रम विधान हिन्दी के यशस्वी लेखक श्री भारत भूषण चड्ढा की लेखनी द्वारा बड़े ही सुन्दर रूप से निःसृत हुआ है। प्रथम अध्याय में पृष्ठभूमि, द्वितीय अध्याय में सैद्धांतिक विवेचन, तृतीय अध्याय में सामाजिक नाटकों की समीक्षा तथा चतुर्थ अध्याय में उपसंहार करते हुए लेखक ने बड़ी ही सूझबूझ से काम लिया है। इस दृष्टिकोण से उनका यह लघु प्रबन्ध (जैसा कि लेखक ने स्वयं माना है) एक विनम्र प्रयास नहीं अपितु एक सफल प्रयास कहा जा सकता है।

लेखक ने प्रथम अध्याय में लक्ष्मीनारायण मिश्र का जो संक्षिप्त जीवन-परिचय दिया है उसने पुस्तक की उपादेयता को बढ़ा दिया है।

सैद्धान्तिक रूप में नाटकों की आलोचना करने के लिये नाटक की वैविध्य पूर्ण प्रवृत्तियों से परिचय कराना नितान्त आवश्यक है। अतः लेखक ने मिश्र जी से पूर्व हिन्दी नाट्य परम्परा में––पौराणिक ऐतिहासिक, राष्ट्रीय रोमांटिक , प्रहसन, सामाजिक, पारसी रंगमंच तथा अनूदित नाटक-धाराओं का जो व्यौरा प्रस्तुत किया है, उसके प्रकाश में आगे किया जाने वाला मिश्र जी के नाटकों का मूल्यांकन बहुत ही यथार्थ, सप्रमाण तथा साहित्यिक दृष्टिकोण से उचित ही हो पाया है। और फिर लेखक का ऐसा करना स्वाभाविक भी था। साहित्य समाज का दर्पण है। समय समय पर समाज के परिवर्तन के साथ ही साहित्यिक मान्यताएं भी परिवर्तित होती रहती हैं, साहित्य के मापदण्ड तथा

उसके प्रतिमान भी बदलते रहते हैं। अतः आलोचक को भी तत्कालीन समाज की परिस्थितियों के अनुसार ही अपने आलोच्य साहित्य की प्रवृत्तियों का मूलयांकन करना चाहिए। मेरे विचार में भारत भूषण ने मिश्र जी के सामाजिक नाटकों की आलोचना करते समय उस तथ्य को अपने ध्यान में रखते हुए ही पुस्तक की पृष्ठभूमि में मिश्र जी से पूर्व हिन्दी नाट्य परम्परा का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया है। पुस्तक के द्वितीय अध्याय—सैद्धान्तिक विवेचन में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के अनुसार नाटक की परिभाषा, उसके तत्त्व और विशेषतः हिन्दी नाटक के तत्त्वों का विवेचन एवं नाटक की अन्य वृत्तियों का विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक विचार भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है।

मिश्र जी के आलोच्य सामाजिक नाटकों में से—सन्यासी तथा आधी रात को समस्या-नाटक; राक्षस का मन्दिर तथा मुक्ति का रहस्य को विचार प्रधान नाटक; एवं सिन्दूर की होली को समस्या एवं घटना प्रधान नाटक के विशिष्ट वर्गों में रखने के जो कारण लेखक ने प्रस्तुत किये हैं वे सर्वथा मान्य हैं तथा उनका यह वर्गीकरण परिनिष्ठित साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर निर्धारित किया गया प्रतीत होता है।

तटस्थ विवेचन पद्धति का आश्रय लेते हुए विद्वान् लेखक ने जिस ढंग से इन नाटकों के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष की आलोचना प्रस्तुत की है वह सर्वथा सराहनीय है। उसके साथ ही प्रत्येक नाटक का सैद्धांतिक पक्ष के आधार पर विवेचन का अन्त में निष्कर्ष रूप में जो थोड़ी बहुत सामग्री लेखक ने दी है उससे इस पुस्तक की उपादेयता कुछ मात्रा में अवश्य बढ़ गई है पर क्या ही अच्छा होता अगर लेखक अपने इन निष्कर्षों में समूचे रूप में कृतियों का मूल्यांकन प्रस्तुत कर अधिक सामग्री देने का प्रयत्न करते।

आलोचना करना यद्यपि एक नीरस विषय है फिर भी यह पुस्तक अपने में एक ऐसी रोचकता लिए हुए है कि नाटकों की समीक्षा पढ़ते हुए मूल-नाटकों के पढ़ने का सा आनन्द आने लग जाता है। लेखक ने नाटकों के कथानक, पात्र, चरित्र-चित्रण, तथा संवाद आदि पक्षों का विश्लेषण एवं विवेचन पर्याप्त सफल ढंग से किया है। इस प्रकार अत्यन्त परिश्रम पूर्वक इस ग्रन्थ का प्रणयन करके विद्वान लेखक ने हिन्दी जगत् तथा विशेषता हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों का विशेष उपकार किया है।

चतुर्थ अध्याय में उपसंहार के रूप में जो सामग्री लेखक ने प्रस्तुत की है उसमें उनके विशेष मौलिक अध्ययन तथा शोधात्मक प्रतिभा के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। पुस्तक

का यह भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें लेखक ने यह स्पष्ट सिद्ध किया है कि 'मिश्र जी के नाटकों पर विदेशी प्रभाव किसी भी अवस्था में सिद्ध नहीं किया जा सकता—क्योंकि मिश्र की परिस्थितियां और उससे उद्भूत प्रेरणाएं मौलिक हैं, उनकी परम्पराएं हिन्दी की अपनी परम्पराएं हैं। और फिर यदि कोई आलोचक यह कहे कि मिश्र जी नाटक का कोई नया स्वरूप पाश्चात्य से लाए, तो उनके साथ तथा हिन्दी नाटक की यथार्थवादी धारा के साथ अन्याय करना होगा। लेखक के विचार में मिश्र जी पर उतना ही पाश्चात्य प्रभाव मानना समीचीन है जितना कि हिन्दी की अन्य साहित्यिक धाराओं पर एवं हिन्दी के अन्य साहित्यकारों पर माना जाता है।' विद्वान् लेखक के विचार भारतीय मर्यादा से ओत-प्रोत हैं। इसके साथ ही उपसंहार में सामाजिक नाटकों के मूल्यांकन का निष्कर्ष, मिश्र जी का योगदान तथा हिन्दी नाटक की प्रगति और मिश्र जी सम्बन्धी अन्य विषयों की विवेचना भी बड़े उपयोगी ढंग से की गई है।

इस प्रकार अन्त में अगर यह कहा जाए कि इस 'समालोचन' के माध्यम से लेखक ने पाठकों का मिश्र जी के साथ एक सम्बन्ध सा जोड़ दिया है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। वास्तव में इस प्रबन्ध मे मिश्र जी के सामाजिक नाटकों का सम्पूर्ण तथा स्पष्ट रूप हमारे समक्ष उपस्थित हो गया है इस प्रकार मिश्र जी के नाटकों का अध्ययन करने के लिये यह ग्रन्थ अवश्य ही पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगा—ऐसा मेरा विश्वास है। और फिर इस पुस्तक के पढ़ने से हिन्दी प्रेमियों के मन में यदि मिश्र जी के नाटक पढ़ने की वास्तविक रुचि उत्पन्न हो जाए तो मैं लेखक के इस प्रयास को एक सफल प्रयास ही मानूंगा।

हिन्दी साहित्य में अभी तक कोई भी प्रमाणिक ग्रन्थ लक्ष्मीनारायण मिश्र के सम्बन्ध में प्राप्य नहीं था। इस आवश्यकता की पूर्ति भी सम्भवतः इस कृति द्वारा अवश्य कुछ रूप में हो गई है। पर क्या ही अच्छा होता यदि मिश्र जी के समस्त नाटकों की समालोचना को इस पुस्तक में स्थान मिल पाता। पर फिर भी जहां तक इस पुस्तक का सम्बन्ध है यह अपने छोटे कलेवर में भी अपने विषय की समग्रता को लिये हुए है। पुस्तक की भाषा सर्वत्र प्राञ्चल है तथा तथ्यों का प्रस्तुतीकरण सर्वथा सुगठित।

इस प्रकार पुस्तक की जहां समस्त सामग्री रोचक है वहां छपाई-गैट अप आदि भी सन्तोषप्रद है। मुख पृष्ठ भी विशेष आकर्षक है। हां इतना अवश्य है कि पुस्तक का मूल्य विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से चाहे उपयुक्त प्रतीत हो पर प्रचार की दृष्टि से कुछ

अधिक अवश्य ही रखा गया प्रतीत होता है । इस पर भी यह पुस्तक प्रत्येक व्यक्ति के लिये पठनीय एवं संग्राह्य है ।

कुल मिला कर यह पुस्तक हिन्दी साहित्य की सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में एक सफल योगदान है। और इससे मिश्र जी के नाटकों की लोक प्रियता और बढ़ जाएगी ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है ।

—प्रो० सत्यपाल रणदेव

हिन्दी की छाया वादी कविता का कला विधान

लेखक—डा० बलवीर सिंह रत्न
प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
दिल्ली—६
मूल्य—१२.५०

प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक डा० बलवीर सिंह का पी-एच-डी. की उपाधि के लिए लिखित शोध प्रबन्ध है । डा० रत्न ने इस प्रबन्ध में हिन्दी छायावादी कविता के अब तक अछूते, परन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष-शिल्प विधान का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण एवं अनुसंधानात्मक विवेचन किया है। समीक्षकों ने इस समय तक छायावादी कविता के भावपक्ष को ही आलोचना का प्रमुख विषय माना था । आपका यह मौलिक प्रबन्ध छायावाद के बाह्य कलेवर की अनेक विधाओं का सर्वाङ्गीण चित्रण होने के कारण इस दिशा में सर्वथा एक नवीनतम प्रयास है ।

प्रस्तुत पुस्तक का विभाजन भी अध्यायों में करके योग्य लेखक ने छायावादी कविता की बाह्य रूप सज्जा के बहुमुखी विधानों का पूर्ण विश्लेषण किया है।

प्रथम अध्याय में हिन्दी छायावाद के युगावतार से पहले उस राजनैतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि का संक्षेप से परिचय दिया है जिसने निराश अनास्था एवं निरुत्साह की अवसादमयी नीहारिका से भारत वासियों को आच्छादित किया हुआ था ।

छायावादी कविता इस युग की पहली आलोक किरण के समान प्रकट हुई । यह कविता रीतिकालीन शृंगारिकता तथा द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता एवं उपदे-

शात्मकता के विरुद्ध एक बौद्धिक प्रतिक्रिया के रूप में एक नवीन प्रेरणा लेकर अग्रसर हुई।

प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में छायावादी धारा के प्रमुख साहित्यकारों द्वारा प्रतिपादित छायावाद की परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है। वास्तव में प्रबन्ध का यह भाग कुछ शिथिल और शुष्क सा प्रतीत होता है। इसमें योग्य अनुसंधान-कर्ता ने केवल निष्कर्ष के रूप में कुछ वाक्य अपनी ओर से लिखे हैं अन्यथा दूसरों के अवतरण मात्र ही यहां दिये गए हैं।

तीसरे और चौथे अध्यायों में छायावादी-मुक्तक, प्रगीत एवं महाकाव्यों का विवेचन करते हुए उन पर पाश्चात्य बंगला तथा उर्दू के प्रभाव का दिग्दर्शन कराया गया है। इन अध्यायों में भी प्रबन्ध का कलेवर बढ़ाने के लिये कई अन्तावश्यक उद्धरण भी दिये गए हैं।

यहां 'कामायनी' की छायावादी कविता के आदर्श रूप में चित्रित करना योग्य शोधकर्ता की अपनी मान्यता हो सकती है। परन्तु यह तथ्यों के सर्वथा विपरीत है। कामायनी एक रहस्यवादी महाकाव्य है जैसा प्रसाद जी ने स्वयं ही स्पष्ट किया है। इसी प्रकार 'लहर' की ऐतिहासिक कविताओं को छायावादी कहना छायावाद से अन्याय करना है।

इस स्थल पर यह उचित था कि डा० रत्न इन दोनों वादों (छायावाद तथा रहस्यवाद) के सम्बन्ध में कुछ तथ्यपूर्ण विवेचन कर उनकी विभेद रेखाओं का स्पष्टी-करण करते।

प्रबन्ध के पांच से लेकर आठ तक के अध्याय उसके मेरु दण्ड कहे जायें तो सर्वथा उचित होगा। इनमें भाषा, शैली, चित्रात्मक, प्रतीक विधान अलंकार, एवं छंद विधान आदि विषयों का अच्छा विवेचन किया गया है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से प्रबन्ध का यह भाग सर्वथा सबल और सफल है। मुख्यतया वह अंग वर्णनात्मक है। योग्य लेखक प्रबन्ध के इन अध्यायों को यदि परंपरागत संस्कृत की परिपाटी के आधार पर निरूपण न कर कुछ मौलिक उपलब्धियों को प्रस्तुत करते तो इसमें कुछ और भी अधिक नवीनता आ जाती।

प्रबन्ध का नवम-अध्याय उपसंहार एवं आत्म समर्पण के रूप में है, जो अत्यावश्यक से प्रतीत होते हैं।

इस शोध प्रबन्ध में कुछ और भी त्रुटियाँ पाई जाती हैं, जिनका संक्षेप से उल्लेख करना आवश्यक है --

१--हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों के साथ देवनागरी अक्षरों में अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्दों का अधिक मात्रा में प्रयोग कुछ अखरता सा है। इस प्रक्रिया से दोनों भाषाओं के साथ अन्याय होता है। अच्छा तो यह होता यदि प्रबन्ध के अन्त में इन पारिभाषिक शब्दों की सूचि दोनों भाषाओं में दे दी जाती।

२--प्रबन्ध में कहीं कहीं मुद्रण की भी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं।

३--अवतरणों की बहुलता प्रबन्ध के नैसर्गिक प्रवाह में असाधारण सी बाधा उपस्थापित कर देती है। कई स्थलों पर अनावश्यक एवं अप्रासंगिक उद्धरण अनुचित से प्रतीत होते हैं।

४--कुछ स्थलों पर भाषा भी कुछ विशृंखल और शिथिल सी पाई जाती है।

इन कतिपय त्रुटियों के होने पर भी डा० रत्न के इस प्रयास को हम मौलिक कहना ही उचित समझते हैं। आपने छायावादी कविता के कलाविधान जैसे दुरूह विषय को सरस और रमणीय बना कर उसे बोधगम्य बनाने में जो प्रयत्न किये हैं वे सर्वथ सराहनीय हैं। इस प्रकार हिन्दी के भावी शोध कर्त्ताओं के लिये आपने जो नवीन मार्ग प्रशस्त किया है उसके अग्रदूत के रूप में आपकी इस रचना को हिन्दी साहित्य में अवश्य ही विशिष्ट स्थान प्राप्त होगा।

--डा० दुर्गादत्त मेनन

आप चाहे कुछ भी काम क्यों न करते हों....

आप का काम
देश के लिए
किया गया काम है

आप, आपका काम, आपका जीवन सभी कुछ उस भारत के अभिन्न अंग हैं जो आज कुशलता तथा शक्ति बढ़ाने में जी जान से जुटा है। आपका काम चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह पूरी मुस्तैदी व दक्षता से होना चाहिए। काम में रुकावट या देर न होने दें। विजय आप सरीखे लाखों-करोड़ों लोगों की कठोर मेहनत का ही फल होती है।

जी तोड़ मेहनत करें
भारत के विकास और देश की रक्षा के लिए

पार्वती लोक मानस विशेषांक

जन साहित्य का एक अभूतपूर्व विशेषांक

जो मई–जून, १९६६ में प्रकाशित हो रहा है जिसमें पंजाब, हिमाचल प्रदेश और जम्मू काशमीर राज्यों के पर्वतीय प्रदेशों के सांस्कृतिक जन मानस के विविध स्वरूपों का चित्रण होगा।

विशेष नोट:–पाठकों से विशेष अनुरोध है कि वह अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करवा लें। प्रत्येक प्रति का मूल्य एक रुपया। स्थायी ग्राहकों से अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जायेगा।

निदेशक,
हिन्दी विभाग, पंजाब
पटियाला

श्री लाल सिंह, डायरेक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला
प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमेंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया
सम्पादक—डा०

अप्रैल, १९६६

५० पैसे

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

साहित्य सूची में हरियाणा प्रान्त का नाम कुछ अधिक विख्यात नहीं रहा क्योंकि इसे ब[illegible] पिछड़ा हुआ भाग समझा जाता रहा है। स्वतन्त्र भारत में यह आव[illegible] है कि अविकसित समुदाय को भी विकसित किया जाये तथा उच्चस्तर पर लाया जाये । इस सम्बन्ध में पंजाब हिन्दी विभाग, पटियाला ने सस्ते दामों पर हरियाणा लोक मानस [illegible] विशेषांक प्रकाशित करके सा[illegible] की अत्यधिक सेवा की है और [illegible]भाग भूरि प्रशंसा का पात्र है।

न केवल लोक कथाओं, लोक गीतों तथा जन-जीवन दर्शन तक ही इसे सीमित रखा गया है परन्तु वीर पुरुषों के कथानकों से राष्ट्रीय तथा वीर रस से भी इसे ओतप्रोत किया गया है । यदि 'रूपकला' शीर्षक से लोकप्रिय कहानी लिखी गई है तो 'सर छोटू राम' को नेता के रूप में वर्णित करने में भी कोई प्रयत्न नहीं छोड़ा गया । लोक संस्कृति और उसके विभन्न रूपों का वर्णन लोकप्रिय है तो 'हरियाणवी गीतों में शृंगार रस' भी अनुपम कृति है ।

वस्तुत : यह कहना ही अधिक श्रेयस्कर होगा कि हरियाणा स्थल को 'देशोऽस्ति हरियाणाख्य : पृथिव्यां स्वर्गसन्निभः के रूप में प्रस्तुत करने में कोई कमी नहीं रह गई ।

इस की एक प्रति मुझे भेजने के लिए मैं विभाग का अनुगृहीत हूं।

बस यदि काव्य और कविता का समन्वय थोड़ा सा और कर दिया जाता तो सोने पर सुहागे का काम हो जाता ।

सी. डी. कपूर

(मासिक प्रकाशन—अप्रैल, १९६६)

वर्ष १३ अंक ४

परामर्श समिति

***श्री कृष्ण मघोक**
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

***श्री त्रिलोकीनाथ रञ्जन**
(सहायक निदेशक, कोश)

***श्री ओम् प्रकाश भारद्वाज**
संयोजक
(सहायक निदेशक, विकास)

***श्री गुरुदत्त शर्मा**
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

***श्री हरिचन्द पाराशर**
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला।

हिन्दी की कतिपय नवीन ज्ञात सतसइयां

○

अगर चन्द नाहटा

प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती भाषा में सतसइयों की एक लम्बी परम्परा रही है। महाराष्ट्री प्राकृत में हाल रचित गाथा सप्तशती से लेकर अब तक इस परम्परा में करीब १०० रचनायें प्राप्त हैं। उनमें से संस्कृत की ७ सतसइयों के संबंध में मैंने एक स्वतन्त्र लेख लिखा है। हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती सतसइयों के संबंध में 'सप्तसिंधु' के दिसम्बर, १९६३, और अक्तूबर, १९६४ के दो अंकों में मेरे लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें हिन्दी की ६० सतसइयों और राज-स्थानी की १० और गुजराती की ५ सत- सइयों का विवरण दिया गया था। उसके बाद भी मेरी खोज चालू रही। और हिन्दी की १० सतसइयों की जानकारी और मिल चुकी है। जिनका प्राप्त विवरण इस लेख में प्रकाशित किया जा रहा है।

(१) **समै सुप्यार सतसई**—इसकी एक मात्र प्रति राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर में है। इसके रचयिता वसंतराय होने का उल्लेख प्रारम्भ में ही किया गया है। ७०५ दोहों की इस सतसई की रचना संवत् १८३३ के कृष्ण जन्म दिवस के दिन होने का उल्लेख अन्तिम पद्य में है। प्राप्त प्रति संवत् १८३५ जेठ सुदि ९ बुधवार को जोशी भाणा के लिये वसंतराय ने लिखी है। आदि अन्त के कुछ पद्य इस प्रकार हैं:— आदि अथ समैं सुप्यार सतसई वसंतराय कृत लिखतं ॥

दूहा—

श्रीगनपत अम्रत चरन,
कंठ भूम पर धार।
बुध कोवर के बीज ज्यों,
होत बहुत विसतार ।१।
सुमुष विनायक गजकरन,
है भाल चन्द्र यक दन्त।
हरन विधन सुख करन है,
जुग जुग आद अनंत ।२।
लंबोदर हिय ध्यांन धर,
होत बुद्ध परकास।
जैसैं जग मिट जाय तम,
दिनकर करत उजास ।३।
कवि कोविद सौं जोड़ करि,
इतनी अरज करंत।

चूक छिमा करीयो हमें,
सब सौं कहित वसंत ॥४॥
पढ़यो नहीं कछु संस्कृत,
भाषा मंत्र न जाप ।
कछु यक कवता करत हौं,
गनपत के परताप ।५।
आद चन्द वसु राम गुण,
कृष्ण जनम पक्ष मास ।
गनपत तिथ हनुमान दिन,
निपज्यो ग्रन्थ विलास ।६।
इतिश्री समै सुप्यार सतसई,
संपुरणं संवत् १८३५ रा जेठ
सुदि ६ बुधवार ॥दूहा॥
वसंतराय पोथी लिखी,
यकचित व्हैं मन सुध ।
जोसी भांणां की वधो,
पढ़ पढ़ नीको बुध ॥

(२) **कुंडलिया सतसई**--विद्यार्थी रचित। इसके सम्बन्ध में एक लेख 'सप्तसिन्धु' जून १९६३ के अंक में प्रकाशित हो चुका है। इसलिये यहां विशेष परिचय नहीं दिया जा रहा है।

(३) **गान्धी सतसई**--सलुम्बर (मेवाड़) के कवि कींकर राव चतुर्भुज के पुत्र नैनसुख (नरदेव) ने इसकी रचना हाल ही में की है। सेठ हमेरचन्द पी. प्रेमचंद भावसार, सलुम्बर ने इसका पूर्वार्द्ध सन् १९६२ में प्रकाशित किया है। वही मुझे श्री ब्रजमोहन जावलिया ने भेजा है। उसका उत्तरार्द्ध प्रकाशित हुआ या नहीं, इसकी जानकारी पत्र देने पर भी प्राप्त नहीं कर सका। प्राप्त पूर्वार्द्ध में तीन शतक पूरे हैं चौथे शतक के ५२ पद्य ही आये हैं। प्रारम्भ के दो शतकों में तो गांधी का वर्णन है। तीसरे शतक में पहले विनोबा का २१ दोहों में वर्णन करके फिर बीस बाईसी, पटेल पचीसी, जवाहिर जवाहिरात और राजेन्द्र अष्टक के रूप में १०० दोहे पूर्ण किये हैं। चौथे शतक में गांधी और स्वतंत्रता संग्राम का वर्णन फिर प्रारम्भ होता है। बीच में सत्याष्टक और अहिंसाष्टक, भी दे दिया गया है। जो दूसरे शतक के प्रारम्भिक दोहों के रूप में हैं। श्री केशरीसिंह बारहठ ने इस गांधी सतसई पर अपनी सम्मति देते हुए लिखा है--

किनो पुस्तक में कुशल,
गांधी को गुण-गान ।
इहि हेतु अवस,
सब जग में सन-मान ॥

मेवाड़ मंडेलश्वर श्री मुरली मनोहर शरण ने भी लिखा है--"सतसई में जहां गांधी सिद्धान्तों का गहन-दर्शन स्पष्ट होता है वहीं यत्र-तत्र श्लेषा या अलंकारों द्वारा कविता सुन्दरी को अलंकृत कर पाठक मानस को आकर्षित करने का भी सफल प्रयास किया है।"

(४) **भक्त सतसई**--लेखक और प्रकाशक श्री ब्रजमोहन शर्मा "ब्रजेश", मनोहर पुर (राजस्थान) पृ. सं. १४०

मूल्य २.५० पैसे । पुस्तक १५ अध्यायों में श्री कृष्ण भक्त, भागवत भक्त, निर्गुण भक्त, मातृ-पितृ भक्त, गुरुभक्त, गोभक्त, आदर्श भक्त, आचार भक्त, संस्कृति भक्त, देश भक्त, तिक्तोक्ति भक्त, भार्या भक्त, नीति भक्त, विनोद भक्त, समर्पण के शीर्षक से विभाजित है । और कुल मिला कर ७२५ दोहे हैं।

कवि ने पुस्तक को महाकवि बिहारी की सतसई के दोहे 'मेरी भव बाधा हरो' के प्रथम चरण को उद्धृत कर मंगला चरण से प्रारम्भ किया है। पहला अध्याय 'श्री कृष्ण भक्त' है । जिस में श्री कृष्ण जन्म बाल लीला, राधा, मथुरा गमन, उद्धव गोपी सम्वाद आदि प्रसंग आए हैं ।

भक्तों की नामावली में परम्परा से माने जाने वाले महाभारत व रामायण के भक्तों का नाम लिया गया है। बाद में अन्योक्ति रूप में स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं तथा आजकल के व्यसनों के प्रेमियों व भार्या भक्त को लेकर कटाक्ष किया गया है । विनोद पुस्तक के अध्याय के अन्तर्गत खुसरु की मुकरनी शैली में प्रश्नकर्ता के प्रश्न का उत्तर विषय को छिपा कर फर्जी रूप में दिया गया है। यह रोचक बन गया है और तथ्यपूर्ण भी ।

पुस्तक का मुख्य उद्देश्य भारतीय संस्कृति को जागृत करना है।

पुस्तक शास्त्रीय दृष्टि से उच्च-कोटि की तो नहीं कही जा सकती है किन्तु कवि को वांछित विषय को व्यक्त करने में सफलता अवश्य मिली है। पुस्तक 'भक्त-सतसई' न होकर 'विनोद सतसई' अधिक है ।.

(५) ६, ७, ८, ९. १०, श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी का व्रजभाषा रीतिशास्त्र-ग्रन्थ कोश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है । उसके पृष्ठ ११५ और १२८ में कतिपय सतसईयों के नाम दिये हैं जिनमें से मेरे पहले के दो लेखों में अनुलिखित नाम ये हैं --

(५) **अमरदास सतसई** (६) गोविन्द सतसई-रचयिता गोविन्द गिल्ला भाई, सौराष्ट्र(प्रति बड़ौदा विश्वविद्यालय)

(७) **जयसिंहराय सतसई**--मेरे ख्याल से इसका उल्लेख भ्रमपूर्ण है । खोज रिपोर्टों में जयसिंह राय के संतसई नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। जो संवत् १८१२ में रचा गया। सन् १९०६ की खोज रिपोर्ट में देखने पर मालूम हुआ कि इसका नाम सतसई नहीं संत सई ही है। और पद्यों की संख्या ४९१ है । यदि श्री चतुर्वेदी जी ने इसके अतिरिक्त जयसिंहराय की सतसई कहीं देखी हो तो उसकी प्रति कहां है ? बतलावें ।

इसी तरह अमरदास सतसई की प्रति कहां है इस पर भी प्रकाश डालें। (८) फूल मंजरी--र. नन्ददास, प्राप्तिस्थान श्री सरस्वती भण्डार, नाथ द्वारा। इसमें चतुर्वेदी ने ७०० दोहों का संग्रह बतलाते हुए सतसइयों की सूची में इसका नाम दिया है। मतिराम की फूलमंजरी का भी इन्होंने सतसइयों में उल्लेख किया है। पर यह तो मतिराम ग्रन्थावली में छप चुकी है और इसमें केवल ६० दोहे ही हैं। (९) सतसईया, सिद्धराय सतसई और विक्रम सतसई (सटीक), टीक-बिहारी लाल (मतिराम प्रसिद्ध वंशज) इनमें से सतसईया तो किसके रचित है? कहां प्राप्त है? कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया। सिद्धराय सतसई मेरे ख्याल से महडू रिवदान की राजस्थानी भाषा में प्राप्त है, वही होगी। सतसैया का उल्लेख खोज रिपोर्टों में "भूपति सतसई" के लिये किया गया है। सम्भव है चतुर्वेदी जी ने भूपति सतसई से उसे स्वतन्त्र मान लिया हो। विक्रम सतसई सटीक का उल्लेख किस आधार से किया गया है, पता नहीं।

सतसइयों के संबंध में श्री कृष्ण नारायण प्रसाद, "मागध" का एक निबन्ध उनके 'हिन्दी साहित्य युग और धारा' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। हिन्दी सतसई साहित्य पर डा. सुश्री रमासिंह ने शोध प्रबन्ध लिखा है और लखनऊ वि. वि. से उन्हें डाक्टरेट भी मिल चुकी है। मैंने उन्हें शोध प्रबन्ध में उल्लिखित सतसइयों की सूची भेजने के लिये २।३ पत्र दिये पर कोई उत्तर नहीं मिला।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में श्रीमती पुष्पलता गाथा सप्तशती और रीति-कालीन शृंगारी सतसइयों का अध्ययन' विषय पर शोध कार्य कर रही हैं। इसी पर एक अन्य शोध छात्र भी पंजाब में प्राप्त सतसइयों पर शोध कर रहे हैं। सम्भव है पंजाब में कुछ ऐसी सतसइयां और भी मिलेंगी। जिनका उल्लेख मेरे लेखों में नहीं हो सका।

चूंकि मैंने अपने पहले दो लेखों में राजस्थानी व गुजराती सतसइयों की भी जानकारी दी है। इसलिये यहां इन दोनों भाषाओं की नवीन ज्ञात दो सतसइयों का भी उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ।

राजस्थानी भाषा में शेखावाटी के प्रो. उदयवीर शर्मा ने एक सतसई बनाने की सूचना मुझे दी है।

गुजराती में जैन मुनि कर्मसिंह के शिष्य रत्नमुनि ने संवत् १९५५ में 'रत्न सतसई' ७०८ दोहों में बनाई है। जो 'श्री रत्न मुनि कृत काव्य संग्रह' में संवत् १९५८ में छप चुकी है। यह ग्रन्थ हमारे संग्रह में है। इस सतसई

के प्रारम्भ के तीन और अन्त के दो दोहे नीचे दिये जा रहे हैं --

आदि--

वाणी विचित्र प्रकारनी, दाता देव दयाल ।
चरण सरोरुह प्रेमथी, सेवुं जेम मराल ।।१।।
चन्द्र किरण ऊजवल गिरा, चन्द्रप्रभ जिनराज।
त्रिकजोगे वंदन करूँ, आपो गिराजिहाज ।२।
वीर वाणी वरदायनी, धरो वत्स पर प्रेम ।
शतशाही मुक्तिक तणी, गुंथु माला जेम ।३।
कर्मसिंहजी स्वामिनां, चरण कमलनो दास ।
रत्नमुनि रूडी रची, सतसाई सुविलास।७०७
पांडव सरनिधि नीशीपति, संवत्सर सुखकार ।
अपुर आसु सुद पंचमी, गुणकारी, गुरुवार ।।

सतसइयों की तरह पंचसई और नवसई भी हिन्दी में रची गई है । जैन कवि 'छत्रपति जैसवाल' रचित 'मदन मोहन पंचशती' संवत् १९१६ में रची गई । कई वर्ष पूर्व यह प्रकाशित भी हो चुकी।

नवनीतराय मुंशी रचित 'नवनीत नवसई' की प्रति विद्या विभाग, कांकरोली में है । ९०० दोहों की श्रृंगार विषयक इस सतसई की रचना सं. १८७७ में हुई है । कला निधि भट्ट कृत 'नवसई' का उल्लेख भी खोज रिपोर्टों में किया गया है।

○○

दूसरे के दोष पर ध्यान देते समय हम स्वयं बहुत भले बन जाते हैं । परन्तु जब हम अपने दोषों पर ध्यान देंगें, तो अपने को सबसे ज्यादा कुटिल और कामी पायेंगे ।

—महात्मा गांधी

अपनी आंख का शहतीर देख पाने की अपेक्षा दूसरे की आंख का तिनका देख पाना अधिक सुगम है ।

--स्वामी राम तीर्थ

श्री गुरुदत्त के उपन्यासों में पारिवारिक-मूल्यों की पुनर्स्थापना

डा० मनमोहन सहगल

आधुनिक हिन्दी आख्यान-क्षेत्र में गुरुदत्त एक प्रबुद्ध समर्थ और अति पाठ्यमान उपन्यासकार हैं। इनके लगभग नव्वे उपन्यास आज तक प्रकाशित हो चुके हैं। लेखक की रचनाओं से कुछ भी परिचय रखने वाला पाठक जानता है कि गुरुदत्त मात्र कथा कहने में ही बस नहीं समझते, बल्कि उनका एक विशेष दृष्टिकोण है; जो उन्होंने समाज के दैनिक अनुभवों, भारतीय-संस्कृति के अध्ययन और जीवन के यथार्थ उतार-चढ़ाव में संघर्ष करते हुए प्राप्त किया है। वे निष्ठा और ईमानदारी पूर्वक अपनी संस्कृति, शास्त्र-सम्मत धर्म और नीति तथा भारत की महान् परम्पराओं का समर्थन करते हैं। पंजाब के हिन्दी लेखकों में श्री गुरुदत्त ने जिस मात्रा में उपन्यासों का सृजन किया, कदाचित् कोई अन्य लेखक इसे नहीं पा सका।

इनकी विचारधारा विशुद्ध भारतीय है। भारतीय मूल्यों में स्मृतिकार द्वारा प्रस्तुत साधारण-धर्मों—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणनम्।

की जो व्याख्या लेखक ने अपनी नवीन रचना "धर्म संस्कृत और राज्य" में की है, उससे इस क्षेत्र में विभिन्नता और जातिवाद के अभिशाप का गरल तद्दन पीयूषाच्छादित हो जाता है। देश के अनेकानेक सम्प्रदाय श्री गुरुदत्त के उक्त विशाल दृष्टिकोणानुसार केवल भारतीय हैं; उत्तम या नीच, धर्मी अथवा अधर्मी, हिन्दू-मुस्लिम, ईसाई-मुसाई, कुछ भी नहीं। एक मुसलमान यदि अपने जीवन में उपयुक्त समान धर्मों का पोषक है, तो वह धर्मी है, धर्मात्मा है और उसके लिये लेखक के मन में श्रद्धा और आदर-भाव है। तब वह भले ही मुस्लिम सम्प्रदाय का सदस्य रहे, पांच

वक्त नमाज पढ़े और मुसलमानी नाम से पहचाना जाता रहे, लेखक के अन्तर का 'हिन्दू' उससे कभी घृणा नहीं करता। वह उसे उन हिन्दुओं से उन्नत और भला मानता है, जो सदैव आधुनिक सभ्यता के झपाटे में धर्म-नियमों की अवहेलना करते और अधार्मिक-जीवन जीते हैं। शुचि जीवन ही श्री गुरुदत्त के लिये हिन्दुत्व है। अतः गुरुदत्त को हिन्दूवादी या साम्प्रदायिक कहने वाले आलोचकों की संकीर्णता पर तरस आता है। प्रमाण लीजिये--'पंकज' की रामी मां एक मुस्लिम पात्रा नसीम से कहती है--

"......न तो मैं माँस मछली इत्यादि अथवा गो-मांस खाने वालों को अहिन्दू समझती हूँ, न ही किसी के कहने से किसी को हिन्दू-अहिन्दू मानती हूँ।"

"मेरे विचार में तो हिन्दू होने के लिये शुचि-धर्म तथा इन्द्रियों का दमन आदि आवश्यक हैं।"

"ये क्या होते हैं?" नसीम ने पूछा।

"......शौच यानी पाक-साफ रहना, बोलना और सोचना एक बात है। अपनी ख्वाहिशात पर काबू पाना, अपने बोलों और कामों पर काबू रखना दूसरी बात। ऐसा करने वाले को हिन्दू कहते हैं।"

"कोई मुसलमान भी तो ऐसा हो सकता है"?

मैं उसे हिन्दू ही समझती हूँ।[1]

हां, यह हो सकता है कि उक्त प्रकार के विचारकों को "हिन्दू" शब्द के प्रयोग पर आपत्ति हो, या वे 'हिन्दू' से केवल एक सम्प्रदाय का तात्पर्य ही लेते हों। परन्तु वे भूल भी तो कर सकते हैं। युगों से हिन्दुस्तान में रहने वाले लोगों को 'हिन्दू' कहा गया। यहां की संस्कृति का पोषक हर व्यक्ति हिन्दू कहलाया। यहां के धर्म, नीति और आचार-विचार हिन्दुत्व के प्रतीक हैं तभी तो जैन, बौद्ध, सनातन-धर्मी, आर्य समाजी, देव-समा-जी, ब्रह्म-समाजी मांसाहारी, शाकाहारी, अनुरागी, त्यागी, वीतरागी, सभी अपने को हिन्दू कहलाते हैं। फिर यदि गुरुदत्त ने केवल भारतीय-भावना के लिये हिन्दू शब्द अपनाया, तो क्या आपत्ति हो सकती है? गुरुदत्त अपने विचार को स्पष्ट करते यों लिखते हैं --"ईश्वर-प्राप्ति, मोक्ष, प्राप्ति अथवा अन्य प्रकार के आत्म-अभ्युदय के लिये, जिस मार्ग पर चला जाय, उसको पंथ अथवा मत कहते हैं। यह धर्म से सर्वथा भिन्न वस्तु है।...धर्म में भेद नहीं हो सकता। धर्म धारण करने योग्य व्यवहार का नाम है। इस भूतल पर रहते हुए सब मानवों के लिये धर्म एक ही है। धर्म का सम्बन्ध व्यवहार से है, विचार से नहीं।"[2] अतः स्पष्ट

---

१. 'पंकज' पृ० ९४

२. धर्म, संस्कृति और राज्य, पृ० ११

कि लेखक योग्य और ग्राह्य व्यवहार मात्र को ही 'धर्म' कहता है और एक परम्परा तथा संस्कार में बंधा उस सुव्यवहार के लिए हिन्दू-धर्म शब्द का प्रयोग कर रहा है।

हमारा विषय 'परिवार' है। श्री गुरुदत्त की दृष्टि से परिवार एक घेरा है, जिसमें एक ही रक्त के सब सदस्य सहयोग और सहकारिता, निस्वार्थता और कर्त्तव्य के सूत्रों में बंधे सम्मिलित रहते हैं। जब तक घेरे के भीतर के सभी सदस्य अपने सामान्य और विशेष धर्मों का उचित पालन करते हैं, तब तक ही परिवार बना रहता है, अन्यथा खण्डित हो जाता है।[1] पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हमारे नए समाज में भौतिक-उपकरणों के विकास, अनुचित शिक्षा, स्वार्थ, अनीति और वैयक्तिकता की अभिवृद्धि के कारण परिवार के मान बदल रहे हैं। "यों तो परिवार-प्रथा के विरोधी भी परिवार रखते हैं, परन्तु उनके परिवार का घेरा पति-पत्नी और छोटे बच्चों तक ही, जब तक वे बड़े होकर कमाने न लग जावें, सीमित होता है। बच्चे बड़े हुए तो उनको अपना पृथक घेरा बनाना होता है। हिन्दू संयुक्त परिवार का घेरा इससे बड़ा है। कहीं कहीं तो यह घेरा मामा, चाचा, ताऊ, पितामह, पौत्र, प्रपौत्र इत्यादि तक विस्तार पा जाता है।"[2] निश्चय ही बुद्धिवादी लोग कहेंगे कि आज का युग उक्त संयुक्त परिवार का नहीं; मनुष्यों का निवास भेड़ों का बाड़ा नहीं बनाया जा सकता। यह ठीक है। श्री गुरुदत्त ऐसे किसी परिवार का विधान नहीं करते, जहां एक ही स्थान पर सबको किसी छोटी सी रस्सी से बांध रखा हो। यह संकीर्णता है। उनके परिवार विधान की रस्सी, प्रायः सभी पारिवारिक उपन्यासों में, इतनी लम्बी है कि दूर रहने वाले, स्वतन्त्र रसोई चलाने वाले और परस्पर विभिन्न आदतों वाले रक्त के सम्बन्धी तथा यहां तक कि रक्त-सम्बन्धों से बाहर के व्यक्ति भी (सफलता के चरण), यदि एक लक्ष्य, परस्पर सहानुभूति, समादर और सहकार से बंधे हैं, तो वह घेरा परिवार ही है, वही 'गुंठन' है। परिवार-गुंठन के बिखर जाने के कारणों पर विचार करते स्वयं लेखक ने लिखा है, "इस ज़माने में दो वस्तुओं का अभाव हो गया है। एक तो ईश्वर में विश्वास का। इस विश्वास के अभाव में मनुष्य अधीर हो गया है और समय से पूर्व त्याग-तपस्या किये बिना फल की इच्छा करने लगा है। .....दूसरे परिवार के सदस्यों में मेल-जोल, सहानुभूति और सहिष्णुता का अभाव हो

१. 'तब और अब' की कथावस्तु इसी तथ्य पर आधारित है।
१. 'गुंठन' : प्राक्कथन।

गया है। वे भूल गए हैं कि जल से रक्त गाढ़ा होता है। जन्म के सम्बन्धियों को छोड़ हम मित्रों, सहेलियों और पत्नियों से अधिक समीप होने का यत्न करते हैं। इससे सदा धोखा खाते हैं१। युवक पति अपनी पत्नी की झूठी स्वतन्त्रता के लिये विवाह के शीघ्र ही बाद परिवार का जुदा घेरा बनाने का सपना लेने लगता है। युवा पत्नी नहीं चाहती कि उसके पति की आय का कोई भी अंश उसके सास ससुर तक पहुंचे। देवर-ननद तो उपेक्षणीय होते ही हैं। अभिप्राय यह कि वह भूल जाती है कि उसके पति को पति बनने योग्य बनाने वालों का भी कुछ अधिकार उस पर है। स्वयं पति चार दिन की चकाचौंध में 'पत्नी-प्रेम' से बंधा उसके इशारों पर नाचता रह जाता है। अपने "धर्म" से गिर जाता है .....परिवार-भंग हो जाता है। गुरुदत्त के कई उपन्यासों में इस स्थिति की ओर संकेत किया गया है।

'गुंठन' में ईसाई-सभ्यता के अनुकरण पर चलता हुआ विनोद नलिनी से विवाहोपरांत परिवार से इसलिये जुदा होता है कि यह नलिनी की इच्छा है। नलिनी ऐसे 'परिवार' में पली है, जहां १८ वर्ष की आयु के बाद लड़की को घर में अपने भोजन के लिये भी कीमत देनी पड़ती है। मीनाक्षी इसका उदाहरण है। विनोद का सर्वनाश, और विवश होकर नलिनी का पुनः भगवद्स्वरूप के परिवार में आश्रय पाना, इस जुदाई और धर्म पतन का ही परिणाम है। वास्तव में आज परिवार विभाजन के तीन मुख्य कारण दिखाई पड़ते हैं, जिन पर लेखक ने विभिन्न उपन्यासों में प्रकाश डाला है। १-पदार्थवादी-दृष्टिकोण, २-अनुचित शिक्षा, ३-अर्थ-शास्त्र की गलत धारणाएं।

पदार्थवादी दृष्टिकोण हर वस्तु को धन के चश्मे से देखता है। कोई नहीं चाहता कि उसका धन किसी और को लाभ पहुचाये। राष्ट्र का समाजवादी ढांचा इसी कारण असफल हो रहा है। "जहां बड़ी आय वाला पुत्र अपने पिता के साथ उस आय का भोग करना नहीं चाहता अथवा जहाँ धनी माता पिता की लड़की अपनी सम्पत्ति अपने निर्धन पति से पृथक् रखना चाहती है, वहां कोई अपने पड़ोसी अथवा नगरवासी से कैसे, अपनी योग्यता से उत्पन्न आय बांट कर प्रयोग कर सकता है? 'सोशिलिस्टिक पैटर्न आफ सोसाइटी' का आह्वान करने वालों के घरेलू जीवन उनके उद्देश्यों पर प्रकाश डालने वाले होंगे"।२ दूसरा कारण अनुचित शिक्षा है आज की शिक्षा का श्रीगनेश अंग्रेज़ों के क्लर्क, उत्पादन करने वाले कारखानों के रूप में हुआ था।

१. 'तब और अब' पृ० ३२०
२. 'गुंठन': प्राक्कथन,

इसमें हमारी अपनी संस्कृति, धर्म या नीति को कोई स्थान ही नहीं दिया जाता । पुनः यह सैद्धान्तिक शिक्षा है, इसमें व्यावहारिक विद्या का लेश भी नहीं रहता । कमाने के लिये शिक्षा भले ही आपको योग्य बना दे, परन्तु जीने के लिये, जीवन की यथार्थता को जानने और परखने के लिये, शिक्षा की नहीं, विद्या की आवश्यकता है । "एक शिक्षित वकील, डाक्टर, इंजीनियर इत्यादि यदि विद्या-विहीन हो तो वह अपना कर्त्तव्यपालन (धर्म) नहीं कर सकता१।" अतः परिवार के महत्व को समझने में असमर्थ रहता है। तीसरी बात है अर्थ-शास्त्र की गलत धारणाएं । "तब और अब" में अर्थ शास्त्र का एक प्राध्यापक-पात्र भूषण इसी चक्कर में है । परिवार की संयुक्त पूंजी में जो धन उसकी माता को मिला, उसे वह अनु-पार्जित-धन कह कर हराम समझता है । मां पूछ लेती है, "तो फिर यह रुपया, और यदि यह बैंक में रखा हो, तो इसका व्याज कौन ले ?"

"सरकार ले ।"

"सरकार क्यों ले ?

"वह हमारी रक्षा करती है?"

"उसके लिये तो लोग कर देते हैं । किसान भूमि-कर के रूप में देता है । तुम्हारे नाना ने यह आयकर के रूप में दिया है । सुना है प्रति सौ रुपया आय पर पचास रुपये से भी अधिक सरकार ले लेती है ।"

"वह कम था"

"तो और अधिक ले लेती ! परन्तु जब एक मतलब के लिये सरकार ने रुपया ले लिया, तो फिर उसी मतलब के लिये दूसरी बार क्यों लें ?"२ विस्मय तो इस बात का है कि आज का अर्थशास्त्री 'मनुष्य के परिश्रम' के मूर्तरूप को ही धन मानता है, परन्तुं परिश्रम करने वाले को उसके भोग का अधिकार नहीं देता । वह भूल जाता है कि परिश्रम करने वाले को यदि यह मालूम हो कि "मेरी कमाई में से बचे, सौ रुपयों से अधिक को सरकार लेकर अपनी इच्छा से व्यय करेगी, तो मैं या तो सौ रुपये की कमाई कर घर आकर लेट जाऊंगा अन्यथा अपना खर्च बढ़ा दूंगा । अन्न अनाज तो कुछ अधिक खाया नहीं जा सकता, इस कारण शराब पिऊंगा, वेश्यागमन करूँगा और बीस प्रकार की खरमस्तियां करूँगा ।३" अस्तु, मार्क्सवादी–धारणाएं, जो ऊपर से पूंजी की विरोधिनी होकर भी भीतर से धन के पीछे पगलाई हैं (Scarch a communist and you

१. विद्यादान पृ० १३३
२. तब और अब, पृ० १२६—३०
२. वही, पृ० १३१

will find a capitalist in him)

भारत के परम्परित परिवार-आयोजन पर आघात सिद्ध हो रही है। अर्थ के सम्बन्ध में पुराने, नए और साम्यवादी दृष्टिकोणों का भेद परिवार-विभाजन का कारण बन रहा है।

श्री गुरुदत्त के उपन्यासों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वे पारिवारिक मूल्यों के पुनर्स्थापन में विश्वास रखते हैं। उनका विश्वास है कि भारत में परिवार ही एकमात्र सामाजिक इकाई है। लोग जब व्यक्तिवाद के प्रवाह में दूर तक बह जाते हैं तो अविभाज्य-इकाई के अंग-भंग का भी प्रयास होता है। भारत में संयुक्त परिवार विधान जो युगों तक सफलता की तूती बुला, अकस्मात् ह्रास की ओर बढ़ चला है. इसी अशुद्ध विचार-धारा का शिकार हुआ है। व्यक्ति का निजी-महत्व समष्टि से पूर्णत: विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। जैसे नाखून से मांस नहीं उतरता, वैसे ही कोई अंग अपनी इकाई से जुदा होकर स्वयं सम्पूर्ण इकाई कदापि नहीं रह सकता। इसी विचार-रुचि से विद्वान्-उपन्यासकार परिवार की उपमा लिमिटेड-कम्पनी के उद्देश्यों और क्रियाओं प्रक्रियाओं से देता है। "मैं परिवार को कोई धर्म-संस्था या क्रीड़ा स्थान नहीं मानता। यह एक आर्थिक इकाई है। इसके सदस्यों में रक्त का सम्बन्ध होने से इसमें कुछ लचक विद्यमान होती है। एक लिमिटेड कम्पनी और एक परिवार में अन्तर केवल इसी लचक में है। इस पर भी यह लचक असीम नहीं है[1]।" परिवार के घेरे में आने वाले प्रत्येक सदस्य को यदि कुछ विशेषाधिकार हैं तो उनके अनुरूप उन्हें कर्त्तव्यपालन करना अपेक्षित है। कर्त्तव्य-च्युत सदस्य घेरे में नहीं रह सकता ठीक है कि उसे परिवार के घेरे से निकलने के लिये कोई रोक नहीं सकता, परन्तु घेरे में प्रवेश भीतर के सदस्यों की इच्छा की वस्तु है।

परिवार के सदस्यों से किसी न किसी प्रकार के कर्म या परिश्रम की अपेक्षा रहती है। घर या बाहर, किसी भी क्षेत्र में सभी सदस्य आर्थिक, मानसिक, सामाजिक या सांस्कृतिक आय के साधन होते हैं। अतः आर्थिक-आय करने वाला मानसिक आय (स्त्रियों द्वारा घर की व्यवस्था या बच्चों द्वारा हमारे वात्सल्य भाव का पोषण आदि) के आर्जक को अपने धन का अंश देने से इंकार नहीं कर सकता। यह पारिवारिक विनिमय है। घर की स्त्री भले बाहर से कमा कर न लाए, परन्तु पारिवारिक-अन्तर्भावन के अर्जन में उसका बड़ा भाग है। इसी

१. गंठन पृ० ३३—३४

लिये परिवार के धन, मान और सुघड़ता में वह बराबर की भागीदार है। हां, बेटी को दूसरे के परिवार का अंश बनना है, दूसरे के परिवार का सृजन करना है, इसलिये वह जब तक बेटी है, किसी की पत्नी नहीं बनती, तब तक वह सब मान्य अधिकारों का भोग कर सकती है। विवाह पर परिवार के सभी सदस्यों द्वारा अर्जित धन के सुरक्षित कोष से उसके भाग के बराबर धन के उपहार भी उसे दिये जा सकते हैं, और विपत्ति, कठिनाई या दुर्भाग्य के समय परिवार के सदस्यों की अनुमति से बाद में भी उसकी सहायता की जा सकती है--परन्तु वह उस परिवार की स्थायी सदस्या नहीं रह जाती। इसके विपरीत परिवार में प्रवेश करने वाली बहू को पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। यदि हिन्दू घर का लड़का विजातीय लड़की से भी विवाह करले, तो बहू बनने के बाद वह परिवार की साधिकार सदस्या होती है, उसे पारिवारिक सम्मान प्राप्त होता है--गुरुदत्त की यह उदार-दृष्टि 'हिन्दू' का गलत अर्थ लेने वालों के लिये एक चुनौती है। गंगा अपनी बहु से कहती है, "परन्तु बहू! तुम म्लेच्छ नहीं हो। मैंने पहले भी एक दिन बताया था कि तुम मेरे लड़के की बहू हो, इस कारण मेरे घर का एक अंश हो और मेरे घर में कोई मलेच्छ रह ही नहीं सकता[1]।" "गुंठन" की ईसाई नलिनी और उसकी बहिन मीनाक्षी का भगवद्सरूप के परिवार में उतना ही अधिकर स्वीकार किया गया है। 'पंकज' की नसीम मुसलमान होते हुए भी हिन्दू परिवार में बहू-रूप में योग्य सत्कार पाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि उपन्यासकार का शुद्ध भाव धर्म और नीति की ओर संकेत करता है नखरे, आडम्बर और औपचारिकता की ओर नहीं।

श्री गुरुदत्त मानते हैं कि नारी के लिये परिवार में उपयोगी वातावरण बनाये रखने तथा पारिवारिक उन्नति में प्रयत्नशील रहने में ही इतना दायित्व है कि वह घर से बाहर के क्षेत्र के लिये नहीं रह जाती। जब तक दुर्भाग्य पूर्णतः आच्छादित न हो जाए, कोई बहुत बड़ी मुसीबत न टूटे, बाहर नौकरी करने निकलना नारी का धर्म नहीं है। यह अनुचित है, और समाज के लिये हानिकारक भी। "स्त्री समाज में नए आने वाले घटकों की जननी है। यह उनको समाज का उपयोगी अंश बनाने की प्रथम शिक्षिका है। यह समाज में सुख-शान्ति की सृजनकर्त्री है। यदि इसको कारखाने में मशीनों के संचालन आदि जैसे कार्य में लगा दिया जाएगा तो यह ऐसा ही होगा, मानों एक जौहरी को लोहा

१. ममता, पृ० ४७

पीटने अथवा ढालने के कार्य पर लगाया गया हो। कदाचित् इससे भी बुरा। जौहरी का तथा लोहा पीटने का कार्य समाज के लिये उतना आवश्यक नहीं, जितना नवजात शिशुओं का पालन-पोषण करना तथा उनको शिक्षित कर उन्हें समाज का उपकारी अंग बनाना।[1]" 'भूल' में कर्मचारी-वर्ग की निर्मला और उसके पुत्र-पुत्री की दुर्दशा इसी तथ्य का प्रतीक है। यदि वह घर सम्भालती, तो न बच्चे बिगड़ते, न उसे पटरानी और अपने पति के सम्बन्धों में सन्देह होता और न ही दफ्तर के अधिकारियों के चक्कर में उसे आना पड़ता। यहां यह संकेत देना भी अन्यथा न होगा कि लेखक आधुनिक भाषा के परिवार नियोजन में भी विश्वास नहीं रखता। संयम बड़ी चीज़ है, उसके द्वारा हर बात ग्राहय और प्रेय हो सकती है, परन्तु गर्भ निकलवाना मूर्खता ही नहीं, ईश्वर के प्रति विद्रोह है। 'तब और अब' में बैरिस्टर रघुनाथ सहाय और भूषण जो अपनी पत्नी का गर्भपात करवाने का विचार रखता है, में हुई बातचीत बड़ी ही युक्तिसंगत है। "कहीं सुभाषचन्द्र बोस के मां-बाप भी यही करते जो तुम करने जा रहे हो, तो भारतवर्ष एक शूर-पुत्र की सेवाओं से वंचित रह जाता और कहीं रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता भी यही कुछ करते तो वह भी न हो सकता। ये दोनों परिवार में सब से छोटे थे[2]।"

परिवार का एक महत्वपूर्ण अंग है--आर्थिक-व्यवस्था। ऊपर लिखा जा चुका है कि धन लोलुपता के कारण आज परिवार भंग हो रहे हैं। श्री गुरुदत्त के उपन्यास इस समस्या का हल यों सुझाते हैं--समूचे परिवार की आय से सब प्रकार के खर्च आदि निकाल कर कुछ न कुछ हर महीने सुरक्षित-कोष में डाला जाय। परिवार के किसी भी सदस्य की आवश्यकता के समय इस सुरक्षित-कोष से सहायता ली जाय। लड़कों की उच्च शिक्षा, बेटियों के ब्याह-शादी, त्यौहार-उत्सव, रोग, व्यवसायादि में घाटा या वास्तु आदि के लिये अपेक्षित व्यय उसी संचित-कोष से हो। इस प्रकार करने से आकस्मिक आर्थिक कठिनाई की संभावना तो घटेगी ही, साथ ही साथ उस धन पर किसी का एकाधिकार न होने के कारण सभी उससे समान लाभान्वित होंगे। उक्त प्रकार के कोष और पारिवारिक घेरे के उदाहरण सामान्यतः सभी सामाजिक उपन्यासों में विद्यमान हैं। मुख्यतः गुंठन, सफलता के चरण और विकृत-छाया उपन्यासों की ओर संकेत किया जा सकता है। क्रमशः

१. 'भूल', भूमिका
२. तब और अब, पृ० १५६

लाला भगवत सरूप, रामसुमन के परिवार तथा कमल का आश्रम उक्त-धारणा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। भगवत सरूप अपने सुरक्षित-कोष में से बीस हज़ार की रकम बिना मांगे ही विनोद को जुदा परिवार स्थापित करने पर दे देता है । मुसीबत पड़ने पर उसकी पत्नी नलिनी को परिवार का संरक्षण प्रदान करता है । बेटी और दामाद, कान्ता और सुरेश की इच्छा का मान करता हुआ. उन्हें भी परिवार के घेरे में प्रवेश देता है । मीनाक्षी के शुचि-व्यवहार से उसे ईसाई न मान कर हिन्दू कसौटी पर परखता और अपनाता है । (ठीक है कि साामन्य-जीवन में ऐसा सम्भवतः देखने को न मिले, परन्तु ये आदर्श-कल्पनाएं लेखक की उदारता की प्रमाण हैं। हिन्दुओं का कछुआ–धर्म हिन्दु लड़के के मुस्लिम लड़की से विवाह हो जाने पर लड़के को ही एक दम मुसलमान हो गया मान लेता है, बहू को धर्म और नीति पर चलने से भी हिन्दू हुई नहीं समझता। गुरुदत जैसा कि पंकज और गुंठन आदि उपन्यासों में है, इस भावना को आदर्श रूप देना चाहते हैं और हिन्दुओं की संकीर्णता का विरोध करते दीख पड़ते हैं) 'सफलता के चरण' का राम सुमन अपने सेठ की पत्नी और पुत्र-पुत्री को अपने परिवार में सम्मिलित करता है । सतीश की इच्छा पर सोमा को भी स्वीकार करता है । पारिवारिक व्यवसाय गौशाला है। उसमें छोटे से बड़े तक, सभी कार्य करते और आय का साधन बनते हैं। विकृत-छाया में कमल का आश्रम ऐसा ही परिवार है। उसके सदस्य बाहर-भीतर का सभी कार्य करते हैं। तकलीफ या कष्ट में उनका व्यय सुरक्षित धन से होता है । वीणा और मिस्टर सुंदरम् के आश्रम छोड़ने पर उन्हें संचित सम्पत्ति का योग्य भाग भी उपहार रूप में मिलता है । आश्रम-वासियों के हर्ष-शोक सब सांझे हैं। यही पारिवारिक आदर्श है ।

जहां एक ओर गुरुदत्त सुरक्षित-कोष पर परिवार की स्त्रियों का समाधिकार मानते हैं, वहां उन्हें अति की सीमा तक अनावश्यक स्वतन्त्रता देने के पक्ष में वे कदापि नहीं। 'उन्मुक्त-प्रेम' की प्रेम, 'विकृत छाया' की छाया और 'भूल' की निर्मला के चरित्र इस कथन का समर्थन करते-से प्रतीत होते हैं। इनमें से कोई भी पात्रा स्वतन्त्र-विचरण, विकृत दृष्टिकोण और हठ तथा प्रतिशोध की भावनाओं के कारण सफल गृहिणी नहीं बन सकी । ये सब स्त्रियां परिवार के घेरे में बंधने की अपेक्षा स्त्री-जाति के झूठे सुधार, अधर-स्वतन्त्रता, पुरुष के दोष खोजने में ही शक्ति का क्षय करने में ही संलग्न रहीं । परिणाम हुआ प्रेम और छाया द्वारा अयाचित गर्भ-

धारण और आप्रेशन द्वारा उसका पतन करवाना, निर्मला की गृहस्थी का जड़-मूल से उखड़ जाना । ऐसी ही स्थिति में क्षुब्ध होकर लेखक ने लिखा है, "रूज और लिपस्टिक के रंग शेड पर मुग्ध होने वाली स्त्रियां, बालों पर सैंकड़ों रुपये व्यय कर उन पर अनेकों प्रकार की रेखाएं निकालने वाली स्त्रियां और साड़ी व ब्लाउज़ के दस दिन पुराने फैशन पर झुंझला कर पतियों से लड़ने वाली स्त्रियाँ, स्त्री जाति का उद्धार करने का दम भरें तो उनको 'विकृत' नाम देने के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है १?"

स्त्रियों का ऐसा ही एक स्वतन्त्र परन्तु संकीर्ण दृष्टिकोण "मैं न मानूं" में दिखाई पड़ता है। माला द्वारा अपने पति की आय पर एकाधिकार जमाने तथा उसे संयुक्त परिवार से तोड़ने के लिये लड़ना-झगड़ना तथा अपने भाई द्वारा श्वसुर पर धर्म-च्युति का झूठा आरोप लगवाना ऐसी ही अवाञ्छित-स्वतन्त्रताओं का परिणाम था ।

उक्त पारिवारिक–मूल्यों के सहयोगी तत्त्वों के रूप में गुरुदत्त भाग्यवाद और आस्तिकता को भी परिवार की सुख समृद्धि और शान्ति के लिये आवश्यक मानते हैं ।

विवाह की शुद्ध-भावना परिवार की नींव है । पश्चिमी सभ्यता की रंगत में हम आज विवाह को वासना-क्रीड़ार्थ सामाजिक प्रमाण पत्र मात्र समझने लगे हैं। लेखक को यह स्वीकार नहीं । उसका निश्चित-मत है कि अनेक पतियों का संग करने वाली त्यक्ता तथा पुनर्विवाहिता स्त्री महापुरुषों की जननी नहीं हो सकती। "विवाह में केवल शारीरिक सौन्दर्य ही एकमात्र विचार की वस्तु मानना वेश्या-वृत्ति को सुलभ करना तथा विस्तार देना है । वे लोग, जो विवाह सम्बन्ध में शारीरिक सौन्दर्य को एकमात्र कारण मानते हैं और विवाहित-जीवन में यौन क्रिया को ही उद्देश्य समझते हैं, विवाह को वैश्या-वृत्ति का सस्ता रूप कहने लगते हैं२ ।" पारिवारिक-जीवन में विवाह तो एक सहायक-कृत्य है, सम्भोग मात्र इसका उद्देश्य नहीं । यह तो पाश्चात्य भौतिक-वादी पृष्ठभूमि है कि जितने दिन एक से मन मिला, रह लिया, अन्यथा तलाक दे कर किसी दूसरे की सेज गर्माने लगी। यह वृत्ति भारतीय पारिवारिक-धारणा पर बड़ा आघात पहुंचा रही है। लेखक का विश्वास है कि "साधारण रूप में विवाह-सम्बन्ध अटूट होना चाहिए जहां गृहस्थ-जीवन का अर्थ प्रायः कर्त्तव्य पालन हो, वहां तलाक की स्वीकृति

१. विकृत-छाया—भूमिका
२. पाणिग्रहण, भूमिका

नहीं होनी चाहिए। तलाक वहीं क्षम्य हो सकता है, जहां पति-पत्नी परस्पर इकट्ठे रहते हुए अपने वर्णाश्रम-सम्बन्धी कर्मों का पालन करने में असुविधा मानते हों।"१ आजकल तो साम्यवादी विचार-सरणी परिवार-क्षेत्र में भी अपने छींटे बिखेरने के प्रयत्न में है। उन्मुक्त प्रेम की भावना में बहने वाले युवक-युवती सम्भोग को प्रेम की पराकाष्ठा मान लेते हैं और इसे प्रेम का स्वाभाविक विकास समझते हुए किसी से भी लैंगिक सम्बन्ध जोड़ना श्रेय समझते हैं। 'उन्मुक्त-प्रेम' के बिहारीलाल और प्रेम के निर्बंध-प्रेम सम्बन्धी विचार कुछ ऐसे ही हैं। तभी तो वह अपनी सती-पत्नी विमला को छोड़ कभी प्रेम, कभी नरगिस को अपनाता है और कभी इनसे भी असंतुष्ट होकर अन्य लड़कियों के पीछे भागता फिरता है। प्रेम भी कभी बिहारीलाल, कभी गुलामरसूल और कभी सेठ धन्नाराम से लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करती है। ऐसे निर्बंध उन्मुक्त-प्रेम में विश्वास रखने वाले युवक-युवती परिवार-आयोजन का उचित रूप क्या खाक पहचान सकते हैं? रखैल रखने की वृत्ति भी परिवार भंजक है—गुरुदत्त ने अपने एकाधिक उपन्यासों में यह सिद्ध किया है। 'विकृत-छाया' की छाया अभिवृत्यात्मक रूप में ही परिवार-निर्माण के अयोग्य हो गई है। मदिरा-पान, मांसाहार और अन्य तामसिक-भोजनों की उत्तेजना में जलती औरत का पतन स्वाभाविक ही तो है, उससे सफल गृहस्थी चला सकने की आशा ही कैसे की जा सकती है।

पुनः आज के 'शिक्षित' लोग परिवार में भी डिप्लोमेसी का दखल रखने का प्रयास करते हैं? यह न केवल अनुचित ही है, बल्कि हानिकारक और कष्टप्रद भी है। शिवदान सिंह२ अपने इस व्यवहार पर ही इतराता है और परिणामस्वरूप उसी की पत्नी किसी और के साथ भाग खड़ी होती है। जो चीज़ राजनीति के क्षेत्र में सफलता-दायिनी है, ज़रूरी नहीं कि वह परिवार में भी सुफल का आधार बने। पारिवारिक-डिप्लोमेसी प्यार, संभावना और पारस्परिक हित-चिन्तन पर पनपती है, न कि मक्कारी, मिथ्या प्रशंसा और असद्भावना में।

सार यह कि गुरुदत्त की दृष्टि में सफल और सुकृत परिवार वही हो सकता है, जिसका प्रत्येक सदस्य धर्म नीति, सदाचरण, कर्त्तव्य पालन आदि में विश्वास रखते हुए किसी विशिष्ट लक्ष्य तक पहुंचने के हेतु साहसपूर्ण संयुक्त

१. पाणि ग्रहण भूमिका

२. 'निष्णात' का मुख्य पात्र

संघर्ष में अपने तन, मन धन को लगादे। रामसुमन, भगवद् सरूप के परिवार तथा कमल का आश्रम ऐसी ही परिवार-संस्था के उदाहरण हैं। ऐसे घेरे में ही विवाह की सफलता, सन्तानों की योग्यता परिणामों की अनुकूलता, लैंगिक-संबंधों की शुचिता, आर्थिक–कठिनाइयों का सामान्यतः अभाव, जीवन के सर्वांगीण-सुख, मानसिक–शान्ति, निर्विकार प्रेम, पारस्परिक सम्वेदना, संयुक्त-संरक्षण और खानदानी-सम्मान आदि की उपलब्धि सम्भव हो सकती है। ऐसा ही कोई परिवार अपने भीतर प्रवेश पाने वाले को चाहे वह विजातीय हो, निर्धन या विदेशी ही क्यों न हो, अपने रंग में रंग लेने का सामर्थ्य रखता है। सच्ची पारिवारिकता का सार-भूत तत्त्व इसी सामर्थ्य की पूंजी है। इसी आदर्श की पुनर्प्राप्ति का संदेश लेखक अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय-समाज को दे रहा है, यही उसकी निष्ठ-साधना है।

स्वेच्छा से ग्रहण किए दुःख को ऐश्वर्य के समान भोगा जा सकता है।

—शरत्

दुख भोगने से सुख के मूल्य का ज्ञान होता है।

—सादी

दुःख छोटे मनष्यों को वशीभूत कर निस्तेज कर देता है, परन्तु महान् पुरुष दुःख को जीत कर उससे ऊपर उठ जाते हैं।

—वाशिंगटन इर्विंग

भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धारक स्वामी विवेकानन्द

डॉ० ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श

स्वामी विवेकानन्द ने लन्दन से दिनांक ७ जून, १८९६ को मिस नोबल को एक पत्र में अपने आदर्श और लक्ष्य के सम्बन्ध में लिखा था—'मेरा आदर्श थोड़े शब्दों में इस प्रकार है। 'मनुष्य मात्र को जीवन की प्रत्येक गतिविधि में उसके देवत्व को प्रकाशित कर सकने की शिक्षा देना। यह संसार अंधविश्वास की शृंखलाओं में आबद्ध है। स्त्री हो या पुरुष, मुझे उन अत्याचार पीड़ितों पर दया आती है तथा उससे भी अधिक दया आती है मुझे उन अत्याचारियों पर। एक विचार जो मुझे सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वह यह कि सारे दुःखों का कारण अज्ञान को छोड़ कर और कुछ नहीं है। संसार को कौन प्रकाश देगा ? भूतकाल में बलिदान ही इसका नियम रहा है और आने वाले युगों तक भी यही रहेगा। संसार के सर्वश्रेष्ठ और साहसी लोगों को अनेकों के कल्याण के लिए, आत्मबलिदान करना होगा। आवश्यकता है असीम स्नेह और करुणा से पूर्ण सैंकड़ों बुद्धों की।

विश्व के धर्म प्राणहीन उपहास बन गये हैं। संसार को आज आवश्यकता है चरित्र की। संसार चाहता है आज ऐसे लोगों को जिनका जीवन प्रेम से प्रज्वलित और संसार से रहत हो। वह प्रेम प्रत्येक शब्द को विद्युत के समान प्रभावशाली बना देगा......"

विवेकानन्द अपने इन्हीं आदर्शों की पूर्ति के लिये जिये। उन्होंने भारतीय संस्कृति की नये युगीन सन्दर्भों में व्याख्या की। उनका लक्ष्य था पीड़ितों के आंसुओं को पोंछना और मानव प्रेम की प्रतिष्ठा करना। इसे ही वे सर्वोच्च धर्म मानते थे। उनका कथन है, "मैं ऐसे भगवान् या धर्म में विश्वास नहीं करता जो किसी विधवा के आंसू नहीं पोंछ सकता या किसी अनाथ के मुंह में रोटी नहीं दे सकता। किसी धर्म के सिद्धांन्त कितने ही उच्च हों या उनका दार्शन कितना ही

सूक्ष्म हो, तो भी जब तक वह ग्रन्थों तथा विश्वासों तक ही सीमित है, मैं उसे धर्म नहीं कहता । भगवान को खोजने के लिये आपको कहां जाना चाहिए? क्या सभी दरिद्र, दुःखी, दुर्बल व्यक्ति भगवान नहीं हैं ? पहले उनकी पूजा क्यों न की जाय ?" वे सभी को सुखी और समान स्तर पर देखना चाहते थे और इसी लिये भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति होने पर भी उनकी राष्ट्रीयता संकुचित नहीं थी । वे उद्घोष करते थे कि 'सामाजिक, राजनीतिक या आध्यात्मिक इन सबका प्रगति का एक ही आधार है यह कि मैं और मेरे सब भाई एक हैं। यह तमाम देशों और तमाम जातियों के लिये है ।' इसके लिये किसी धर्म और उसके बन्धनों को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं । इसी लिये उन्होंने शिकागो के विश्वधर्म-सम्मेलन में धर्माचार्यों को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट कहा था--'यदि यहां पर उपस्थित किसी व्यक्ति को यह आशा है कि एकता किसी एक धर्म की विजय और अन्य धर्मों के विनाश से प्रादुर्भूत होगी तो उससे मैं कहता हूं, बन्धु ! तुम्हारी आशा असम्भव है। क्या मेरी अभिलाषा यह है कि ईसाई हिन्दू हो जायें ? भगवान् ऐसा न करें। क्या मेरी अभिलाषा है कि हिन्दू या बौद्ध ईसाई हो जायें ? भगवान् ऐसा न करें ।....ईसाई को हिन्दू या बौद्ध को ईसाई नहीं होना । किन्तु प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों की भावना को आत्मसात कर ले । और फिर अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित करते हुए स्वयं अपने विकास नियम द्वारा विकसित हो।'

वे मानवतावादी थे और इसीलिये समन्वयवादी भी । पूर्व और पश्चिम दोनों की विशषताओं को वे समान दृष्टि से देखते थे । विष्णु प्रभाकर का यह कथन उचित ही है कि 'पूर्व की गहन अन्तर्दृष्टि और उसका आदर्शवाद तथा पश्चिम का विश्लेषणात्मक बुद्धिवाद और उसकी गत्यात्मक व्यावहारिकता ये सभी गुण उनके अन्तर में समान रूप से रमे हुए थे ।'

सच तो यह है कि वे सभी प्रकार की संकीर्णताओं से परे थे। अतीत के गौरव का डंका पीटते हुए आलस्यपूर्ण जीवन बिताना उन्हें स्वीकार न था। भारतीयों की इस प्रवृत्ति की उन्होंने अनेकों प्रसंगों पर कटु भर्त्सना की और गतिशील बनने का आह्वान किया। वे स्पष्ट कहते थे, "जो राष्ट्र अपने लिये साधारण भोजन और वस्त्र की व्यवस्था नहीं कर सकता, जो अपने जीवन-निर्वाह के लिये हमेशा दूसरों पर निर्भर है, उसके पास अभिमान करने के लिये क्या है ? कुछ समय के लिये आप अपने धार्मिक कर्मकांडों को त्याग दीजिये और पहले जीवन-संघर्ष के लिये तैयार हो जाइए।"

पश्चिम की भौतिक प्रगति से वे प्रभावित थे और भारतीय आध्यात्मिक मूल्यों के साथ भौतिक साधनों के विकास के इच्छुक थे। भारत के पतन के कारण पर विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है —'दुनिया के दूसरे राष्ट्रों से हमारी अलहदगी अध:पतन का कारण है। और इसका इलाज सिर्फ यही है कि हम फिर से बाकी दुनियां की धारा में शामिल हो जायें। गतिशीलता जीवन का चिह्न है, इसलिये संकीर्णता को छोड़ कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीज़ें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सम्भव नहीं होती और समानता वहां आएगी कहां से जहां एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है और दूसरा उसका सनातन शिष्य।'

राष्ट्र की प्रगति के लिये महिलाओं के पुनरुद्धार को वे अत्यावश्यक मानते थे। वे मनु की सूक्ति 'यत्र नार्यस्तु पर्ण पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' के प्रबल समर्थक थे। नारी को वे त्याग और तपस्या की प्रतिमा के रूप में देखते थे। नारी उनकी दृष्टि में माता थी, और वे कहते थे—'विश्व में जननी नाम से अधिक पवित्र और निर्मल दूसरा कौन सा नाम है? जिसके पास कभी वासना और पाशविक तृष्णाएं फटक भी नहीं सकतीं, यही मातृत्व भारतीय नारी का आदर्श है।"

भारतीय नारी की अशिक्षा से वे दु:खी थे और उनकी उचित शिक्षा की व्यवस्था चाहते थे। पाश्चात्य नारी के बौद्धिक विकास की सराहना करते हुए भी वे उसकी विलासलिप्ता से सशंकित थे। यही कारण है कि वे धर्म को केन्द्र बनाकर स्त्री-शिक्षा की संयोजना को महत्त्व देते थे। उनका कथन है कि केवल बौद्धिक विकास से मानवता का कल्याण नहीं हो सकता। आध्यात्मिकता के बिना वह एकांगी है। सच तो यह है कि उन्होंने अपने दिव्य विचारों से अज्ञान मूर्छिता भारतीय नारी और वैभव लोलुपा पाश्चात्य नारी दोनों को नारी के पवित्र रूप से परिचित कराया।

विवेकानन्द आज हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उनके विचारों के ज्योति-स्तम्भ आज भी हमारे मार्गदर्शन की क्षमता रखते हैं। आज राष्ट्र की सीमाओं पर जब शत्रुओं का जमाव गिद्धों सा लगा है हमें उनका कथन याद आता है—'इस समय हमारे देश को आवश्यकता है लोहे के भुजदण्ड और इस्पात की नसों की—ऐसी महत्वाकांक्षा की, जिसे कोई नहीं रोक सकता, जो ब्रह्माण्ड के रहस्य को समझने का प्रयत्न करे और जो कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपने उद्देश्य को नहीं भूले।' ○ ○ ○

'सुनीता', 'शेखर एक जीवनी', 'सन्यासी'

○

डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन

श्री जैनेन्द्र हिन्दी के सब से पहले मनोवैज्ञानिक अथच व्यक्ति-परक उपन्यासकार हैं। 'परख' (१६२६) इस धारा का प्रथम एवं सफल उपन्यास है। कुशल कलाकार ने इस लघु कृति में थोड़े से पात्रों को लेकर उनके अन्तर्जगत की अनेक गुत्थियों को, गहनताओं को विश्लेषित करने तथा उभारने का वरेण्य कार्य किया है। इस कृति में प्रेमपरक मांसल व्यक्ति चेतना और कर्मपरक युग-चेतना का अन्तर्द्वन्द्व अत्यन्त मार्मिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक स्वस्थ एवं बलवती चेतना को अपेक्षाकृत अधिक प्रश्रय मिला है। कट्टो, सत्यघन और बिहारी इस कृति के प्रमुख पात्र हैं। ये तीनों ही अपनी-अपनी मनोग्रन्थियों से ग्रथित हैं। लेखक अपनी समस्त कृतियों में गांधीवाद की सत्य अहिंसापरक आध्यात्मिकता के द्वारा ही समस्त समस्याओं का समाधान खोजता है। दूसरे के शुभ के लिये अपना अधिकाधिक उत्सर्ग करना यही गांधीवाद में निहित सत्य और अहिंसा का मूलस्वर है। 'परख' लेखक की सफल कृति होते हुए भी घटनाओं और मनोभावों की स्वाभाविक परिणति की दृष्टि से कुछ लचर कही जाएगी। बिहारी और कट्टो का त्याग और आत्म पीड़न प्रायः आदर्शात्मक हो गया है। पात्रों और घटनाओं का विकास बहुत कुछ अपने ढंग से लेखक ने कराया है, अतः मनोवैज्ञानिक कृति की सबसे बड़ी विशेषता (स्वतः निर्बन्ध विकास) उक्त कृति में खंडित ही मिलती है। परन्तु इस अभाव को भुला कर हमें सर्वथा नवीन और वरेण्य लोक में पहुंचाने वाली बात है पात्रों में वैयक्तिक स्तर पर वृत्तियों का उदात्तीकरण और व्यापक तथा समृद्ध-चेतना का अभ्युदय। पात्र निजी रूप से दैहिक रूप से पीड़ित होकर भी एक व्यापक मानसिक चेतना में रहते हैं।

'सुनीता' (१६३६) जैनेन्द्र जी का मूलतः मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यास है। गांधीवादी दर्शन जिसमें अधिकतम प्रेमपूर्ण त्याग और आत्मपीड़न के द्वारा दूसरे के हृदय परिवर्तन में अटूट आस्था

है, उसकी व्यापक और घनी छाया भी कृति में व्याप्त है। वस्तुतः इस कृति के द्वारा ही हिन्दी जगत में मनोवैज्ञानिक-व्यक्तिपरक उपन्यासों का शंखनाद हुआ, 'परख' ने तो इस युग की सूचना ही दी थी। प्रेमचन्द के समाज-प्रधान, समस्या प्रधान युग की प्रायः इतिश्री इसी के प्रकाशन के साथ हो जाती है। जैनेन्द्र और प्रेमचन्द में रचना विधान, वस्तुशिल्प और चरित्रचित्रण में मौलिक अन्तर है। प्रेमचन्द में विस्तार है, सोद्देश्यता है, समस्या है, पात्र भी समस्या सापेक्ष हैं, लेखक बीच-बीच में अपने निर्णय और मन्तव्य भी देता चलता है, जबकि जैनेन्द्र में घनत्व है, उद्देश्य मनोभूमि परक है--स्वभावोत्थ है, दर्शन संवलित है। व्यक्ति मन की कुण्ठा ही समस्या है, पात्र स्वतः चालित हैं। लेखक उनके भावों, विचारों और क्रियाकलापों पर निजी टीकाटिप्पणी नहीं करता है। पात्रों का मनोमय एवं दार्शनिक व्यक्तित्व ही इस कृति में सर्वोपरि है। कथानक और घटनाएं तो नाम मात्र को हैं। वस्तुतः लेखक की इच्छा मानवीय मानसिक सत्योद्घाटन की है और इसी के लिये उसने एक समस्या--एक घटना की योजना भी की है। कम से कम पात्र, अल्पविस्तार और सीधी प्रभावकारी अभिव्यक्ति देकर जीवन की गहराइयों में रुद्ध एवं घुटते हुए सर्वोपरि सत्यखण्डों का प्रकाशन ही लेखक का अभीष्ट है। 'पुस्तकों में मैंने कहानी कोई लम्बी चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य भी नहीं है अतः तीन चार व्यक्तियों से ही काम चलाया गया है। इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं, उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं।' सुनीता, हरिप्रसन्न और श्रीकान्त ये तीन ही इस लघु उपन्यास के मुख्य पात्र हैं। उपन्यास की मुख्य पात्री सुनीता है, उसी के द्वारा इस कृति का चरम सम्पन्न होता है। उसी का गरिमामय एवं सुलझा हुआ व्यक्तित्व पति और प्रेमी में अत्यन्त पवित्रता एवं स्वाभाविकता से सन्तुलन रखता है। उसका अपने प्रयोगों पर अटल विश्वास है और साथ ही मानव के मानवत्व पर भी। सुनीता उपन्यास में सब कुछ है फिर भी केन्द्रविन्दु हरिप्रसन्न है। समस्त घटनाएं और प्रयोग उसी को लेकर हैं। वह एक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता है, क्रान्तिकारी है, योग्य है, सामर्थ्यवान है और है प्रेमी। इतना होने पर भी उसके जीवन में एक बिखराहट है, अव्यवस्था है और अपने प्रति कुछ अनास्था भी। श्रीकान्त एक सुयोग्य विवाहित युग है। सुनीता उसकी पत्नी है। यह युगल प्रत्येक दृष्टि से सुखी है। फिर भी श्रीकान्त न जाने क्यों एक घुटन का अनुभव करता है और धीरे-धीरे अपने मित्र हरिप्रसन्न

को अपने ही घर [illegible] कुछ दिन बाद स्वयं बाहर चला जाता है। इधर सुनीता और हरिप्रसन्न में धीरे-धीरे प्रीति प्रबल होती जाती है । सुनीता ने अपनी बहन सत्या से हरिप्रसन्न का विवाह कराना चाहा पर हरिप्रसन्न ने अस्वीकार कर दिया । फिर हरिप्रसन्न ने सुनीता को क्रान्तिकारी दल का परिचय करा दिया और नेतृत्व के लिये आग्रह किया । लम्बे तर्क वितर्क के बाद सुनीता अर्धरात्रि में हरिप्रसन्न के साथ घने जंगलों की ओर चल देती है। यहीं घने जंगल में हरिप्रसन्न का दमित काम उद्वेलित एवं प्रदीप्त हो उठता है। वह सुनीता का पूर्ण भोग कर लेने को आतुर हो उठता है । सुनीता हरिप्रसन्न की इस कामाभिभूत, मोहमयी एवं लंपट प्रवृत्ति को ग्लानि , विवेक और सात्विक स्नेह में ढालने के लिये स्वयं को सर्वथा नग्न कर देती है। यह प्रयोग रामबाण की भांति हरिप्रसन्न की वासना का हनन करता है और वह सदा के लिये सुनीता से बिदा लेता है । इस प्रकार सुनीता पति-आज्ञा का पालन भी करती है और अपने पतिव्रत को अक्षुण्ण भी रखती है। सुनीता में अपार तर्कबल है, वह सौजन्य और शालीनता की प्रतिमा है । प्रत्युत्पन्न मति है तथा स्वयं पर दूसरे की मानवीयता पर, सचाई पर उसका अटूट विश्वास है। समस्या में पड़ कर साधारण नारी की [illegible] चीखना, चिल्लाना, समर्पण कर देना या आत्महत्या कर बैठना आदि के द्वारा वह अपने आत्मबल का परिचय नहीं देती, वरन् मानव के अन्तस् को स्वाभाविक एवं प्रकृत सत्य से ऐसा कसती है कि वह शिशुवत् सीधा चरणों में ही गिरता है।

यह उपन्यास मध्यवर्ग की दमित काम भावना को लेकर प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने सर्वथा नवीन ढंग से मित्र-सुधार का मार्ग प्रस्तुत किया है । एक मित्र अपनी पत्नी को दूसरे मित्र के भले के लिये साधन बनाता है । सारी घटना ज्ञात हो जाने पर भी श्रीकान्त का हृदय हरिप्रसन्न को पाकर प्रफुल्लित हो उठता है । अपने मित्र के प्रति तथा अपनी पत्नी के प्रति उसके मन में किसी प्रकार का अविश्वास अथवा कपटाचरण की भावना नहीं उठती । श्रीकान्त के चरित्र का मूल है मैत्री निर्वाह एवं पत्नी परायणता । हरिप्रसन्न अहिंसावादी युग का अस्थिर एवं पलायनवादी युवक है। उसमें खलनायक एवं अन्ततोगत्वा एक शिष्ट मानव के लक्षण हैं। वह किसी भी कार्य को दृढ़ता से सम्पन्न नहीं कर पाता। सुनीता पत्नी है , प्रेमिका है , फिर एक निजी निर्णय भी अपने साथ लिये हुए है। जिसके कारण दोनों पक्षों को साधने में समर्थ हो सकती है । इस नारी में आत्मिक दृढ़ता एवं ठोस कर्मठता का सुन्दर योग है ।

क्या जैनेन्द्र जी का यह प्रयोग शुद्ध मनोवैज्ञानिक है अथवा आदर्श का अत्यन्त मिसफिट (बेमेल) ऐसा आवरण इस पर है कि यह व्यवहारक्षम कभी नहीं हो सकता। दूसरा प्रश्न है कि क्या सुनीता और हरिप्रसन्न का पूर्वव्यवहार देखते हुए हम ऐसी आदर्शात्मक परिणति की संभावना कर सकते हैं? क्या ऐसे प्रयोगों से परिवारों का निघटन न होगा और मनमानी लम्पटता न बढ़ेगी? क्या प्रत्येक नारी सुनीता की भांति नग्न हो सकेगी और फिर प्रत्येक पुरुष हरिप्रसन्न की भांति शांत रह सकेगा, ऐसे प्रयोग से उसका राक्षत्व मनुष्यत्व में बदल सकेगा? क्या गांधी जी की अहिंसा की यही स्पिरिट (मूल स्वर) है कि असहाय और नंगे हो जाओ? लेखक ने कृति की भूमिका में पात्रों की पवित्रता और दिव्यता का घोष किया है। परन्तु सुनीता और हरिप्रसन्न के सम्बन्ध से प्रतिक्षण क्या ध्वनित होता है—दमित काम, रुद्धवीर्य - परनारी संगति। अतः हम इतना ही कह सकते हैं कि इस कृति में पात्रों की मानसिक विद्रूपताओं पर अत्यन्त अस्वाभाविक एवं असंगत आवेश का फीका लेप किया गया है। जहां तक उपन्यास की मूल समस्या की बात है, इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि हिंसा और अहिंसा तथा घृणा और प्रेम का मनोवैज्ञानिक धरातल पर साहित्यिक रूप लेखक ने प्रस्तुत किया है, पर लेखक ने इसके लिये यौन सम्बन्ध को ही चुना और फिर भी समन्वय और मानवतावादी आदर्शात्मक दर्शन की छाया में लय किया। कोई सीधा और व्यवहार्य समाधान सामने न आ सका। कुछ भी हो 'सुनीता' उपन्यास आज के मध्यवर्गीय अनमिल जोड़ों की मानसिक घुटन की ओर गहरा संकेत करता है। प्रतिकूल परिस्थिति में रह कर भी किसी प्रकार सुनीता और हरिप्रसन्न प्रसन्न देखे जाते हैं, पर यह प्रसन्नता क्या सच्ची और स्वभावजा है? हरिप्रसन्न ने सत्या से विवाह नहीं किया—इसलिये कि उसका मन अन्यत्र (सुनीता) में रमता है। जो वेदना आज मूक सुनीता में है कल वही उसमें होगी अतः वह बंधना नहीं चाहता। सुनीता न पति की ही पूरी तरह हो पाती है और न प्रेमी की ही। वह दोनों हाथ लड्डू पाने का प्रयत्न करती है—दौड़ती है। उसमें एक निष्ठता नहीं है। अतः सुनीता के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण आज के मध्यवर्गीय परिवारों के लिये एक खुली पुस्तक है।

शेखर एक जीवनी

श्री अज्ञेय द्वारा फ्रायड के अवचेतन मनोविज्ञान का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सूक्ष्मता, गहनता और विस्तार तीनों का लेखक ने बड़ी योग्यता से निर्वाह किया है। 'शेखर एक जीवनी'

के दो भाग (१९४०-४४) एवं 'नदी के द्वीप' (१९५१) नामक दो उपन्यास हिन्दी में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। विद्रूप एवं दमित मन की कामकुण्ठाओं की, छद्म चेतना की, बाल पृच्छाओं की, एवं आचार नीति, परम्पराओं आदि के प्रति निजी स्वच्छन्द दृष्टिकोण की पर्याप्त मौलिक एवं प्रयोगात्मक प्रस्तुति अज्ञेय जी ने की है । यह कृति अपने प्रकाशन काल से ही, साहित्य विधा की दृष्टि से, विषय की दृष्टि से, चरित्र चित्रण की दृष्टि से, शिल्प विधान की दृष्टि से अत्यधिक चर्चा का विषय रही है। अब भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। परन्तु औपन्यासिक अनेक विशेषताओं के कारण अब इसे आलोचकों ने प्रायः उपन्यास मान लिया है ।

उक्त कृतियों में एक अत्यन्त प्रखर, सर्वथा मौलिक, क्रान्त द्रष्टा, वर्जनाओं का पिण्ड, अहम्मन्य, ध्वंसशील, निर्भीक, विकासशील, कामकामी तथा एक अनिश्चित दृष्टिकोणयुक्त व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत किया गया है । शेखर के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को केन्द्रित करने वाली तीन वृत्तियां हैं--अहं, काम और विद्रोह । ये तीनों ही कहीं उदात्तीकृत होकर अत्यन्त प्रभावकारिणी बन गयी हैं और कहीं बुरी तरह विकलांग होकर ही रह गयी हैं। इस रचना का प्रारम्भ नायक के बाल्यकाल से होता है और यौवन की तथा प्रौढ़ावस्था की अनेक घाटियों और ढलानों को चढ़ता, उतरता, निखरता, बिखरता रूप हमारे सम्मुख आता है। घटनाएं अधिक हैं अतः कुछ बिखराहट आ जाना स्वाभाविक है । एक ही घटना के अनेक रूप नहीं हैं, व्यक्ति मन की भी एक ही दिशा का व्यापक चित्रण नहीं है अपितु मानस की अतल गहराइयों से प्रकट होने वाला अनेक घटनाओं का मानस वृत्तियों का समर ही इस कृति में लहरा रहा है।

उपन्यास मूलतः चरित्र प्रधान है, अतः व्यक्ति के चरित्र को--उसके कार्य व्यापार को उसकी मानसिक एवं मस्तिष्की वृत्तियों को ही प्रमुख मान कर हमें चलना होगा । घटनाओं की निर्मितिचरित्र की ही रेत और सीमेन्ट से होती है ।

शेखर के चरित्र पर किसी प्रकार का निर्णय देने से पूर्व उसके जीवन-व्यापारों की सचाई और मर्मस्पर्शिता पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेना संगत होगा। बचपन में शेखर में कुछ जिज्ञासाएं उठती हैं--यथा मां से बच्चे कैसे पैदा होते हैं ? बच्चों को कुछ पुस्तकें पढ़ने से क्यों रोका जाता है ? कुछ बातें ऐसी हैं जो उसे नहीं कहनी चाहिएं, क्यों अध्यापक छात्रों से अशिष्ट व्यवहार करें तो छात्रों के मन में उनके प्रति अशिष्ट भाव कैसे नहीं जागेंगे । माता-पिता स्वयं गंदे काम बच्चों के सम्मुख करें तो बच्चे कैसे बच सकते हैं--आदि आदि गहरी

जिज्ञासाओं से शेखर के विद्रोही एवं जागरूक मन का पता लगता है। उसके बचपन से ही उसके स्वतन्त्र, निर्भीक और सच्चे क्रान्त द्रष्टा होने के चिह्न परिलक्षित होते हैं। सम्पूर्ण बाल जगत की मानस जिज्ञासाओं का वह प्रतिनिधित्व करता है। अतः उसकी स्वभावज पृच्छाओं पर नैतिक या मर्यादापरक सीमाएं खड़ी करके विचार करना उचित नहीं है। पृच्छाएं महान् हैं या नहीं, उनका बालकों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण यह है कि वे स्वाभाविक हैं या नहीं ? उनके बिना क्या बच्चों में अनेक विकृतियां जन्म लेतीं? अतः बचपन में शेखर के चरित्र का स्वाभाविक अथच सफल विद्रोहमूलक अंकुरण हुआ है।

दूसरे प्रेम के क्षेत्र में भी उसने अपने अहंपूर्ण एवं विद्रोह भरे व्यक्तित्व का परिचय दिया है। उसके जीवन में अनेक नारियां प्रेमिकाओं के रूप में आती हैं, यथा—शीला, शारदा और शांति उसके जीवन में एक झोके की भांति आती हैं और खटमिट्ठी स्मृति छोड़ कर चली जाती हैं। शशि ही शेखर को सर्वाधिक आकृष्ट करती है। शशि की समस्या प्रेम और समाज दोनों की है। शशि किसी की पत्नी भी है अतः उसे किसी की प्रेमिका होने का नैतिक एवं सामाजिक अधिकार नहीं है। साथ ही शशि को देख कर शेखर ने बहिन भी कहा है। यहां दो बातें ध्यान देने की हैं। एक तो पति-पत्नी में असंगति और स्वामी सेविका का भाव जो धीरे-धीरे दोनों को एक दूसरे से अलग कर देता है। दूसरे शशि शेखर की ओर से बहिन नहीं है। ऐसी स्थिति में विचारना यह है कि ऐसा होता क्यों है ? क्यों यह प्रेम पल्लवित हुआ ? उत्तर यह है कि किसी के व्यक्तित्व का निरन्तर अनादर, उसके जीवन का उसकी इच्छा के विरुद्ध निर्णय ही ऐसी स्थिति के जनक है। यद्यपि शेखर की लम्पटता, भ्रमरी वृत्ति और किसी के बसे घर में आग लगाने जैसी क्रियाओं का कभी किसी स्तर पर भी समर्थन नहीं किया जा सकता। ऐसी वृत्तियां एक कामकीट जैसे व्यक्तित्व में ही जन्म सकती हैं जिनका समर्थन सामान्य मानवमन और असामान्य श्रेणी का मानवमन भी नहीं कर सकता। उस मन की तो अपनी अलग ही श्रेणी होगी। फिर भी समाज में उक्त प्रकार की घटनाएं मिलती ही हैं, चाहे वे अत्यल्प हों। शेखर का यह प्रेम-विद्रोह असफल एवं अस्वस्थ ही कहा जायगा। स्वाभाविकता के नाम पर, अतृप्ति के नाम पर नितान्त ऐकान्तिक एवं वैयक्तिक काम लालसा एवं स्वैराचार का समर्थन नहीं किया जा सकता। यह अपसाधारण

मन की उपज है। अपने युग से उसे लेना बहुत है, देना कुछ नहीं है। अनन्त भोगलिप्सा उसके अंग प्रत्यंग से लिपटी हुई है। सामान्यतया ऐसा लगता है कि शेखर के द्वारा अज्ञेय ने बहुत कुछ व्यापक क्षेत्र को समेटा है। वह (शेखर) घर, परिवार, समाज और देश तक तथा बचपन, युवावस्था और प्रौढ़ावस्था तक अनेक रूपों और कार्यों में लीन देखा जाता है। परन्तु, सात घाट का पानी पीना एक बात है और उसे पचा लेना दूसरी बात। शेखर अपने व्यक्तित्व की विकृतियां और विखराहट ही सर्वत्र छोड़ता है।

तीसरा क्षेत्र है राजनैतिक आन्दोलन और जेल जीवन का। उसे क्रान्तिकारी समझ कर जेल यातना दी जाती है। जेल से कई प्रकार की बातें वह ग्रहण करता है। शासन व्यवस्था केवल अपराधी को दण्ड देना जानती है, परन्तु, इससे तो अपराध बन्द नहीं होते। अपराध क्यों होते हैं इस पर विचार करना जरूरी है। शेखर के व्यक्तित्व में व्याप्त राजनैतिक एवं मानवीय चेतना के व्यापक दर्शन इस प्रसंग में होते हैं। एक घायल अछूत स्त्री को अपनी पीठ पर बैठा कर अस्पताल पहुंचाना भी उसके सेवाभाव को प्रकट करता है। कुल मिला कर हम कह सकते हैं कि शेखर मूलत: एक विद्रोही है जो प्रत्येक क्षेत्र में अपने अहंमूलक विद्रोह का परिचय देता है। काम के क्षेत्र में ही उसका विद्रोह पराकाष्ठा पर है और वही लेखक का मुख्य लक्ष्य भी लगता है। राजनैतिक योजना और बचपन के प्रसंग तो जबरदस्ती लगाये गये से लगते हैं। जो लेखक के आयास की उपज हैं। शायद उसे पूर्ण और स्वस्थ व्यक्तित्व प्रदान करने के लिये ही अज्ञेय जी ने कुछ मान्य योजनाएं की हैं, शेखर भले ही विद्रोही, अहंमन्य, लम्पट, भयंकर एवं असामाजिक कहा जाय, परन्तु है हमारे ही समाज का प्राणी। अतः उसका यदि यह रूप ठीक नहीं है तो इसके जनक कारणों पर हमें विचार करना ही होगा, क्योंकि ऐसी विकृतियां भले ही कम हों, पर हमारे समाज में हैं अवश्य।

"शेखर की अहंभावात्मक प्रगति जिस चरम विस्फोट के लिये उन्मुख होती चली गयी है वह कभी कल्याण-कारी नहीं हो सकती, पर इस उपाय से लेखक जिस आदर्श संबंधी वैपरीत्य को हमारे सामने रखता है वह परोक्ष रूप से—अपने प्रतिक्रियात्मक प्रभाव से पाठकों के लिये हितकर सिद्ध हो सकता है। जो भी हो शेखर की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक चातुरी महत्त्वपूर्ण है।"[१]

१. 'विवेचना' पृ० १२२ ले० इलाचन्द्र जोशी

तात्त्विक संघटन की दृष्टि से भी इसे अधिक सफल उपन्यास नहीं कहा जा सकता। शिथिल पुलन्दे जैसा कथानक जिसमें कहीं भी कुछ भी निकल पड़ता है। चरित्रचित्रण भी सुडौल (राउण्ड) कम चपटा (फ्लाट) अधिक है। व्यक्तित्व में वैविध्य है, आग्रह है पर दृढ़ता और कर्मठता के अभाव में यह सब खोखला ही रह गया है। वातावरण और संवाद भी कथानक को महति गति और सजीवता प्रदान नहीं कर पाते। उक्त दोनों तत्वों से पात्रों और कथानक में जो गरिमा, उत्तेजना, चमक और क्षिप्रता अपेक्षित होती है, वह हमें नहीं मिलती। प्रभावैक्य की दृष्टि से भी हमें प्रायः सन्तोष नहीं होता। इस सबका कारण यह है कि लेखक स्वयं ही जीवनी और उपन्यास की रस्साकसी के बीच चला है। अतः कृति को आद्यन्त पढ़ना भी महान् धैर्य की अपेक्षा रखता है। कुछ भी हो 'शेखर एक जीवनी' अपनी असाधारण वैयक्तिक मनःपरकता के कारण और अपने ढंग के अकेले ही चरित्र के कारण हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी है ही।

सन्यासी

"मेरे अपने उपन्यासों में अज्ञेयजी से ठीक उल्टा दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है। मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की एकांतिकता पर निर्भय प्रहार करने का रहा है-- 'घृणामयी', 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी' 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', इन पांचों उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही है, त्यों-त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्त्ति की चेष्टा में अब उसे पग पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म विनाश के पहले अपने आसपास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को।"१ उक्त उद्धरण से जोशी जी का जो उद्घोष प्रकट होता क्या वस्तुतः वह बात उनके उपन्यासों द्वारा सामने आती है? क्या वस्तुतः वे अपने विकलांग एवं अहंकारी पात्रों के समर्थक नहीं हैं? बुराई को दूर करने के लिए बुराई की अति कर दिखाना एक मनो-वैज्ञानिक प्रयोग कहा जा सकता है पर प्रायः इसका फल कैसा होता है--प्रभाव कैसा होता है? जोशीजी एक कुशल विचारक एवं

१. विवेचना पृ० १२२-२३

समर्थ कलाकार हैं । उनके द्वारा कई सर्जनात्मक एवं आलोचनात्मक कृतियां सामने आई हैं । हिन्दी जगत में मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के रूप में उनकी प्रसिद्धि है । उनके सभी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'सन्यासी' का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है । नन्दकिशोर उपन्यास का प्राण है । सारी घटनाएं उसी से जन्मती हैं, उसी से विकसित होती हैं और उसी में लय भी होती हैं । नन्दकिशोर का व्यक्तित्व अतृप्त काम, दमित काम, एवं भयंकर अहं से अभिभूत है। वह अपनी छात्रावस्था से ही–आगरा यात्रा से ही अपने विशिष्ट लक्षणों का परिचय देता है । जीवन में अनेक पुरुषों और नारियों के सम्पर्क में वह आता है, परन्तु अपनी घोर वैयक्तिकता और आत्मकामिता के कारण वह किसी का साथ नहीं दे पाता । अपने परिवार का, अपने मित्रों का, अपनी प्रेमिकाओं का, किसी का भी वह न हो सका । वह सदैव सबसे चाहता ही रहा और देने का नाम नहीं । उसे सन्देहशीलता, ईर्ष्या और विघटन सदैव झकझोरते रहते हैं । मूलतः 'संयासी' मनोवैज्ञानिक प्रणाली पर रचित असफल प्रेम एवं गलित दाम्पत्य-जीवन की कथा है । नन्दकिशोर के जीवन में शान्ति और जयन्ती दो रूपवती नारियां आती हैं, परन्तु दोनों ही घोर दुःख और मृत्यु की भेंट चढ़ जाती हैं । यद्यपि दोनों में अपार प्रेम है, विनय है, त्याग है, रूप है फिर भी नन्दकिशोर के अहं और सन्देहशीलता ने उन्हें सुखी न होने दिया । शान्ति उसका साथ छोड़ कर सदा के लिये चली जाती है और जयन्ती जल कर प्राण दे देती है । नन्दकिशोर के व्यक्तित्व की कुछ विशेषताओं के कारण ही उसे सर्वत्र निराशा और असफलता मिलती है, परन्तु वह अपनी प्रत्येक असफलता पर, दुष्टता पर अधिकाधिक पछताता है, मानसिक रूप से महीनों अस्वस्थ रहता है, उसे स्वयं पर अधिकाधिक घृणा आती है, वह प्रायश्चित के लिए भी छटपटाता है, पर उसके जीवन में सुख और व्यवस्था अन्त तक आ ही नहीं पाती । आखिर यह सब बिडंबना क्यों ? केवल इसलिये कि आज की सामाजिक परिस्थितियां ऐसी हैं जिनमें मानव स्वयं के लिये सच्चा जीवन-साथी चुन ही नहीं सकता और यदि किसी को चुनना भी है । तो प्रायः भावुकता और बाह्य आकर्षण के आधार पर । यह जल्दबाज़ी भी इसलिये होती है क्योंकि उसे सामाजिक आकस्मिक प्रकोपों और बाधाओं का सदा भय रहता है । वह उपद्रव इसलिये करता है कि अधिकाधिक वर्जनाओं में सदैव कसा रहता है। इन दुर्लंघ्य सामाजिक भित्तियों

और वर्जनाओं के कारण वह चुपके अपने जीवन में सुख और तृप्ति लाने के लिये यत्न पर यत्न करता है । बार बार असफल होता है फिर भी यत्नशील रहता है। उसकी चेतना इतनी ऐकान्तिक और अहंमुखी हो जाती है कि वह व्यापक चेतना में जीने की बात सोच ही नहीं पाता यही स्थिति आज के मध्यवर्गीय अधिकांश युवकों की है। नन्दकिशोर के द्वारा हमारे सम्मुख मध्यवर्गीय युवक का आंतरिक मानस-यथार्थ प्रस्तुत किया गया है । जोशी जी के प्रायः सभी पुरुष पात्रों में पाशव वृत्तियों का प्राधान्य है, जबकि नारियों में त्याग, सहिष्णुता और आत्म-सम्मान की गरिमा सर्वत्र परिव्याप्त है। परन्तु पुरुषों और नारियों में वेगज क्रियाओं का भी आधिक्य कम नहीं है। वे किसी भी समस्या का सर्वथा एकांगी एवं मनमाना समाधान कर बैठते हैं। एक दूसरे को पूरी तरह समझना उन्हें सह्य नहीं । सच है हमारे वेग रुकावट को सामने आते देख और भी प्रबल हो उठते हैं –यहां तक कि विवेकहीनता की भी पराकाष्ठा आ जाती है । वेग पूर्ति चाहता है । परन्तु जब साक्षात्-दैहिक पूर्ति नहीं हो पाती तब सभी वेग अन्तर्मुखी हो जाते हैं और एक गहरी घुटन को, तड़पन को जन्म देते हैं। और ऐसी मानसिक घुटन की अवस्था में जब भी जो भी उन्हें हाथ लगता है कर बैठते हैं । अवसर-वादिता को वे हाथ से नहीं खोने देना चाहते हैं। पूंजीवादी संस्कृति में पूंजीवादी वर्ग के व्यक्ति अपने सभी मनोवेगों और लालसाओं को प्रत्येक स्तर पर पूर्ण करते हैं, परन्तु मध्यमवर्ग और निम्न वर्ग में असंख्य कुण्ठाएं और हीनताएं भरती चली जाती हैं--न जिनका प्रकाशन ही हो पाता है और न उपचार ही। फलतः समाज में अनेक विकृतियों का, विद्रोहों का, हत्याओं का और स्वैराचार का कभी समाप्त न होने वाला तांता लग जाता है । सन्यासी के सभी पात्र अपनी-अपनी मानसिक समस्याओं में अन्तर्लीन हैं, घुट रहे हैं, मिट रहे हैं परन्तु उफ़ तक नहीं करते, "सन्यासी में वातावरण निराशा, अन्धकार, विषाद तथा अवसाद का है। शान्ति की जीवन यात्रा, नन्दकिशोर का संन्यासी हो जाना, जयन्ती की आत्महत्या कुण्ठित और विकृत जीवन के उदाहरण हैं । आधुनिक पूंजीवादी संस्कृति व्यक्ति को स्वतन्त्रता के भ्रम में डाल कर उसके अस्तित्व का विघटन करती है । व्यक्ति और सामाजिक विधान में भारी अन्तर आ जाने के कारण कुण्ठा की मात्रा घनी हो गई है। पात्र समाज से विमुख होकर अपने मन का छिद्रान्वेषण करने में व्यस्त हो जाते हैं। अवचेतन मन की घुटन उनके जीवन एवं चरित्र-विकास में बाधा डालती है।"[1]

१. हिन्दी उपन्यास, ले० डा० सुषमा धवन, पृ० २१०

नन्दकिशोर में अन्तर्घुटन है, अति-वैयक्तिकता है और है उसमें दम तोड़ती कामनाओं के संघर्ष का अन्तः-तूफ़ानी सागर जिसके बबूले सतहों पर भी उठते हैं। उसमें मरणोन्मुखी दौड़धूप ही है, जीवन की सच्ची गति और आभा नहीं। एक प्रकार से उसमें अतियां आ गई हैं या अतिगति है या फिर अगति और ये दोनों ही लक्षण गम्भीर असन्तुलन के सूचक हैं। उसका नियतिवाद भी उसके व्यापक भविष्य को ऐसा बांध देता है कि उसकी चेतना किसी व्यापक दिशा में सोच कर अपनी विकासशीलता और स्वतन्त्रता का परिचय ही नहीं दे पाती। अतः हम कह सकते हैं कि नन्दकिशोर का चरित्र दमित मनोवेगों की उथली सरिता में कभी रुकता और कभी तेज़ बहता हुआ किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाये हुए है, परन्तु वह हमारी पूर्ण सहानुभूति का अधिकारी है, क्योंकि वह अन्दर से पूर्णतया जागृत है––उसमें मानवीयता की उद्दाम तरंगे भी हैं। बस वह अपनी परिसीमाओं से विवश है अतः सामाजिक मूल्यों की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाता। यदि नन्दकिशोर की मानवीयता का दीपक बुझ जाता तो किसी प्रकार भी उसे हमारी सहानुभूति न मिलती! अतः उसका चरित्र प्रथमतः निराशाजनक एवं हीन होते हुए भी अन्ततः स्वाभाविक एवं श्लाघ्य है। उसका मन प्रत्येक अनहोनी पर रोया है। वह बाह्यतः सबसे बिछुड़ता गया है, परन्तु मनसा सभी को साथ लेने का उसनें पूरा यत्न किया है।

इस कृति की शैली प्रवाहपूर्ण है तथा लेखक का बहुरंगी व्यक्तित्व अपनी भाव तरंगों एवं विचार वीथियों में अठखेलियां करता हुआ एक प्रभापुंज की भांति हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। शैली में वेग तत्व अधिक है। लम्बे, लम्बे वर्णन वेतुक कथोपकथन तथा सायास शब्दयोजना आदि से कृति की चारुता को भारी क्षति पहुंची है। विचारात्मक स्थलों में जोशी जी की जो क्षति हुई है, निश्चित रूप से उनकी भावात्मक अभि-व्यंजना के मनोरम स्थल उसकी पूर्ति करने में समर्थ हैं। वेगों और भावनाओं को अत्यन्त सजीव एवं इन्द्रधनुषी अभि-व्यक्ति देने में जोशी जी की कुशलता निर्विवाद है।

निष्कर्षतः 'सन्यासी' कथावस्तु, चरित्र एवं शैलीगत अनेक स्खलितियों के होते हुए भी, अपनी गहरी आन्तरिक चेतना, वैयक्तिक रोगों को उड़ाने, कला-त्मकता और वैयक्तिक स्तर के मानस-सत्य के सच्चे उद्‌घाटन के लिये सदैव स्मरणीय रहेगा।

विवेचित तीनों ही उपन्यास मनो-विश्लेषण प्रधान धारा की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। सामान्यतः पूंजीवादी संस्कृति

एवं अधिनायकशाही में घुटते हुए व्यक्ति-मन के दमितकाम अहं एवं विद्रोह के अनेक सफल चित्र इन कृतियों में प्रस्तुत किये गये हैं। फिर भी प्रत्येक कृति की अपनी मौलिक देन । जैनेन्द्र जी की सुनीता द्वारा दमित काम का पूर्ण प्रकाशन कराकर उसका स्वाभाविक उदात्तीकरण कराया गया है जो अपने आप में एक वरेण्य प्रयोग है । मनोविज्ञान और गांधीवादी दर्शन का अत्यन्त श्लाघ्य साहित्यिक प्रयोग लेखक ने किया है। दर्शन और मनोविज्ञान एक दूसरे के पूरक होकर आये हैं, बाधक होकर नहीं । फिर भी यह प्रयोग अभी प्रयोग ही है, इसकी आत्यन्तिकता अभी संदिग्ध ही है। अज्ञेय जी ने क्षेत्र व्यापक चुना है । उसमें विविधता, गहराई और फैलाव है, परन्तु जीवन की हाय हाय और गलनशीलता भी उसमें ठसाठस भरी हुई है । साथ ही किसी व्यवस्था, दृष्टि अथवा प्रभावक पादन्यास के उसमें दर्शन नहीं होते, संभवतः उद्देश्य भी उनका किसी दिशा से बंध कर चलना नहीं है । शेखर जैसी विकृतियां भी आज के समाज में हैं अतः उन्हें यदि समुचित वातावरण मिले तो उनकी प्रतिभा नई दिशाएं पकड़ ले और वे हमें अनेक रूपों में वरदान सिद्ध हों। उनकी नाश और विघटन की प्रवृत्ति सृजन और संगठन परक हो जावे । जोशी जी के पात्र अनेक दुर्बलताओं से ग्रसित हैं अवश्य पर वे अन्दर से पूरी तरह से जागृत और भावनामय हैं और अपनी विवशता पर छटपटाते भी हैं । अतः उनके नन्दकिशोर के द्वारा भी हमें मानव के उज्ज्वल भविष्य की सूचना मिलती है, केवल उचित वातावरण चाहिए। कोई भी व्यक्ति अपराधी और लम्पट नहीं बनना चाहता ।

जहां तक इस वृहत्त्रयी की देन की बात है—श्री जैनेन्द्र में यथार्थोन्मुख आदर्श जो मनोविज्ञान और भावात्मक दर्शन पर स्थित है, परिलक्षित होता है । अज्ञेय जी में प्रकृतवाद एवं व्यक्ति-परक तीव्र एवं विद्रोह मूलक मनोविश्लेषण का मिश्रण है तथा जोशी जी में अहं-मूलक मनोविश्लेषण की प्रमुखता है।

जो भलाई से प्रेम करता है वह देवताओं की पूजा करता है; आदरणीयों का सम्मान करता है और ईश्वर के समीप रहता है ।

इमर्सन

हिन्दी का नामकरण : उद्भव और विकास

प्रो० शिवप्रसाद शुक्ल

हिन्दी का नाम मुसलमानों ने रखा है क्या यह सत्य है? लगभग सभी विद्वान् एक बात सामने प्रस्तुत करते हैं कि सप्त को हप्त बोलने के कारण यह सिन्धी से हिन्दी बना। स्वयं स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त जी ने लिखा है कि "उसका नाम 'हिन्दी' भी मुसलमानों का रखा हुआ है। हिन्दी फारसी भाषा का शब्द है। उसका अर्थ है हिन्द से सम्बन्ध रखने वाली अर्थात् 'हिन्दुस्थान की भाषा'।"

परन्तु हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० रामविलास शर्मा ने इस विषय में अपने 'भाषा और समाज' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में पृ० २३ से २७ तक अनेकों उदाहरण देकर हमारे जैसे साहित्य के विद्यार्थियों के लिये एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उसे हम अविकल उद्धृत करने का लोभ नहीं संवरण कर पा रहे। वे लिखते हैं कि--

हिन्दी शब्द कैसे बना--इस बारे में प्रचलित मान्यता यह है कि ईरान के लोग सिन्धु (या सिन्ध) को हिन्द कहते थे और वहां के निवासियों को हिन्दू, हिन्दुई या हिन्दी कहने लगे। 'स' का उच्चारण करने में उन्हें कुछ कठिनाई होती होगी, इसलिये उन्होंने 'स' की जगह 'ह' कहना शुरू किया। लेकिन फारसी में साल, सादगी, साज़, सागर, सामान, साया, सब्ज़ा, सिपारिश, सिपाही, सितार, सितम, सख्त, सखुन, सर, सर्दी, सिरिश्त (सृष्टि) सर्गना, सरकार सिरका, सुरमा, सुरूर आदि पचीसों शब्द हैं जिनमें ईरानियों को 'स' का उच्चारण करने में दिक्कत नहीं होती। यही नहीं, उनके क्रिया वाचक शब्द भी ऐसे बहुत से हैं जो 'स' से शुरू होते हैं, जैसे साज़ीदन (बनाना) साईदन (पीसना) सबारीदन (हल जोतना) सिपारीदन (सिफारिश करना) सिपुर्दन (सिपुर्द करना) सितादन (खड़े होना) सितूदन (स्तुति करना) सख्तन (तौलना) इत्यादि। फारसी में अरबी से बहुत से शब्द आये हैं जो 'स' से शुरू होते हैं--जैसे साहित्य, साअत (साइत) साकिन, सान, सहर, सराय, सतर, सफर, सिफर

इत्यादि । इनमें ईरानियों ने 'स' के स्थान पर 'ह' का उच्चारण करना आवश्यक नहीं समझा । इसके सिवा 'श' से आरम्भ होने वाले स-श, युक्त सैंकड़ों ऐसे शब्द फारसी में हैं, जिनके समानान्तर भारतीय भाषाओं के शब्दों ने स-श का स्थान 'ह' को दे दिया है।

इससे 'सिन्ध' का 'हिन्द' ईरान में बना या भारत में—इस समस्या पर प्रकाश पड़ता है ।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने कश्मीरी भाषा में 'ह' वर्ग की अधिकता पर ध्यान दिया था । वहां शरद् हरुद् है, शाक हाख, श्वसुर हिहुर, मूसल मुहुलु, कृष्ण किहनु, शुष्क हूखु, सांकल (या शृंखला) हांकल, शलभ हालव, श्याम होमु, शमन हमुन , शृंग ह्यंग, श्वापद हापुथ, शिर हीरू, शत हथ, इत्यादि ।

राजस्थानी के सम्बन्ध में हमने एक कहानी सुनी थी :—किसी स्थान पर शाम को सात बजे स्वामी सत्यानन्द सरस्वती का भाषण होने वाला था; ऐलान करने वाला ज़ोर-ज़ोर से कहता था आज हाम को हात बजे ह्वामी हत्यानंद हरह्वती का भाहण होगा ।

यह कहानी अतिशयोक्तिपूर्ण लगे तो हम सुप्रसिद्ध भाषाविद श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत उद्धृत करते हैं — "राजस्थानी भाषा"१ नाम से संकलित अपने भाषणों में चाटुर्ज्या ने कहा है कि राजस्थान की कुछ बोलियों में च छ ज झ—इन तालव्य ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण सुनाई देता है । "जिन बोलियों में ऐसा दन्त्य उच्चारण आता है, उनके साथ ही साथ 'स' की ध्वनि 'ह' हो जाती है।" राजस्थानी के समान अन्य भाषाओं में यही विशेषता देख कर आगे श्री चाटुर्ज्या ने कहा है कि "चवर्गीय वर्णों का दन्त्य उच्चारण तथा 'स' का 'ह' में परिवर्तन राजस्थानी के लिये कुछ अनोखी या निराली बात नहीं है। ऐसा उच्चारण और स का ह-भाव पूर्व वर्ग की बंगला भाषा में तथा आसामी में मिलते हैं। दन्त्य उच्चारण नेपाली (गोरखाली) तथा कुछ अन्य हिमाली बोलियों में भी पाया जाता है । राजस्थानी से संबन्धित गुजराती की कुछ उपभाषा या प्रान्तिक रूप (जैसे सुरती गुजराती) में भी दन्त्य उच्चारण तथा 'स' का 'ह' भाव आता है। पुरानी मराठी में और गंजम ज़िले की ओड़िया में यह दन्त्य उच्चारण दिखाई देता है। 'स' का 'ह' उच्चारण मराठी में, बंगला, पछांही हिन्दी आदि कुछ भाषाओं में कहीं-कहीं मिलता है। केवल प्राचीन प्राकृत से उपलब्ध कुछ शब्दों में, पर इन भाषाओं में यह विशिष्टता भाषा की अपनी तखसीस या विशिष्टताओं में नहीं है। यह किसी बाहरी भाषा के प्रभाव से

कुछ विशेष शब्द या प्रत्ययों में आया है, ऐसा ही मालूम पड़ता है।

पर पूर्वी-पंजाबी और हिन्दी की या लहन्दी में और सिन्धी में 'स' का 'ह' हो जाना निहायत लक्षणीय है।"

इससे सिद्ध हुआ कि सत्यानन्द का हत्यानंद होना राजस्थान में तो संभव है ही, अन्यत्र भी असंभव नहीं है।

असमिया भारत की एक ऐसी भाषा है जिसमें श-स का बहिष्कार है। 'च' का उच्चारण 'स' से मिलता जुलता होता है, वह अलग बात है। पता नहीं असम शब्द अहम का रूपान्तर है या—जिसकी संभावना अधिक है—असम का रूपान्तर अहम है। यह हकार-प्रेम 'द्रविड़' परिवार की कन्नड़ भाषा में भी पाया जाता है। तेलगु का पकलु कन्नड़ में हगलु (दिन) है, पालु हालु (दूध) है, पवड़ा हवड़ा (प्रवाल) है, पुलि हुलि (वाघ) है, पलैया हुलैया (प्राचीन) है। ज्यूल ब्लाख ने मराठी भाषा पर अपनी पुस्तक में दुही (दुख का स्थान) माहो (माघ) मेहुड़ा (मेघ) मेहुण (मैथुन) मोह (मधु) आदि के उदाहरण दिये हैं, जिनसे इस भाषा के हकार प्रेम का पता चलता है।

मराठी दहा की तरह हिन्दी में पहाड़ा पढ़ते समय 'दस दहम सौ' में दस के दह रूप की आवृत्ति होती है। इसी से ताश के पत्तों में 'दहला' और उसके सम पर 'नहला' और साधारण व्यवहार में उससे पहले 'पहला' आदि रूप हैं। दस तक गिनती गिनते समय 'छह' में ही हकार प्रतिष्ठित होता है। किन्तु ग्यारह बारह के बाद अठारह तक यह क्रम चलता ही रहता है। इक्कीस, इक्तीस इक्तालीस आदि में अन्त का 'स' सुरक्षित रहता है, उनहत्तर के बाद इखत्तर (इकहत्तर) बहत्तर तिहत्तर आदि में आरम्भ का 'स' 'ह'-रूपधारण करता चला जाता है। व्रजभाषा अवधी आदि हिन्दी की बोलियों में नहान या हनान (स्नान) पाहन (पाषाण) पुहुप (पुष्प) निहचै (निश्चय) पुहकर (पोखर पुष्कर) कान्ह (कृष्ण) केहरी (केशरी) आदि रूप इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। श, ष, स, के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों का भी ह–रूप में परिवर्तन देखा जाता है—कोह (क्रोध) बहू (बधू) मुंह (मुख) नँह (नख) गहिर या गहरा (गंभीर) आदि। इस तरह के रूपों को यह कह कर टाला नहीं जा सकता कि वे प्राकृत या अपभ्रंश के कुछ अवशेष मात्र हैं जो आधुनिक भाषाओं में बने हुए हैं। पूर्वी बोलियों में मस्जिद का महजिद रूप प्रचलित है जो एक आन्तरिक ध्वनि प्रवृत्ति का द्योतक है। इन बोलियों को 'ह' से इतना प्रेम है कि विदेशी शब्दों को अनुकूल बनाने के लिये, किसी अन्य व्यंजन को ह–रूप दिये बिना

भी एक अतिरिक्त 'ह' जोड़ देते हैं, जैसे लाश के लहास रूप में। रिसौंहें (रिसयुक्त) बकरिहा (बकरी वाला) भुतहा (भूतों वाला) आदि शब्दों में 'ह' प्रत्यय इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। 'ह' की यह प्रधानता किसी बाहरी भाषा के प्रभाव के कारण नहीं हो सकती। वह साधु हिन्दी से अधिक हिन्दी की जनपदीय बोलियों की विशेषता है और हिन्दी में च छ ज झ का उच्चारण दन्त्य नहीं होता। इसलिये 'स' या अन्य वर्णों के स्थान में ह–का प्रयोग न तो किसी विदेशी भाषा का प्रभाव सूचित करता है, न वह तालव्य ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण करने वाली भाषाओं की ही विशेषता है।

इसका एक प्रमाण यह भी है कि यह प्रवृत्ति संस्कृत शब्दों में ही अपना असर दिखाने लगी थी; और वह भी आवश्यक रूप से लौकिक संस्कृत में ही नहीं वरन् वैदिक भाषा में भी।

हृद या हृदय का मूल रूप श्रृद् श्रद्धा में बना हुआ है। रूसी में सर्येत्स उस मूल रूप की साक्षी है। लैटिन में कोर (अंग्रेजी में लैटिन से बना शब्द कौर्डियल) उसी श्रृद् का स्मारक है। विद्वानों ने लैटिन के कोर से कौर्डियल बनाया। लेकिन साधारण अंग्रेज़ जनता कोर से अपरिचित थी, वह भारतीय हृद के रूपान्तर हार्ट से काम चलाती थी।

सर्वनाम 'अहम्' शब्द 'अस्मद्', का एक रूप है। जब तक 'स' 'ह' में परिवर्तित न हो, तब तक अस्मद् से 'अहम्' का संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता।' इस शब्द का प्राचीन स्लाव रूप अज़[१] है इस से भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि 'अहम्' मूल रूप नहीं है। संस्कृत के बर्हि: शब्द का समानान्तर प्राचीन स्लाव बेज़ (वर्तमान रूसी बेज़) है। यहां भी 'ज़' (या स) ह में परिवर्तित हुआ है।

बर्हि का समकक्ष प्राचीन स्लाव रूप ब्लजीन है जो उपर्युक्त कोटि के ध्वनि-परिवर्तन की ओर संकेत करता है। हवते का समानान्तर रूप प्राचीन स्लाव रूप जवेतु है। वराह का अवेस्ता रूप वराज़ है। संस्कृत के अनेक शब्द, जैसे असुर अवेस्ता में अहुर के समान हकार वाले रूप में दिखाई देते हैं। किन्तु बराह अवेस्ता में बराज़ रहा, संस्कृत में ही हकार युक्त हुआ, यह इस बात को सिद्ध करता है कि स-ह या ज-ह का विनिमय क्रम ईरान

१. टी. बरो संस्कृत लैंग्वेज फैबर एंड फैबर लंडन पृ० १६
२. उपरोक्त पृ० २३
३. पांडुरंग वामन गुणे एन इंट्रोडक्सन टु कमपैरेटिव फिलोलौजी १६५० पृ० १४३
४. ए० ए० मैकडोनल ए वेदिक ग्रामर फार स्टुडेन्टस

में ही नहीं, इस देश में भी चल रहा था। इसी प्रकार हिरण्य शब्द अवेस्ता में जरन्य रूप धारण किए हुए है। कुछ अन्य भाषाओं में हिरण्य के अनुरूप सुरेन, सरेन और सिर्ने शब्द हैं। इससे यह अनुमान होता है कि प्राचीन स्लाव अवेस्ता आदि में जहां ज़ ध्वनि है और वैसे ही शब्दों में संस्कृत में ह है, वहां ज और ह दोनों की मूल ध्वनि स होगी और संस्कृत का 'ह' 'ज़' का नहीं, 'स' का ही परिवर्तित रूप रहा होगा। नमस् से नमज (नमाज़) रूप का बनना इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। प्राचीन यूनानी में जो शब्द सकारान्त हैं, वैसे ही शब्द संस्कृत में विसर्ग हरण करते हैं। नौस (जहाज़)–'नौः' जोग्रेस्, जीवः, गेनोस–जनः इत्यादि।

वैदिक भाषा में एक धातु है ग्रभ ऋग्वेद में उन सूक्तों में, जिन्हें प्राचीन माना जाता है, ऋ के बाद आने वाले भ् का ह रूप होता है, जैसे हस्तगृह्य में। हस्तग्राभ में यह परिवर्तन नहीं होता।

किन्तु दसवें मण्डल में प्राचीन रूप जग्राभ का स्थान जग्राह ले लेता है। आज्ञा मध्यम पुरुष एक वचन का 'धि' चिन्ह बाद के मण्डलों में 'हि' रूप धारण करता दिखाई देता है। वैदिक भाषा में दद्धि और देहि नद्ध और नह्, भवायसि और भवामहे, हन्ति और घ्नन्ति, दुग्धाम् और दुहाम्, मेहन्त और मेघमान जैसे रूप इस सत्य को स्पष्ट करते हैं कि स, ध, घ आदि व्यंजनों का स्थान ह को देने के लिए इस देश की भाषाओं की ओर बहुत ही शक्तिशाली प्रवृत्ति काम कर रही थी। इससे सिद्ध होता है कि हिंद और हिंदी शब्दों का निर्माण भारत में ही हुआ था।

उस हिन्दी के उद्भव और विकास के विषय में हिन्दी जगत् के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में लिखा है कि "हिन्दी का उद्भव भी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ साथ हुआ और विकास भी साथ साथ। हमारी केन्द्रीय सरकार की राजधानी देहली है। उसके इधर उत्तर की ओर देखो, तो 'कुरुजनपद' है, मेरठ संभाग या डिवीज़न उत्तर प्रदेश का। यहां की भाषा 'कौरवी' या 'मेरठी' का नाम खड़ी बोली है–'मीट्ठा पाणी लाता है'। यों 'मीट्ठा और 'लात्ता' के अन्त में जो खड़ी पाई दिखाई देती है, लाठी की तरह; उसी से उसका नाम 'खड़ी बोली'। 'कौरवी' भाषा की दो धाराएं हैं––एक ही भाषा की दो प्रमुख बोलियां हैं:––१–'खड़ी बोली'–मेरठी २–बाँगरू या 'हरियानवी'। दिल्ली से लेकर देहरादून तक (और उधर मुरादाबाद तक) का प्रदेश 'कुरुजनपद' है और दिल्ली से उधर अंबाला तक तथा इधर सहारनपुर से अंबाला तक 'बांगर' जिसका पुराना नाम 'कुरुजांगल' है।

आज यही राष्ट्रीय भाषा पद पर सुशोभित हो रही है।

ऋग्वेद तथा आदिम लोक कथाओं में प्रकृति रचना

रामनारायण उपाध्याय

आदिकाल का आदि मानव गुफ़ाओं में रहता था और शिकार से अपना पेट पालन करता था। तब प्रकृति का उसने उपयोग करना नहीं सीखा था वरन् उससे वह भय खाता था। घनघोर अंधेरी रात में सुनसान जंगलों में जब वह बादलों की गरज और बिजली की कड़क सुनता था तो जिसमें उसे किसी दैवी प्रकोप का आभास होता था। बाद में उसने उसकी देवताओं के रूप में पूजा आराधना की। फिर तो जैसे जैसे मानव का विकास होता गया उसने प्रकृति को अपना सहचर और साथी बना लिया। वह वर्षा के जल से अपने खेतों को सींचता, वायु से अपना अनाज उड़ाने का काम लेता और अग्नि को उसने एक छोटी सी माचिस में बंदकर अपनी जेब में रख लिया।

लेकिन पहले पहल धरती, प्रकृति, सूरज, चांद और सितारों को देखकर उसके मन में जो कल्पनाएं जागीं, उसे उसने अत्यन्त ही बारीकी से लोक-कथाओं के रूप में संजो कर रख लिया है। कहते हैं बाद में इन्हीं आदिम लोक कथाओं के आधार पर ऋग्वेद की रचना हुई। यह एक आश्चर्य जनक संयोग की बात है कि ऋग्वेद की उपमाओं और इन आदिम लोक कथाओं की कल्पना में अद्भुत साम्य पाया जाता है।

ऋग्वेद में देवताओं की तीन श्रेणियां मानी गई हैं। एक स्वर्ग (आकाश) के देवता। दूसरे अंतरिक्ष के देवता व तीसरे पृथ्वी के देवता। जिसमें स्वर्ग के देवताओं में सूर्य तथा उषा का, अंतरिक्ष के देवताओं में इन्द्र, वरुण तथा मरुद्गण (वायु) का और पृथ्वी के देवताओं में अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। आदिम लोक कथाओं में भी इन्हीं का वर्णन है। सब से पहले पृथ्वी और आकाश की कथाएं लीजिये।

पृथ्वी और आकाश के मिलन के संबंध में ऋग्वेद में निम्न कथा पाई जाती है :—

एक बार पृथ्वी और आकाश एकांत में मिले और उन्होंने शस्यश्यामला हरियाली उत्पन्न करने के लिये आपस में बातचीत भी की। आकाश ने जल के रूप में अंतरिक्ष में गर्भाधान किया और उससे पृथ्वी बच्चों की तरह हरे भरे वृक्षों से लहलहा उठी।

अब पृथ्वी और आकाश के निर्माण के संबंध में एक "अका लोक" कथा सुनिये —

पहले सिर्फ दो अंडे थे। वे कहीं ठहरते ही नहीं थे। एक दिन दोनों में टक्कर हो गई तो एक में से पृथ्वी निकली और दूसरे में से आकाश। पृथ्वी पत्नी बनी और आकाश पति। लेकिन तब पृथ्वी इतनी बड़ी थी कि आकाश की बांहों में आ नहीं पाती थी। अतएव एक दिन आकाश ने पृथ्वी से कहा "हे प्रिये, तू मेरी पत्नी है। लेकिन तू इतनी बड़ी है कि मैं तुझे प्यार कर ही नहीं पाता। तू जरा छोटी हो जा न! सुनते ही पृथ्वी संकोच से लजा गई और वह इतनी सिकुड़ी इतनी सिकुड़ी की आकाश की बांहों में समा गई।

कहते हैं पृथ्वी और आकाश के इस मिलने से ही पेड़-पौधे और समस्त प्राणियों का जन्म हुआ और उस के संकोच से पहाड़ियां और घाटियां बनीं।

धरती और आकाश की उत्पत्ति के संबंध में एक "खोवा लोक कथा" में कहा गया है कि—"पहले न धरती थी न आकाश। तब भगवान अपने दो बेटों के साथ रहा करता था। एक दिन खेल खेल में दोनों बेटों ने धरती और आकाश बना डाले। जब दोनों बन गये तो एक ने धरती पर आकाश का ढकन लगाना चाहता। लेकिन उसने देखा कि धरती इतनी बड़ी थी कि उस पर आकाश का ढक्कन लगता ही नहीं था। अतएव उसने दूसरे से कहा कि जरा अपनी धरती को छोटी कर दो न! दूसरे ने मिट्टी को दबा कर धरती को इतना छोटा कर दिया कि उस पर आकाश का ढक्कन लग गया। कहते हैं उसने जहां जहां से मिट्टी को दबाया था, उसका उभरा हुआ हिस्सा पहाड़ कहलाया और दबा हुआ हिस्सा घाटियां एवं नदियां बनीं।"

एक "नोवते लोक कथा" का मत है कि शुरू में पृथ्वी पानी से ढकी थी और पानी की गहराइयों में सांप रहते थे। धीरे-धीरे पानी सूखता गया और जमीन उभरती गई। अंत में एक दिन कीचड़ ही कीचड़ रह गया। उस कीचड़ में सांप के रेंगने से उसका कुछ हिस्सा तो दब गया और कुछ उभर आया। कहते हैं उसका उभरा हुया हिस्सा ही पहा कहलाता है और दबा हुआ हिस्सा नदियां।

आकाश और पृथ्वी की इन्हीं कथाओं में से एक दिन किस तरह भारत माता की कल्पना का जन्म हुआ होगा, इसका आभास एक "आपातानी लोक कथा"

में मिलता है। उसमें पहली बार पृथ्वी की कल्पना एक औरत के रूप में की गई है। लिखा है:-- .

पहले पृथ्वी एक औरत जैसी थी। उसका सिर था, हाथ-पांव थे और तोंद थी जिस पर मनुष्य जाति रहती थी। इसी से वह हमेशा लेटी रहती थी। एक दिन उसे विचार आया कि अगर मैं खड़ी हुई तो मेरे सब बच्चे गिर कर मर जायेंगे। इस बात से वह इतनी डरी कि उसने आत्म-हत्या कर ली। कहते हैं उस के सिर से पहाड़ बने, हड्डी एवं पसलियों से पहाड़ियां बनी। गर्दन से उत्तरी प्रदेश बना, नितम्बों से आसाम का हराभरा मैदान बना और उसकी आंखों से चांद एवं सूरज बने जिसे उसने आकाश में चमकने को भेज दिया है।

पृथ्वी के देवताओं में अग्नि का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। उसकी उत्पत्ति के संबंध में ऋग्वेद में कहा गया है कि-- दसों अंगुलियों से निरन्तर काष्ठ (लकड़ी का) घर्षण करने से अग्नि अश्व की तरह प्रकट होकर दसों दिशाओं को आलोकित करती है। चमकीली लपटों के समान उसके केश हैं और धुएं की तरह गुच्छों वाली उसकी दाढ़ी है। कोयले की तरह काले उसके जबड़े हैं और अंगारों की तरह चमकीले उसके दांत हैं। काष्ठ उसका भोजन और घृत उसका प्रिय पेय है। वह पृथ्वी का पुत्र तथा इन्द्र का भाई है।

धरती के प्राणियों के लिये अग्नि सबसे आवश्यक होने पर भी गुप्त क्यों रहती है। इस संबंध में एक "डाफला लोक कथा" में कहा गया है कि--"एक बार आग और पानी में लड़ाई छिड़ गई। चूंकि पानी की सबको ज़रूरत पड़ती थी, अतएव सबने पानी का साथ दिया। लाचार आग अपनी जान बचा कर भागी, पानी ने उसका पीछा किया। वह पहाड़ की सबसे ऊंची चोटी पर पहुंची। पानी वहां भी बादल बन कर जा पहुंचा। अब वह जाये तो जाये कहां। अतएव वह वहां से कूद कर पत्थरों में समा गई। पत्थर के अन्दर जाने की शक्ति पानी में नहीं थी। तब से वह वही छिप कर बैठी है। जब भी आदमी को उसकी ज़रूरत पड़ती है। वह दो पत्थरों को रगड़ कर उसे बुला लेता है। बाद में वह पुनः उसी में छिप जाती है।

अंतरिक्ष के देवताओं में इन्द्र का स्थान प्रमुख है। वह धरती पर वर्षा कराने के कारण तथा वर्षा का खेती से संबंध होने के कारण सबसे लोकप्रिय देवता भी है।

उसके संबंध में ऋग्वेद में एक अत्यन्त ही सुन्दर कथा पाई जाती है।

लिखा है कि इन्द्र ने क्रुद्ध सांड की तरह अपने विद्युत रूपी वज्र को रगड़ कर वायु को साथ लेकर भयंकर गर्जन करते हुये वर्षा को रोक कर बैठे हुए अंधकार रूपी वृत्रासुर नामक मेघ पर आक्रमण किया

और उससे प्राणिमात्र के कल्याण के लिये जल का दोहन किया। बादलों को भेदकर प्रकाश को पृथ्वी तक लाने का श्रेय भी उसे ही रही है। बादलों की तह रूपी सात पुरियों को नष्ट करने के कारण ही उसका एक नाम पुरन्दर भी है। अग्नि उसका भाई और वायु उसका मित्र है। उसने समुद्र के पास जाने के लिये रथ की तरह नदियों का निर्माण किया। उसी के प्रताप से धरती अन्न उगलती है। गाय दूध देती हैं तथा मनुष्य का जीवन लहलहाता है।

इन्द्र के द्वारा पानी बरसाने के संबंध में लोक-कथाओं की यह मान्यता है कि इन्द्र जब अपने रथ में घोड़ों को जोत कर पानी लाने के लिये जाता है तो उसके चक्कों से जो आवाज़ होती है वही हमें बादल की गड़गड़ाहट के रूप में आज भी सुनाई देती है। सबसे पहले पानी की खोज किसने की इस संबंध में एक "अका लोक-कथा" में कहा गया है कि--

पहले पानी नहीं था। सभी प्राणी प्यास से तड़पते थे। एक दिन सबने विचार किया कि पानी की खोज करनी चाहिए। सवाल हुआ उसे कौन खोजे। सबने अपनी लाचारी जताई। इतने में एक नन्हीं सी चिड़िया ने कहा "मुझे मालूम है, पानी कहां है?" सबके चेहरों पर खुशी छा गई और पूछा, "बताओ वह कहां है।" उसने कहा--जहां से सूरज उगता है वहां पानी का एक सरोवर है। सरोवर के चारों ओर एक बहुत बड़ा सांप कुंडली मार कर बैठा है। अगर उसकी कुंडली खुलवा दी जाये तो पानी बह निकले। सब चौंके, बोले यह काम तो कठिन है। उसने कहा--अगर आप लोग आज्ञा दें तो मैं यह काम कर सकती हूँ। सब ने खुशी से स्वीकृति दे दी। वह उड़ती उड़ती सरोवर के पास पहुंची। वहां सांप को कुंडली मारे बैठे देख कर पहले तो वह डरी। फिर एक वृक्ष पर बैठकर रात होने की प्रतीक्षा करने लगी। जब रात हुई तो सांप सो गया। उसने झपट कर उसकी आंखें नोच लीं। सांप दर्द से तड़प उठा और उसकी कुंडली खुल गई। कहते हैं तभी से सरोवर का पानी नदी बन कर बह रहा है।

पानी क्यों बरसता है। इस संबंध में एक पहाड़ी "मिरी लोक कथा" की मान्यता है कि--स्त्री पुरुष का एक जोड़ा आसमान में रहता है। उनके घर में एक बड़ी सी टंकी है और एक नदी है जो ज़मीन से आसमान तक चली गई है उसी से यह टंकी भरती है।

जब कभी यह टंकी बह निकलती है तभी धरती पर बरसात होती है। कभी-कभी टंकी में पानी कम हो जाता है तो पति-पत्नी झगड़ने लगते हैं। पति अपनी पत्नी से कहता है कि "तुम इतना पानी क्यों खर्च करती हो कि टंकी खाली हो जाती है। पत्नी कहती है "तुम्हीं तो चावल की शराब

पीते हो और उसी [illegible] खर्च हो जाता है। बात-बात में झगड़ा बढ़ जाता है और पत्नी गुस्से में अपने कपड़े उतार फेंक घर से भाग जाती है। उसका पति उसे मारने के लिये उसका पीछा करता है। दोनों में युद्ध ठन जाता है। जिसे हम बिजली कहते हैं वह बरसात में उस सुन्दर स्त्री की देह की चमक है और जिसे हम बादलों की गरज कहते हैं वह उसके पति की हुंकार है। दोनों का वह युद्ध आज भी चल रहा है।

अंतरिक्ष के देवताओं में दूसरा स्थान मरुद्‌गण (वायु) का है। वे रुद्र के पुत्र हैं। तथा उनका प्रधानकार्य जल बरसाना है। उन्हीं के प्रभाव से पृथ्वी घूमती तथा मेघ जिधर से उधर घूम कर जल वृष्टि करते हैं।

उनके बारे में ऋग्वेद में कहा गया है कि "मरुतों के आगमन से पृथ्वी उर्वरता प्राप्त करती है। पति जिस तरह भार्या का गर्भ उत्पादन करते हैं उसी तरह से मरुद्‌गण पृथ्वी के ऊपर गर्भ स्थानीय सलील स्थापित करते हैं। उनके अश्वगण अपने बल से सारे संसार का भ्रमण करते हैं। वे अपने ही रथ से मुक्त होकर जाते हैं। हथियार उठाने पर जैसे लोग संसार से डरते हैं वैसे ही सारे भवन और अट्टालिकाओं इनके यात्राकाल में डरते हैं।

वायु की उत्पत्ति के संबंध में एक "अका लोक कथा" मे कहा गया है कि—— एक बार आकाश अपनी पत्नी धरती से झगड़ पड़ा। और उस पर जुल्म ढाने लगा। परिणाम यह हुआ कि आदमी और जानवर भूखों मरने लगे। तभी एक लड़के का जन्म हुआ जिसका नाम वायु था। वह बीच बचाव करने में सिद्धहस्त था। उससे लोगों की दुर्दशा देखी न गई। अतएव वह तूफ़ान बन कर उठा और आकाश को धरती से इतनी दूर उड़ाकर ले गया कि दोनों आपस में लड़ न सके। कहते हैं तभी से धरती और आकाश प्रेम से रहते आये हैं और मनुष्य जाति को अन्न जल का कोई कष्ट नहीं है। वायु आज भी मध्यस्थ का काम करती है। जब सर्दी अधिक पड़ती है तो वह गरमी ले आती है और जब गरमी अधिक पड़ती है तो वह सरदी ले आती है।

अंतरिक्ष के एक और देवता विद्युत और वेन के संबंध में ऋग्वेद में एक अत्यन्त ही सुन्दर रूपक संजोया हुआ है। लिखा है——

विद्युत एक अप्सरा है और वेन उसके पति हैं। विद्युत ने वेन को देख कर मुस्कराते हुए उसका आलिंगन किया और वेन ने प्रेमी नायक की तरह प्रेयसी विद्युत की रति कामना पूरी की तथा वह सुवर्णमय मेघ पर सो गया। वेन ज्योति के द्वारा परिवेष्टित है और वह जल निर्माता आकाश के मध्य में सूर्य किरणों के संतान स्वरूप जल को पृथ्वी पर गिराता है।

मेघ और सूर्य किरणों से उत्पन्न इन्द्र-धनुष के संबंध में एक "बांचो लोक कथा" में कहा गया है कि--

आसमान के देवता रंग को मछलियां बहुत पसन्द हैं। जब कभी उसका जी मछली खाने को होता है वह आसमान के इन्द्र धनुष की निशैनी लगाकर धरती पर उतर आता है और मनचाही मछलियां पकड़ कर ले जाता है।

स्वर्ग (आकाश) के देवताओं में "सूर्य" का महत्त्वपूर्ण स्थान है । वह किरणों रूपी सात अश्वों से खींचे जाने वाले रथ में चलता है और दिन अस्त होते ही अपने किरण रूपी अश्वों को छोड़ देता है। वह अन्धकार को चमड़े की तरह लपेटता और राशि के पार जाने के लिये मार्ग बनाता है । वह उषा का पति है और दिशा रूपी मातायें उसी के लिये प्रकाश रूपी वस्त्र बुनती हैं।

सूर्य और चन्द्रमा के संबंध में ऋग्वेद में लिखा है कि--

ये दोनों शिशु (सूर्य और चन्द्रमा) अपनी शक्ति से पूर्व और पश्चिम में विचरण करते हैं। ये क्रीड़ा करतें हुये यज्ञ में जाते हैं इन में से एक चन्द्रमा संसार में ऋतु व्यवस्था करते हुए अश्व को देखते हैं। और दूसरे सूर्य ऋतु विधान करते हुए बार-बार जन्म लेते (उदय और अस्त) होते हैं।

सूरज चन्द्रमा और तारों के संबंध में विभिन्न लोक-कथाओं में अनेकों रंगीन रूपक पाये जाते हैं।

एक "मिसिमि" लोक-कथा में कहा गया है कि--

पहले सूरज अकेला था। वह रोज घूमने जाता था। उसके घूमने जाने के दो रास्ते थे। एक ऊपर वाला, दूसरा नीचे वाला। सुबह वह ऊपर वाले रास्ते से घूमने जाता था इसी से वहां दिन हो जाता था । शाम को वह नीचे वाले रास्ते से घूमने जाता था, उसी से ऊपर वाले रास्ते पर रात हो जाती थी।"

दिन छोटे और बड़े क्यों होते हैं इस सम्बन्ध में कहा गया है कि--

सूरज के दो रूप थे। कभी वह आदमी बन जाता था कभी औरत। जब वह औरत बनता था, उसे अपना रास्ता तै करने में देर लगती थी। इसी लिये दिन बड़े हो जाते थे । जब वह आदमी बनता था, झटपट अपनी सैर पूरी कर लेता था, इसी से दिन छोटे हो जाते थे ।

कुछ लोक-कथाओं में सूरज के दो होने का भी जिक्र है--एक लोक कथा का कहना है कि--पहले सूरज दो थे। दोनों बारी-बारी से घूमने जाते थे। एक जब घूम कर घर पहुंचता तब दूसरा घूमने निकल पड़ता था। इसी से रात होती ही नहीं थी। लेकिन रात नहीं होने से बेहद गरमी होने लगी और गरमी से लोग

परेशान हो उठे । तब एक दिन एक बहादुर आदमी ने एक सूरज को मार डाला तभी से रात होने लगी। कहते हैं कि वह मरा हुआ सूरज ही आज चन्द्रमा बन कर चमक रहा है।

चन्द्रमा के बारे में कहा जाता है कि उसका आधा हिस्सा हमारी तरफ है और आधा दूसरी तरफ। और उसके सामने एक बड़ा सा पेड़ है। उस पेड़ की छाया के कारण ही उसका प्रकाश शीतल है।

एक "संताली लोक-कथा" में सूर्य और चन्द्रमा की पति पत्नी के रूप में कल्पना की गई है। उसका कहना है कि——

सूरज और चन्द्रमा पहले पति-पत्नी थे। सूरज के साथ तारे-रूपी पुत्र चलते थे और चन्द्रमा के साथ तारिका-रूपी पुत्रियां। इन सबके साथ चलने से इनकी सम्मिलित गरमी से पृथ्वी पर जीवन दूभर हो गया। इसी से पति-पत्नी ने निश्चय किया कि अपने पुत्र और पुत्रियों का वध कर डालना चाहिए । स्वभाव से ही कठोर होने के कारण सूरज ने तुरन्त अपने पुत्रों का वध कर दिया लेकिन स्त्री सुलभ करुणा के कारण चन्द्रमा अपनी पुत्रियों का वध न कर सकी । सूरज को अपनी पत्नी चन्द्रमा की इस हरकत पर बहुत गुस्सा आया और वह उसे मारने के लिये दौड़ा। चन्द्रमा जान बचा कर भागी। सूरज आज भी उसका पीछा कर रहा है लेकिन वह उसे पकड़ नहीं पाता। कहते हैं कभी-कभी उसका अस्त्र चन्द्रमा को लग जाता है जिससे वह कटकर खंडित हो जाती है। लेकिन उसमें इतनी जीवन शक्ति है कि पुनः बढ़ने लगती है, तभी से सूरज अकेले ही चलता है।और चन्द्रमा अपनी पुत्री तारिकाओं के साथ ।

लेकिन एक 'कोरयन लोक-कथा' की मान्यता है कि सूरज और चन्द्रमा पहले भाई-बहन थे । उसका कहना है कि "एक बार ये दोनों स्वर्ग में पहुंचे, और उन्होंने स्वर्ग के देवता से काम मांगा। स्वर्ग के देवता ने कहा कि तुम दोनों दुनिया को उजाला देने का काम करो और उसने भाई को सूरज बना कर दिन में उजाला करने और बहन को चन्द्रमा बना कर रात में उजाला देने का काम सौंपा।

लेकिन बहन को यह काम पसन्द नहीं आया। एक दिन उसने स्वर्ग के देवता के पास जाकर कहा कि रात मैं मुझे डर लगता है अगर मुझे दिन में उजाला करने का काम सौंपा जाय तो सुविधा होगी। स्वर्ग के देवता ने उसकी बात मान ली।

दूसरे दिन जब वह सूरज बन कर दुनिया को उजाला देने पहुंची तो सब लोग उसकी नंगी देह को घूर घूर कर देखने लगे। पुरुषों को अपनी ओर घूरते देख कर उसका चेहरा शर्म से लाल हो उठा और धीरे-धीरे इतना लाल हुआ कि अब कोई सूरज की ओर आंख उठा कर भी नहीं देख सकता ।

अंत में सूरज और चन्द्रमा के शास्वत संघर्ष के संबंध में "अफ्रीका के बुशमैन कबीले का एक लोक कथा" का कहना है कि—

सूरज एक तेजस्वी पुरुष था । एक बार उसे चन्द्रमा ने नाराज कर दिया । इस पर वह इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने अपनी हाथ की छुरी से चन्द्रमा को छील छील कर खाना शुरू कर दिया । जब छीलते छीलते चन्द्रमा थोड़ा सा बच गया तो उसने सूर्य से गिड़ गिड़ा कर प्राणदान की याचना की । सूर्य को दया आ गई और उसने उसे छोड़ दिया । वह धीरे-धीरे बढ़ने लगा । उसे बढ़ते देख कर सूरज को पुनः गुस्सा आया और उसने उसे पुनः छील छील कर खाना शुरू कर दिया । जब वह थोड़ा सा बचा तो उसने सूर्य से पुनः गिड़गिड़ा कर प्राणदान की याचना की । सूरज ने उसे फिर छोड़ दिया । और वह फिर बढ़ने लगा । कहते हैं सृष्टि के अनादि काल से उनका यह क्रम आज तक चल रहा है ।

जीवन को नापने का पैमाना वर्ष नहीं अपितु उत्तम कर्म है ।

——सेनेका

मनुष्य का सच्चा जीवन तब आरंभ होता है, जब वह यह अनुभव करता है कि शारीरिक जीवन ही सब कुछ नहीं है और वह पूर्ण संतोष प्रदान करने में समर्थ नहीं है ।

——टालसटाय

आषाढ़ का एक दिन

योगेन्द्र बख्शी

हिन्दी नाटक साहित्य में लक्ष्मी नारायण लाल और मोहन राकेश के नाटकों ने अपने अधुनातन नाट्य-शिल्प प्रयोगों के कारण विशिष्ट स्थान बना लिया है। इनमें मोहन राकेश के नाटकों का परिमाण लक्ष्मीनारायण लाल से कम है परन्तु उनके शिल्प-प्रयोग हिन्दी रंगमंच की अभावग्रस्त स्थिति में सुनहरी सम्भावनाएं प्रकट करने वाले हैं इसी प्रकार का उनका एक सशक्त प्रयोग है 'आषाढ़ का एक दिन' जिस पर नाटककार को संगीतनाटक अकादमी की ओर से ५,०००) रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया था। इस नाटक का महत्त्व केवल इसके शिल्प तक ही सीमित नहीं, अपितु इसमें प्रणय के भावावेग का उमड़ता हुआ स्रोत हृदय के अन्तरतम को झंझोड़ने की शक्ति रखता है।

आषाढ़ का एक दिन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित मोहन राकेश का सुन्दर रंगमंचीय नाटक है। इसका कथानक प्रख्यात होते हुए भी कोरे इतिहास जैसा नीरस नहीं। साहित्यकार वास्तव में इतिहास का विवरण देने वाला ही नहीं होता उसकी सहज सौंदर्य शाली कल्पना इतिहास के रूखे तथ्यों को रोचक आकर्षक बनाने में बहुत सहायक होती है।

नाटक की ऐतिहासिक भूमि भावना और समय का संघर्ष दिखाने में प्रयुक्त होकर अन्त में समय की विजय का उद्घोष प्रस्तुत करती है। हृदय की कोमल भावनायें समय के यथार्थ कठोर धरातल पर चूर-चूर हो जाती हैं। उनके स्वप्न बिखर जाते हैं। क्योंकि समय की अपनी आवश्यकताएं हैं जिन्हें हम भावना में खोकर भी आंखों से ओझल नहीं कर पाते।

इस नाटक का नायक चाहे ऐतिहासिक व्यक्ति है परन्तु सारा कथानक कपोल कल्पित है। केवल कालिदास को इतिहास का व्यक्ति सिद्ध करने के प्रयत्न में उज्जैनी नरेश की पुत्री से विवाह तथा उसकी रचनाओं के नाम आदि बीच-बीच में रख दिये हैं। फिर भी अनुकूल वातावरण से पुष्ट होकर नाटक में ऐतिहासिकता की

झलक दिखाई देती है। इस झलक का कारण यह भी है कि महाकवि कालिदास के जीवन का कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता !

कथानक के मुख्यसूत्र हैं:—कालिदास तथा मल्लिका का प्रणय सम्बन्ध । कालिदास को उज्जैनी नरेश द्वारा सम्मान का बुलावा, मल्लिका का प्रेम में पथ की बाधा न बन कर कालिदास को भेजना, कालिदास का वहीं का हो रहना, परन्तु अन्त में प्रेमिका के पास लौट कर यही पाना कि समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता । आधुनिक शिल्प के इस नाटक में अधिकारक कथा ही प्रधान है। प्रासंगिक रूप में एक-दो छोटी-छोटी घटनाएं तथा प्रियंगु मंजरी का मल्लिका के पास आना तथा मातुल का एक-दो स्थान पर बकझक करना मूल कथा के प्रभाव को बढ़ाने में काफी सफल है। अन्त न्याय की दृष्टि से उचित न हो पर है प्रभावशाली ।

सारे कथानक के कार्य व्यापार को नाटक की पांच कार्यावस्थाओं में विभक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि यह फल की दृष्टि से भारतीय कम और पाश्चात्य अधिक है। इसलिये इसे पाश्चात्य कथा विधान के छः अंगों मे बांटना चाहिए । इस नाटक में प्रस्तावना (Exposition में मल्लिका का भीगना, प्रारम्भिक घटना (Initial Incident) कालिदास का उज्जैयिनी जाने से इन्कार करना, विकासोन्मुख व्यापार (Rising action) में मल्लिका के आग्रह पर चले जाना, चरम सीमा (Crisis) में प्रियंगु मंजरी का कालिदास की पत्नी रूप में आना, निगति (Denouement) मल्लिका की दुर्दशा तथा वेश्या बनने की सूचना मिलना एवं (Catastrophe) दुर्घटना है निराश कालिदास का फिर वापिस चले जाना। सारा कथा व्यापार एक सुन्दर गति से चलता दिखाई देता है जिसमें भावुकता से भरा मल्लिका का कार्य एक विशेष आकर्षण प्रस्तुत करने वाला है । उसकी मां तथा विलोम उसकी भावना के बीच-बीच में टोकते हुए बाह्य संघर्ष पैदा करते हैं तो अन्तर्द्वन्द्व के स्थान भी मल्लिका के व्यक्तित्व में चमकते हैं। जब वह सुनती है कि कालिदास काश्मीर का राज्य छोड़ कर सन्यासी हो गये हैं तो उसके मन का संघर्ष देखने योग्य है—

"मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा वर्तमान रहे हो ! मैंने कभी तुम्हें अपने पास से हटने नहीं दिया । तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ । मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है—और आज तुम मेरे जीवन को इस प्रकार सर्वथा निरर्थक कर दोगे ?"

नाटककार ने कथानक को सूच्य और दृश्य भागों में भी बड़ी भली प्रकार विभक्त कर लिया है और वातावरण

कथोपकथनों तथा पात्रों की व्यवस्था की सहायता से सूच्य अंशों की सूचना कुशलतापूर्वक दी है। वास्तव में यह आधुनिक नाटक रंगमंच को सामने रख लिया गया है। इस लिये कथा के सूच्य और दृश्य भागों का वर्गीकरण अधिक कौशल की बात थी।

कथानक का विस्तार कितने ही वर्षों में फैला हुआ है परन्तु यह वस्तु-व्यापार की एकता के पथ में बाधा नहीं बनता क्योंकि संकलन त्रय में से स्थान और कार्य की एकता इतने सुगठित सूत्रों से कथा को पकड़े हुए है कि समय के संकलन का अभाव कहीं दिखाई ही नहीं देता।

कथानक तीन अंकों में विभक्त है। अंक दृश्यों में विभाजित नहीं है। उनकी आवश्यकता ही नहीं थी। रंगमंच की सुविधा के लिये ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

कथानक का शिल्प चाहे पाश्चात्य प्रभावित है परन्तु उसकी आत्मा भारतीय है। कथा में हृदय पक्ष बड़ा सजीव है। अतः पाठक के मन को भी छूने वाला है। भावना के स्तर पर जीना चाहे समय के सामने पराजय ही हो पर यह पराजय क्या सचमुच पराजय है ?

चरित्र-चित्रण आर्जक नाटक का प्राण है। प्रस्तुत नाटक के पात्र भी आधुनिक शिल्प के अनुकूल सजीव हैं सप्राण हैं। भावना और समय के द्वन्द्व वाले इस नाटक में भावना के प्रतीक पात्रों में मल्लिका और कालिदास हैं तथा समय के प्रतिनिधि विलोम और अम्बिका। या यूं कहें कि इस नाटक में एक वर्ग के पात्र आदर्श की दृष्टि से देखते हैं। इसलिये वे भावना को नहीं समय को जीते हैं। समय के साथ अपनी भावनाओं को मोड़ने के पक्ष में हैं।

जहां तक चरित्र-चित्रण की शैली का सम्बन्ध है नाटककार ने नाटकीय शैली को ही अधिक अपनाया है। वर्णनात्मकता कम है। इसलिये पात्रों की विशेषताएं हम तक प्रभावशाली ढंग से पहुंचती हैं।

मल्लिका इस नाटक की प्रधान पात्र है। देखा जाय तो यह कथा मल्लिका के भावना भरे हृदय की कहानी है जो समय से टकराने के लिये तैयार है। वह हार सकती है, टूट सकती है पर झुकती नहीं। वह टूट कर भी जीवन को अथ से आरम्भ करने का साहस रखती है।

मल्लिका कवि कालिदास की प्रेयसी है और एक महाकवि की प्रेयसी के गुणों से सम्पन्न है। वह भावना प्रधान पात्री है जो अपने प्रेमी के साथ भावना विभोर हो बादलों में भीग कर कविता सृजन के वास्तविक आनन्द को भोगने में समर्थ है। इसलिये उसके भोले भाले स्वप्न हैं। नील कमल की तरह कोमल और गीले, वायु की तरह हलके !

यह भोली [illegible] के स्तर पर जीने वाली है। मेघमाला को वह देखेगी अवश्य चाहे वह उसको भिगो कर ही चलता बने। वह भावना से भावना का वरण करती है। जीवन उसकी अपनी सम्पत्ति है। उसे वह जैसे चाहे जी सकती है। वह गांव में होने वाले अपवाद को जानती है परन्तु वह भावना से ही प्रेम करने लगी है जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है। इसलिये उस अपवाद से उसे अपराध का अनुभव नहीं होता। भावना का सम्बन्ध उसके लिये सारे सम्बन्धों से बड़ा है। उसी भावना के नाम पर वह बड़े से बड़ा त्याग करने के लिये प्रस्तुत है। उसका प्रेमी कालिदास अपने आपको राजकीय मुद्राओं के लिये बेचना नहीं चाहता। मल्लिका जानती है कि कालिदास का जाना स्वयं उसके लिये घातक है परन्तु वह यह भी जानती है कि कालिदास वहां जाकर महाकवि कालिदास बन सकता है। वह जानती है कि उसके चले जाने पर उसके अपने अन्तर को रिक्तता छा लेगी और बाहर भी बहुत सूना प्रतीत होगा फिर भी वह प्रेम के साथ छल नहीं करती। स्वयं मिट कर भी प्रेमी को बनने का अवसर देती है। यहां तक कि जब कालिदास के जाने के बाद उसे सूचना मिलती है कि कालिदास ने राज-कन्या से विवाह कर लिया है तो कहती है,–

"उनके प्रसंग में मेरी बात कहीं नहीं आती। मैं अनेकानेक साधारण प्राणियों में से हूँ। वे असाधारण हैं। उन्हें जीवन में असाधारण का ही संसर्ग करना चाहिए।"

भावना के स्तर पर जीने वाली इस भावुक युवति में दृढ़ता है जो उसके भीतर के जर्जर हृदय को बाहर से पूर्ण रखने में सायक है। मां के यथार्थ वादी उपदेश हों या विलोम के व्यंग्यपूर्ण वाक्य वह सब का दृढ़ता पूर्वक उत्तर देना जानती है। राज कन्या प्रियंगु मंजरी के सम्मुख भी उसका धैर्य अपने अटूट बांध को तोड़ता नहीं। उसकी भावना उसका प्राण है। वही से उसको जीवन-शक्ति मिली है। उसको छोटे-मोटे धन के सुख के लोभ क्या विचलित कर सकते हैं?

पर उसके हृदय का अन्तर्द्वन्द्व भी बड़ा मर्मस्पर्शी है। सब के सम्मुख चाहे वह सिंहनी है परन्तु अकेली होकर भावना के वेग में बह कर स्वप्नों को बिखरते देखती है तो रो देना चाहती है। कालिदास ग्राम में जाकर भी उसे नहीं मिलते तो उसकी दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है,—

"आज वर्षों के अनन्तर तुम लौट कर आये हो। सोचती थी कि तुम आओगे तो उसी तरह मेघ घिरे होंगे वैसा ही अन्धेरा दिन होगा। परन्तु आज तुम आये हो तो सारा वातावरण ही और है

श्रौर......श्रौर नहीं सोच पाती हूँ कि तुम भी वही हो या..........?"

भावना को जीने के लिये वह जीवन की बाज़ी लगा देती है । जब सुनती है कि कालिदास सन्यासी बन गये हैं तो उसका हृदय चीख उठता है। उसने श्रभाव का जीवन भोगा ताकि उसकी भावना पल सके। श्रपनी भावना में किसी श्रन्य को नहीं श्राने दिया। परन्तु श्रभाव श्रर्थात् निर्धनता या वहां जहां कालिदास नहीं थे उस स्थान पर श्रावश्यकताएं थीं जीवन की ठोस श्रावश्यकताएं जिसके लिये वह शरीर को बेच देती है। फिर भी कितना साहस है उस नारी में वह टूट कर भी टूटना स्वीकारती नही । दारिद्रय उसके सौ गुणों को छा लेता है ।

वह इसलिये टूटती है कि कालिदास कुछ बन सके । वह श्रपने को श्रपने में न देख कर कालिदास में देखती है । वह प्रेम-त्याग की, तप की, साधना की देवी है । यदि कहें कि वह मैथिलीशरण गुप्त जी की यशोधरा है तो भी श्रत्युक्ति नहीं ।

हां यह भी नायिका का दुर्भाग्य है कि वह प्रियतम को बनाने के लिये श्राहुति बन जाती है। जबकि यशोधरा के प्रियतम उसके मान की रक्षा के लिये उसके द्वार पर श्राकर भिक्षा मांगते हैं। वास्तव में मल्लिका भारतीय नारी के दृढ़ हृदय पक्ष का ज्वलन्त उदाहरण है ।

नाटक के पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति है। परन्तु उनके चित्र की सूक्ष्म रेखाएं श्रावश्यक नहीं कि इतिहास से सम्बन्धित हों। फिर भी महाकवि की रचनाश्रों के श्राधार पर श्रनुमानित इस नाटक की घटनाएं विश्वासनीय ही लगती हैं।

महाकवि कालिदास एक ग्राम प्रदेश में रह कर 'ऋतु संहार' नामक काव्य की रचना करते हैं। धीरे-धीरे उस काव्य की ख्याति उज्जैयिनी-नरेश तक पहुंच जाती है। परन्तु ग्राम प्रदेश में कवि के काव्य का कोई ग्राहक नहीं। वे बिना किसी के श्राश्रय के दिन बिता रहे हैं। लोगों की ठोकरों के लक्ष्य हैं। उनके महान रूप को पहचानती है केवल उनकी प्रेयसी मल्लिका जो प्रदेश भर में श्रपने विषय में प्रचलित श्रपवादों की परवाह किये बिना उनके काव्य की, उनके व्यक्तित्व की परम-भक्त है। वही उनके हृदय की कोमलता को भी पहचानती है।

कालिदास जैसे महान् कवि का हृदय कोमल होना चाहिए। उन्हें हरिणशावक की प्राण रक्षा के लिये राज कर्मचारी से झगड़ा मोल लेने में भी हिचकिचाहट नहीं। घायल शावक की सेवा सुश्रुषा उनके कोमल हृदय का परिचयाक है तथा उनके सहज प्राकृतिक सौंदर्य को मनुष्य के निर्दयी हाथों से बचाने का उदाहरण भी है।

सहज कोमल हृदय के स्वामी कालिदास का एक अहम् भी है। वह राजमुद्राओं के लिये बिकने के लिये नहीं है। राजकीय सम्मान की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि अपने ग्राम प्रदेश में वह बहुत सूत्रों से बंधे हुए हैं। उन्हें तोड़ते हुए उन्हें दुःख होता है। प्रेम उन्हें जाने नहीं देना चाहता। फिर उन्हें अपनी कमज़ोरी का भी पता है। वह किसी भी घेरे में बंध सकते हैं। नये स्थान की आवश्यकताएं यदि उन्हें घेर गईं तो ?

इसलिये वे उज्जनी नहीं जाना चाहते। परन्तु उनका पथ-प्रशस्त करने के लिये उनकी प्रेमिका अपने आपको उन पर वार कर उन्हें कुछ बनने के लिये भेजती है। वे मन से वे जाते तो हैं पर उनकी शंका सत्य निकलती है। उसी में वे बंध जाते हैं। फिर उनमें इतनी हिम्मत नहीं कि पलट कर देख सकें कि मल्लिका का क्या हुआ। केवल इस आश्रय में जीते हैं कि सभी कुछ वैसा ही होगा जैसे वह छोड़ गये थे। अन्त में सब कुछ छोड़ कर वापिस पहुंचते हैं तो देखते हैं कि समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। कहानी को अथ से आरम्भ करने का स्वप्न भी टूट जाता है।

अम्बिका का उन पर आत्मसीमित होने का आरोप है जो किसी सीमा तक ठीक है परन्तु देखा जाये तो कालिदास का चरित्र जिन तन्तुओं से बुना गया है वे बहुत कमज़ोर हैं, इसलिये वे अपनी प्रेमिका के प्रति न्यायशील नज़र नहीं आते। उनका कवि होना भी उनके कमज़ोर होने की व्याख्या नहीं है। कहना पड़ेगा कि नाटककार ने अपने नाटक का प्रभाव बढ़ाने के लिये ऐतिहासिक महाकवि के चरित्र को काफ़ी कमजोर चित्रित किया है।

हां उनका कवि रूप प्रस्तुत नाटक में बहुत निखरा लगता है। इस दृष्टि से वे बहुत ही ऐतिहासिक व्यक्ति है। उनकी वाग्विदग्धता एवं प्रतिभा कई स्थानों पर उभर कर सामने आती है।

"शब्द और अर्थ राजपुरुषों की सम्पत्ति है यह जान कर आश्चर्य हुआ।"

तीसरे अंक में वापिस आकर कालिदास स्वयं अपना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं कि अभाव और सब से घृणा प्राप्त करने वाले जीवन के बाद सम्मान-प्रतिष्ठा का जीवन उन्हें घेर लेगा। यह उन्हें आशंका थी। वह आशंका ठीक ही सिद्ध भी हुई। वे कहते हैं कि वे अपनी न्यूनता, अपनी कमजोरी के कारण ही उस माया के जाल को न तोड़ सके अपने पुराने सम्बन्धों को तोड़ कर नये जीवन को अपनाये रहे। इन लम्बे-लम्बे सम्वादों में कालिदास ने स्वयं अपने चरित्र को उघाड़ने का प्रयत्न किया है।

अतः कहेंगे कि महाकवि कालिदास का व्यक्तित्व नाटककार के उद्देश्य के

सामने बलि हो गया है । हां मल्लिका का चरित्र इसमें बड़ा शक्तिशाली हो उठा है ।

अन्य पात्रों में अम्बिका यथार्थ दर्शी है। उसके अनुसार मां का जीवन भावना नहीं कर्म है। वह चरित्र चित्रण में बाहरी संघर्ष की प्रतिनिधि है। विलोम एक सफल प्रतिनायक है । बड़ा मनोवैज्ञानिक पात्र है । प्रियंगु मंजरी की राजनीतिक भाषा उसके चरित्र के अनुकूल है तो मातुल चाटुकारिता का प्रतिनिधि हास्य उत्पन्न करने में सहायक है ।

कथोपकथन की दृष्टि से आषाढ़ का एक दिन सफल रंगमंचीय नाटक के पर्याप्त गुणों को लेकर चलता है। नाटक में कथोपकथनों का महत्त्व कथा विकास तथा चरित्र चित्रण दोनों दृष्टियों से होता है। हमारे नाटककार ने भी कथोपकथनों द्वारा कथा को आगे बढ़ाया है ।"मैंने एक और आकृति को घोड़े पर जाते देखा है निक्षेप।" तथा कभी स्वयं पात्र के शब्दों ने और कभी अन्य पात्रों ने किसी विशेष चरित्र का व्यक्तित्व निखारने का प्रयत्न किया है, "एक राजनीतिक जीवन, दूसरे कालिदास मैं आज तक दोनों में से किसी एक की धुरी को नहीं पहचान सका........ मातुल !"

नाटक के कथोपकथन देश पात्र परिस्थिति के बहुत अनुकूल हैं। मल्लिका भावना में बह कर भावुक बातें करने लगती है । प्रियंगु मंजरी कूटनीति के व्यंग्ययुक्त वाक्य बोलती नितान्त स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त कथोपकथन सजीव सार्थक हैं, रस युक्त हैं, वाग्वैदग्ध्य से पूर्ण है--"शब्द और अर्थ राजपुरुषों की सम्पत्ति है यह जान कर आश्चर्य हुआ ।"

संक्षिप्तता की दृष्टि से कुछ आपत्ति हो सकती है । लम्बे-लम्बे कथोपकथन मन की अवस्थाओं के उघाड़ने की दृष्टि से जितने ठीक हैं रंगमंच की दृष्टि से उतने ही ठीक नहीं !

नाटक की भूमि ऐतिहासिक होने के कारण नाटककार का दायित्व जितना बढ़ गया था उतनी कुशलता से ही उसे निभा भी दिया गया है। नाम स्थान सभी कुछ दो हजार वर्ष पीछे ले जाते हैं और पाठक अथवा दर्शक सचमुच कालिदास को एक साधारण पुरुष की कमजोरियों में जीता हुआ देख कर उसके सुख दुःख को भोग सकता है।

वास्तव में नाटककार इस विषय में काफी सचेत जान पड़ता है । इसलिये वह देश और काल का बहुत ध्यान रखता हुआ शय्या को तल्प कहना अधिक अच्छा समझता है या आस्तरण । इससे भाषा में कठिनाई का अनुभव साधारण पाठक को चाहे हो परन्तु प्रभाव की गरिमा की रक्षा भली भांति कर ली गई है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियां

की पुरातन हवा में सांस लेता हुआ यह नाटक स्वाभाविक और औचित्य का गुण अपनाने में सफल हैं।

बाह्य वातावरण के अतिरिक्त पात्रों के मानसिक वातावरण की भी झांकी मल्लिका, अम्बिका, कालिदास, विलोम आदि में स्थान-स्थान पर स्पष्ट होती है।

संस्कृत नाटकों में रस योजना का विशेष महत्त्व था। उस दृष्टि में प्रस्तुत नाटक को देखना शायद अनुचित हो। पश्चिमी उद्देश्य की दृष्टि से यह नाटक अपने कटु यथार्थवादी अन्त को लेकर चलता है। वास्तव में जीवन की सारी भावुकताओं का यही दुखान्त इतिहास है। भावना–इच्छा के स्तर पर जीने की सीमाओं की ओर इंगित करके एक सच्चाई को उद्घाटित करता दिखाई देता है यदि पूरे नाटक में कोई रस ढूंढना हो तो करूणा का अधिक पसार दिखाई देगा।

भाषा शैली की दृष्टि से अत्याधुनिक शिल्प को लेकर चलने वाला यह नाटक प्रसाद गुण सम्पन्न है। परन्तु ऐतिहासिकता की मांगों को पूरा करने के लिये प्राचीन भारत के शब्द कुछ कठिन चाहे जान पड़ते हैं पर वे स्वाभाविक एवं अनुकूल हैं। नाटककार एक सुन्दर शैली को अपनाता है। जिसमें अपना एक संगीत है शायद लेखक की आत्मा का ही हो। अतः वह भाषा शैली को प्रभावित करती है।

यहां अभिनेयता का प्रश्न विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि नाटक के आरम्भ की भूमिका में लेखक ने हिन्दी रंगमंच की समस्या का ही विवेचन किया है। उनका कहना है कि हिन्दी के रंगमंच का रूप विधान नाटकीय प्रयोगों से जन्म ले सकता है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत नाटक एक सुन्दर प्रयोग है। क्योंकि यहां प्राचीन नाटक प्रणाली से व्यर्थ का मोह भी नहीं दिखाया गया न ही पाश्चात्य नक्ल के फैशन को अपनाया गया है। नाटककार भारतीय आत्मा को ही पकड़ता है। परन्तु उसको प्रस्तुत करने का उसका ढंग यथार्थवादी है। इतिहास के पात्र मांग कर भावों को प्रकट करने का ढंग काफ़ी आधुनिक हैं। पात्र हमारी परिस्थितियों को भोगते हुए हमारे मन के काफ़ी निकट आ पहुंचते हैं।

रंगमंच के लिये ही विशेष संकेतों की योजना इस नाटक में दिखाई देती है। पात्रों के प्रश्नों के साथ बदलते हुए हाव भावों का विवरण नाटककार ने स्थान-स्थान पर दिया है।

इस नाटक की अभिनेयता के विषय में एक महत्त्वपूर्ण तत्व यह है कि नाटक के केवल तीन अंक हैं। जो दृश्यों में विभक्त नहीं। इसी तीनों अंकों के लिये मंच सजा कर नगण्य सा हेर फेर करने की

ग्रावश्यकता होगी। परन्तु वह थोड़े बहुत हेर फेर ही बड़े सार्थक हैं, प्रभावशाली हैं।

नाटक के लम्बे-लम्बे कथोपकथन कहां तक ग्रभिनय में सहायता देंगे यह प्रश्न ग्रवश्य विचारणीय है। भावुकता में बहती हुई चाहे मल्लिका कह रही हो या कालिदास ग्रभिनेताग्रों के प्रभावशाली ग्रभिनय से यह लम्बे-लम्बे कथन भी दर्शक सुनने को प्रस्तुत हो ही सकेंगे। इसका एक कारण यह भी है कि यह लम्बे कथोपकथन किसी दर्शन शास्त्र या सिद्धान्तों का विश्लेषण नहीं करते बल्कि ग्राकर्षक भाषा में पात्रों की मनोव्यथा को उघाड़ते हैं।

सब मिला कर यह एक सुन्दर नाटक है। जिसमें पाश्चात्य नाट्य-विधान को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया गया है।

जो बदला लेने की बात सोचता है, वह ग्रपने ही घाव को हरा रखता है जो कि ग्रब तक कभी का ग्रच्छा हो गया होता।

बदला लेने से मनुष्य स्वयं ग्रपने शत्रु के समान हो जाता है, परन्तु न लेने से वह उससे श्रेष्ठ बनता है।

बदला लेना साहस नहीं है, उसको सहना साहस है।

—बेकन

राम-भक्त राम लाल

राम कृष्ण दास गोयल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल को स्वर्णयुग के नाम से सुशोभित किया जाता है। इस युग के साहित्य में भाव-पक्ष व कला-पक्ष, दोनों का पूर्ण रूप से विकास हुआ। एक ओर तो कबीर जी ने एक निराकार ईश्वर के लिये भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा, दूसरी ओर सूफियों ने उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिये प्रेम-तत्व को अपनाया और दोनों ने निर्गुण-पंथ को बड़ी धूम-धाम से निकाला। इसके साथ ही सूर ने जिस ईश्वर के केवल प्रेम-स्वरूप को लेकर नई उमंग से प्रवेश किया, तुलसीदास ने उसी ईश्वर के धर्म स्वरूप को लेकर, उस स्वरूप को लेकर, जिसकी रमणीय अभिव्यक्ति लोक की रक्षा और रंजन में होती है, प्राचीन भक्ति-मार्ग की राम-भक्ति-शाखा को प्राण व मान दिया। यह राम-भक्ति शाखा तुलसीदास की पुण्य कृतियों से इतनी अधिक विकसित हुई कि तुलसीदास के पश्चात् आने वाले ज्ञात तथा अज्ञात राम-भक्त कवियों की कृतियां उनकी रचनाओं के सामने हेय जान पड़ती थीं।

अब मैं आपके सामने एक ऐसे राम-भक्त कविवर श्री रामलाल जी की जीवन गाथा तथा साहित्यिक कृतियों की चर्चा करने लगा हूँ जो आधुनिक युग के निकट-तम समय के साथ सम्बन्ध रखने के बावजूद भी दिन-प्रति-दिन धुन्धली पड़ती जा रही हैं।

कविवर रामलाल जी का जन्म अनुमानतः सम्वत् १९४२ में लाला भवानीशाह जी के घर, ग्राम कारौता ज़िला महेन्द्रगढ़ में नारनौल से ७—८ मील की दूरी पर हुआ था। आपके पिता जी लेन-देन का काम करते थे। इनकी माता जी का नाम शाराबाई था जो बड़ी नेक स्त्री थी। दोनों ही अपने अन्य दो पुत्रों—कन्हया लाल तथा हीरा लाल की अपेक्षा श्री राम लाल जी को अधिक प्यार करते थे। राम लाल की तीन बहनें भी थीं। इस प्रकार इनका पालन-पोषण एक पूर्ण रूप से विकसित परिवार में हुआ था। किसी को यह कदाचित् भी सम्भव दिखाई नहीं देता था कि इस प्रकार के वातावरण में किसी बालक में

राम की भक्ति की लग्न इतनी तीव्र हो जायेगी कि कभी वह बालक घर-बार को त्याग कर राम-नाम की रट में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देगा ।

राम-नाम की लग्न उनके हृदय में १०–१२ वर्ष की आयु में पैदा हो गई थी। कहा जाता है कि एक बार एक कथावाचक से आपने प्रह्लाद भक्त की कथा सुनी और वह प्रह्लाद की राम-भक्ति से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उसी समय से राम-नाम जपना शुरू कर दिया और इतनी छोटी सी आयु में ही गांव के बाहर एक छतरी में जाकर रहना शुरू कर दिया। उनके माता-पिता को उनके इस त्यागमय जीवन को देख कर बड़ी निराशा पैदा हुई और उन्होंने इनका ध्यान गृहस्थ की ओर आकर्षित करने के लिये इनका विवाह २०–२२ वर्ष की आयु में उम्रावती नामी एक सुशील तथा नेक कन्या से कर दिया जिसकी कोख से दो पुत्र तथा तीन पुत्रियां उत्पन्न हुई। इतना लम्बा चौड़ा परिवार भी उनका ध्यान श्रीराम के चरणों से हटा न सका।

सम्वत् १९७० में उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। उनके कोमल हृदय पर एक गहरा आघात पहुंचा। वह गृहस्थ जीवन से पूर्णतः विरक्त हो गये। तभी से राम-नाम का प्रचार उनका मुख्य ध्येय बन गया। उन्होंने राम-प्रचार के लिये अपने कुछ साथियों— हरदेव, देसराम जाट, [illegible] बनवारी शरण— को साथ लेकर घर-घर अलख जगा दी और अपना भक्ति-स्थान कमानिया गांव को बनाया जहां भगवान शिव की प्रतिमा का प्रगट होना बताया जाता है और जो आजकल एक तीर्थ-स्थान में परिणत होता जा रहा है।

आपने अपने जीवन-काल में अनेकों तीर्थ-स्थानों का भ्रमण किया। अयोध्या जी आपका विशेष रुचिकर स्थान रहा है। एक बार आपने वहां पर श्रीराम आदि के स्वरूपों के दर्शन किये। उन स्वरूपों के प्रति उनकी इतनी श्रद्धा उत्पन्न हुई कि उन स्वरूपों को ही वह श्रीराम समझने लग गये और जब एक बार वह एक गली में से निकले जा रहे थे तो उन स्वरूपों का प्रकाश उनकी आंखों के सामने से गुजरा। इसी दिव्य प्रकाश ने उन्हें राम-भक्त होने का वरदान दिया। इसी भक्ति की कोमल व पवित्र रज्जु में बंधे रामलाल जी ने उन स्वरूपों को सम्वत् १९८५ में नारनौल आने पर विवश किया जहां लाखों लोगों ने उनका हाथी व घोड़ों पर जलूस निकाला और अपने जीवन को सफल बनाया। अब से आप का नाम चारों ओर प्रसिद्ध हो गया और काशी आदि में आपका काफी मान व स्थान बढ़ा और आपको भक्तों की उच्च कोटि में रखा जाने लगा।

विद्यालय में नियमित रूप से शिक्षा ग्रहण नहीं की थी परन्तु फिर भी आप संस्कृत तथा हिन्दी के अच्छे विद्वान थे और आप अंग्रेज़ी भी काफ़ी जानते थे। यह सभी ज्ञान आपके सहज अनुभव के आधार पर ही पैदा हुआ था। इसी शिक्षा के आधार पर आपने राम-नाम का गुणगान करते हुए अनेकों ग्रन्थ तथा हज़ारों पृष्ठ पद्य तथा गद्य रूप में लिख दिये हैं जो आज भी कमानिया ग्राम में सुरक्षित पड़े हुए हैं। उनमें से उनके कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ "अमर-कथा", "राम जहाज", "रुद्री", "राम-गीतावली", व "भक्तमाल" हैं।

इन ग्रन्थों के आधार पर हम अब रामलाल जी के वर्णित विषयों पर विचार करेंगे। उनकी काव्य रचनाओं में प्राय: नीचे दिये गये विषय विशेष स्थान रखते हैं।–

(१) **राम-नाम की महिमा:**—उनके प्रत्येक ग्रन्थ में राम-नाम का गुणगान स्पष्ट रूप से अंकित है। 'राम जहाज" में वह श्री राम की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

"सर्वाग्र श्रष्टं प्रभु राम चन्द्र,
सर्वाग्र जेष्ठं वर राम देवं।
सर्वाग्र पूज्यो-भव नाथ नाथं,
राम दयालुं शरणं प्रपद्ये ।।"

इसी प्रकार "अमर कथा" में राम-नाम की चर्चा का महात्म्य बताते हुए

"राम नाम चरचा बिना,
सत संग बुरा कुसंग ।
तथा राम के रंग बिन,
सबही रंग कुरंग ।।"

वह श्री राम के नाम को ही सभी सुखों का मूल समझते हैं और राम के सम्पर्क को ही सभी मित्रों से श्रेष्ठ समझते हैं और कहते हैं :—

"मीत करो तो राम करि,
प्रीति करो तो राम ।
आन काम जो जो करो,
सभी काम दुःख धाम ।।"

संसार में वह केवल राम-नाम को एक मात्र जीवन-आधार समझते हैं और इसे ही सच्चा काम समझते हुए कहते हैं –

"या दुनिया का बीच में,
यह दो कारज सार ।
राम भजो अन दान दो,
उतरो भव निधि पार ।।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामलाल जी राम-नाम को ही अपने निस्सार जीवन का सार समझते थे और वह राम-नाम के इतने लोभी बन गये थे कि प्रत्येक स्वांस में अधिक से अधिक बार राम-नाम का उच्चारण करना अपने जीवन का सार समझने लग गये थे। इसलिये वह राम-नाम को घोट-घोट कर रटते थे और अपने अंगों पर राम-राम खुदवा लिया था।

(२) **श्री राम चरित्र वर्णन :—** राम-भक्त श्री रामलाल जी का काव्य आधार मुख्यत: श्री राम चरित्र ही रहा है। उन्होंने "राम जहाज" के सर्गों में तथा "अमर कथा" के अमर खण्डों में श्री राम के चरित्र का ही गुणगान किया है। उन्होंने श्रीराम चरित्र के कुछ मनोरम स्थलों को ही अधिक अपने काव्य का आधार बनाया है। श्री राम के विवाह के अवसर को दोनों ग्रन्थों में सविस्तार वर्णित किया है और जब यह प्रसंग अधिक विस्तार पकड़ जाता है तो वह स्वयं ही इसको अनुभव करते हुए कहते हैं कि:—

"कथा न विस्तारक करूँ,
इतना रहा सुणाय ।"

इसी प्रकार राम वन-गमन के प्रसंग को ज़रा भी वर्णन करना नहीं चाहते और उस सम्बन्ध में "राम जहाज" में ही कहते हैं :—

"राम चन्द्र वन गमनम गाऊँ ।
कथा कष्टमय मैं न सुनाऊँ ।।"

कोमल हृदय कवि राम के दुख को सहन नहीं कर सकता। इसलिये वह लक्ष्मण जी की मूर्छा का वृत्तांत भी लम्बा नहीं करते और उसके विपरीत राम जी के सुखदायी बाल-जीवन के विषय में कहते हैं :—

"पूरो बाल चरित सुखदाई ।
की नदेव सर्वस मन भाई ।।"

कहने का अभिप्राय यह है कि कवि राम लाल ने श्री राम के सुखदायी जीवन को ही अपने काव्य में अधिक स्थान दिया क्योंकि वह यह कदाचित् भी सहन नहीं कर सकते कि उनका आराध्य किसी प्रकार के दुख में ग्रस्त हो।

(३) **शिव-शंकर की महिमा:—**श्री रामलाल जी का भक्ति-स्थान कमानिया ग्राम था जहां पर भगवान शिव की प्रतिमा स्वयं ही प्रगट हुई थी और जहां हज़ारों नर-नारी शिव भगवान को ही पूजने के लिये दूर-दूर से आया करते थे। ऐसे वातावरण में रहने वाले भक्त का शिव उपासक होना स्वाभाविक ही था। "राम जहाज" में कथा के आरम्भ में ही श्री राम जी स्वयं ही शिव तथा अपने सम्बन्ध के विषय में कहते हैं :—

"हे शिव मैं तुम दोय ना,
एक ही रूप कहाय ।"

इसी तथ्य पर बल देते हुए पुनः कहते हैं :—

"तब द्रोह करे मोर गुन गावे ।
सो नर निश्चय नर्क सिधावै ।।"

इसी प्रकार 'अमर कथा' के सतारहवें सर्ग में शिव स्थापना करते समय श्रीराम जी श्री शिव जी महाराज का गुणगान करते कहते हैं :—

"राम कही शिव इष्ट हमारे ।
हम शिव येक दोय बपुधारे ।।"

मोर भक्ति भी जो चाहे प्रानी ।
शैवो शम्भु सर्व गुणवानी ।
येक बेर शिव नाम उचारे ।
सो जन मोरे प्राण आधारे ।।"

हम देखते हैं कि यह सभी पंक्तियां तुलसीदास जी की नीचे लिखी पंक्तियों से मिलती-जुलती हैं :—

"सिव द्रोही मम भगत कहावा ।
सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा ।
संकर बिमुख भगति चह मोरी ।
सो नरकी मूढ़ मति थोरी ।।"

उनका 'रुद्री' ग्रन्थ तो भगवान शिव की कृपा से रचा गया है और उसमें शिव गुण-गान अपनी चरम-पराकाष्ठा तक पहुंच गया है ।

(४) **श्री कृष्ण के रूप का वर्णन**– कोई भी राम-भक्त कवि श्री कृष्ण की सुन्दर छवि को निहार उस द्वारा मन्त्रमुग्ध हुये बिना नहीं रह सका है। जैसे तुलसीदास जी ने 'कृष्ण गीतावली' में श्री कृष्ण की सुन्दर मनोमुग्ध आकृति का वर्णन किया है वैसे ही श्री रामलाल ने उनके आनन्दमयी दैनिक क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए तथा उनके रूप का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"सर्व भांति नोहरं छवि वरं पीताम्बरं
सुन्दरं ।"

राधा व कृष्ण की सुन्दर चिर-जीवो जोड़ी को निहार उनका कोमल हृदय प्रसन्नता से खिल उठता है और उस सुखदायिनी जोड़ी का वर्णन करने के लिये उनके पास शब्द भी नहीं और तभी वह कहते हैं :—

"सुन्दर युगल मनोहर जोरी ।
जो छवि कहूँ थोर सब थोरी ।।"

(५) **फुटकर विषयों पर विचार:**— यद्यपि आपके गुरु के विषय में कुछ भी पता नहीं चल रहा कि वह कौन थे परन्तु फिर भी गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं :—

"गुरु सम ब्रह्म विष्णु शंभु सुर नांहि हैं,
गुरु सम माइ न बाप राम रघुराय हैं ।"

अहंकार रहित राम लाल जी अपनी सत्ता को पूर्ण रूप से भगवान में लीन हुई समझते हैं और कबीर आदि की तरह कहते हैं :—

"जब लो तू मैं राखतो, तो लो साहिब नांहि
साहिब है तू है नाहिं, ये लखि राम समाय ।।"

साधु-स्वभाव वाले राम लाल जी साधु के सच्चे गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि साधु धन का भूखा नहीं होता वह तो दीन-दुखियों का साथी होता है और उनसे मिलता रहता है जैसे:—

"धनी देत क्या संत को, ना साधु धन लेय ।
जो धन लोभी साध हो, साधु न जाणूं तेय ।।

तथा

"दी नूं से मिलते रहें, धनवानों से दूरि ।
ऐसा करि हैं साधु सो, रघुवर जीवन भूरि।

इसी प्रकार उन्होंने नीति-सम्बन्धी अनेकों दोहे व भजन कहे हैं ।

कविवर रामलाल जी ने प्रायः सभी काव्य-प्रणालियों का सफल प्रयोग किया और उनको अपने काव्य में बड़ी अच्छी तरह से निबहाने का प्रयत्न किया। इनमें से मुख्य ये हैं :—

(क) 'राम कथा' तथा 'राम जहाज' में तुलसीदास जी की दोहे चौपाई वाली प्रबन्ध पद्धति है। 'अमर कथा' में सतानवें सर्ग हैं जो दोहा चौपाई में लिखे गये हैं। कहीं–कहीं दूसरे छन्दों का प्रयोग भी किया गया है। 'राम जहाज' के १५ रत्नों में राम-जीवन तथा अन्य विषयों को काव्य का विषय बनाया गया है।

(ख) 'राम गीतावली' में विद्यापति व सूरदास जी की गीत-पद्धति को अपनाया है। आपके गीत सीधी-साधी ग्रामीण भाषा में ही लिखे गये हैं जो सुनने वाले भक्त-जनों पर गहरा और अमिट प्रभाव डालते हैं। आपने राम-जीवन प्रसंगों को ही अपने गीतों का विषय बनाया। आपके गीतों के शीर्षक हैं:— 'गीत विवाह के समय का' 'तोरण के समय का गीत' तथा 'फेरां के समय का गीत' आदि। आपने अपने गीतों में कहीं-कहीं चित्रवाद को भी अपनाया है:—

"साली हमारी छैल छबीली राखै गोज्या मायं।
सहरू सांड नाक नाथ मोती दो सूवा गाल चुमाय।।

यहां पर 'हाथी' को काम से, 'गोज्या' को इन्द्रियों से, 'सहरू' को क्रोध से, 'सांड' को बलबुद्धि से और 'सूवा' को संकल्प-विकल्प से उपमा दी गई है। आपके गीतों में सरलता, स्पष्टता, भावुकता ग्रामीणता तथ हृदय की कोमल मनो-भावनाओं का स्पष्ट चित्रण है।

(ग) कबीर दास की नीति-सम्बन्धी वाणी को दोहा-पद्धति में अपनाया है। इस सम्बन्ध में उदाहरण पहले ही काफी दिये जा चुके हैं।

श्री रामलाल जी ने शृंगार रस का शिष्ट मर्यादा के भीतर ही व्यंजक वर्णन किया है और इसके साथ-साथ शांत-रस, वीर-रस तथा करुण रस के भी अच्छे उदाहरण आपके काव्य में मिल जाते हैं। शांत-रस में अधीनता की स्वीकृति की प्रवृत्ति मुख्य होती है जो इनके काव्य में स्पष्टतः लक्षित है:—

"शरण भये पापी नेक तार दिया नाथ देख,
मैं ही हूँगा बाकी एक स्वामी इस बैराहूँ।
राधोवर स्वामी तात राम लाल लाल दास।
तेरा हूँ मैं तेरा हूँ मैं तेरा हूँ मैं तेरा हूँ।।"

राम-रावण युद्ध के समय श्री राम जी की वीरता का वर्णन करते हुए आप कहते हैं :—

"तब रघुवर निज शर संधाना।
कान प्रयंत खैंच धनु ताना।।
छूटे विशिष निमख इक मांई।
बीर-मणि सब सेन खपाई।।"

कुम्भकरण की मृत्यु की सूचना सुनते ही रावण व्याकुल हो गया और कवि ने उसकी शोकातुर दशा का वर्णन करते हुए लिखा है :--

"कुम्भ करण बध सुनत सुरारी।
बार बार धरणी शिर मारी ।।
शचिव आय बहु धीर बंधावें ।
बार बार रावण समझावें ।।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आपने अपने काव्य में सभी रसों को सुचारू रूप से निबाहया है ।

वैसे तो दोहा-चौपाई और गीत ही कवि राम लाल जी की प्रिय काव्य-शैलियां रही हैं परन्तु इसके साथ ही आपने और बहुत से छन्दों को अपने काव्य में अपनाया है । तोटक, गीतिका, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्र व्रजा तथा शार्दूल छन्दों को अपने काव्य में प्रचुर मात्रा में स्थान दिया है । इनके उदाहरण दिये जा रहे हैं ।

शार्दूलः--**"शत कोटि हरिहर कोटि शत**
विधि कोटि सुरपति सुरवरं ।
शतकोटि भट पावत पौरुष धारि
मृत्यु भयंकरं ।।"

इन्द्रवज्रा :--**"कृष्णं कृपालुं सुर विप्रत्रातं ।**
कृष्णं कृपालुं शरणं प्रपद्ये ।।"

तोटकः--**"सब भांति मनोहर कृष्ण यशं ।**
दुख दारिद दारुण काल ग्रसं ।।"

इसी प्रकार आपने अपने काव्य में भिन्न-भिन्न अलंकारों का भी प्रयोग किया है । उपमा, रूपक तथा अनुप्रास उनमें से मुख्य हैं :--

उपमाः--"हरि धनु सरिस गिरा शिव बोले ।
गौरि काल खग शर सम भोले ।।"

अनुप्रासः--"कृष्णं कृपालुं कलकंज नेत्रं ।
कृष्णं अपारं छवि मार श्रेष्टं ।।"

रामभक्त कवि के लिये अवधी के सिवाये और कोई भाषा उपयुक्त हो ही नहीं सकती थी, और श्री राम लाल जी के काव्य में भी इसी भाषा का सब से अधिक प्रयोग किया गया है। यद्यपि आप किसी विद्यालय आदि में नियमित रूप से नहीं पढ़े थे फिर भी आप हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी के अच्छे विद्वान थे । आपने अपनी वाणी को राम-नाम प्रचारार्थ ही बरता था और आपका अधिक प्रचार आपके निकटवर्ती ग्रामों के इर्द-गिर्द ही हुआ था, इसलिये आपकी रचनाओं में क्षेत्रीय उप-भाषा के शब्दों की अच्छी भरमार पाई जाती है और विशेष रूप से गीतों में । जैसे कि 'राम-झूला' के गीत में आपने लिखा है :--

'सगलो जग जाके पेट में बसे बाने गोद
खिलावे माई ।
तीन लोक का पूरणियां हरि ने चूंची
पिलावे माई ।।

सगलो, बाने, पूरणियां, चूंची आदि नारनौल के क्षेत्र में बोले जाने वाले शब्द हैं ।

जहां कवि राम लाल जी ने काव्य जगत को अपनी कृतियों द्वारा महान् देन

दी है वहां उन्होंने गद्य में भी कुछ रचनायें की हैं ।

"भक्त-माल" इसका सब से उत्कृष्ट उदाहरण है । इसमें आपने १२० भक्तों की वार्ता लिखी है । ग्रन्थ आरम्भ होने से पूर्व आपने इन भक्तों की एक लम्बी-चौड़ी तालिका दी है यह ग्रन्थ आपके सहज अनुभव द्वारा उत्पन्न आंतरिक ज्ञान के आधार पर लिखा गया है । आपने अपने गद्य में भी क्षेत्रीय उप-भाषा के शब्दों का अच्छा प्रयोग किया है । एक स्थान पर आप लिखते हैं :—

"श्री रामनाथ जी थांको इस दुकान का दर्शन भी ना करने देसी और पेशोर आदि कैदों में भेज देसी फिर कायूं भी ज़ोर ना करसी, म्हां की ना मानोगा तो म्हां को कांयू बिगड़सी आप ही तो खूवार होसीक ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस महान् कलाकार ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को अमर कृतियां प्रदान की हैं और उसके भण्डार में अपना एक बहुत बड़ा सराहनीय योगदान दिया है परन्तु दुर्भाग्यवश आज हम उनके अनुपम भण्डार का उचित मूल्यांकान नहीं कर सके हैं। इनका देहान्त कमानिया ग्राम में ही माघ वदी चौथ सम्वत २००९ में हो गया जहां आज उनकी एक समाधि बनी हुई है और जहां हज़ारों भक्त लोग उनकी पुण्य स्मृति में प्रत्येक वर्ष उनको श्रद्धा के पुष्प भेंट करने के लिये एकत्रित होते हैं। इसी सुन्दर स्थान पर आज कल एक बड़ा भारी मन्दिर बन चुका है और इनके अनुयायी इस प्रयत्न में हैं कि इस स्थान को चारों धाम का मान व स्थान दिया जा सके । इनकी परम्परा अनेकों लोग आज भी राम-नाम की ज्योत घर-घर जलाने के लिये प्रयत्नशील हैं और श्री निहाल शरण जी आज कल कलकत्ते में इसी परम्परा को प्रोत्साहन देने के लिये कार्य कर रहे हैं ।

● ● ●

हिन्दी उपन्यास—नये प्रयोग

राजमल बोरा

युग का यथार्थ यदि साहित्य की किसी विधा में मुखर हो उठता है तो वह है—कथा साहित्य । कथा साहित्य में भी कहानी की अपेक्षा उपन्यास में जीवन का विस्तार अधिक होता है । प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक रैल्फ फॉक्स ने तो उपन्यास को व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य कहा है ।१ डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि उपन्यास किसी देश की साहित्यिक विचारों की प्रगति को समझने के लिये उत्तम साधन माने गये हैं, क्योंकि जीवन की यथार्थताएं ही उपन्यास को आगे बढ़ाती हैं । मनुष्य के आचार विचारों और बढ़ती हुई यथार्थताओं के बीच निरन्तर उत्पन्न होती रहने वाली खाई को पाटना ही उपन्यास का कर्त्तव्य है। इसलिये उपन्यासों के अध्ययन का मतलब होना चाहिए किसी जाति या समाज के बढ़ते हुए विचारों और निरन्तर उत्पन्न होते रहने वाली जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से सम्पर्क स्थापित करते रहने के प्रयत्नों का अध्ययन। जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है। २ युग का यह यथार्थ समयानुसार बदलता रहता है । प्रत्येक युग का यथार्थ-बोध विशिष्ट होता है । यह युग का विशिष्ट यथार्थ-बोध अपनी दृष्टि से सोचता समझता ही नहीं किन्तु इसके साथ-साथ वह अतीत की सांस्कृतिक विरासत का पुनर्मूल्यांकन भी करता है । इस विशिष्ट यथार्थ-बोध के आधार पर ही युग की रचनात्मक प्रवृत्तियां प्रकाश में आती हैं। दूसरे शब्दों में युग का रचनात्मक स्वभाव (creative temper) युग के यथार्थ-बोध के आधार पर ही निश्चित होता है । नया यथार्थ-बोध पुराने रूढ़ रूपविधान को लेकर सामने नहीं आ सकता । वह अपने लिये अभिव्यक्ति का नया माध्यम खोजता है। इसी से अभिव्यंजना शिल्प में नया

१. उपन्यास और लोक जीवन—रैल्फ फॉक्स—अनु० नरोत्तम नागर—पृ० २८.

२. विचार और वितर्क—(हिन्दी उपन्यास में यथार्थवाद का आतंक लेख से)—पृ० १०५

प्रयोग होता है । स्वयं प्रेमचंद जी ने गोपालराम गहमरी और देवकीनन्दन खत्री की तुलना में उपन्यास साहित्य में नया प्रयोग किया था । यदि प्रेमचंद जी उसी परंपरा में लिखते तो वे अपने युग के यथार्थ-बोध से हमें अवगत नहीं करा पाते । इसी तरह आज का यथार्थ बोध अब प्रेम चन्द की परम्परा को छोड़ कर नये रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है । नीचे हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रयुक्त कुछ नये प्रयोगों की विवेचना की जा रही है ।

आज मानव जीवन का अध्ययन उपन्यासकार विविध रूपों में प्रस्तुत कर रहे हैं । उपन्यासकार मानव जीवन के चित्र को प्रस्तुत करते समय इस बात का ध्यान रखने में प्रयत्नशील है कि जहां तक संभव हो वे पात्रों का पारदर्शक और हूबहू रूप सामने रख सकें । दूसरे शब्दों में पात्रों के चेतन, उपचेतन एवं अचेतन मन के सभी स्तरों का दर्शन कराने का प्रयत्न उपन्यासकार कर रहे हैं । मानव व्यक्तित्व के संघटनात्मक और निर्माणात्मक तत्त्वों को विभिन्न कोणों से तथा विभिन्न आयामों से विभिन्न रूपों में चित्रित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं । यथार्थ जीवन को प्रस्तुत करते हुए उपन्यासकार आज तटस्थ रहने का प्रयत्न कर रहा है । उनकी तटस्थता ही आज उनकी कला का प्राण बन गई है । इसी लिये कथा कहने की विवि[ध] पद्धतियां प्रकाश में आई हैं । यह नया शिल्प रूपकात्मक और अभिव्यंजनात्म[क] है । बहिर्जीवन के साथ-साथ आभ्यंतरि[क] जीवन को अभिव्यक्त करने के लि[ये] सांकेतिकता का प्रतीकात्मकता का, स्मृत्यालोक को सिनेरिलों की तर[ह] प्रस्तुत करने का, सिनेरियों टेकनिक का एवं अनेक विविध रूपों का प्रयोग हि[न्दी] उपन्यासों में हो रहा है । कथाकारों ने तर्कसंगति का पल्ला छोड़ दिया है और वे अब भावसंगति को प्रधान मान कर चल रहे हैं । वे अब तर्कमूलक पद्धति द्वारा नहीं बल्कि भावमूलक प्रतीकों [के] माध्यम से नई संवेदना को जगाने [का] प्रयत्न कर रहे हैं ।

नये प्रयोगों के सम्बन्ध में कहने [से] पूर्व परम्परा को भी देख लिया जाय । हिन्दी का पहला उपन्यास परीक्षागु[रु] माना जाता है । इससे प्रेमचन्द के उपन्या[स] गोदान तक हिन्दी उपन्यासों की परम्परा हिन्दी में नये उपन्यासकारों को प्रा[प्त] हुई है । यद्यपि वैयक्तिकता को अपना[ने] के कारण जैनेन्द्र जी के उपन्यास प्रेमचन्द जी से भिन्न हैं । किन्तु रूप विधान [और] प्रयोग की दृष्टि से वे उसी परम्परा [के] हैं । इसी तरह इलाचन्द्र जोशी [के] उपन्यास भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्[तों] के कारण मौलिक भले ही प्रतीत [हों] किन्तु उनमें कोई क्रान्तिकारी नया प्र[योग]

हमें नहीं मिलता । यशपाल के उपन्यास अपने सिद्धान्त और दृष्टिकोण के आधार पर ही इनसे भिन्न हैं। ये सभी उपन्यासकार अब तक की मान्य परम्परा को ही अपनाते आए हैं। । भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि भी उसी परम्परा में अपने-अपने दृष्टिकोण को लिये हुए लिख रहे हैं। इन सब लेखकों ने उपन्यास की निश्चित परम्परा में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया । इन उपन्यासों में कथापूर्वापार सम्बन्ध और कार्य-कारण शृंखला से युक्त मिलती है। पात्रों का चरित्र-चित्रण स्पष्ट और समझ में आने वाला है।

उपन्यास की इस परम्परा में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत करने वाला प्रथम नया प्रयोग अज्ञेय का "शेखर: एक जीवनी" उपन्यास है । इसे उपन्यास के प्रचलित रूपविधान से भिन्न देख कर इसके उपन्यास होने में पहले पहल सन्देह किया गया । यह सारा उपन्यास स्मृत्यालोक-पद्धति से लिखा गया है। मृत्यु की छाया में बैठ कर शेखर का चेतन प्रवाह अतीत के जीवन के विविध मानस चित्रों को स्मृतियों के रुप मे देखता रहता है। कहते हैं कि मृत्यु के कुछ समय पहले मनुष्य को अपना अतीत अपनी सम्पूर्ण संवेदना के साथ दिखाई देता है। शेखर की इस मन: स्थिति को व्यक्त करने के लिये स्मृत्यालोक की पद्धति अपनाना अनिवार्य था। इसके अभाव में यदि कथाकार कथा की सीधी लकीर वाली पद्धति को अपनाकर कथा कह देता तो उपन्यास का सारा सौंदर्य नष्ट हो जाता। चूंकि स्मृतियां कालक्रम से चेतना में नहीं उभरती । वे कभी आगे और कभी पीछे याद आती हैं अतः चेतना के प्रवाह के अनुकूल ही उपन्यासकार ने स्मृतियों के वे अंश उपन्यास में दिये हैं। 'शेखर' 'एक जीवनी' की टेकनिक का रहस्य है फांसी, मृत्यु:..... अथवा मृत्यु की अनिवार्यता का बोध। उस छाया में अपने जीवन को वह दुबारा जीता है । उपन्यास का रहस्य यही है और इसी लिये नये प्रयोग को अपनाना अनिवार्य हो गया है। स्मृतिपटल पर आये हुए इन चित्रों में घटनाओं और दृश्यों का क्रम नहीं, भावों और मनः स्थितियों का क्रम मिलता है । ये चित्र स्वतंत्र होने पर भी समन्वित प्रभाव पैदा करने में सक्षम हैं।

डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का उपन्यास "वाणभट्ट" की आत्मकथा' भी वास्तव में हिन्दी उपन्यास साहित्य मे एक अभिनव प्रयोग किया है । यह कादम्बरी और हर्षचरित की प्राचीन शैली का नया संस्करण है, जो अपने आप में उस युग के भाव, शैली, और विचारों को ही नहीं बल्कि अपने युग की संस्कृति और सभ्यता को भी उन्हीं की वाणी के

समान प्रेक्षणीय करने वाला है। इस उपन्यास के सम्बन्ध में डा० रमेशकुन्तल मेघ ने लिखा है--"इसमें इतिवृत्तात्मकता के सभी माध्यमों--भाषण शैली, आत्मालाप, कथोपकथन, अन्तर्विश्लेषण, विभिन्न मनोदशाओं का इस्तेमाल करके एक जीवन्त जीवनभोग का मायावरण (illusion) उत्पन्न किया जाता है। कुछ चुनी हुई घटनायें, विशिष्ट सामग्री और व्यक्तित्व के चारित्र्यसूत्रों के आधार पर पात्र की स्मृतियां, मनोदशाओं, अनुभवों, आत्मध्यान आदि के द्वारा वास्तविक जीवन की अनुकृति की जाती है। जीवनी में पात्र के अनुचिन्तन पर, उसकी जीवनी की महत्ता पर अधिक बल दिया जाता है, न कि घटनाओं पर या समाज के चरित्र पर। घटनायें तथा समाज जीवनी ही की पृष्ठभूमि होते हैं। बाणभट्ट की आत्मकथा एक कलात्मक जीवनी है, यद्यपि शीर्षक तथा शैली से आत्मकथा लगती है। वस्तुतः यह आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई एक कलात्मक जीवनी है। लेखक ने इसमें उपन्यास-गठन का आभास दिया है, किन्तु स्वयं ही उपसंहार में स्वीकार कर लिया है कि 'यह डायरी शैली पर लिखी गई है।'[1] इसी तरह द्विवेदी जी ने सातवाहन युग पर आधारित चारुचन्द्रलेख उपन्यास भी लिखा है। अब उनका तीसरा उपन्यास पुनर्नवा कल्पना में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा है।

धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा', कहानियों की पद्धति में लिखा गया एक नया उपन्यास है। इसमें सात कहानियां हैं, जो प्राचीन पद्धति से ही कही गई हैं किन्तु नवीनता यह है कि इस अनेकता में भी एकता बनी हुई है। अलग-अलग कहानियों में अलग-अलग पात्रों की कथाएं होने पर भी वे पात्र एक दूसरे से सम्बद्ध दिखलाए गए हैं। इन कहानियों में एकसूत्रता स्थापित करने का काम इन कहानियों का कहने वाला पात्र माणिकमुल्ला करता है। मध्यवर्ग की समस्याओं को उभार कर रखना उपन्यास का लक्ष्य है जिसमें वह प्राचीन पद्धति को अपनाते हुए भी सफल हुआ है। इस उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि कहानियों के बाद श्रोताओं की चर्चा वाला अनध्याय अंश ऐसा जोड़ दिया गया है जिसमें पात्रों के चरित्र की समीक्षा समाज के संदर्भ में कर दी गई है।

'बहती गंगा' शिवप्रसाद रुद्र का एक नया प्रयोग है। इसमें बारह तरंगें हैं। ये एक दूसरे से अलग होने पर भी काशी नगरी के कारण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। काशी के दो सौ वर्षों के मस्तीमय जीवन का इतिहास प्रस्तुत उपन्यास में

१. आलोचना २८--पृ० १०७.

अवतरित किया गया है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी जी ने इस ग्रंथ के परिचय में लिखा है—"बहती गंगा विश्वभर के उपन्यास जगत में एक नई शक्ति, एक नई आभा और एक नई कला लेकर अवतरित हुई है। राजवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के पात्र अपनी-अपनी कल्पना, भावना, प्रकृति और प्रवृत्ति की स्वाभाविक भूमिका में ऐतिहासिक घटना प्रवाह में बहते चले जा रहे हैं, इन्हें उपन्यासकार छूता नहीं है, रंगता नहीं है, वरन् क्रिकेट मैच का रेडियो पर विवरण देने वाले प्रवक्ता की भांति आंखों पर दूरवीक्षण यंत्र लगा कर प्रत्येक पात्र की क्रिया का वर्णन सूक्ष्मता, सजीवता, और भावुकता के साथ करता चला जाता है।[१] एक नगर के २०० वर्षों का इतिहास प्रस्तुत करने वाला यह प्रथम उपन्यास हिन्दी में लिखा गया है।

हिन्दी में समय सम्बन्धी प्रयोग भी हुए हैं। इस दृष्टि से २४ घण्टों की कथा प्रस्तुत करने वाले दो उपन्यास मिलते हैं। गिरिधर गोपाल का 'चांदनी के खण्डहर' और नरेश मेंहता का 'डूबते मस्तूल', इससे भी कम बारह घण्टों पर आधारित एक लघु उपन्यास श्री सर्वेश्वर दयाल का 'सोया हुआ जल' मिलता है। समय की सीमाओं के होते हुए भी जीवन के जिन खण्डों के चित्र उपन्यासों में प्रस्तुत किये गए हैं उन पर व्यापक और सूक्ष्म प्रकाश डाला गया है।

गिरिधर गोपल का उपन्यास 'चांदनी के खण्डर' में मध्यवर्गीय परिवार के एक दिन की कथा है। बसंत ५ वर्ष बाद लंदन से अपने घर आता है और उस दिन वह अपने परिवार का जो रूप देखता जाता है उसका चित्र उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति कितनी खोखली होती जा रही है, इसका आभास कराना उपन्यासकार का मुख्य लक्ष्य है। जो व्यक्ति स्वयं बदलने की प्रक्रिया में है वह इस परिवर्तन का अनुमान उतने सहज रूप में नहीं कर सकता उस व्यक्ति की तुलना में जो ५ वर्ष बाद उस स्थिति को अपनी आंखों से देख कर अनुभव कर सकता है। इस को और अधिक तीखे रूप में दिखलाने की दृष्टि से कथाकार ने आरम्भ में वसंत के उत्साह और उमंग को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया है। २४ घण्टों की सीमा में लिखा गया यह लघु उपन्यास बड़ा ही प्रभावशाली है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' एक दूसरे ही प्रकार का उपन्यास है। इसमें यात्रिशाला की एक रात्रि का केवल—बारह घंटों के बीच की कथा का वर्णन है। यह उपन्यास लघु होते हुए भी अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

१. बहती गंगा—शिवप्रसाद रुद्र—परिचय (आचार्य सीताराम चतुर्वेदी द्वारा)—पृ० ७.

इसमें विभिन्न पात्रों का समकाल-वर्तित्व (Simul tancity) मन: स्थितियों का आन्तरिक और वाह्य विश्लेषण सांकेतिक और प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है । इसमें यात्रिशाला की एक रात्री का वर्णन है। बीमार बूढ़ा पहरेदार यात्रिशाला में पहरा दे रहा है। वह बेंच पर बैठे बैठे ऊंघता रहता है । बीच बीच में चक्कर काटता हुआ कमरों के पास से गुजरता है। वह यात्रिशाला के विभिन्न कमरों से और पास के ताल से कुछ स्फुट चर्चाएं सुनता है इसी से उपन्यास का ढांचा बनता है । बूढ़ा पहरेदार जो बातचीत जिस स्थान से सुनता है, उसे उसी शीर्षक के अन्तर्गत लिखा गया है। जब सवेरा होता है, बूढ़ा मर जाता है। किन्तु उस बूढ़े की आत्मा ने जो कुछ अवलोकन किया उसका यथार्थ चित्र उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। पात्रों के बाह्य जगत को तो वह उनके संवादों को सुन कर समझ लेता है किन्तु उनके आन्तरिक जगत को जानने के लिये उसे काले पंखों वाले दूत से सहायता मिलती है। इसी की सहायता से पात्रों की भीतरी प्यास को भी वह जान जाता है। दिन निकलते ही उपन्यास समाप्त हो जाता है। राजेश और विभा पति-पत्नी के रूप में एक दूसरे को चेतन जगत मे चाहते हुए दिखाये गये हैं। उनके आपसी व्यवहार में माधुर्य है किन्तु अपने अन्तश्चेतन में वे दूसरों को चाहते रहते हैं। राजेश किसी गोरी लड़की को चाहता है और विभा मोहन को चाहती है। इसी तरह किशोर और रतना दोनों प्रेमी के रूप में दिखाए गए हैं ये दोनों प्रेमी दिनेश से साफ कह देते हैं कि उनका विवाह नहीं हो सकता। वे झगड़ते हैं। किन्तु अन्तश्चेतन में वे दोनों ही एक दूसरे को बहुत चाहते हुए दिखाये गए हैं। दोनों को अपने-अपने संस्कारों और परिवेश का भय है जो उन्हें मिलने नहीं देता। उपन्यास के शिल्प में एक और नवीनता यह है कि यह नाटकीय पद्धति में लिखा गया है। कथानक का विकास संवादों के द्वारा ही होता है। स्वप्न दृश्यों को यदि छोड़ दें तो बाकी का सारा अंश नाटकीय ही है। कारण यह है कि पहरेदार पात्रों की बातचीत अपने कानों से ही सुनता है। उपन्यासकार अपनी ओर से कुछ नहीं कहता। स्वप्न दृश्यों में भी प्राय: संवाद है । रूपविधान की दृष्टि से यह नाटक और उपन्यास के बीच की चीज है। थोड़े बहुत हेर फेर से इसे सफल रेडियो रूपक में परिवर्तित किया जा सकता है।

नरेश मेहता का "डूबते मस्तूल" उपन्यास का समय तो २४ घण्टे ही है किन्तु इसमें कथा २४ घण्टे की नहीं है। इसमें उपन्यास की नायिका रंजना एक अजनबी से जिसे वह अपना प्रेमी अकलंक समझती है अपने जीवन की सारी कथा १४ या १५ घण्टे दिन रात जग कर सुनाती

रहती है। समय सम्बन्धी प्रयोग इसको केवल इसी दृष्टि से कहा जा सकता है कि तथा-कथित अकलंक और रंजना दोनों २४ घण्टे के लिये मिलते हैं। वह अपने मित्र पुरी से मिलने के लिये आता है और उसकी भेंट रंजना से हो जाती है। दूसरी अस्वाभाविकता यह लगती है कि कोई स्त्री अपने जीवन का नग्न चित्र इस रूप में किसी पुरुष के सामने सत्यनारायणी ढंग से सुनाती जाये और वह चुपचाप सुनता जाये। फिर भी उपन्यास में रंजना ने अपने जीवन की जो कथा सुनाई है वह बड़ी महत्त्वपूर्ण है। नारी के साथ समाज जिस प्रकार का व्यवहार करता आया है उसका नग्न और यथार्थ चित्र उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। नरेश मेहता का दूसरा उपन्यास 'धूमकेतु : एक श्रुति' एक दूसरे ही ढंग का उपन्यास है। इसके विषय में जो नवीनता है वह तो है ही किन्तु इसका प्रयोग भी नया ही है। बाल्यकाल पर आधारित यह उपन्यास लिखा गया है। सूरदास ने वात्सल्यरस का वर्णन हिन्दी साहित्य में अनूठे ढंग से किया है। उसी तरह नरेश मेहता ने भी इस काल के प्रसंगों को मुक्तक रूप में, श्रुतिखण्डों के रूप में एवं स्मृत्यालोक के रूप में पूर्ण संवेदना के साथ चित्रित किया है। सूरदास का काव्य भक्त द्वारा लिखा गया काव्य है, साथ ही उसमें भगवान कृष्ण के बालजीवन के प्रसंगों में माता-पिता और गोप-गोपी के पक्षों की ओर से भी बालजीवन का वर्णन है जबकि नरेश मेहता का यह उपन्यास केवल बालक की स्मृतियों पर ही आधारित है। इस उपन्यास के आरम्भ में स्वयं उपन्यास कार ने इस उपन्यास के शिल्प के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है--"....प्रथम पुरुष शैली प्रयुक्त हुई है। जीवनी का भ्रम हो सकता है लेकिन यह उपन्यास है। 'म' व्यक्ति है, लेखक नहीं। भावनाओं की तीव्रता के लिये यह शैली अपनाई गई है.....दूसरे इसमें खण्डचित्र हैं। इसका कारण यह है कि शिशु सम्पूर्ण नहीं ग्रहणता वरन् वह खण्डों में ही देखता है। स्थितियों व्यक्तियों और सम्बन्धों को सूत्रित करना बहुत बाद में सीखता है। इसलिए इसमें कथा होते हुए भी कथात्मकता सम्भवतः उतनी नहीं होगी। लेकिन कथात्मकता से ऊपर भी कला एक स्वत्व होता है।"[१] इसमें बालजीवन के कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जिन्हें बालक ने देखा नहीं केवल सुना है। ऐसे प्रसंगों का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हुए उस खण्डचित्र के अन्त में पात्र ने अपना स्पष्टीकरण दे दिया है--"मैं इस श्रुति का साक्षी भर हूँ, व्यक्ति का नहीं।"[२] यह प्रयोग अपने आप में अनूठा है।

१. धूमकेतु : एक श्रुति—श्री नरेश मेहता— आरम्भ में दिए गए स्पष्टीकरण वाले अंश से।
२. —वही—पृ० ६.

साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास में काफी स्वतंत्रता का उपयोग उपन्यासकारों ने किया है। अपने विकास में उपन्यास आज कविता, आख्यान, लोककथा, उपदेश, रूपक, नाटक, निबन्ध, वार्ता, पत्र, डायरी, संस्मरण यहां तक कि उद्धरण (डा० प्रभाकर माचवे ने इसका बहुत अधिक प्रयोग किया हैं) सभी तत्वों को संग्रहीत किये हुए हैं। उपन्यासकार जब जी चाहता है कविता लिख लेता है और इच्छा हुई तो कहानी सुना दी। इससे न बन पड़ा तो संस्मरण है, डायरी है, पत्र हैं। तात्पर्य यह है कि अपने पात्र की मनःस्थिति को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करने के लिये उसे जिस रूपविधान के अपनाने से सुविधा होती है उसको वह बड़ी स्वतंत्रता से अपना रहा है। इस सम्बन्ध में डाक्टर प्रभाकर माचवे ने बड़ी स्वतंत्रता बरती है। उनका 'परन्तु' उपन्यास "उद्धरण-पद्धति" में लिखा गया उपन्यास है। उपन्यास के पात्र अध्ययन करने वाले है और वे अपनी रुचि के अनुसार विधि विषयों की पुस्तकें पढ़ते समय विविध उद्धरण नोट करते हैं। इन उद्धरणों से पात्रों की मनःस्थिति समझने में सहायता मिलती है। उपन्यास का एक-चौथाई भाग उद्धरणों से ही भरा हुआ है। पात्रों का मनोवैज्ञानिक यथार्थ को समझाने की दृष्टि से ही, उनके चेतन प्रवाह को यथार्थ रूप से अवगत कराने की दृष्टि से ही उपन्यासकार ने उद्धरणों को ज्यों का त्यों दे दिया है। उनका दूसरा उपन्यास "द्वाभा भी एक प्रयोग ही है। इसमें निबन्ध, गद्यकाव्य, रेखाचित्र, डायरी पूर्वस्मृतियों की झांकियां, पत्र, पौराणिक कहानी, उद्धरण आदि सभी का प्रयोग खुल कर किया गया है। उपन्यास में दो ही पात्र प्रमुख हैं 'श्री' और 'आभा'। इन दोनों के चरित्र को बाह्य और आभ्यंतरिक रूप से स्पष्ट करने के लिये इन दोनो पात्रों से सम्बन्धित पात्रों का चरित्र भी उपन्यास में चित्रित है। श्री का सम्बन्ध अनेक स्त्रियों से है और आभा का सम्बन्ध अनेक पुरुषों से। आपस में पति-पत्नी होकर भी वे सुखी नहीं हैं। अन्त में 'आभा' अपने पति को सैनिटोरियम से बुलाती है। 'श्री' आता है किन्तु पहुंचने की गड़बड़ में अस्पताल के द्वार पर पहुंचने से पूर्व दुर्घटना के कारण मर जाता है और इसी तरह आभा भी अस्पताल में मर जाती है। उपन्यास का मूल उद्देश्य स्त्री पुरुषों के आपसी सम्बन्धों को व्यक्त करना है। लेखक रूढ़िगत नैतिकता का विरोधी है। वह स्त्री पुरुषों के सम्बन्धों में अधिक उन्मुक्तता का हामी है। मानसिक स्वास्थ्य के लिये वह स्त्री पुरुषों को परस्पर सहयोग और उनके उन्मुक्त व्यवहार को तरजीह देता है।

स्थानीय रंग और आंचलिकता को व्यक्त करने के लिये आंचलिक उपन्यास भी बहुत से लिखे गये हैं। फणीश्वरनाथ

रेणु का "मैला आंचल" उपन्यास इस दृष्टि से हिन्दी का पहला महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। यह पूर्णिया जिले के एक गांव को आधार बना कर लिखा गया उपन्यास है। जिसमें गांव की ज़िन्दगी का वैविध्यपूर्ण चित्र गांव की सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ चित्रित है। इसी तरह के और भी उपन्यास लिखे गए हैं। रेणु जी का ही दूसरा उपन्यास "परती परिकथा" है। इसी तरह डाक्टर लक्ष्मी नारायण लाल का 'बया का घोंसला और सांप' तथा नागार्जन का बाबा बटेसरनाथ उपन्यास भी हैं। नार्गार्जन का बलचनमा भी इसी प्रकार का उपन्यास है। ये सभी गांव की ज़िन्दगी को लेकर लिखे गये हैं। बाबा बटेसरनाथ में शिल्प सम्बन्धी नया प्रयोग यह है कि कथा का अधिकांश भाग बटवृक्ष कहता जाता है। एक प्रकार से यह बटवृक्ष की आत्मकथा है। उपन्यासकार ने इस 'वृक्ष के माध्यम से ग्राम के १००–१५० वर्षों के लम्बे काल में गांव के जीवन में होने वाले परिवर्तन का संक्षिप्त विवरण दिया है। बटवृक्ष की आपबीती ही यह उपन्यास है। उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' भी बम्बई के पास के बरसोवा गांव के मछुहारों के जीवन की यथार्थ और स्थानीय विशेषताओं से युक्त झांकी प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। बम्बइया हिन्दी का प्रयोग इसमें बड़ी कुशलता के साथ किया गया है।

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा का 'खाली कुर्सी की आत्मा' व्यंगप्रधान और प्रतीकात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास का शिल्प नया ही है। सारा उपन्यास कुर्सी के माध्म से कहा गया है। उपन्यास का मूल कथानक है चन्दनपुर रेलवे स्टेशन के वेटिंग रूम की टूटी ज़िन्दगियों को प्रकाश में लाना। रेलवे दुर्घटना के कारण स्टेशन का जीवन जितना अस्तव्यस्त हो जाता है उसी का यथार्थ वर्णन उपन्यास में किया गया है। स्टेशन के वेटिंग रूम में कुर्सी रखी हुई है। वह अपने वर्तमान के यथार्थ को देखते हुए अतीत को भी याद करती जाती है। एक प्रकार से अपने अतीत की पूर्ण संवेदना को अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में अनुभव करती है। ऐसी स्थिति में उपन्यास को नया ही रूप ग्रहण करना पड़ा है। वेटिंग रूम एक ऐसा स्थान होता है जहां सभी अजनबी रहते हैं। इन अजनबियों का कुर्सी से पूरा परिचय नहीं है। अतः इस समाज का चित्र उपन्यास की पुरानी परम्परा के अनुसार प्रस्तुत करना संभव नहीं है। कुर्सी बेचारी या तो वेटिंग रूम में उपस्थित पात्रों की वेशभूषा को देख कर या उनके मुख के भावों को पढ़ कर या वे लोग स्फुट रूप से जो चर्चाएं करते हैं उनको सुन कर ही उस समाज का परिचय प्राप्त कर सकती हैं। अतः उपन्यास में इसी पद्धति को अपनाया गया है। वहां पर उपस्थित पात्र कुछ ऐसे भी थे जिनका

कुर्सी से पूरा-पूरा परिचय था। ये सभी पात्र चन्दनपुर के ही थे। इन पात्रों का परिचय कुर्सी अलग रूप से अपनी आत्म-कथा के रूप में सुनाती है। वेटिंग रूम की कथा वर्तमानयथार्थ है, और चन्दनपुर के पात्रों की कथाएं अतीत की स्मृतियां हैं। कुर्सी उन अतीत की स्मृतियों को वर्तमान के यथार्थ से जोड़ते हुए उन्हें अर्थ प्रदान करती चलती हैं। एक प्रकार से उपन्यास वर्तमान के यथार्थ और अतीत के स्मृत्यालोक में झूलता चलता है। दूसरे शब्दों में अतीत वर्तमान यथार्थ को आलोकित करता जाता है । सारा उपन्यास इसी शैली में लिखा गया है। इस उपन्यास की एक और विशेषता यह है कि यह बेजान चीजों और प्राणियों के माध्यम से कहा गया है । यद्यपि विशेष रूप से यह कुर्सी की ही कथा है किन्तु उसे अन्य जानदार और बेजान चीजों से समय-समय पर सहायता मिलती रहती है । जैसे लोहे के तीन खिलौने और लौह पुरुष, इसी तरह महिम के घर पर 'अधूरा आदमी' और 'कैक्टस का फूल' उसकी दो रचनायें; अगम पंडित के घर पर अश्व और गाय, वेटिंग रूम में खटमल और दीमक सभी तो उससे बातचीत करते हैं, या आपस में कुछ कहते हैं जिसे कुर्सी सुन लेती है। इस तरह सारा उपन्यास कुर्सी जिन-जिन माध्यमों से जानती जाती है, सुनाती जाती है। अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर' : एक जीवनी' की तरह यह भी स्मृत्यालोक की पद्धति को अपनाकर लिखा गया उपन्यास है। इसकी एक और विशेषता यह है कि यह प्रतीकात्मक है । इस उपन्यास का नाम ही अपने आप में एक प्रतीक है। कुर्सी है और वह भी खाली और उसकी आत्मा भी है। उसने अपने परिचय में यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी कि न तो वह पुल्लिग है और न वह स्त्रीलिंग, वह तो न्यूट्रल मात्र है। इसी में उसने अपना पूरा परिचय दे दिया है। इसके साथ-साथ एक और महत्त्व-पूर्ण बात उसने यह बतलाई है कि उसके शरीर का नीलाम हो सकता है किन्तु उसकी आत्मा स्वतंत्र है। यही नहीं अन्त में जब कुर्सी जला दी जाती है तब भी उसकी आत्मा जीवित रहती है और अपनी संवेदना को पूर्ण क्षमता के साथ व्यक्त करते हुए कहती है कि वह जिन्दा है। आत्मा मर नहीं सकती, इसी तरह उसकी संवेदना भी मर नहीं सकती। उसकी पीड़ा, उसकी वेदना जीवित है। प्रतीक अपने आप में स्पष्ट हो गया है । 'खाली कुर्सी की आत्मा' आज के युग में मानव की लघु-हस्ती का परिचय कराने वाली आत्मा का प्रतीक है। जैसे कुर्सी खाली है, वैसे ही आज का मानव भी अपने को खाली-खाली अनुभव कर रहा है। जैसे कुर्सी का नीलाम होता है उसी तरह आज का व्यक्ति भी अपने शरीर की रक्षा के लिये ही अपने को नीलाम कर रहा है। कुर्सी की आत्मा स्वतंत्र है, उसी तरह व्यक्ति की आत्मा भी स्वतंत्र है। कुर्सी के शरीर

की दुर्गति होती है [illegible] व्यक्तियों की भी समाज में दुर्गति हो रही है। मानवीय संवेदना को पूर्णतः आत्मसात किये हुए कुर्सी की आत्मा जीवित है और अपने ज़ीवन दर्शन को प्रस्तुत करते हुए कहती है कि सहना....सहना....और सहना....वास्तव में यह मानव के वर्तमान स्वरूप को समझाकर उसको उसकी स्थिति का बोध कराने के लिये ही वह अपना सन्देश अन्त में सुनाती है। उपन्यास का नामकरण इस दृष्टि से पूर्णतः सार्थक है।

हिन्दी में सहयोगी उपन्यास भी लिखे गए हैं। राजेन्द्र यादव और मन्नू भंडारी का 'एक इंच मुस्कान' दो लेखकों द्वारा लिखा गया सहयोगी उपन्यास है। 'ग्यारह सपनों का देश' इससे भी बढ़ कर १० लेखकों द्वारा लिखा गया सहयोगी उपन्यास है। पहले यह अलग अलग अध्यायों में ज्ञानोदय में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ और बाद में वह पुस्तकाकार रूप में भी ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो गया है। इस उपन्यास के लिखने वालों में पुराने और नये दोनों ही पीढ़ी के उपन्यासकार हैं। इसका प्रथम और अन्तिम अध्याय डाक्टर धर्मवीर भारती ने लिखा है और बाकी के क्रमशः सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, [illegible] जोशी, राजेन्द्र यादव, मुद्राराक्षस, लक्ष्मीचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे और कृष्णा सोबती ने लिखे हैं। सभी लेखकों ने पात्रों को भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों के रूप में ढाला है। यद्यपि उपन्यास पूरा हो गया और काफी हद तक सफल है फिर भी लेखकों की अपनी अपनी शिकायतें रह गईं। शिकायत यह है कि उनके पात्रों को दूसरों ने समझा नहीं है। कुछ लेखकों ने तो उपन्यास की असफलता की घोषणा भी की है। जैसे रांगेय राघव प्रभाकर माचवे आदि। रांगेय राघव के अनुसार—"शुरू के तीन सपने थे, बाकी दुःस्वप्न.....मेरे आगे उपन्यास ही समाप्त हो गया, क्योंकि उसमें कुछ भी स्वस्थ नहीं रहा।....१ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य बात यह है कि कलाकृतियों के सृजन मे सृजनकर्त्ता की अपनी अपनी कलात्मक विशेषताएं होती हैं, जो अन्य कलाकारों से मेल नहीं खातीं। इसलिये सृजन का कार्य जब सहयोगी रूप में शुरू होता है तो उसमें व्यक्तित्वों की भिन्नता के कारण उपन्यास के समग्र रूप पर प्रभाव पड़ना आवश्यक हो जाता है। उपन्यास में पाये जाने वाले पात्रों के चरित्रों को किसी ने भी पूर्ण रूप से देखा नहीं था अतः समग्र व्यक्तित्व को जाने बिना ही उनका निर्वाह करना उनके लिये कठिन

१. ग्यारह सपनों का देश—सं० लक्ष्मीचन्द्र जैन, पृ० २७५.

था या यह उनके लिये एक समस्या ही थी। फिर भी हर लेखक ने चरित्रों को अपने अपने आदर्श और पूर्व निर्धारित प्रतिबद्धता के आधार पर ढालने का प्रयत्न किया है। अपनी-अपनी कठिनाइयों को लेखकों ने अपने-अपने वक्तव्यों में व्यक्त किया है। जिन लेखकों ने अपनी अपनी शिकायत या कठिनाई व्यक्त की है, वह उपन्यास के अन्त में प्रकाशित है। इसे देख लेने से लेखकों की अपनी कठिनाइयां समझ में आ जाती हैं। इन सब के बावजूद उपन्यास की सफलता हम इस आधार पर मान सकते हैं कि सारे उपन्यास में एक ही पात्र ऐसा है जिस पर सभी उपन्यासकारों का ध्यान विशेष रूप से रहा है और वह है-- मीनल के व्यक्तित्व के निर्माण में ही हर लेखक ने अपनी-अपनी दृष्टि मीनल के व्यक्तित्व को प्रदान की है। शोभन की प्रायः सभी ने उपेक्षा की है --भले ही उसका चरित्र मौन रूप से अन्य पात्रों के माध्यम से विकसित होता रहा है। रोहितराय की तो बड़ी दुर्गति हुई है और हरीन्द्र के आरंभिक आदर्श बम्बई में योगीराज बनने के बाद कुछ और हो गये हैं। गुप्ता तो कुन्तल के साथ व्यभिचार करने के बाद दिखाई नहीं देता। विपिन राजेन्द्र यादव वाले अंश में ही आता है। अन्त तक रहने वाले पात्रों में शोभन परिवार ही है। मीनल के चरित्र-चित्रण में ही लेखकों के व्यक्तित्व का योग देखकर सृजनकर्ताओं के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को परखा जा सकता है। अपनी कमज़ोरियों के बावजूद उपन्यास बहुत हद तक सफल प्रयोग है।

इस तरह हम देखते हैं कि अनेक प्रकार के नये प्रयोग उपन्यासों में हो रहे हैं। इनके आधार पर मानव जीवन के विविध पहलुओं पर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा रहा है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से या कथारस की दृष्टि से उपन्यास आज उतने सशक्त नहीं लग रहे हैं। इसके कारण हैं। आजका उपन्यासकार यह मानता ही नहीं कि किसी के पूर्ण चरित्र को समझने में हम समर्थ हैं। हम केवल चरित्र के खण्डों को ही जानते हैं अतः खण्डों के रूप में ही उनका चित्रण करते हैं। जो नई दृष्टि उपन्यासों में अपनाई जा रही है वह है मन के विभिन्न स्तरों के आधार पर उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण करना और इसी लिये अब पात्रों का चरित्र-चित्रण चेतन स्तर वाला नहीं मिलता। हिन्दी उपन्यास साहित्य अब नई दिशा की ओर मोड़ ले रहा है। उसमें स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्ति के साथ-साथ यथार्थ के नये स्तरों का विकास हो रहा है।

● ●

'आकाशदीप' की कहानियों का सौन्दर्य विधान

मदन लाल वर्मा

भौतिक सौन्दर्य और अपार्थिव सौन्दर्य—इन दोनों में महान् अन्तर है। सामान्य मानव और उत्कृष्ट कलाकार का सौन्दर्य-प्रेम इसी कारण पृथकता लिये हुए होता है। भौतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाला सामान्य मानव परिणाम में सदा व्यथा पाता है और इसके विपरीत अपार्थिव सौन्दर्य का पुजारी साहित्यकार सर्वदा अखण्ड आनन्द का ही उपभोग करता है।

प्रसाद जी उत्कृष्ट साहित्यकार थे। उनकी प्रत्येक रचना में एक विशिष्ट सौन्दर्य परिलक्षित होता है। और वह है अपार्थिव सौन्दर्य। जहां भी भौतिक सौन्दर्य की मोहिनी शक्ति द्वारा निरूपण का लक्ष्य दृष्टिगोचर होता है, वहां 'व्यथा' का शारीरिक भाव अवश्य पाया जाता है।

अपार्थिव सौन्दर्य की उपासना में ही प्रसाद जी ने अपने 'पंचभूतों' से बने शरीर का होम किया। कवि के रूप में काल्पनिक सौन्दर्य में निमग्न होकर प्रसाद जी ने 'छायावाद' नाम को सार्थक किया और इसी प्रकार कहानीकार के रूप में उन्होंने अपार्थिव सौन्दर्य साधना में अपनी जिज्ञासा का शमन किया।

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रसाद जी का पदार्पण कहानीकार के ही रूप में हुआ। उन्होंने कुल मिलाकर ६९ कहानियां लिखीं। उनकी कहानियों का विकास काल प्रायः सभी आलोचकों ने इस प्रकार दर्शाया है:—

१. छाया, प्रतिध्वनि (सन् १९११ से १९२२)
२. आकाश दीप (सन् १९२३ से १९२९)
३. आँधी, इन्द्रजाल (सन् १९३० से १९३७)

उनके इन पांच कहानी-संग्रहों में हमारा प्रतिपाद्य 'आकाश दीप' है। इस संग्रह में प्रसाद जी की कुल १९ कहानियां हैं। इन कहानियों का क्रम इस प्रकार

है:——आकाशदीप, ममता, स्वर्ग के खण्डहर में, सुनहला सांप, हिमालय का पथिक, भिखारिन , प्रतिध्वनि, कला, देवदासी, समुद्र-सन्तरण, वैरागी, बनजारा, चूड़ीवाली, अपराधी, प्रणय चिह्न, रूप की छाया, ज्योतिष्मती, रमला और बिसाती।

इस संग्रह की कुछ उत्कृष्ट कहानियों को उदाहरण रूप में यहां प्रस्तुत किया जाता है , जिनसे उनके सौन्दर्यबोध का रूप स्पष्ट हो सकेगा ।

आकाश दीप

यह पहली कहानी है, जो अन्य सभी कहानियों की अपेक्षा तत्त्वों के आधार पर उत्कृष्ट मानी जाती है । इसमें प्रसाद जी ने अपार्थिव सौन्दर्य का निरूपण परोक्ष रूप से इन शब्दों में किया है:——

"अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शान्त था ।

० ० ० ०

इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में तारिकाओं की मधुर ज्योति में—— थिरकती थी।.... ....वह नक्षत्रों की मधुर छाया ।

० ० ० ०

निर्जन समुद्र के उपकूल में वेला से टकरा कर लहरें बिखर जाती हैं। पश्चिम का पथिक थक गया था । उसका मुख पीला पड़ गया । अपनी शान्त गम्भीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था । वह जैसे प्रकाश की उन्मीलन किरणों से विरक्त था ।

० ० ० ०

सामने शैलमाला की चोटी पर..... विश्राम की शीतल छाया स्वप्न लोक का सृजन करने लगी । उस मोहनी के रहस्य-पूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया । सृष्टि नीलकमलों से भर उठी ।"

इन पंक्तियों में प्रसाद जी ने प्रकृति के माध्यम से 'सौन्दर्य' की सम्मोहन छवि अंकित की है । यदि मानव इस दिव्य सुन्दरता को एक बार अपलक नयनों से सुस्थिर होकर निहारे, तो सारी सांसारिकता और उसका वासनात्मक लावण्य विस्मृत हो जाए ।

इसी कहानी के कुछ अन्य उद्धरणों को देखिए :——

"चम्पा मुग्ध सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी"। मानो भौतिक सौन्दर्य अपनी पराजय को स्वीकार करके अपार्थिव सौन्दर्य के आगे घुटने टेक कर खड़ा हो गया हो ।

अपार्थिव सौन्दर्य का एक मोहक दृश्य :—

"वहां एक आलिङ्गन हुआ जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का।"

चम्पा का अपार्थिव सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और उसका परिणाम :—

"........मेरे लिये सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है; सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिये एक शून्य है।"

ममता

दूसरी कहानी 'ममता' में प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में शान्त और स्थिर चित्त होकर बैठी ममता अपना देह-गेह भी भुलाये बैठी है। ऐसे ही वातावरण में अनायास गीता के श्लोकों का उच्चारण फूट पड़ता है। अपनी वैधव्य-व्यथा का विस्मरण सौन्दर्य की अपार्थिवता में होना अस्वाभाविक नहीं। आदर्श की एक प्रेरणा लिये ममता का जो रूप प्रसाद जी ने इस कहानी में दिखलाया है, उसके मूल में 'सौन्दर्य' का आकर्षण है और वह सौन्दर्य भौतिक नहीं, अपितु अपार्थिव है। निम्न पंक्तियां देखिए :—

"भग्न चूड़ा, तृण गुल्मों से ढके हुए प्राचीर ईंटों के ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म रजनी की चन्द्रिका में अपने को शीतल कर रही थी। उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया में एक झोंपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी——

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते.....पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मन्द प्रकाश में सामने खड़ी थी।"——

अन्तिम पंक्ति को पढ़ कर ऐसा आभास होता है, जैसे दिव्य सौन्दर्यामृत-पान की अन्तिम घूंट के समय कोई हाथ से आकर पात्र को छीन ले और पीने वाले का सुख-स्वप्न अचानक टूट जाये।

स्वर्ग के खंडहर में

प्रसाद की यह सारी कहानी अपार्थिव सौन्दर्य का एक श्रेष्ठतम उदाहरण है। इस कहानी में भौतिक और अपार्थिव सौन्दर्य का द्वन्द्व छिड़ता है। जिसमें अन्तिम विजय अपार्थिव सौन्दर्य की ही होती है। कहानी के आरम्भ में ही एक ऐसा दृश्य प्रसाद जी ने उपस्थित किया है, जिसका वर्णन पढ़ कर पाठक एक बार पार्थिवता से बहुत दूर चला जाता है :—

"वन्य कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकसित होकर चारों ओर झूल रही थी। छोटे छोटे झरनों की कुल्याएं कतराती हुई बह रही थीं। लता वितानों से ढकी हुई प्राकृतिक गुफाएं शिल्प-रचना पूर्ण सुन्दर प्रकोष्ठ बनाती, जिसमें पागल कर देने वाली सुगन्ध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान स्थान पर कुञ्जों और पुष्प शय्याओं का समारोह छोटे छोटे विश्राम-गृह, पान पात्रों में सुगन्धित मदिरा, भांति भांति के सुस्वादु फल-फूल वाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों

के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम । चांदनी का निभृत रंगमंच, पुलकित वृक्ष-फूलों पर मधु-मक्खियों की भन्नाहट, रह-रह कर पक्षियों के हृदय में चुभने वाली तान, मणिदीपों पर लटकती हुई मुकुलित मालाएं । तिस पर सौन्दर्य के छँटे हुए जोड़। . . . किसकी आँखें यह सब देख कर भी नशें में न हो जाएंगी -- हृदय पागल, इन्द्रियां विकल न हो रहेगी। यहीं तो स्वर्ग है!'

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि को लेकर प्रस्तुत कहानी में प्रसाद जी ने मानव को वास्तव में ही 'स्वर्ग के खण्डहर में' ला खड़ा किया है।

देवदासी

पत्र-शैली में लिखी गई प्रसाद जी की यह कहानी अपना एक अलग स्थान रखती है। अशोक के द्वारा वर्णित अपार्थिव सौन्दर्य की एक दिव्य झाँकी इसमें दिखाई गई है। पद्मा को पार्थिव सौन्दर्य में 'अपार्थिवता' का दर्शन करने के लिये दिव्य नेत्रों की आवश्यकता है । अशोक ने उस सौन्दर्य की विलक्षणता को रमेश के प्रति लिखे गये पत्रों द्वारा व्यक्त किया है।

एक चित्र देखिए :--

"तुम उसका रूप-सौन्दर्य पूछते हो, मैं उसका विवरण देने में असमर्थ हूँ । हृदय में उपमाएं नाच कर चली जाती हैं, ठहरने नहीं पातीं कि मैं उन्हें लिपि-बद्ध करूँ। वह एक ज्योति है, जो अपनी महत्ता और आलोक में अपना अवयव छिपाये रखती है । केवल तरल, नील, शुभ्र और करुण आंखें मेरी आंखों से मिल जाती हैं , मेरी आंखों में श्यामा कादम्बिनी, की शीतलता छा जाती है। और संसार के अत्याचारों से निराश इस झँझरीदार कलेजे के वातायन से वह स्निग्ध मलयानिल के झोंके की तरह घुस आती है ।"

इन पंक्तियों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि 'अपार्थिव सौन्दर्य' विवरणातीत है । उसका केवल मन-मानस में उठती हुइ एक चपल तरंग की हिलोर की भांति नेत्र निमीलन द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है ।

समुद्र-सन्तरण

कहानी के प्रारम्भ में ही दिव्यता का एक चित्र सुदर्शन अपनी आंखों से देख रहा है :--

"क्षितिज में नील जलधि और व्योम का चुम्बन हो रहा है । शान्त प्रदेश में शोभा की लहरियां उठ रही हैं। गोधूली का करुण प्रतिबिम्ब , वेला की बालुका-मयी । भूमि पर दिगन्त की तीक्षा का आवाहन कर रहा है ।

नारिकेलि के निभृत कुंजों में समुद्र का समीर अपना नीड़ खोज रहा था । सूर्य लज्जा या क्रोध से नहीं, अनुराग से लाल किरणों से शून्य, अनन्त रसनिधि में डूबना चाहता है। लहरियां हट जाती

हैं। अभी डूबने का समय नहीं है, खेल चल रहा है।"

एक स्थान पर सुदर्शन प्रकृति के प्रांगण में बैठा हुआ जिस आभा का अवलोकन कर रहा है, वह उसके हृत्पथ द्वारा किन्हीं अज्ञात कोनों में समाती चली जा रही है। उसे एक विशिष्ट आकर्षण की सम्मोहनी अपनी ओर इंगित करके बुला रही है।

"सुदर्शन ने देखा सब सुन्दर है। आज तक जो प्रकृति उदास चित्र बन कर सामने आती थी वह उसे हंसती हुई मोहिनी और मधुर सौन्दर्य से ओतप्रोत दिखाई देने लगी। अपने में और सब में फैली हुई उस सौन्दर्य की विभूति को देख कर सुदर्शन की तन्मयता उत्कण्ठा में बदल गई। उसे उन्माद हो चला। इच्छा होती थी कि वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चन्द्रमा की किरणें खेलें और वह हंसा करे।"

'अपराधी' कहानी में वासन्ती सौन्दर्य का वातावरण दर्शनीय है—

"वनस्थली के रंगीन संसार में अरुण किरणों ने इठलाते हुए पदार्पण किया और वे चमक उठीं, देखा तो कोमल किसलय और कुसुमों की पंखुरियां, वसन्त पवन के परों के समान हिल रही थीं। पीले पराग का अंगराग लगने से किरणें पीली पड़ गई। वसन्त का प्रभात था।"

'प्रणय-चिह्न' कहानी में एकान्त-वासी लाजभरे दिव्य सौन्दर्य को देख रहा है, वह उसका पूर्ण आनन्द लेना चाहता है, परन्तु मन में भौतिक सौन्दर्य के आकर्षण की प्रबलता के कारण निराश हो जाता है; जिससे वेदना उमड़ उठती है।

"जहां तक दृष्टि दौड़ती है, जंगलों की हरियाली। उनसे कुछ बोलने की इच्छा होती है, उत्तर पाने की उत्कण्ठा होती है। वे हिल कर रह जाते हैं, उजली धूप जलजलाती हुई नाचती निकल जाती है। नक्षत्र चुपचाप देखते रहते हैं—चांदनी मुस्करा कर घूंघट खींच लेती है। कोई बोलने वाला नहीं। मेरे साथ दो बातें कर लेने की जैसे सबने शपथ ले ली है। रात खुल कर रोती भी नहीं—चुपचाप ओस के आंसू गिरा कर चल देती है।"

'ज्योतिष्मती' कहानी की सुकुमारी बालिका अद्भुत सौन्दर्य को मानो अपने दृगों से पी लेती है, परन्तु कुछ कह नहीं सकती :—

"नील निर्झर का तम समुद्र में संगम, एकटक वह घण्टों देखती रही। आंखें ऊपर उठतीं, तारागण झलझला जाते थे। नीचे निर्झर छलछलाता था। उसकी जिज्ञासा का कोई स्पष्ट उत्तर न देता। मौन प्रकृति के देश में न स्वयं कुछ कह सकती और न उनकी बात समझ में आती।"

इसी प्रकार 'सुनहला साँप' में पहाड़ी संध्या 'हिमालय का पथिक' में गगन-

'चुम्बो शैल शिखर,' 'भिखारिन' में जाह्नवी का अपने बालू के कम्बल में ठिठुर कर सोना; 'वैरागी' में वैरागी का ध्यान में निमग्न होना; 'रूप की छाया' में मन्दाकिनी के उस पार का दृश्य; 'रमला' में रमला झील के जलदेवता का निवास तथा 'बिसाती' में पहाड़ी आकाश आदि सभी अपार्थिव सौन्दर्य को व्यक्त करने वाले मनोहारी दृश्य हैं। जिनके वर्णन के बिना प्रसाद की लेखनी की महत्ता प्रमाणित नहीं हो सकती थी।

संक्षेप में हम कह सकते हैं, कि काव्यत्व, कल्पना, गाम्भीर्य, संवेदनशीलता, प्रेम, भावुकता, जिज्ञासा, कुतूहल करुणा, अन्तर्द्वन्द्व, नाटकीयता, आदि कुछ, ऐसे प्रधान गुण 'आकाशदीप' की कहानियों में उपलब्ध होते हैं, जिनके कारण प्रसाद जी को मूलत: सौन्दर्यवादी कलाकार कहने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने कहा है—"हिन्दी कहानी का विकास वस्तुत: प्रेमचन्द और प्रसाद की वस्तुमूलक और छायात्मक शैलियों की भूमिका पर ही हुआ है।"१

आगे चल कर वे फिर लिखते हैं—

"अतीत को सजीव करने की चिन्ता में 'प्रसाद' घटना सूत्र के साथ शीघ्रगति से आगे नहीं बढ़ते, पाठकों को विलमाते चलते हैं। उनकी कहानियां, इसलिये काव्यत्व के साथ उपस्थित होती हैं।.... 'प्रसाद' की कथा शैली में पर्याप्त आलंकारिकता है। सांस्कृतिक और भावनात्मक लेखन की दृष्टि से 'प्रसाद' की कहानियां अनुपम हैं, किन्तु विशुद्ध कहानी के सब लक्षण उनमें घटित नहीं होते।"२

इस दृष्टि से वाजपेयी जी ने भी 'छायात्मक' और 'भावात्मक' शब्दों का प्रयोग करके प्रसाद की कहानियों में परोक्ष रूप से 'सौन्दर्य' की विलक्षणता को स्वीकार किया है।

'आकाशदीप' की कहानियों के सम्बन्ध में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के ये शब्द उल्लेखनीय हैं :—

"आकाशदीप" की कहानियाँ मुख्य रूप से संवेदनात्मक कहानियां हैं, यहां परिस्थितियां गौण हैं और संवेदना की तीव्रता सब से अधिक है। संवेदनाएं मुख्य रूप से प्रेम के केन्द्र-बिन्दु से चारों ओर फैली हैं। फलत: यहां कहीं प्रेमी प्रेमिका को लेकर नारी पुरुष के प्रेम के चिरन्तन सत्य और प्रश्न को लेकर प्रकट आ है कहीं उपेक्षिता के प्रति प्रेम दिखा कर प्रेमियों को सदा के लिये अलग करके उन्हें मूक रहने की शिक्षा दी है। इस तरह प्रेम के धरातल पर चारों ओर बिखरी

१. हिन्दी कहानी, भूमिका भाग (१९६२ संस्करण) पृष्ठ 'छ'।
२. वही, पृष्ठ 'ध'।

हुई 'संवेदनाएं 'आकाशदीप' की कहानियों की आत्माएं हैं, जो 'ममता' जैसी विधवाओं भिखारिन, संपेरिन, धीवरवाला और चूड़ीवाली विलासिन ऐसी उपेक्षिताओं को अपने में समेटे हुए हैं ।"

डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने भी निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा 'अपार्थिव सौन्दर्य' की श्रेष्ठता को ही दूसरे शब्दों में अभिव्यक्त किया है :—

"प्रसाद जी की मूलवृत्ति भावक्षेत्री है। उनमें प्राप्त उद्भावना और कोमल-कल्पना भावाश्रित हैं। विविध भावों का चित्रण, उनकी मंजुल अभिव्यक्ति और उन्हीं के योग से जीवन और जगत् की व्याख्या 'प्रसाद' की विशिष्ट देन है। प्रधानत: वे कवि हैं...."[१]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि भावप्रवणता का श्लाघ्य एवं आदर्शवादी रूप 'आकाशदीप' की कहानियों में अपनी चरमसीमा तक पहुंच गया है। दूसरे शब्दों में वातावरण प्रधान कहानियों के लिये अपार्थिव सौन्दर्य का अपेक्षित महत्त्व वाँछनीय है, अत: प्रसाद जी को वातावरण प्रधान कहानी लिखने में अग्रणी माना गया है। पात्रों के चरित्र चित्रण में अद्भुत सफलता प्राप्त करने का रहस्य भी इसी बात में है, कि प्रसाद जी ने अपार्थिव अथवा भावात्मक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि को अपनाया। यद्यपि शिल्पदृष्टि से प्रसाद जी कहानीकार के रूप में शिथिल रह गए, तथापि निरन्तर परिवर्तन ने इस शैथिल्य को दूर किया।

अन्त में हम यह कह सकते हैं, कि 'आकाशदीप' की कहानियों की प्रौढ़ता में अपार्थिव सौन्दर्य का महत्त्व सर्वाधिक है। सौन्दर्यानुभूति से प्रेरित होकर ही ये कहानियां लिखी गई हैं। प्रकृति से ही प्रसाद सौन्दर्यान्वेषी जीव थे। क्योंकि ऐतिहासिक और भावप्रधान कहानियों के लिये अपार्थिव सौन्दर्य की विशेष अपेक्षा रहती है; इसी कारण प्रसाद जी का नाम कहानीक्षेत्र में भी उसी प्रकार आदर की दृष्टि से लिया जाता है, जिस प्रकार कविता के क्षेत्र में।

○ ○ ○

१. हिन्दी गद्य शैली का विकास (सप्तम पुनमुद्रण संवत् २०१७) पृष्ठ १७२।

रीतिकाल के कवियों का आचार्यत्व

नन्द लाल मेहता

आचार्य शब्द का अति प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति और साहित्य से सम्बन्ध रहा है। आचार्य से तात्पर्य प्रायः ऐसे व्यक्ति से होता है जो विषय विशेष का पूर्ण ज्ञाता हो। उसमें सूक्ष्म विवेचन तथा पर्यालोचन शक्ति का होना आवश्यक है। साहित्य में प्रायः आचार्य उसी को कहा जाता है जो साहित्य को कोई नयी दिशा प्रदान करता है। सामान्यतः व्याख्याता तथा अपने विषय के प्रकांड पंडित भी आचार्य की कोटि में आ जाते हैं। सुविधा के लिये आचार्यों को तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) नवोन्मेषकारिणी प्रतिभा के बल पर साहित्य को कोई नयी तथा महत्त्वपूर्ण दिशा प्रदान करने वाले पहली कोटि के आचार्यों में आते हैं।

(२) पूर्ववर्ती साहित्यकारों तथा साहित्य की व्याख्या करने वाले आचार्य दूसरी कोटि में आते हैं।

(३) अपने विषय में निपुण तथा शिक्षक भी आचार्य की कोटि में रखे जाते हैं। यह आचार्यों की तीसरी कोटि है।

इन तीनों कोटि के आचार्यों में एक सामान्य गुण का होना आवश्यक है और वह है सूक्ष्म विवेचन की शक्ति का होना। सूक्ष्म विवेचन बुद्धि-व्यापार है अतः इनमें मस्तिष्क पक्ष की प्रधानता स्वतः सिद्ध है।

संस्कृत साहित्य में आचार्यत्व और कवि-कर्म दो भिन्न-भिन्न व्यापार रहे हैं और यदि संयोगवश कहीं आचार्यत्व और कविकर्म इकट्ठे भी हुए हैं तो एक ही व्यक्ति के आचार्य रूप तथा कवि रूप में से आचार्य रूप को ही प्रधानता मिली है। यही कारण है कि दण्डी, राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र आदि आचार्य पहले हैं और कवि बाद में। वस्तुतः ये दोनों विरोधी कर्म हैं एक में मस्तिष्क पक्ष का प्राधान्य है तो दूसरे में हृदय पक्ष का।

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में ये दोनों कर्म मिलते हुए से दिखाई देते हैं

रीतिकाल के कवियों ने जहाँ एक ओर कवि कर्म को पूरा किया है वहां लक्षण ग्रन्थों की रचना कर काव्यांगों का निरूपण भी किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद ने रीतिकाल के कवियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतियुक्त। रीतिबद्ध कवि वे हैं जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण कर रीति निरूपण किया है। रीतिबद्ध कवियों में केशव, चिन्तामणि, महाराजा जसवन्त सिंह, मतिराम, कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, देव, श्रीपति, भिखारीदास, सोमनाथ दूलह तथा प्रताप सिंह का नाम उल्लेखनीय है। वैसे तो और भी रीतिबद्ध कवियों ने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया परन्तु उनका इतना महत्त्व नहीं। रीतिसिद्ध कवि वे हैं जिन्होंने अलग से लक्षण ग्रन्थों को तो नहीं लिखा परन्तु जिनके लक्ष्य-ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में रीतिशास्त्र ही काम कर रहा है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद ने बिहारी को रीतिसिद्ध कवियों की कोटि में रखा है। तीसरी कोटि के कवि वे हैं जिन्होंने न तो रीति निरूपण ही किया और न ही काव्यशास्त्र को पृष्ठभूमि में रखा। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से युग की प्रवृत्तियों को लेकर काव्य रचना की। घनानंद, बोधा और ठाकुर आदि कवि रीति मुक्त कहे जा सकते हैं। वैसे तो प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से रीति-ग्रन्थों का प्रणयन उस काल में प्रचुर मात्रा में हुआ है परन्तु हमें इन सब को न लेकर रीतिबद्ध कवियों में प्रमुख केशव, चिन्तामणि श्रीपति, भिखारीदास, सोमनाथ कुलपति मिश्र, दूलह तथा प्रतापसिंह आदि के रीतिग्रन्थों को आधार मान कर उनके आचार्यत्व की जांच करनी होगी।

अब एक प्रश्न विचारणीय यह है कि इन आचार्यों ने किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुकरण किया है अथवा नहीं। इसके लिये हमें रीतिग्रन्थकारों के दृष्टिकोण तथा युग की रुचि को देखना होगा। वस्तुतः जैसा कि डा० भगीरथ मिश्र का विचार है कि इन हिन्दी लक्षणकारों या हिन्दी ग्रन्थकारों के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नहीं थी। कवियों और साहित्यकारों को काव्यशास्त्र के विषयों से परिचित मात्र कराना ही इनका लक्ष्य था, न कि विद्वानों के लिये काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण करना। यही कारण है कि इन्होंने न तो किसी सम्प्रदाय और पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खंडन-मंडन ही किया और न ही किसी सिद्धान्त या काव्यादर्श को आगे बढ़ाया। कुछ विद्वान् केशव को अलंकारवादी तथा दूसरे आचार्यों को रसवादी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। केशव को अलंकार-वादी सिद्ध करने वाले अपने पक्ष में निम्न पंक्ति उद्धृत करते हैं :—

"भूषन बिन न विराजई, कविता बनिता मित" परन्तु यह कोई पुष्ट तर्क नहीं है

हमें यह न भूल जाना चाहिए कि केशव ने 'रसिक प्रिया' में नवरसों का विवेचन विशुद्ध रस सिद्धान्त के आधार पर करते हुए रस को काव्य का आवश्यक तत्त्व बतलाया है ।

"तातें रुचि सो सोचि पोचि कीजै सरस कवित्त ।।"

यहां कुछ लोग सरस का अर्थ सामान्य रूप से ग्रहण करते हैं किन्तु ऐसा करना केवल पूर्वाग्रह मात्र है । यह पंक्ति ठीक नवरस प्रतिपादन के आरम्भ में कही गई है । यहां सरस शब्द साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है, सामान्य रूप से नहीं अतः सरस का अर्थ निश्चित रूप से 'रस-सहित' है । इस प्रसंग में एक और पक्ष भी द्रष्टव्य है । केवल अलंकारों का वर्णन करने से ही कोई अलंकारवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अलंकारवादियों में भी अलंकार की स्थिति प्रधान नहीं बल्कि अलंकार की मान्यता जिस रूप में है वह प्रधान है । यही बात अलंकारवादियों, रसवादियों के विषय में भी कही जा सकती है । वहां भी अलंकार्य-स्थिति प्रधान नहीं वरन् अलंकार्य (रस) की मान्यता जिस रूप में है, वही प्रधान है । यही कारण है कि ७० अलंकारों की स्थापना करने के बाद भी मम्मट अलंकार-वादी नहीं बन सका जबकि केवल ३८ अलंकारों की स्थापना करके ही भामह अलंकार सम्प्रदाय का आदि आचार्य समझा जाता है । अतः ऐसी स्थिति में, रीतिकाल के आचार्यों को, जिन्होंने किसी भी सम्प्रदाय का निरूपण करना तो दूर रहा—जम कर अनुकरण भी नहीं किया। सम्प्रदाय विशेष के कटघरे में जबरदस्ती खींच कर बन्द करना उनके साथ अन्याय होगा । शुक्ल जी के शब्दों में "जबकि काव्यांगों का स्वतन्त्र विवेचन ही नहीं हुआ तब तरह तरह के 'वाद' कैसे प्रतिष्ठित होते । संस्कृत साहित्य में जैसे अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद, इत्यादि पाये जाते हैं वैसे वादों के लिये हिन्दी के रीतिक्षेत्र में रास्ता ही नही निकला "[1] ।

इतना तो स्पष्ट है कि इन कवियों ने किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुकरण नहीं किया – अब पूर्व इसके कि इन कवियों को आचार्य न मानने के पक्ष में दलीलें दी जायें, रीति निरूपण को आधार मान कर इनके आचार्यत्व का मूल्यांकन कर लेना आवश्यक है ।

इस काल में रीति निरूपण प्रायः ३ प्रकार की शैलियों में हुआ है—

(१) काव्यप्रकाश के आधार पर।

(२) श्रृंगार तिलक के अधार पर।

(३) जयदेव के चन्द्रालोक तथा अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द के आधार पर ।

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २३६

'काव्य-प्रकाश' को आधार मान कर लिखने वालों ने काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। शृंगार तिलक की पद्धति पर नायिका के भेदोपभेदों का वर्णन किया गयाहै। चन्द्रालोक के आधार पर लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

'काव्य-प्रकाश' की शैली पर लिखने वालों में चिन्तामणि कुलपति मिश्र, श्रीपति सोमनाथ आदि का नाम उल्लेखनीय है। चन्द्रालोक की शैली पर लिखा गया जसवंतसिंह का 'भाषा भूषण' तथा दूलह का 'कविकुलकंठाभरण' है। इसके अतिरिक्त इन आचार्यों ने कुछ मौलिक उद्भावनायें भी की हैं। काव्य के सभी अंगोंका विवेचन करने वाले आचार्य थोड़े ही ह। इस प्रसंग में चितामणि, श्रीपति, भिखारीदास, सोमनाथ, वेनी प्रवीन, प्रतापसाहि तथा रसिक गोविन्ददास का नाम लिया जा सकता है। जिन ग्रन्थों में काव्य के सभी अंगों का विवेचन हुआ है उनके नामकरण में कवि या काव्य शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे काव्य–निर्णय, काव्य सिद्धान्त, काव्य सरोज, काव्य कल्पद्रुम तथा कवि प्रिया इत्यादि। ऐसे ग्रन्थ जिनका लक्ष्य कोरे अलंकारों का निरूपण करना था उनके नामकरण में भूषण, आभरण, आभूषण आदि अलंकारों के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। यथा––भाषाभूषण, शिवराज भूषण, कर्णाभरण इत्यादि।

शब्द शक्ति को तो विरलों ने ही लिया है और उनका विवेचन भी स्पष्ट तथा संगत न होकर कहीं कहीं उलझा हुआ है। अस्तु। काव्यांगों में से––रस, अलंकार, शब्द-शक्ति तथा नायिका भेद– इन अंगों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

१–**रस**–मुख्य रूप से रीतिकालीन आचार्यों ने शृंगार रस का विवेचन किया है। दूसरे रसों को गौण रूप में लिया गया है अथवा उनकी केवल गणना मात्र कर दी गई है 'सब को केसोदास हरि नायक है शृंगार' कह कर शृंगार रस का रसराजत्व स्वीकार किया गया है। केशव ने करुणा रस का स्थायीभाव विप्रयकरण को माना है। इस लक्षण से शोक जागृत और उद्दीप्त नहीं होता। इसी कारण रस का परिपाक भी नहीं हो पाता, वह केवल भाव तक ही रह जाता है। वीभत्स रस का स्थायी-भाव निन्दा को माना गया है। यहां भी केशव विचित्रता के मोह में बहक से गये हैं। केशव ने शृंगार रस के संयोग और वियोग के अतिरिक्त प्रछन्न और प्रकाश दो और भेद भी किये हैं। वस्तुत:इसका संकेत भी उसे भोज से मिला है। यथार्थ में प्रच्छन्न तो रस संज्ञा ही प्राप्त नहीं करता। केशव के कवि विभाजन पर जहां भर्तृहरी का प्रभाव है वहां दोष प्रसंग में अधिकतर

वे मम्मट से प्रभावित हैं। शृंगार रस के अन्तर्गत भी केवल नायक नायिका और स्वकीया परकीया का चित्रणं मात्र मिलता है। देव ने रस के अलौकिक तथा लौकिक दो भेद किये हैं। अलौकिक रस के भी ३ भेद किये गये हैं–स्थापनिक, मानोरमिक तथा औपनायिक। देव ने संचारी की संख्या में 'छल' नामक संचारी को बढ़ा दिया है पर रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'छल भाव भी रस तरंगिणी से लिया गया है' और इसका अन्तर्भाव 'अवहित्या' नामक संचारी भाव में ही हो जाता है। दास जी ने दस और हावों के नाम गिनाये हैं। इस विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्द उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा :–

"जो लोग दास जी के दस और हावों के नाम से चौंके हैं उन्हें जानना चाहिए कि साहित्य दर्पण में नायिका के स्वाभावज अलंकार १८ कहे गये हैं। इनमें से अंतिम ८ को लेकर यदि दास जी ने प्रचलित दस हावों में और जोड़ दिया तो क्या नई बात की ?"

२––**अलंकार** :––अलंकार के क्षेत्र में प्रायः रीतिकालीन आचार्यों ने शब्दालंकारों को छोड़ दिया है। जिसका कारण नहीं बताया गया। दिये गये अलंकारों में से कुछ के लक्षण ठीक हैं तो उदाहरण दोषपूर्ण हैं और यदि उदाहरण ठीक है तो लक्षण दोषपूर्ण हैं। कहीं कहीं तो लक्षण और उदाहरण दोनों भ्रामक हैं। अलंकार के विषय में केशव ने हेर फेर के साथ सारी की सारी सामग्री संस्कृत के ग्रंथों से ज्यों-की-त्यों ले ली है। केशव ने अलंकारों के सामान्य और विशेष दो भेद किये। नवरसों को रसवत् अलंकार के अन्तर्गत कर लिया गया है जो वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। उपमा के २२ भेदों में से १५ ज्यों-के-त्यों दंडी के हैं। ५ के केवल नाम भर बदल दिये गये हैं। शेष दो संकीर्णोपमा तथा विपरीतोपमा हैं। शुक्ल जी के अनुसार विपरीतोपमा कोई उपमा ही नहीं है। केशवदास जी ने आक्षेप के जो ९ भेद किये हैं उनमें से भी ४ ज्यों-के-त्यों दंडी के हैं। पांचवां मरणाक्षेप दंडी का ही मूर्च्छाक्षेप है। कविप्रिया का 'प्रेमालंकार' दंडी के प्रेयस का नामान्तर है। केशवदास ने रूपक के ३ भेद दंडी से लिये––अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक तथा रूपक रूपक। इनके भेद को बिना समझे केशव ने इनके लक्षण और उदाहरण दिये हैं जोकि भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं।

भूषण का भाविक छवि अलंकार भाविक अलंकार का ही परिवर्द्धित रूप है। भाविक का संबंध कालगत दूरी से है तथा 'भाविक छवि' का देशगत दूरी से। बस इतना ही अन्तर है। दास जी के अतिशयोक्ति के ५ भेदों में से ४ तो भेदों के भिन्न भिन्न योग हैं। पांचवां संभावनातिशयोक्ति, संबन्धातिशयोक्ति का ही रूप है।

३—शब्दशक्ति :—रीतिकाल में शब्द शक्ति का विवेचन प्रायः न के बराबर हुआ है। बहुत थोड़े आचार्यों ने इसका वर्णन किया है। कई स्थानों पर यह वर्णन असंगत है। दास के उपादान लक्षणा का लक्षण ठीक नहीं है। देव ने तात्पर्या वृत्ति की उद्भावना की है परन्तु वह वाक्यगत अभिधा के अतिरिक्त कुछ नहीं। साथ ही इसकी चर्चा इससे पहले 'साहित्य दर्पण' में भी मिलती है। 'प्रतापसाहि की 'व्यंग्य कौमुदी' अवश्य उल्लेखनीय ग्रन्थ है जिसमें व्यंजना शक्ति के पर्याप्त उदाहरण हैं।

४. **नायिका भेद** :—नायिका भेद ही एक ऐसा काव्यांग कहा जा सकता है जोकि रीतिकाल के आचार्यों के हाथों खूब पल्लवित हुआ है। रीतिकाल के आचार्यों ने अपनी सारी शक्ति, बुद्धि और कल्पना नायिकाओं की पल्टनें खड़ी करने में लगा दी है। रीतिकाल का नायिका भेद संस्कृत साहित्य के नायिका भेद से कहीं अधिक बड़ा है। यद्यपि यह परम्परा भी अपने मूल रूप से संस्कृत साहित्य से प्रवाहित हुई है तथापि रीतिकाल में यह पर्याप्त विकसित हुई है, रीतिकालीन आचार्यों ने देश, जाति, कर्म, दशा, सत्व, अवस्था तथा गुण क्रमानुसार नायिकाओं के कई भेदोपभेद किये हैं। वयक्रमानुसार में आगे चल कर सूक्ष्माति-सूक्ष्म उपभेद किये गये हैं। इनमें १२ वर्ष से लेकर २४ वर्ष तक की अवस्था तक के प्रत्येक वर्ष के आधार पर अलग अलग भेद किये गये हैं। परन्तु इस प्रकार के भेद करना अनावश्यक है क्योंकि स्त्री सभी युवतियां एक ही आयु में एक ही दशा को प्राप्त नहीं होतीं। देव के वयक्रमानुसार नायिका के १३ भेदों पर साहित्य दर्पण का पूरा प्रभाव है। इसके अतिरिक्त कामसूत्र तथा रसतरंगिणी का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। स्थूल विकास के आधार पर की गई दशाओं के वर्णन में मौलिकता तो अवश्य है किन्तु यह मौलिकता नायिका-भेद को विकृत करने वाली सिद्ध हुई है। वात, पित और कफ के आधार पर नायिका के ३ भेद किये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि देव अपनी आयुर्वेद के ज्ञान को प्रदर्शित कर रहे हैं।

इस प्रकार रस, अलंकार, शब्द-शक्ति तथा नायिका-भेद —इन काव्यांगों की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों के आचार्यत्व की समीक्षा के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि ये आचार्य काव्यांगों के स्वतंत्र विवेचन में असफल रहे हैं। आचार्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म तात्विक विवेचन का होना आवश्यक है उसका इन आचार्यों में प्रायः अभाव है। उनके लक्षण भी साहित्य शास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असफल रहे हैं। प्रायः कहीं कहीं लक्षणों और उदाहरणों में असंगति है। शब्द शक्ति जैसे विषय पर भिखारीदास ऐसे आचार्य ने कुछ संकेत

ही दिये। थोड़ी बहुत मौलिक उद्भावनाएं इन आचार्यों ने कीं, परन्तु उनसे वे विषय को स्पष्ट करने की अपेक्षा उलझाते चले गये। इस प्रकार हिन्दी रीतिग्रन्थों के द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन आचार्यों ने अपनी ओर से किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया अतः ये आचार्यत्व की प्रथम कोटि के अधिकारी नहीं। न ही इन्होंने सम्यक् मीमांसा ही की है अतः इन्हें आचार्यत्व की दूसरी कोटि में भी नहीं रखा जा सकता। इनको आचार्यत्व की तीसरी कोटि में ही रखना उपयुक्त होगा और इस तीसरी कोटि के भी वास्तविक अधिकारी-केशव, चिन्तामणि, मतिराम, कुलपति मिश्र, श्रीपति, सुखदेव मिश्र, भिखारीदास, जसवंत सिंह, प्रताप साहि, बेनी प्रवीन आदि कुछ एक आचार्य हैं।

इनकी इस असफलता के भी कई कारण हैं। सबसे बड़ा कारण कदाचित् आचार्यत्व का मोह कहा जा सकता है। वस्तुतः इन कवियों ने कवि कर्म और आचार्यत्व को एक साथ निभाना चाहा, यद्यपि इसके लिये भी तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियां उत्तरदायी थीं क्योंकि बिना काव्यशास्त्र के ज्ञान के राज्याश्रय का मिलना कठिन था। दूसरे इनका उद्देश्य भी अभिजात-कुल को साहित्य शास्त्र का ज्ञान मात्र कराना था। वस्तुतः ये कवि पहले थे, आचार्य बाद में। यही कारण है कि संस्कृत लेखकों का मुख्य उद्देश्य आचार्यत्व होने के कारण उन्होंने दूसरे कवियों के उदाहरण दिये हैं जबकि हिन्दी कवियों का लक्ष्य काव्य रचना होने के कारण, उदाहरों की रचना उन्होंने स्वयं की : तीसरा कारण हिन्दी गद्य के अभाव का होना भी कहा जा सकता है। संस्कृत साहित्य शास्त्रियों नेकारिका लिख कर व्याख्या गद्य में की थी इसीलिये संस्कृत साहित्य शास्त्र में दर्शन की भांति सूक्ष्म विवेचन है जबकि हिन्दी में उस समय गद्य के अभाव के कारण ऐसा नहीं हो पाया है। फिर भी संस्कृत के काव्यशास्त्र को हिन्दी भाषा में सुरक्षित रखने का तथा उसको संस्कृत-अनभिज्ञ जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं को है और इसका 'साहित्य के इतिहास' की दृष्टि से अपना महत्त्व है।

○ ○ ○

पञ्जाबी नाटक : एक विवेचन

प्रेम पाल शर्मा

मानव स्वभाव से अनुकरण प्रिय है। मानव की इस अभिरुचि का व्याख्याता नाटक है। यह जीवन की वास्तविकता की कलात्मक अभिव्यक्ति है। साहित्य की अन्यान्य विधाओं की भान्ति नाटक भी जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। इसका सीधा सम्बन्ध जन-समूह से है। इसके सृजन का कारण हैं—अन्तर और बाह्य की प्रेरणाएं। वास्तव में संस्कृति की उच्चतम अवस्था ही नाटक की पावन उद्गम स्थली है। क्योंकि नाटक उन्नत संस्कृति का आदर्श प्रतीक है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' संस्कृत के अमर साहित्यकार कालिदास की अमर नाट्य-कृति है। यह नाटक भारतीय संस्कृति की सम्पन्नता का द्योतक है। तत्कालीन विकासोन्मुख कलाप्रियता को ही इसका मूल प्रेरणा स्रोत समझना उचित होगा।

भारत में कालिदास एवं भास के काल में नाट्यकला अपने उच्चतम शिखर पर थी। उस सुख-समृद्धि के स्वर्णकाल में नाटक जन-मन के आदर्श संस्कारों का प्रेरक था। मुस्लिम आक्रमणों के दुष्प्रभावों से नाटक का विकास रुक गया। कला की दृष्टि से इस ह्रासोन्मुखी काल में पंजाब में किसी उल्लेखनीय नाटक अथवा रंगमंच का सृजन न हो सका। यद्यपि जन-मन में इस कला के प्रति पूर्व संस्कार तो थे किन्तु शासन के भय से वे दबे से ही रहे। परतन्त्रता की प्रतिक्रिया स्वरूप पंजाब में 'गुरुकाल' में राष्ट्रीय चैतन्यपूर्ण साहित्य का सृजन हुआ। काव्य नाटक लिखे गये। जो केवल पठनीय थे, रंगमंचोपयोगी नहीं। उन्हें रंगमंच के लिये नहीं लिखा गया था और रंगमंचीय असुविधाओं के कारण उन्हें अभिनीत भी नहीं किया जा सकता था। गुरु गोविन्दसिंह जी ने 'विचित्र नाटक' काव्य रूपक द्वारा स्पष्ट किया कि मानव मन भी नाटक तथा काव्य से समन्वित है। इसी परम्परा में संत गुलाब दास कृत 'प्रबोध चन्द्र' नाटक उल्लेखनीय है। इसकी भाषा ब्रज है। नाटकीय गुणों का इसमें अभाव है। क्योंकि इसे पढ़ने के लिये लिखा गया था। तत्पश्चात् रणजीतसिंह के समय में उर्दू फारसी का ही प्राधान्य रहा। इस समय पंजाबी में

नाटक-लेखन उपेक्षित रहा। इस कला का विकास न हो सका।

पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव हमारे साहित्य एवं जीवन पर गहरा पड़ा। अंग्रेज़ी राज्य में शिक्षा का प्रबन्ध कुछ ऐसा था कि विद्यार्थी को अंग्रेज़ी एवं संस्कृत नाटकों के पाठन का पर्याप्त अवसर मिल जाता था। पंजाबी में नाटक लेखन की ओर कुछ चिन्तक लेखक अग्रसर हुए। सामाजिक तथा धार्मिक वैषम्य पूर्ण स्थितियों में अभी तक पंजाबी नाटक अनुवादों तक ही सीमित था। अतः संस्कृत तथा अंग्रेज़ी से अनूदित नाट्य कृतियों का पंजाबी साहित्य में आधिक्य था। संस्कृत से डॉ०चरणसिंह ने "शकुन्तला" मानसिंह जज ने 'विक्रमोर्वशीय', प्यारासिंह 'भौर' ने 'मालविकाग्निमित्र' तथा शमशेरसिंह अशोक ने 'मुद्राराक्षस' आदि नाटकों का अनुवाद किया। अंग्रेज़ी से शेक्सपीयर के विभिन्न नाटकों का अनुवाद मोहनसिंह वैद, नारायणसिंह, अमर सिंह, बलवन्तसिंह, निहालसिंह रस आदि लेखकों ने किया। गाल्जवर्दी के Silver Box का अनुवाद गुरदयालसिंह खोसला ने 'चान्दी का डिब्बा' नाम से किया। ये अनुवाद वास्तव में पंजाबी जीवन अथवा उस द्वारा भोग्य स्थितियों से तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाये थे। क्योंकि ये केवल भाषा या शब्दान्तरण मात्र थे। पंजाबी-जीवन की सहज अभिव्यक्ति के लिये मौलिक नाटक की अपेक्षाएं अनुभव की जाने लगीं। किन्हीं लेखकों ने नाटक को पूर्ण मौलिक नहीं बल्कि संस्कृत अथवा अंग्रेज़ी से आधारित रूप में प्रस्तुत भी किया। संस्कृत अथवा अंग्रेज़ी के अनुवादों के प्रभाव स्वरूप पंजाबी में महाकाव्यों तथा ऐतिहासिक कथाओं को नाटकीय रूप देने के सफल प्रयत्न किये गए। श्री बृजलाल शास्त्री ने ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर 'पूरन' 'सावित्री' और 'सुकन्या' आदि नाटक लिखे। इसी प्रकार कृपा सागर ने 'रणजीतसिंह' फिरोजदीन सफर ने 'हीर सयाल' तथा गुरबख्शसिंह बैरिस्टर ने 'मनमोहन और ब्रजमोहन' आदि नाट्य रचनाएं कीं। ये सभी रचनाएं अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं हैं क्योंकि इन्हें रंगमंच के लिये नहीं लिखा गया। जन-मन में प्रत्यक्ष दर्शन की बलवती अभिलाषा थी। यद्यपि किन्हीं नाटक-मण्डलियों ने केवल धनार्जन के लिये बहुत से नाटक विभिन्न लेखकों से लिखवाए जो कि कलात्मक सम्पन्नता से रहित थे, उन्हें अभिनीत भी किया गया किन्तु उन्हें पुस्तकाकार रूप में सुरक्षित न रख पाये।

विभिन्न आलोचकों के मतानुसार आधुनिक पंजाबी साहित्य के जन्मदाता डॉ० भाई वीरसिंह द्वारा रचित 'राजा लखदाता सिंह' नामक नाटक पंजाबी का प्रथम मौलिक अर्ध ऐतिहासिक नाटक है। यह सुधारवादी रचना है। इसमें सामाजिक

आदर्शों की स्थापना की गई स्वस्थ-जीवन की वास्तविक अवस्था का यथार्थ चित्रण है। दार्शनिक कवि भाई वीरसिंह अन्तरोन्मुखी, प्रकृति प्रिय सौन्दर्य-द्रष्टा कलाकार थे। सफल नाटक-कार के लिये अन्तर की अपेक्षा बहि का महत्त्व भी अपेक्षित है। भाई वीरसिंह की यह रचना रंगमंचीय सूझ बूझ से रहित दीखती है। पंजाबी के प्रारम्भिक मौलिक नाटकों में कृपा सागर द्वारा लिखित नाटक 'रणजीतसिंह' बहुत उल्लेखनीय रचना है। यह ऐतिहासिक नाटक है। रूपक पक्ष की दृष्टि से यह संस्कृत से प्रभावित है। इसमें इतिहास के विषय को वास्त-विकता पूर्ण वातावरण तथा सहजता पूर्ण कथोपकथन द्वारा सप्राणता प्रदान की है। तत्कालीन जीवन-स्तर को चित्रित किया है। इसमें स्थान की एकता नहीं है। इसी युग में एक विलक्षण प्रतिभा साहित्य के क्षेत्र में प्रादुर्भूत हुई। जिसने स्वाभिमानी पंजाब की सर्वांगीण सम्पन्नता को भी अभिव्यक्ति देते हुए नाटक-कला को विकसित किया। नवीन नाटक रचना के शीर्षस्थ नाटककार, प्रो० आई०सी० नन्दा पंजाबी के अग्रगामी साहित्यकार हैं। 'सुभद्रा', 'वर घर', 'शामू साह' (शेक्सपीयर के Merchant of Venice का छायानुवाद) तथा 'सोशल सर्कल' इन के प्रसिद्ध नाटक हैं। इनकी रचना का महत्त्व ऐतिहासिक एवं चिरन्तन है। प्राचीन के अन्धविश्वासों के प्रति जहां इनमें विद्रोह है वहां अर्वाचीन के प्रगतिशील परिवेशों के प्रति सम्मोह भी है। बाल विवाह, विधवा विवाह, अस्पृश्यता आदि जीवन की प्रमुख समस्याओं को अपनी रचनाओं का विषय बना कर इन्होंने कारुणिक जीवन की अभिव्यंजना की है। इनमें सामाजिक सुधार एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का समन्वय है। पंजाबी में इनके नाटक सर्वाधिक अभिनीत हुए हैं। यही इनके रंगमंचीय विशाल ज्ञान का परिचायक है। नाटक के इस विकासशील युग के अन्य प्रतिनिधि लेखकों में हरचरण सिंह, सन्तसिंह सेखों, बलवन्तसिंह गार्गी, गुरबख्श सिंह, गुरदयाल सिंह खोसला आदि प्रसिद्ध हैं।

वास्तविकता के लेखक हरचरण सिंह ने विषय एवं रूप की दृष्टि से पंजाबी नाटक में साधारणीकरण के महत्त्व को व्यञ्जित करते हुए शहर के खोखले मध्यवर्गीय जीवन का प्रतिनिधित्व अपनी कृतियों द्वारा किया है। जिसमें पलायन नहीं है बल्कि जूझने की प्रबल सामर्थ्य है। बौद्धिकतावादी कलाकार सन्तसिंह सेखों ने हमारे चेतन अवचेतन मन की अभिव्यञ्जनाओं के साथ पंजाबी नाटक को भावनात्मक अनुभूतियों से अनुप्राणित किया है। जीवन की बहिर्मुखी सम्भावनाओं के चित्रण के साथ साथ जिसमें विवश तन और मन की कुलबुलाहट है, वासना-मय जीवन की घुटन है। जिसमें व्यंग्यों की तीक्ष्णता है और है बहुमुखी जीवन का संकेत। चित्रवादी एवं व्यक्तिवादी साहित्यकार बलवन्त गार्गी ने इब्सन, डी. एच. लारेंस तथा फ्रायड के सिद्धान्तों से

प्रभावित हो कर मनोविश्लेषण के गाम्भीर्य से पंजाबी नाटक में नवीन प्रतीकों के उन्मेष के साथ अन्तर्मन की अतृप्तियों का चित्रण किया है। जिसमें मध्यवर्ग के संस्कारों का सफलता पूर्ण अंकन है। इन्होंने लोक रंगमंच को सम्पन्नता प्रदान की है। रोमांस वादी लेखक गुरबख्शसिंह ने पंजाबी नाटकों में प्रीत-सिद्धान्तों की स्थापना करते हुए सर्वप्रथम आधुनिकतम चतुर्थ अंकीय रोमांच-पूर्ण दुखान्त नाटक लिखे इन्होंने स्थूल चिह्नों द्वारा सूक्ष्म प्रणय सन्दर्भों को विवेचित किया है। इनके नाटकों में नवीन कला के प्रति सजग आग्रह है। मुख्यत कहानीकार होने के कारण इनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से सम्पन्न नहीं हैं। सफल नाटककार, सफल अभिनेता तथा सफल निर्देशक होने की विविध विशेषताओं से ओतप्रोत गुरदयालसिंह खोसला का पंजाबी रंगमंच के विकास में सर्वश्रेष्ठ योगदान है। ये दुखान्त की अपेक्षा सुखान्त नाटक लिखने में सिद्धहस्त हैं। यद्यपि इनके नाटकों में कथावस्तु का शैथिल्य है किन्तु इन्होंने जीवन के द्वन्द्वात्मक तथ्यों को सफल अभिव्यक्ति दी है।

पंजाबी-नाटक के गुरु हरचरण सिंह द्वारा लिखित 'राजा पोरस'; 'पुनिआ दा चन्न', 'कमला कुमारी', 'तेरा घर सो मेरा घर', 'खेडन के दिन चार', 'दोष', 'दूर दुराड़े शहरों' तथा 'अनजोड़' आदि सफल नाटक हैं। इनमें प्रथम दो ऐतिहासिक नाटक हैं। जो अतीत का चित्र प्रस्तुत करते हैं। शेष में सामाजिक समस्याओं की ओर समाधान पूर्ण संकेत है। विधवा-विवाह, ग्राम सुधार, विद्या-प्रचार आदि के प्रश्नों को सुधारात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। जो लोक मंगल से पूर्ण है। 'राजा पोरस' ऐतिहासिक नाटक है। इस में पांच अंक है। देश द्रोहियों की कूट नीति द्वारा सिकन्दर से पोरस की पराजय इस नाटक का विषय है। कथा में विस्तार है। घटना एवं स्थान की अनेकता है। पोरस की मृत्यु के कारण नाटक का अन्त दुखमय है। घटनाओं के अर्थहीन विस्तार से पात्रों का चरित्र-चित्रण सशक्त नहीं बन पाया। 'पुनिआ दा चन्न' नाटक का विषय भी धार्मिक इतिहास ही है। गुरु नानक एवं उनसे पूर्व देश की क्या अवस्था थी—धर्म-समाज तथा राजनीति की दृष्टि से देश कैसा था—यही इस रचना में व्यक्त हुआ है। गीतों एवं वीर भावात्मक कथा-संकुल कविताओं (वार) से इसे भरा गया है। घटनाओं में नाटकीय कथावस्तु का कोई ऐक्य नहीं। 'कमला-कुमारी' नाटक के पांच अंक हैं। इसमें घटनाओं का आधिक्य है। कुमारी अपनी चतुरता से फिर से अपने पति का प्रेम प्राप्त करती है। विभिन्न घटनाओं में बिखरी हुई नाटक की कथा नायक-नायिका के मिलन की

घटना इसे सुखान्त नाटक बना देती है। 'तेरा घर सो मेरा घर' हरचरण सिंह की यह सामाजिक रचना कला शिल्प की दृष्टि से प्राणवान रचना नहीं है। कोरे प्रचारात्मक भाव ने इसके कला-सौष्ठव को निखरने नहीं दिया है। हिन्दू-सिख एकता के आदर्श को लेखक ने नाटक का विषय बनाया है । एक सीधे प्रवाह से बहती हुई कथा में सरलता है । कहीं कहीं हास्य-व्यंग्य का सुन्दर पुट भी है। 'खेड़न दे दिन चार' में युवक युवतियों के स्वच्छन्द प्रेम की परिकल्पना की गई है। आधुनिकता से प्रभावित इन युवक युवतियों के प्रति नाटककार का निजी दृष्टिकोण उदार है । कथा में प्रवाह है। आधुनिक शिक्षा सम्बन्धी लेखक की धारणाएं पुष्ट हैं। यह तीन अंकों की सफल रचना है। ग्रामोन्नति के लिये आवश्यक है कृषि सम्बन्धी सुविधाओं के साथ साथ गांव शिक्षा सम्बन्धी साधनों सुगमतः से संपन्न हों। वहां शोषण न हो । विधवाओं की समस्या को सुलझाया जाए। गांव हिन्दुस्तान की आत्मा हैं। 'दूर दूराड़े शहरों,' इस नाटक में लेखक ने कलात्मक ढंग से भारत का आत्म-दर्शन कराया है। 'दोष' में सामाजिक आडम्बरों का व्यंग्यात्मकता से चित्रण है। कथावस्तु सशक्त है । प्रत्येक घटना नाटकीय रोचकता लिये हुए है। रंग-संकेतों की बहुलता से रचना रंगमंच के पक्ष से सफल है। अनजोड़ नाटक भी रंगमंचीय सफलता रखता है। अनमेल विवाह की समस्या को लेखक ने नाटक का विषय बनाया है। इसकी कथा सहज तथा रोचक है। भावुकता पूर्ण शैली है।

बुद्धिवादी कलाकार संतसिंह शेखों द्वारा रचित छः सम्पूर्ण नाटक हैं। जिनका विषय इतिहास, समाज, धर्म, मनोविज्ञान के चित्रण द्वारा नवीन का संरक्षण है। 'कलाकार' सेखों के कला-शिल्प का उच्चतम निदर्शन है । इसमें प्रेम तथा बुद्धि का मनोहारी समन्वय है। कला, नग्न यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्तों की अधिकता से नाटकीय कथा पूर्णतया विकासोन्मुखी नहीं बन पाई । स्त्री-पुरुष के सनातन सम्बन्धों के विषय में लेखक मनोवैज्ञानिकता को नहीं भूलता । इसके पांच अंक हैं । प्रथम संस्करण में चार ही थे । यह पूर्णतः ऐतिहासिक कृति नहीं है । कथावस्तु, कथोपकथन तथा नाटकीय सम्भावनाओं के विचार से 'नारकी' संत सिंह सेखों की सर्वाधिक सफल नाट्यकृति है। विभिन्न नाटकीय क्रियाओं में विचार विश्लेषण गुम्फित है । विचार स्वतः बोझिल हैं किन्तु उनसे जन्मी व्यंग्यात्मकता सहज है। इस पूंजीवादी समाज में सभी चीजों का विक्रय होता है । प्रेम एवं सौन्दर्य भी व्यापारिक सतह पर निरखे जा सकते हैं। यही इस नाटक का कथ्य है । पांच

अंकीय इस नाटक में कथा बुद्धि की दुरूहता से युक्त है। 'वारिस', 'मोइयां सार न कोई' तथा 'बेड़ा बंध न सकियों' प्रो० शेखों के पूर्ण ऐतिहासिक नाटक हैं। देश की विभन्न स्थितियों का इनमें सफल दिग्दर्शन है, जिससे चिन्तन शील लेखक ने आधुनिक समस्याओं के समाधान चाहे हैं। 'वारिस' नाटक के पांच अंक हैं। इसका कथानक शिथिल है। इसमें मुसलमानों की अधोगति एवं वारिस और भाग भरी के प्रणय सम्बन्धों का चित्रण है। 'मोइयां सार ना कोई' नाटक-प्रबन्ध है। इसके आठ अंक आठ एकांकियों से लगते हैं। इस ऐतिहासिक नाटक की कथा में एक सूत्रता नहीं है। यही न्यूनता 'बेड़ा बन्ध न सकिओ' नाटक में भी है। इसके पांच अंक हैं। इसमें रणजीत सिंह के पश्चात् पंजाब की अव्यवस्थित राज्य-व्यवस्था का चित्रण है। 'भूमिदान' प्रो० सेखों का व्यंग्य प्रधान नाटक है। इसमें पूंजीपति शोषक की कूटनीति का वर्णन है। जो अपनी घटिया ज़मीन देकर मज़दूरों को चुप कराना जानता है। वास्तव में जो भूदान के पक्ष में नहीं है। तीन अंकों के इस नाटक में व्याख्यान प्रधान है।

पंजाबी के चिह्नवादी एवं व्यक्तिवादी नाटक लेखक बलवंत गार्गी की 'केसरो' 'कनक दी बल्ली' 'नवां मुढ़' 'सैल पत्थर' तथा 'लहु कुट' सफल नाट्य-कृतियां हैं। जिनमें प्रगतिवाद, प्रकृतिवाद, चिह्नवाद, व्यक्तिवाद, भौतिक यथार्थवाद, चेतन अवचेतन का द्वन्द्वात्मक मनोविज्ञान सभी की समन्वित छटा है। समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि पात्रों की समाजवादी धरातल से समीक्षा करते हुए गार्गी ने उनके अन्तर्मन की विवशाओं को भी आत्मीयता के साथ समझा है। अतः पारदर्शी चिह्नों द्वारा मानसिक विश्लेषण इनकी कृतियों की प्रमुख विशेषता है। 'केसरो' नारी-शिक्षा की समस्या पर आधारित सफल नाटक है। घरेलू जीवन के सौख्य के लिए हस्तोद्योग, कला शिल्प का महत्त्व स्वीकारते हुए लेखक ने पारिवारिक जीवन के आर्थिक स्तर को पुष्ट करना चाहा है। स्थान एवं काल की एकता ने नाटक की रंगमंच संबंधी उपयोगिता को बढ़ा दिया है। कथा में प्रवाह है। पात्रों के चारित्रिक विकास में स्वाभाविकता है। 'कनक दी बल्ली' नाटक के चार अंक हैं। वीणा के तारों की भान्ति इसके कथानक में नियन्त्रण है। उसका कोई भी पक्ष शिथिल नहीं। स्वयं कनक की बल्ली उस असहाय नारी का प्रतीक है जो लोलुप पुरुष की वासनाओं के सन्मुख असमर्थ है। नाटक की नायिका सामाजिक-उत्पीड़न से तंग आकर आत्महत्या की ओर बढ़ती है। जिससे नाटक के दुखमय अन्त का संकेत मिलता है। 'नवां मुढ़' नाटक में व्यक्ति एवं समाज का चिन्तन है। एक की अपेक्षा अनेक की सत्ता में सापेक्षता है और उस सापेक्ष अनेक के

विकास के लिये एक की इच्छा शक्ति को बनाये रखना भी जीवन की सम्पन्नताओं के लिये आवश्यक है। जीवन के सुख–दुख की सुन्दर व्याख्या इस नाटक की व्यवस्थित कथा में अभिव्यक्त हुई है । समय, स्थान और घटना में ऐक्य है। कला कला के लिये नहीं है बल्कि जीवन के लिये है, क्योंकि कला का धर्म लोक-मंगल है । 'सैल पत्थर' नाटक में लेखक ने कला एवं जीवन सम्बन्धी अपने मानदण्ड प्रस्तुत किये हैं। नाटकीय कथा का विषय बुद्धि प्रधान होने से बोझिल सा है । जिसमें एक सूत्रता नहीं है। इसके तीन अंक हैं। स्थान और समय में एकता है । नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल है। 'लोहा-कुट' एक प्रगतिशील कृति है। इसकी सप्राणता का कारण पात्रों का मानसिक-चिन्तन है । नाटककार गार्गी का प्रमुख गुण रचना के बहिमुखी विषय द्वारा अन्तर्मन को सहज अभिव्यक्ति देता है । जो नवीन प्रतीकों से रचना को गहन से गहन तम बनाने में सिद्धहस्त हैं। ये प्रतीक अतृप्त अन्तर् के समीक्षण के लिये जन्मे होते हैं, इनसे दृश्य कार्यों के द्वारा अदृश्य मन को अभिव्यक्ति देने में सहायता मिलती है । संस्कारों से कोमलता की प्रतीक नारी लोहा तोड़ने के श्रमयुक्त काम को यदि करती है तो जीवन में भोग्य विवशताएं उससे ऐसा करवाती हैं साथ ही प्रेम की सहजानुभूतियां भी उसके अन्तर् को मथती हैं।

मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के ऊहापोहों के चित्रण में यह नाटक पूर्ण सफल है। इसमें लेखक ने जीवन को बहुत समीप से परखा प्रतीत होता है। इसके तीन अंक हैं।

नाटककार गुरबख्शसिंह ने पंजाबी-नाट्य साहित्य में मौलिक प्रीत-सिद्धान्तों की स्थापना की, जिन्हें उन्होंने कला की नवीन सम्भावनाओं के अनुकूल चित्रित किया है। पंजाबी में सर्व प्रथम आधुनिकता पूर्ण रोमांसमय चार अंकों के दुखान्त नाटक लिखने का श्रेय इन्हें ही है । इन्होंने केवल 'राजकुमारी लतिका' तथा 'प्रीतमणि' नामक दो पूर्ण नाटक लिखे । 'राजकुमारी लतिका' तो पहले अंग्रेजी में ,लखा गया था । संस्कारों से कहानी लेखक, वार्ता लेखक होने से इनके नाटकों में नाटकीय विशेषताओं का अभाव है किन्तु उनमें प्रतिपादित सिद्धान्त उनकी अमरता के सूचक हैं । 'राज कुमारी लतिका' में कथा का विन्यास विश्रृङ्खलित सा है । समय, स्थान और कार्य में वैविध्य है । स्वगत-भाषणों से नाटकीय प्रभाव रुक सा गया है । सम्वाद अपने विस्तार के कारण भाषण जैसे लगते हैं। काव्यात्मक शैली में प्रीत-सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जिनमें कला के नवीन आग्रहों का समावेश है। अनेक नाटक विरोधी घटनाएं भी हैं। 'प्रीत-मणि' में भी स्थान और कार्य की अनेकता है । प्रीत-सिद्धान्त इसका विषय है । कथोपकथन पात्रानुकूल हैं

जिनमें विवेच्य प्रेम है। अपने निजी सिद्धान्तों के कथन के लिये अथवा भाषा को अधिक से अधिक मृदुतर बनाने के लिये नाटककार ने अपने नाटकों में नाटकीयता को भुला दिया लगता है। यद्यपि इन रचनाओं में नाटकीयता का अभाव है, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है। कि इन्हीं कृतियों ने पंजाबी-साहित्य में आधुनिकता से पूर्ण दुखान्त नाटकों की नवीन परम्परा को जन्म दिया, जिनमें प्रतिपादित सिद्धान्त जन-मन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

गुरदयालसिंह खोसला ने पंजाबी नाटक को रंगमंचीय सफलताओं से अभिनन्दित किया है। इन्होंने प्रत्येक पक्ष से नाटक की अभिनेयता को महत्त्व दिया है। इनके नाटकों में वर्णित रंग-संकेत ही नाटकीय कथ्य को प्रकट करते हैं। अपने पात्रों द्वारा नाटक की अपेक्षाओं को जीवन्त स्वरूप देने में ये सिद्धहस्त हैं। संकलन त्रय तथा कथानक की चरम सीमा सम्बन्धी उत्सुकता इनकी कृतियों में सुष्टु और पुष्टु रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। नाटकीय अनुभावों का अधिपति होने के कारण गुरदयाल सिंह खोसला ने पंजाबी में अनेक नाटककारों को रंगमंच की दृष्टि से सफल नाटक लिखने की प्रेरणा दी है। पंजाबी रंगमंच को अपने नवीनता पूर्ण सफल प्रयोगों की सम्पन्नता देने वाले सफल नाटककार, अभिनेता और निर्देशक खोसला ने भारत की विभिन्न चौदह भाषाओं में पंजाबी नाटक को द्वितीय स्थान का गौरव दिलाया। इन्हें पश्चिमी साहित्य का गहन अध्ययन है। स्वयं नाटक लेखन भी इन्होंने अनुवाद से आरम्भ किया अतः इनकी मौलिक रचनाओं पर विदेशी प्रभाव है किन्तु उनका वर्ण्य-विषय स्वदेशी है और है जिसमें हमारे जीवन की प्रतिच्छाया! 'बूहे बैठीं धी' इनका चार अंकों का सफल नाटक है। इस नाटक की संक्षिप्त कहानी में अनेक नाटकीय परिवर्तन हैं। जिसने व्यवस्थित कथा अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण करती हुई हमारे मध्यम वर्ग के जीवन को सजग अभिव्यक्ति देती है। इसमें युवतियों की शिक्षा और उन द्वारा लोक सेवा के आदर्श संदेश की स्थापना की गई है। समस्याओं से बोझिल समाज में द्वार पर बैठी जवान लड़की से क्या अपने उत्तरदायित्व से मुक्तिप्राप्ति का साधन उसका विवाह है? अथवा उसे शिक्षा सम्पन्न बन कर किसी उच्च-सेवा की ओर प्रेरित करना है? यही नाटकीय कथ्य है। निजी अभिरुचि या अपने घरेलू जीवन की विवशताओं के कारण आज की लड़की नौकरी करती है। क्या सर्विस करती हुई लड़की के लिये विवाह अपेक्षित नहीं? नाटककार इस प्रश्न के उत्तर में मौन रहा है जबकि इस नाटक की मुख्य समस्या लड़की के विवाह की है: अतः इसमें समस्या है समाधान नहीं —मनोविज्ञान के

धरातल से लेखक ने इस विषय में नहीं सोचा है। लोक सेवा का आदर्श नाटक में अवश्य है। एकांकी की भान्ति इस नाटक के आरम्भ में तीव्रता तथा स्वाभाविकता है। इसके सम्वादों में व्यंग्य का प्राधान्य है।

पंजाबी के उपरोक्त प्रतिनिधि नाटक लेखकों के अतिरिक्त अन्य सफल नाटककारों में रोशनलाल आहूजा, 'करतारसिंह दुग्गल' 'गुरदयाल सिंह फुल, अमरीकसिंह, सुरजीत सिंह सेठी आदि बहुत लोक प्रिय लेखक हैं। इन्होंने अपनी बहुमूल्य कृतियों द्वारा पंजाबी नाट्य-साहित्य को समृद्ध बनाया तथा भाव, भाषा, विषय और शैली सभी के वैविध्य से उसे पूर्णता दी। ऐतिहासिक सन्दर्भों द्वारा जीवन-समस्याओं के सजग व्याख्याता रोशनलाल आहूजा ने अपनी रचनाओं में भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति मोह तथा आधुनिकता के प्रति अपने आग्रह को चित्रित किया है। इनके नाटक-लेखन का आधार मनोरंजन नहीं अपितु विचार है। नाटक में काव्यात्मक कोमलता के जन्मदाता करतारसिंह दुग्गल के नाटकों का विषय बहुमुखी है किन्तु उनमें अन्तर की अभिव्यक्ति मुखर है क्योंकि इन्होंने अन्तर को सागर के समान गहन माना है। मनोवैज्ञानिक नाटककार गुरदयालसिंह फुल ने पंजाबी नाट्य साहित्य में कला सम्बन्धी स्वाभाविकता तथा आदर्श मानवतावाद की स्थापना की जन्मजात कलाकार अमरीकसिंह पंजाबी नाटकों में नागरिक जीवन के मुखर वक्ता हैं। जिन्होंने अपने सफल नाट्य प्रयोगों द्वारा रंगमंच को विकासशील बनाया है। सुरजीत सिंह सेठी मुख्यतः उपन्यासकार व कहानीकार हैं। कलाकार के अन्तर का क्रन्दन इनके नाटकों में मुखर है। इनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल हैं। जहां इन लोकप्रिय लेखकों ने पंजाबी के नाटक साहित्य को दृढ़ता दी है वहां इनके अतिरिक्त नवीन नाटक लेखक हरसरन सिंह, निरञ्जन सिंह कपूर सिंह घुम्मण, जगदीश सिंह वोहरा आदि पंजाबी नाट्य--साहित्य को अपनी नाट्य कृतियों द्वारा सम्पन्नता प्रदान कर रहे हैं। नाटकों में नई तकनीक उत्पन्न करने वाले इन साधक कलाकारों के सत्प्रयत्नों से पंजाबी के नाटकों का भविष्य परम उज्ज्वल है और नाटक हमारी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतीक बन रहा है।

○○

आप चाहे कुछ भी काम क्यों न करते हों....

आप का काम
देश के लिए
किया गया काम है

आप, आपका काम, आपका जीवन सभी कुछ उस भारत के अभिन्न अंग हैं जो आज कुशलता तथा शक्ति बढ़ाने में जी जान से जुटा है। आपका काम चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह पूरी मुस्तैदी व दक्षता से होना चाहिए। काम में रुकावट या देर न होने दें। विजय आप सरीखे लाखों-करोड़ों लोगों की कठोर मेहनत का ही फल होती है।

जी तोड़ मेहनत करें
भारत के विकास और देश की रक्षा के लिए

पंजाब के सपूतो !

पंजाब के वीर तथा साहसी सपूतो, अब तुम भारत की सीमाओं के संरक्षक हो। इसलिए न ही तुम्हें स्वयं कोई ऐसी बात कहनी चाहिए जो इस सीमावर्ती राज्य को कमज़ोर करे और न ही किसी और व्यक्ति को यह अनुमति देनी चाहिए कि वह तुम्हें पथभ्रष्ट कर सके। स्वार्थपूर्ण भावनाओं से ऊपर उठकर एक राष्ट्रपुरुष के रूप में खड़े हो जाओ और अपने देश को दुश्मनों की घृणित चालों से बचाने तथा सारे राष्ट्र और अपने राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए कोई कोर कसर उठा न रखो।

—लालबहादुर शास्त्री

पार्वती लोक मानस विशेषांक

जन साहित्य का एक अभूतपूर्व विशेषांक

जो मई–जून, १९६६ में प्रकाशित हो रहा है।

जिसमें पंजाब, हिमाचल प्रदेश और जम्मू काशमीर राज्यों के पर्वतीय प्रदेशों के सांस्कृतिक जन-मानस के विविध स्वरूपों का चित्रण होगा।

विशेष नोटः–पाठकों से विशेष अनुरोध है कि वह अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करवा लें। प्रत्येक प्रति का मूल्य एक रुपया। स्थायी ग्राहकों से अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जायेगा।

निदेशक,
हिन्दी विभाग, पंजाब
पटियाला

श्री लाल सिंह, डायरेक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमेंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक—डा० परमानन्द

11-6-66
सप्तसिन्धु
मई, १९६६
गुरुकुल काँगड़ी
५० पैसे
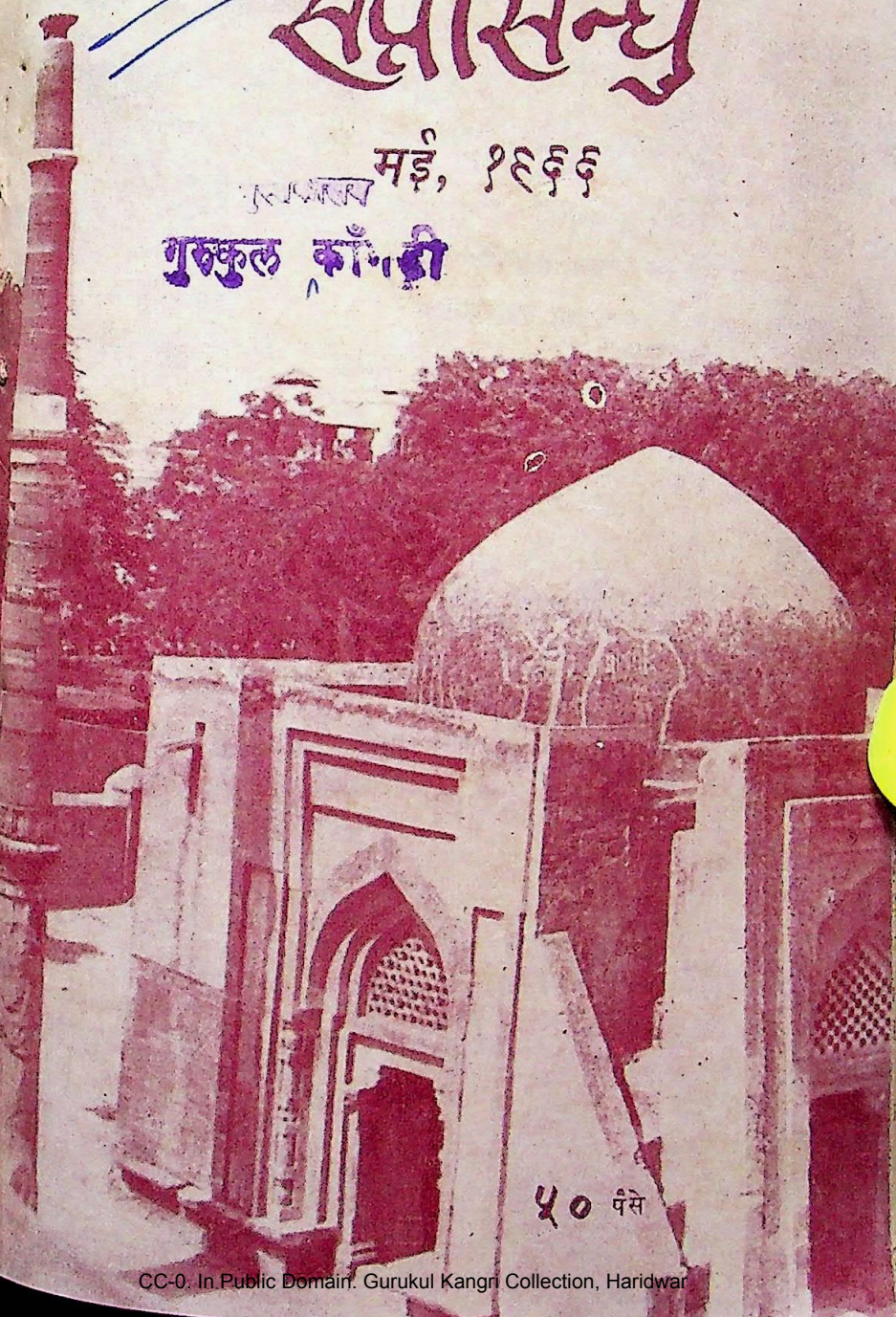
युद्ध में कोई भी सफलता की गारंटी नहीं कर सकता, किन्तु अपने को उसका हक़दार बना सकता है।

—विंस्टन चर्चिल

केवल बुद्धि ही किसी को लेखक नहीं बना सकती। पुस्तक के पीछे व्यक्तित्व होना चाहिए।

—इमर्सन

रात होने तक नास्तिक आधा आस्तिक हो जाता है।

—एडवर्ड यंग

कोई भी समस्या जब तक सही ढंग से तय न हो तब तक उसे तय हुआ नहीं मानना चाहिए।

—विलकाक्स

दूसरों को प्रसन्न करने की कला स्वयं प्रसन्न होना है।

—हैजलिट

किसी भी युद्ध को अच्छा और किसी भी शांति को बुरा नहीं कहा जा सकता।

—बेंजामिन फ्रैंकलिन

अपने प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन न होना ही मैं प्रभूत कृतज्ञता मानता हूँ। मैंने अपनी कर्त्तव्य-पूर्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं किया है।

—हेनरी फील्डिंग

(मासिक प्रकाशन—मई, १९६६)

वर्ष १३ अंक ५

सम्पादक–डा० परमानन्द

परामर्श समिति

*श्री कृष्ण मधोक
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

*श्री त्रिलोकीनाथ रञ्जन
(सहायक निदेशक, कोश)

*श्री ओम् प्रकाश भारद्वाज
संयोजक
(सहायक निदेशक, विकास)

*श्री गुरुदत्त शर्मा
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

*श्री हरिचन्द पाराशर
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला।

सम्पादकीय

"गान्धी-युग-पुराण" का प्रथम स्कन्ध "अणु और अनन्त"

पाठकों ने अष्टादश पुराणों और श्रीमद्भागवत नामक महापुराण का नाम प्रायः सुना होगा। कई विद्वानों ने इनका विधिवत् अध्ययन और पारायण भी किया होगा। युग बदलते हैं। पुराण भी बदलते हैं। वैदिक काल में जो पुराण थे वे इन पुराणों से इतर थे। वैदिक यज्ञ-यागादि के युग में वेदाध्ययन के साथ या यज्ञों की समाप्ति पर पुराणों के अध्ययन एवं श्रवण की व्यवस्था थी। जिन पुराणों की वह चर्चा थी-वे अवश्य उत्तरकालीन व्यास-प्रणीत पुराणों से भिन्न ग्रन्थ थे। कहा भी है :-

"यज्ञ-समाप्तौ दशमे अहनि किञ्चित् पुराणमध्याचक्षीत्"।

मध्य युग में अग्नि, वायु, गरुड़, शिव आदि पुराण बने और श्रीमद्भागवत महापुराण। युग युग के महापुरुष होते हैं--युग युग के सिद्धान्त होते हैं। अब नये युग में नये पुराण का निर्माण भी हो रहा है। इस विशाल उपक्रम का आयोजन डा० (सेठ) गोविन्ददास जी संसत्-सदस्य एवं डा० ओम्प्रकाश जी ने किया है। इसकी प्रेरणा सेठजी को उनके कनिष्ठ पुत्र स्वर्गीय श्री जगमोहनदास जी से मिली थी।

जगमोहनदास --आपने विपुल एवं प्रचुर साहित्य लिखा है। अब आप कोई महान् साहित्य रचना करें।

गोविन्ददास--जीवन के इस सन्ध्याकाल में कोई विशाल रचना कर सकूंगा ?

जगमोहनदास--तुलसी ने राम चरित मानस जीवन के अपराह्ण समय में ही लिखा था।

गोविन्ददास--(सोचते हुए) कुछ सूझ नहीं रहा। सोचूंगा। तुम भी सोचो।

कुछ दिन बाद श्री जगमोहनदास ने फिर कहा --

"मैंने सोच लिया है। आपका सारा जीवन गांधी जी के सम्पर्क में बीता है। गांधी युग पर पुराण लिख डालिए।"

यह थी भव्य प्रेरणा जिसका साकार रूप सेठ जी ने "गान्धी युग पुराण" के रूप में जनता के सामने रखना है।

महात्मा गान्धी इस युग के सर्वोत्कृष्ट मानव-रत्न थे। उनका जीवन भारत के अतीत, वर्त्तमान और भविष्य का एक दीप्तिमय संक्षिप्त इतिहास था। प्राचीन युग में महा मानवों के लोकोत्तर चरित्र की व्याख्या एवं उनके अनिर्वचनीय यशोगान के लिए ही पुराणों की रचना की गई थी। सर्वद्रष्टा भगवान् वेद व्यास जैसे महा-मनीषी लेखक ने उन पुराणों का सृजन किया।

इसी प्रकार वर्त्तमान युग के महा मानव गान्धी जी के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधार पर समाश्रित (अनन्त यशोगान के लिये) एक महापुराण का निर्माण भी उपक्रांत हो चुका है श्रीमद्भागवत् महापुराण के बारह स्कन्ध हैं। इस प्रकार गान्धी पुराण के बारह ही स्कन्ध चिकीर्षित हैं। यह महान् अध्यवसाय अवश्य सफल होगा क्योंकि इस महापुराण के सृजन का कार्य स्वातन्त्र्य युग के तेजस्वी सेनानी और हिन्दी के उत्कृष्ट साहित्यकार एवं राष्ट्र सेवी पद्म-भूषण, साहित्य वाचस्पति डा० गोविन्ददास जी ने अपने हाथ में लिया। इस "गान्धी युग पुराण" के बारह स्कन्धों की योजना इस प्रकार है :--

प्रथम स्कन्ध--प्रभु और अनन्त (सृष्टि उत्पत्ति विषय)
द्वितीय स्कन्ध--धरातल पर मानव का अवतरण।
तृतीय स्कन्ध--गान्धी मार्ग की प्राचीन परम्परा।
--ईसा बुद्ध और महावीर।
चतुर्थ स्कन्ध--दर्शन-विवेचन। पूर्व और पश्चिमी दर्शनों का सर्वेक्षण।
पंचम स्कन्ध--भारतीय संस्कृति का इतिहास।
षष्ठ स्कन्ध--अंग्रेजों से पूर्व का भारत।
सप्तम स्कन्ध--अंग्रेजी राज्य और स्वातन्त्र्य-संघर्ष।
अष्टम स्कन्ध--राष्ट्रीय पुनर्जागरण-प्रवर्त्तक।
नवम स्कन्ध--गान्धी जी से पूर्व का भारत।
दशम स्कन्ध--गान्धी-अवतरण।
एकादश स्कन्ध--गान्धी युग।
द्वादश स्कन्ध--महा प्रयाण।

लेखकों ने गान्धी पुराण की कल्पना (ऊपर देखने से जाना जा सकता है) भागवत के आधार पर ही की है। दोनों में बारह स्कन्ध हैं। भागवत के नायक हैं –

अतुल पराक्रमी योगीराज श्री कृष्ण और इस पुराण के नायक हैं–राष्ट्र गान्धी जी ।

शैली भी इस ग्रन्थ में वही संवादात्मक अपनाई गई है । इस "गान्ध पुराण" का प्रथम खण्ड प्रकाशित हो चुका है । इसमें प्रमुख पात्र हैं––हिमाच धवलगिरि हिमालय और पुण्य सलिला गंगा । अनन्त रत्न प्रसू हिमालय विवि विज्ञान का प्रतीक है और गंगा अनिन्द्य और निरवच्छिन्न भारतीय संस्कृ प्रतीक है । इन दोनों के संवाद-प्रवाह में अनेक कथाएं उपकथाएं, आख्यान, उपाख्यान, आदि वर्णित हैं और वे भी संवाद रूप ही हैं ।

दृश्यत्मान हिमालय और जान्हवी वर्तमान का दर्पण हैं, अतीत इनका आ और भविष्य के रेखा चित्रों का अभिव्यंजन इनमें है ।

"अणु और अनन्त" प्रथम स्कन्ध का नाम है । मानव समाज दो धाराओं में अविभाज्य होकर भी विभक्त है, "प्राधान्येन व्पदेशा भवन्ति ।" न्याय से ऐसा कहा जा सकता है, एक धारा का चरम लक्ष्य "अणु" या "परमाणु परस्पार प्राप्त करना है । अर्थात् इस भौतिक जगत् के प्रधान कारण "परमाणु "अणु" शक्ति पर विजय पाना है, इस में विज्ञान और तकनीकी (Technolo आ जाती है । इसके द्वारा मानव ऐश्वर्य विलास सुसमृद्धि के समस्त साधन करता है । मानवता का विकास हो या न हो परन्तु मानवता के संहार की प्रवृत्त हो जाना इसके साधक के लिये आनुषङ्गिक बन जाता है । वैयक्तिक, सामा या राष्ट्रीय वैभव दूसरे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिये ईर्ष्या-द्वेष और घृणा का बन जाता है जिससे विज्ञान संहार-पथ-गामी बन कर रह जाता है ।

दूसरी धारा का आधार आध्यात्मिकता –आत्म विजय या समस्त ब्रह्मा में ओतप्रोत एक विश्वात्मा का दर्शन करना या उस अनन्त शक्ति को प्राप्त कर जिसमें "सब में एक और एक में सब का दर्शन करना" ध्येय है । कितना मह परिवार इस आध्यात्मिक पथिक का बन जाता है । मानव जीवन में "सत्यं शि सुन्दरम्" को खोज निकालना इसी धारा का ध्येय है ।

"गान्धी-युग-पुराण" का प्रथम स्कन्ध "अणु और अनन्त" का भाव भी य है । उल्लिखित परस्पर प्रतिद्वन्दिनी दो पृथक् धाराओं का सम्मिश्रण–जो ए अलौकिक स्वप्न की कल्पना है, जिसमें वैभव के साथ जन कल्याण है इसका लक्ष्य है इस स्कन्ध में परम्परा-प्राप्त उस भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन है जिसमें "परा औ अपरा" विद्या समन्वित रूप से चल कर प्राणीमात्र का कल्याण करती हैं ।

इन्हीं दो विद्याओं के वैदिक नाम "सम्भूति एवं असम्भूति' तथा
ा या विद्या" हैं। इनके संगम से ही ऐहिक तथा औध्र्वदैहिक कल्याण होता
ुजवद में कहा है --

"विद्यां चाविद्यां च
यस्तद् वेदोभय ~सह।
अविद्यया मृत्युन्तीर्त्वा
विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥" (यजु० चालीसवां अध्याय)

विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान की सम्मिलित सरिताओं के सलिल से सिञ्चि
ा ने भारत को आज तक जीवित रखा। गांधी जी ने वर्त्तमान युग में भी पूर्व
श्चिम के समन्वय के द्वारा नये मानव जीवन की सृष्टि करनी चाही है। इसी
ा तथ्य का प्रतिपादन इस प्रथम स्कन्ध में डा० सेठ गोविन्ददास जी ने किया है।

इसमें, जीवन क्या है तथा विविध संसार की सृष्टि कैसे हुई—यह बतलाकर
ण्डल के सम्बन्ध में एक मनोहर संगोष्ठी दी है। इसमें दी गई "धरती माता की
कथा" बड़ी मनोरञ्जक है। गगन मण्डल कितना प्रतिभावान् होते हुए भी कितना
और अगम्य है, इन विषयों पर विशद विवेचन है। अन्त में सृष्टि निर्माण का
न क्या है, इसकी भी कुछ व्याख्या दी गई है। ये विषय ऐसे हैं जिनकी मीमांसा
भी हो थ ड़ी है। इस आयोजन में यह "गान्धी युग पुराण" का प्रथम स्कन्ध है।
ही रोचक, बहुत ही मननयोग्य और अत्यन्त सरल एवं गम्भीर है। इस प्रथम
को पढ़ कर पाठकों को अनुमान हो जायगा कि सारा "गान्धी युग पुराण"
ना महत्त्वपूर्ण है।

ऐसे ग्रन्थ का प्रचार हम इसलिये चाहते हैं कि इस भौतिकवाद के शुष्क
को गान्धी जी ने सुरस और मनोज्ञ बनाना चाहा था परन्तु उसकी वैज्ञानिक एवं
ात्मिक भित्ति पर अभी तक प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं निकला था। सेठ जी
वे आदर्श मानव ही गान्धी जी की विचारधारा को समझते हैं—और उनके इस
न का हम हार्दिक स्वागत करते हैं।

[signature]

सांस्कृतिक काव्य की परम्परा में स्व० श्री सियारामशरणजी गुप्त का स्थान

डा० दशरथराज

साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जन–मानस का संस्कार करना है। राम जन्म से बहुत पूर्व महर्षि ाल्मीकि ने जिस राम की कल्पना की थी, ह समय ने राम जन्म में पूरी की और मारे सम्मुख एक ज्वलंत उदाहरण स्तुत किया कि किस तरह साहित्य जन-ानस का संस्कार करता हुआ उसे उस वस्था तक पहुंचाता है जो कवि का ादर्श है। साहित्य का यह व्यापक प्रभाव ुग युगों से हमारे सम्मुख ज्वलंत उदाहरण स्तुत करता रहा है। कवि और कलाकार ुग की विभूति होते हैं जो अपने युग की रिस्थितियों का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन रते हैं और उन परिस्थितियों से ही वे ल भी तलाश करते हैं जिसे एक आदर्श. ूप देकर वे समाज के समक्ष एक आदर्श स्थापित करते हैं। कवि में अगर अपना रित्र बल हो और प्रतिभा हो तो वह युग स्थापक कवि बन जाता है। प्रत्येक कवि ग निर्माता नहीं होता। पर युगीन परि-स्थितियां का युगीन भावधारा का अंकन प्रत्येक कवि के काव्य में प्राप्त होता है। युगीन भावधारा पर संस्कृति का अमिट प्रभाव रहता है जिससे प्रत्येक युग का काव्य अपने समय की संस्कृति, समाज और मनोभावनाओं का निदर्शक है और उसका विधान तत्कालीन परम्परा, विचारधारा और आवश्यकताओं के उपादानों से ही होता है।

साहित्य, समाज और संस्कृति अन्योन्याश्रित हैं। तीनों का एक दूसरे पर इतना गहरा प्रभाव है कि किसी एक को प्रधानता देकर दूसरे को गौण मानने से काम नहीं चल सकता। संस्कृति को निर्धारित करने के लिये समाज का अध्ययन अनिवार्य है तो समाज का अध्ययन करने के लिये संस्कृति का अध्ययन अनिवार्य है। इन दोनों को जीवित रूप में प्रस्तुत करने का और समन्वित रूप देने का महत्त्वपूर्ण कार्य कवि एवं कलाकार अपनी साहित्यिक

कृतियों के रूप में करते हैं। अतः साहित्य का अध्ययन करने से हम समाज और संस्कृति का एक साथ अध्ययन करने में सफलता पा सकते हैं। साहित्य ही ऐसा सूत्र है जो आज भी हमारे सामने हमारी पूर्व कालीन संस्कृति और पूर्व कालीन समाज के चित्र उपस्थित करने में सफल हो सका है और हज़ारों वर्षों के उपरांत भी हम अपने पूर्वजों की संस्कृति और उनके सामाजिक संगठन, रहन-सहन, वेश-भूषा, रीति-नीति, तीज-त्योहार, आचार-विचार, सामाजिक रूढ़ियों, शादी -व्याह की प्रथाओं का परिचय पाने में समर्थ हैं। इस तरह जहां साहित्य हमारे सामने पूर्व कालीन सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक चेतना प्रस्तुत करने क काम करता है, वहां वर्तमान की समस्याओं को पूर्वानुभूतियों के आधार पर सुलझाने का प्रयत्न भी करता है। अतः साहित्य अतीत को वर्तमान से जोड़े हुए है। दोनों को एक दूसरे के लिये सहायक रूप में प्रस्तुत करता हुआ,देश की चिर संचित संपत्ति— संस्कृति की रक्षा करता है और उसे धरोहर के रूप में नये समाज के सामने प्रस्तुत करता है। यह दाय परम्परानुगत भावी समाज के निर्माण में सहायक बनती है और संस्कृति एवं देश कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए भी जीवित रह सकते हैं। अतः समाज और राष्ट्र का जीवन उसकी संस्कृति एवं साहित्य पर अवलंबित है।

जिस साहित्य में सांस्कृतिक चेतना का अभाव होता है, वह साहित्य जीवन से दूर जा पड़ता है और जीवनोपयोगी नहीं रह जाता। अतः किसी भी काल-खण्ड के साहित्य का अध्ययन करते समय यह देखना अत्यंत आवश्यक है कि साहित्यकारों ने अपने दायित्व को कहां तक निभाया है? उन्होंने कहां तक अपने युग का यथार्थ चित्र उपस्थित किया है और कहां तक उन्हों ने अपने देश की संस्कृति का अंकन किया है, यह हम साहित्य में देख सकते हैं। इस प्रकार देश काल का चित्रण प्रत्यक्ष रूप में अनिवार्यतः हो जाता है। उसके लिये साहित्यकार को विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। वह जिस समाज का अंग है, उस समाज की परम्पराओं का प्रभाव उसके निजी जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता और साहित्य में भी वह साहित्यकार के स्वभाव एवं व्यक्तित्व के रूप में चित्रित हो जाता है।

संस्कृति को थोड़े में स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा। संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग के साथ संस्कृत की (ड़्)कृ(ञ) धातु से बनता है, जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है। आज की हिन्दी में यह अंग्रेज़ी शब्द कल्चर का पर्याय माना जाता है। संस्कृति शब्द का अर्थ कम से कम दो अर्थों में होता है एक व्यापक और एक संकीर्ण अर्थ में। व्यापक अर्थ में उक्त शब्द का प्रयोग नर-विज्ञान में किया जाता

है । उक्त विज्ञान के अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार अथवा उस व्यवहार का नाम है, जो सामाजिक परम्परा से प्राप्त होता है । इस अर्थ में संस्कृति को सामाजिक प्रथा-कस्टम का पर्याय भी कहा जाता है । संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति माना जाता है । इस अर्थ में संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जाती है जो व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं ।[१] मनुष्य के आचार-विचार की परिचयाक होने के कारण, संस्कृति को मनुष्य का आचार-विचार कहना अनुचित न होगा । किसी देश एवं समाज की संस्कृति का निर्णय उस समाज के एक व्यक्ति के आधार पर नहीं किया जा सकता । समाज के अंतर्गत आने वाले लोगों के आचार विचार में भाव साम्य के आधार पर उस समाज की संस्कृति निश्चित की जा सकती है ।

संस्कृति सामाजिक जीवन का वह व्यापक धर्म है जिसमें समाज की समग्र साधना, आकांक्षा एवं उपलब्धि समाविष्ट हो जाती है । व्यक्ति के सद्‌गुण ही नहीं, दुर्गुण भी उसकी संस्कृति के द्योतक हैं। कोई जाति अगर कलह प्रिय होती है तो उसकी संस्कृति को उत्तम न कह कर उसके व्यापक गुण-धर्म का परिचय दिया जाता है।

साहित्य एवं सांस्कृतिक चेतना के अध्ययन करने से एक बात विशेष रूप से स्पष्ट होती है कि जब जब देश की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति अधः पतन की ओर उन्मुख दृष्टिगत होती है सांस्कृतिक चेतना भी मुखर हो उठती है । अपनी पतितावस्था में व्यक्ति स्वालोचन के माध्यम से अपनी पूर्वकालीन स्वर्णमयी स्मृतियों को उधरता हुआ पाता है । यही कारण है कि जब देश पर विदेशी आक्रमण हुए, देश प्रेम और देशाभिमान की भावना भी जन-साधारण में मुखरित हो उठी । देश प्रेम --देश की संस्कृति, देश की भाषा एवं देश की भौतिक संपत्ति के प्रति प्रेम भाव के दर्शन होते हैं। संस्कृति राष्ट्र का प्राण मानी जाती है, उसके अभाव में राष्ट्र कबंध मात्र रह जाता है ।

हिन्दी का आरम्भिक साहित्य वीर गाथाओं का साहित्य है जिनमें देश-प्रेम एवं देशाभिमान की भावना एवं हिन्दू संस्कृति का महत्त्व ही कवियों का वर्णित विषय रहा है । एक भी ऐसी वीर-गाथा नहीं जिसमें वीरत्व को जगाने के लिये कवियों ने पूर्व आदर्शों का अवलम्ब न ग्रहण किया हो । वीर-गाथाओं के उपरान्त भक्तिकालीन साहित्य आता है । भक्ति-कालीन साहित्य की निर्गुण अथवा सगुण भक्ति धाराओं के साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कवि चाहे हिन्दू रहा हो

१. हिन्दी साहित्य कोशा—डॉ. धीरेन्द्र वर्मा—पृष्ठ ८०१

मुसलमान, पर उसने भारतीय आदर्श
हो महत्त्व दिया है और भारतीय
कृति के गौरव गान में ही वह गौरव का
भव करता रहा है। मध्य-कालीन
त-साहित्य को हिन्दी साहित्य सर्व-
ठ साहित्य माना गया है। इस काल
हिन्दी साहित्य का स्वर्ण काल मानने
मूल कारण यही है कि इस काल के
वियों ने संपूर्ण भारतीय भावधारा को
: नए आलोक में, उपयोगी रूप में
तुत किया है। इस काल के कवियों ने
हीं भी रूढ़िवादिता के प्रति अपने आग्रह
ा परिचय नहीं दिया।

रीतिकार में आते आते कविता का
ानदण्ड कुछ बदला फिर भी युगीन
रिस्थितियों के कारण ऐसी रचनाओं
ा अभाव नहीं जिनमें भारतीय संस्कृति
दर्शन न हों। १८वीं शती का स्थूल चित्र
मारे समक्ष निरंतर युद्ध, अशान्ति, लूट-पाट
जकोष की रिक्तावस्था और दरिद्र
जा के चित्र को उपस्थित करता है।
वन की अनिश्चितता के कारण दरबारी
ावत जीवेत् सुखं जीवेत्' को ही आधार
ान कर जी रहे थे। इसी भावना ने
ासकों और दरबारियों को विलास-
य बना दिया। इसी से वे जीवन का हर
ानन्द लूट लेना चाहते थे। कृपणता का
ाव वहां था ही नहीं। सौन्दर्य प्रेम और
उपभोग की भावना ने कला संगीत और
ाहित्य की शरण ली जो चरितार्थ हुई
नारी सौन्दर्य में। इस समाज के आदर्श
को नारी के सौन्दर्य और प्रेम में पूर्णता
मिली। इस युग की कलाकृतियां इस भाव
की ऋणी हैं। नारी का यह महत्त्व शुद्ध
सौन्दर्य भावना पर स्थित था। नारी की
इस प्रतिष्ठा का कारण उस समय की
कलात्मकता भावना थी जो उसमें सौन्दर्य-
पूर्ण परिणति मानती थी। यह सौन्दर्य-
भावना ही इस युग के लिये एक मात्र
आकर्षण केन्द्र बनी थी जिससे उस युग
का निराशामय, अशान्त और अनिश्चित
जीवन भी जीवन को दूभर बनने से रोके
हुए था। इसी से इस राजनीतिक ह्रास
के युग में हमें कला, विलासिता, नैतिकता
का अभाव, प्रेम और सौन्दर्य-भावना के
एक साथ दर्शन होते हैं। इस सौन्दर्य-भावना
की परितृप्ति दैनिक जीवन से दूर स्वप्निल
लोक में और नारी सौन्दर्य की उपासना में
लक्षित होती है।

१८वीं शती के अंत तक भारतीय
अधःपतन अपनी चरम सीमा को पहुंच
चुका थ। यह समय जातीय जीवन के ह्रास
का था जिसका बहिरंग कलह और भेद
से भरा था जिसके कारण विदेशी जाति
शासक बनने में समर्थ हो सकी थी। इस
अवस्था ने आन्तरिक जीवन की कारयित्री
शक्ति को भी ह्रासोन्मुख बना दिया था
और कहीं भी नव-निर्माण एवं विकास के
दर्शन नहीं होते। चारों ओर ह्रासोन्मुखी
भावधारा के दर्शन होते हैं। पिटी पिटाई

लीक को पीटना ही इस युग की प्रधानता रही। यह भावधारा १९वीं शती के कई दशकों तक बनी रही।

अंग्रेज़ भारत में सदा के लिए रहने का उद्देश्य लेकर नहीं आए थे अपितु उनका उद्देश्य भारत की संपत्ति लूट कर अपने देश को समृद्ध बनाना था। यही कारण था कि इन शासकों नें निजी स्वार्थ साधन के अर्थ भारत को सदैव अपनी मानसिक दासता में बांधे रखने के अनेक प्रयत्न किये जिनमे प्रधान था भारतीय संस्कृति को मिटा कर उस पर पाश्चात्य संस्कृति का रंग चढ़ाना। यही कारण था कि इन दो संस्कृतियों में सामंजस्य स्थापित होने की कोई संभावना नज़र नहीं आती थी। एक शासकों की संस्कृति थी दूसरी शासितों की ओर शक्तिशाली शासकों की संस्कृति भी शासक के रूप में ही प्रतिष्ठित हुई। इस संस्कृति के समर्थक भारतीय संस्कृति को बर्बर और जंग संस्कृति कहते थे। ईसाई मिशनरियों शिक्षा का उद्देश्य भारतीय जनता को द दया वश शिक्षा देने का नहीं था। उन उद्देश्य अपने धर्म का निर्विरोध प्रच था। मेकाले साहब का पक्का विश्व था कि यदि मेरा शिक्षा विधान ठीक-ठी चलाया गया तो बंगाल में ३० साल बा उच्च वर्ग में एक भी मूर्तिपूजक न र जाएगा।[१] अंग्रेज़ी स्कूलों ने ईसाई ध प्रचार में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया धर्म परिवर्तन की यह भावना यवकों अधिक मात्रा में दिखाई देती है जो अंग्रेज़ सभ्यता की तड़क भड़क पर पूरी तरह फ़रीफ़ता हो रहे थे। बंगाल में अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण वंशानुगत पुरोहिती एव वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध उग्र भावना ने जन्म लिया।[२] अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा ने इस शिक्षित युवक वर्ग की भारतीय

---

१. It is my firm belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolator among the respectable class in Bengal thirty years hence.

— Macaulay, 1836 in a letter to his father

डा० केसरी नारायण शुक्ल—आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत—पृष्ठ २१ से उद्धृत।

२. The first effect of English education at least in Bengal was to create revulsion of feeling against thraldom of caste and domination of hereditary priesthood.

—Hindu civilization—P.N. Bose—Vol. 1 Page 85.

Also :—About the middle of the present century (i.e. 19th) a good number of high caste and educated Hindus embraced christianity.

Ibid—Page 57

कृति एवं आचार के प्रति भावनाओं को
ना विषाक्त बना दिया था कि वे
से घृणा करने लगे थे।
राजा राममोहन राय इस युग के
ान् पुरुष थे जिन्होंने परिस्थितियों
गहराई से अध्ययन किया और परि-
थितियों के अनुरूप हिन्दू धर्म की रक्षार्थ
ब्रह्म-समाज की स्थापना की। ब्रह्म-समाज
कारण हिन्दू जनता बहुत बड़े संकट से
च गयी। ब्रह्म-समाज आध्यात्मिक क्षेत्र
पश्चिम के समक्ष भारतीय महत्त्व की
षणा थी। राजा राममोहनराय वेदान्त
प्रभावित थे और पाश्चात्य भौतिकता
मूल्यों को भी उन्होंने पूरी तरह परख
लिया था कि इस भौतिक क्षेत्र में सफल
ने वाली संस्कृति को पूर्णतया त्यागना
य नहीं हो सकता। उन्होंने समाज के
नये नई मान्यताओं के प्रति उदारता
दिखाई और धार्मिक, आध्यात्मिक,
ामाजिक तथा नैतिक क्षेत्रों में यह नई
विचारधारा-पुनरुत्थान की भावना व्याप
ई। ब्रह्म समाज का हिन्दू धर्म एवं संस्कृति
ो महत्त्व प्रदान करने का कार्य परोक्ष
रूप में ही चलता रहा जहां कि उसको
उन्मुक्त प्रोत्साहन आर्य समाज से ही
मिला। हिन्दी साहित्य पर भी आर्य
समाज का ही प्रभाव विशेष रूप से परि-
लक्षित होता है। हिन्दी साहित्य का
आधुनिक काल भारतेन्दु बाबू से शुरू होता
है।

भारतेन्दु कालीन साहित्यकार यह
भी पसन्द नहीं करते थे कि भारतीय
संस्कृति विदेशी संस्कृति से कवलित हो
जाए। निस्संदेह पाश्चात्य संस्कृति के
भौतिक पक्ष ने हमारा मार्ग-दर्शन भी किया
और हमें भी केवल अध्यात्म की दुनिया में
आनन्दमग्न रहने की अपेक्षा भौतिक जीवन
के सुधार-परिष्कार एवं विकास के लिये
प्रेरणा दी। राजा राममोहनराय ने ोनों
में सामंजस्य एवं समझौते का मार्ग
निकाला। समझौता इसी भित्ति पर ही
संभव दृष्टिगत हुआ कि राजनीतिक,
आर्थिक तथा शैक्षणिक क्षेत्र में तो हम
पश्चिमी संस्कृति के उद्देश्य एवं साधनों
को अपनाएं पर धार्मिक तथा सामाजिक
क्षेत्र में हम अपना पथ स्वयं निर्माण करें
जो भारतीय संस्कृति के अनुरूप हो। राजा
राममोहन राय की इस दीप-शिखा को
केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, परमहंस
रामकृष्ण, महादेव गोविंद रानड़े, श्रीमती
एनी बेसेंट, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक,
योगी अरविंद, पण्डित मदनमोहन मालवीय,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, डा०
राधाकृष्णन् प्रभृति विद्वानों ने दीप्त
रखने के लिये अपनी पूरी शक्ति लगा दी।

विपत्ति के समय व्यक्ति अपने
अतीत की ओर मार्ग-दर्शन के लिये देखता
है। भारतेन्दु काल के साहित्यकारों ने
भारतवासियों को आह्वान करते हुए
उनको अतीत से प्रेरणा और उत्साह देते

का प्रयत्न किया है। इस अतीत प्रेम और अतीत गर्व के कारण भारतीय जनता में व्याप्त हीन-भाव नष्ट हुआ और उत्साह बढ़ा। अतीत के प्रति इस मोह को आर्य समाज से विशेष बढ़ावा मिला। आर्य समाज का जन्म भारतेन्दु काल में हुआ और विकास द्विवेदी काल में। आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य भारत का अभ्युत्थान था और उनका आधार वैदिक था। उसकी कल्पना तथा आधार पूर्णतया भारतीय था। इसी से उसका अत्यंत व्यापक प्रभाव पड़ा। आर्य समाज का प्रभाव अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित न रह कर जन साधारण में प्रसरित हुआ। इसका कारण था स्वामी दयानन्द की दृष्टि। स्वामी दयानन्द की दृष्टि एकांगी न थी। उनका दृष्टिकोण अत्यंत उदार भावना और व्यापकता पर आधारित था। हिन्दु जाति के उद्धार के लिये उन्होंने धर्म समाज, शिक्षा, संस्कृति राजनीति, अर्थ-नीति आदि सभी अंगों पर सांगोपांग विचार किया। यही कारण था कि आर्य

समाज सामाजिक राजनीतिक ध
और सांस्कृतिक जागरण का अ
बन गया। इस अतीत गौरव
स्वाभिमान की भावना ने कवियों
आशावाद को जन्म दिया। भार
कालीन नैराश्यपूर्ण मनोदृष्टि द्विवेदी
तक लुप्त हो जाती है और इस युग
कवियों में एक अजीब आत्मविश्वास
दृढ़ता के दर्शन होते हैं। इस युग के कवि
ने मानव स्वभाव के अच्छाई के भाव
उभारा और मानवता को देवत्व का जन
दाता भी घोषित किया।[1] इस युग के क
मानवतावादी (Humanitarian Ideali
हैं। उनकी दृष्टि अत्यंत उदार और व्याप
है। वे सत्य एवं न्याय के समथक हैं।[2]
उनकी दृष्टि में यह संसार ही स्वर्ग का द्व
है।[3] भौतिकता के प्रति आग्रह की भावना
ने जन-जीवन के प्रति उदासीनता व
भावना को नष्ट किया और जीवनग
संघर्ष के लिये प्रेरणा दी। इस उदाराश
ने कवियों को हर वस्तु के प्रति प्रेममय
बना दिया और वे हर वस्तु के शोभन पक्ष

---

१. मैं मनुष्यता को सत्त्व की जननी भी कह सकता हूं।

मैथिलीशरण गुप्त—पंचवटी—पृष्ठ १२

२. न्यायार्थ अपने बंधु को भी दण्ड देना धर्म है।

मैथिलीशरण गुप्त—जयद्रथवध—पृष्ठ ५

३. मैं नहीं यहां संदेश स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

प्रस्तुत करने के लिये प्रयत्नशील हो उठे।१

वर्तमान युग के साहित्य पर गांधीवाद सब से बड़ा प्रभाव रहा है। गांधीवादी न वैष्णव दर्शन के अनुरूप पीड़ा का न है।२ गांधी जी ने आत्म-पीड़न के रा आत्म-परिष्कार की भावना को तथा रों के मन परिवर्तन को भी संभव ताया है कविवर अज्ञेय ने गांधीवादी र्शन के इस पक्ष को इन शब्दों में प्रस्तुत कया है :—

'दुख सब को मांजता है
और—
चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिनको मांजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें ।३

गांधीवाद को हम आध्यात्मिक मानववाद कह सकते हैं। गांधीवाद के मूल आधार हैं—सत्य और अहिंसा। ईश्वर के सत् स्वरूप से ही यह संपूर्ण जगत् अनुप्राणित है और उसी का स्वरूप होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति में, मानव मात्र के प्रति तथा जगत् की हरवस्तु के प्रति की प्रेम की भावना का उदय होना चाहिए। मात्र घृणा का अभाव जग जीवन के प्रति अनुरागमय नहीं बना सकता। इस लिये गांधी जी ने घृणा के स्थान पर प्रेम का पाठ पढ़ाया, बुरे से भले बरताव की शिक्षा दी। घृणा से पूर्ण मुक्ति तभी संभव है जब व्यक्ति में वस्तु मात्र के प्रति प्रेम भाव का उदय हो और वह महात्म तुलसी के शब्दों में अपनी वाणी मिला कर कह सके—'सियाराम मय सब जग जानी, करों प्रनाम जोरि जुग पानी।' केवल अपनी बुराइयों, पापों और हिंसक भावनाओं का दमन या नाश ही मानव जीवन को शोभन नहीं बना सकता। मानव मात्र में अच्छाई, पुण्य, भाव, अहिंसा और प्रेम प्रति भावात्मक अनुराग होना चाहिए जहां वे स्वाभाविक बन कर जीवन का संचालन कर सकें। दूसरों को मौखिक शिक्षा देकर इस पथ का पथिक नहीं बनाय जा सकता। इसके लिये निजाचरण की आवश्यकता है। इसी से गांधी जी ने निज तप, बल, संयम की भावना को प्रश्रय दिया

१. पाई जाती विविध जितनी वस्तुएं हैं सबों में।
जो प्यारे को अमित रंग औ रूप में देखती हूं।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूंगी।
यों है मेरे हृदय तल में विश्व का प्रेम जागा॥
अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—प्रिय प्रवास

२. वैष्णव जन तो तैने कहिये जो पीड़ पराई जाने रे।

३. नदी के द्वीप—पृष्ठ ७

है जिसके आधार पर हम अपने आचरण की शुद्धता से निज तप बल से दूसरों को भी आत्मबल प्रदान कर सकें और उत्थान का अवसर दे सकें। गांधीवादी दर्शन के व्यावहारिक रूप में अनेक पहलू हमारे सामने हैं—देश-प्रेम, साम्प्रदायिक एकता, सेवा-भाव, सादगी, सदाचार, आत्मनिर्भरता आदि।

कविवर सियारामशरण जी का निजी जीवन करुणामय रहा है। श्वास रोग और आत्मीय जनों का चिर वियोग कवि के जीवन को एकान्तनिष्ठ और चिंतक बनाने में सहायक हुए कवि ने जीवन की इस पीड़ा को जन कल्याण के पथ पर लाकर भौतिक कुण्ठाओं की करुणा को विश्वजनीन करुणा का रूप प्रदान कर संयम एवं तप का ज्वलंत प्रमाण दिया है और कवि का हृदय केवल परिचित समाज के प्रति ही नहीं वरन् समस्त जगती के लिये सकरुण हो उठा है :—

हाय रे मेरी जगती
इतनी सुन्दर तदपि घृणित सी तू क्यों लगती?

* * *

तेरे में कुछ नहीं तेज बल ? अयि कल्याणी,
तू क्यों ऐसी दीन हुई क्यों कुण्ठित वाणी ?

सियारामशरण जी गांधीवाद के प्रबल समर्थकों में से थे। इसका प्रमाण उनके 'बापू' 'नोआखली' तथा उन्मुक्त' से मिलता है। लोकजीवन के विकास से ही देश एवं विश्व का विकास संभव है। भारतीय संस्कृति के प्रेमी कवि सियारामशरण जी में लोक-जीवन के प्रति विशेष आग्रह की भावना के दर्शन होते हैं। लोक-जीवन के विकासार्थ, लोक-जीवन की जो चिर-प्रतिष्ठा है और उसको अनुप्राणित करने वाले जो चरित्र के गुण हैं, देश की संस्कृति में जो उदात्त और तेजोमय जीवन तत्त्व हैं। उनके प्रति सजग रहना अनिवार्य है। हमारे कवि की इन गुणों में असीम आस्था रही है जिसका प्रमाण हमें उनके साहित्य में उपलब्ध लोक-जीवन दर्शन से होता है। यह जीवन उनका कल्पित जीवन नहीं। इसका अनुभव उन्होंने जनपदों में बसने वाले जन-जीवन से प्राप्त किया है। सियारामशरण जी का नारी उपन्यास लोकजीवन की अत्यंत सुन्दर झांकी प्रस्तुत करता है। गांधी जी के ग्राम सुधार आंदोलन का प्रभाव उनके तीनों उपन्यासों गोद, अंतिम आकांक्षा तथा नारी में मिलता है जिनमें लेखक ने ग्राम्य जीवन के ह्रासोन्मुख संस्कृति के अनेक सजीव चित्र उपस्थित करते हुए उस जीवन के विकास के लिये निज चिंतन बल तथा गांधीवादी दर्शन के आधार पर विचार प्रस्तुत किये हैं।

पुनरुत्थान की विचारधारा में कवियों और कलाकारों ने पुराणों और इतिहास को अपना आधार बनाया था। सियारामशरण जी ने अपनी प्रारंभिक प्रेरणा भारत के प्राचीन गौरव से ग्रहण की। मौर्य विजय संवत् १९७१ कवि की प्रथम

रचना है जिसका उद्देश्य पाठक के हृदय में स्वदेशाभिमान और स्वदेशानुराग की भावना का उदय करना है।

अनाथ ।संवत् १९७४। में कवि ने देश की घोर दरिद्रता और सामाजिक कुरीतियों का अंकन किया है। इसमें ग्रामीण जीवन का सकरुण चित्र है जिसमें ज़मींदारी प्रथा, ज़मींदारी अत्याचार और पुलिस के हृदयहीन व्यवहार के साथ ग्रामीणों के असहाय जीवन का अंकन हुआ है इस रचना का उद्देश्य राजनीतिक स्थिति का नग्न चित्रण है। इसमें राजनीतिक स्थिति पर तीखा व्यंग्य है।

दूर्वादल संवत् १९७२-८१ में देश की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नव जागरण की भावना का स्वर मुखरित हो उठा है। इस घटना पर युगीन छायावादी और रहस्यवादी शैली का प्रभाव भी परिलक्षित होता है जिससे कवि का युगीन भावधारा के प्रति सजग रहने का परिचय भी मिलता है।

विषाद संवत्१९८२ कवि क निजी विषादमय जीवन पर आधारित करुण-रस की एक अमर कला कृति है जिसमें कवि के पत्नी की मृत्यु पर बहाए आंसू हीं पंद्रह गीतों में फूट पड़े हैं।

आर्द्रा संवत् १९८४ में समाज की अनेक कुरीतियों पर कवि ने दृष्टिपात किया है और सरल छोटे कथानकों के माध्यम स देश की अशिक्षा, दरिद्रत नृशंसता आदि पर कटूक्तियां कसी हैं। कवि ने हिन्दू समाज तथा भारतीय राष्ट्र करुण चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। सम्पूर्ण रचना में कवि का सामाजिक पक्ष उभर आया है।

अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के जीवन पर कवि ने संवत् १९८८ में आत्मोत्सर्ग की रचना की। पाथेय संवत् १९९० में कवि की विचार प्रधान रचनाओं का स्थान प्राप्त हुआ है। मृण्मयी संवत् १९९३ में भी कवि ने धरती के गीत गाए हैं। धरती से प्रेरित कवि मनुष्य मात्र में समदृष्टि और समन्वयात्मक बुद्धि का संचार करना चाहता है। कवि ने आज के स्वार्थी मनुष्य को देखा है कि किस तरह वह आज पशु से भी क्रूर बन बैठा है :—

पशु से बच भी जायें, बचा है कौन मनुज से?
आह! मनुज के लिए मनुज है क्रूर दनुज से!

बापू संवत् १९९४ में कवि ने अपने आराध्य युग पुरुष गांधी जी को अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की है और गांधीवादी विचारधारा को प्रस्तुत किया है। गांधीवाद का सबसे बड़ा दान मानव मात्र को, प्राणी मात्र को अभय दान देने का भाव था। कवि के शब्दों में :—

जिसने किया है महांतक छिन्न
विश्व के प्रपीड़ितों के अंतर से;

बोध का प्रदीप दीप्त करके
जिसने दिखाया दीन दुर्बल नहीं है हीन,
वह है निरस्त्र भी महत्त्वासीन
अपने अजेय आत्म-बल से;
अन्य के अपार शक्ति छल से
मुक्त सर्वथैव वह एक मात्र स्वेच्छाधीन !

गांधी जी के प्रति कवि के भाव भी दर्शनीय हैं :—

हे मनस्वि, श्रद्धा में अखण्डित हो ।
दूरगत आशा-मध्य सुप्रतिष्ठ,
कौन वृद्ध तुम हे तपस्वि! नित्य एकनिष्ठ ?

मानव को नाश के कगार पर खड़ा पाकर कवि का हृदय पीड़ितों के प्रति संवेदनशील हो उठा है :—

पीड़ितों के क्रन्दन का पारावार
क्षुब्ध है धरा की मर्मवेला में ।

उन्मुक्त संवत् १९९७ गांधी जी के अहिंसा तत्त्व पर आधारित एक सजीव सफल गीति-नाट्य है । कवि ने अहिंसा तत्त्व को स्पष्ट शब्दों में स्वीकारा है । हिन्दी साहित्य में गांधीवाद की इतनी सहज स्वीकृति अन्य किसी कवि में नहीं है । यथा :—

हिंसा से शान्त नहीं होता हिंसानल
जो सबका, है, वही हमारा भी मंगल है ।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर !

हिंसा ही नहीं, प्रतिहिंसा की भावना को भी कवि ने अशोभन माना है :—

इस अविजय में बात आज यह हमने जानी—
प्रतिहिंसा में छिपा हुआ निज का अभिमानी
कोई हिंसक क्रूर स्वयं हम में बैठा था;
जो वैरी में, वही हमारे में बैठा था।

दैनिक जीवन की अनेक कठिनाइयों का अंकन कवि ने दैनिकी संवत् १९९९ में हुआ है। इस रचना में भी कवि की राष्ट्र-प्रेम की भावना की प्रधानता है । इसमें जीवन का अधिक तेजस्वी और सच्चा स्वर प्रकट हुआ है । जीवन-मृत्यु के संघर्ष के बीच भी आशान्वित होकर कवि कह उठता है :—

इस वसुधा को मैं प्यार करूँगा, तब भी,
इस पर जो यह उन्मुक्त असीम गगन है !
छोड़ूंगा अंचल नहीं धरा का तब भी
इसकी माटी निर्ज्वलन सिंधु सुस्नाता !

दैनिकी में कवि ने कवि-कर्म पर भी प्रकाश डाला है और अश्रुपात द्वारा करुणा उत्पन्न करने वाले कवि को ललकारा है —

करता है क्या ? अरे मूढ़, कवि यह क्या करता ?
उत्पीड़ित के अश्रु लिये ये कहां विचरता ?
दिखा-दिखा कर इन्हें न कर अपमानित उसको,
लौटा आ तू इन्हें उसी पाषाण-पुरुष को ।

नकुल संवत् २००३ महाभारत पर आधारित रचना होते हुए भी कवि के निजी मौलिक चिंतन के कारण छोटों की रक्षा का पक्ष लेकर खड़ी है :—

छोटे के लिये भी बड़े से बड़ा समर्पण
किया जाय जब, तभी धर्म-धन का संरक्षण

इन पंक्तियों में जहां युधिष्ठिर चार भाइयों में से नकुल को जीवित करने का अनुरोध मणिभद्र से करता है,वहां दूसरी ओर यही पंक्तियां राष्ट्रीय भावना का भी सुन्दर अंकन करती हैं कि बड़ों को छोटों के हित के लिये त्याग करना होगा :—

करना होगा बड़ा त्याग निज सुख जीवी को
होना होगा स्वयं समर्पित गांडीवी को ।

नोआखली संवत् २००३ में राजनीतिक परिस्थितियों का सजीव अंकन हुआ है। यह रचना भी गांधीवादी दर्शन के आधार पर लिखी गई है इसकी कई रचनाओंमें देश की जातीय तथा सांस्कृतिक एकता पर जोर दिया गया है।

कवि को अपने देश के प्राचीन गौरव के प्रति विशेष मोह रहा है। मैथिली बाबू की वाणी—'संसार को पहले हमीं ने ज्ञान शिक्षा दान की' तथा 'वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है'१ में सियारामशरण जी ने भी वाणी मिला कर यही गाया है :—

संसार भर में यह हमारा देश ही सिरमौर था ।
सौन्दर्य में सुख-शान्ति में ऐसा न कोई और था ।।
निष्पक्ष होकर मानते हैं बात यह साक्षर सभी ।
सर्वोच्च उन्नति के शिखर पर स्थित रहा था यह कभी ।।
बल बुद्धि वीर्य सभी हमारा हो चुका निःशेष है ।
जातीयता तो नाम को भी अब न हममें शेष है ।।२

और भी :—

साक्षी है इतिहास हमी पहले जागे हैं,
हो रहे जागृत सभी हमारे आगे आगे हैं ।३

सियारामशरण जी की रचनाओं का विचार पक्ष अत्यन्त सबल रहा है। वह प्रधानतः नीति-व्यंजक कवि हैं। उनका साध्य केवल विशुद्ध नैतिकता है और यही उनकी शाश्वत मानवता का मूलाधार है। उनका चिंतक व्यक्तित्व उनकी हर रचना से झलकता दिखाई देता है जो समस्त समस्याओं पर चिंतन के द्वारा अपने नए नए भावों को प्रस्तुत करने में अत्यंत सफल हुआ है। उनकी कविता में प्रत्यक्ष आत्मानुभूति का अभाव है। इसी से अत्यधिक भावपूर्ण विषय भी उनके हाथों में पड़कर वर्णन-प्रधान हो गए हैं। अधिक विवरण से काव्य में शुष्कता के समावेश का भय

१. भारत भारती—मैथिलीशरण गुप्त—पृष्ठ ७
२. हमारा हर्ष—सरस्वती खण्ड १४ संख्या ४—सन् १९१३
३. उर्दू कवि की पंक्तियों से तुलना कीजिये:—
सारे जहां पै जब था वहशत का अब्र तारी।
चश्मो चिरागे आलम थी सर जमीं हमारी ।।

रहता है, यही कारण है कि चिंतन प्रधान कवि काव्य की वास्तविक भूमि में रहने के लिये किसी न किसी उपाय का अवलम्बन लेते हैं। सियाराम शरणजी में विवरण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। जहां तक काव्य तत्व की रक्षा का प्रश्न है, उन्होंने अपनी रचनाओं और प्रतीकों में छोटे छोटे कथानकों का सहारा लिया है।

सियारामशरण जी का उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि नहीं, प्रत्युत कविता के माध्यम से सत्य का प्रतिपादन करना रहा है। कवि का नैतिक पक्ष हर स्थल पर जागरूक रहा है। मानुषी कहानी में कवि कहता है–'जो वैर है, विरोध है, कुत्सित है, उसका जीवन इतना भी नही, जितना मनुष्य की क्षणभंगुरता का। अमर वही है जो प्रेम है, सत्य है, सुन्दर है। तभी मृत्यु की छाया में इतना जीवन पहले से भी अधिक उज्ज्वल हो उठता है।[1]

पुनरुत्थान युग ने नारी को नए आलोक में देखा। नारी का नारीत्व इस युग के कलाकारों के हाथ में आकर निखर आया। सियारामशरण जी ने भी नारी के माता, बहन, पुत्री, पत्नी और प्रेयसी के रूपों को अपनाया है। नारी के लिये उनके मन में श्रद्धा और संकोच मिश्रित स्निग्धता पाई जाती है। यही कारण है कि वे नारी को रति भाव का आलम्बन बना कर प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। उनकी दृष्टि से नारी को बुभुक्षित नेत्रों से देखना मान-वांछित गुण नहीं है परन्तु वे यह भी म हैं कि नारी का एक प्रकृत रूप भी है, न रूप भी है जिसके शरीर और मन उपभोग की भूख है जो स्वयं उपभ बन कर भी तृप्ति पाती है :—

आकर सहसा किसी भ्रान्ति की संचारी
देवी का आरोप करेंगे यदि नारी में,
तो कैसे वह सहन कर सकेगी उस क्षण
जब कल छलना-रहित समय कर दे
मन को

गांधीवाद का प्रधान गुण संवेद शीलता इस युग के प्रधान कलाकारों विशेष जागरूक दृष्टिगत होता है जिस कारण वे अपराधी के प्रति भी सं दनशील हैं ताकि इस संवेदना सहारे वे अपने को मनोभावों का परिष्क करने में सफल हो सकें। सियारामश जी ने भक्ति भावना में अपने अहं का पू विसर्जन कर दिया था और उनमें पी की प्रधानता थी जिसके कारण संवेद शीलता उनमें प्रखर थी जिसके कार उनकी काव्य चेतना अत्यंत सूक्ष्म है औ उसमें गहराई की भी कमी नहीं है।

सियारामशरण जी धरती के गीतक हैं और उनके काव्य का प्रधानगुण साम जिकता तथा सांस्कृतिक चेतना रहा है।

(शेष पृष्ठ २० पर)

---

१. मानुषी—पृष्ठ— १७
२. नकुल

निश्चलदास का स्वप्न सिद्धान्त

डॉ० रणजीत सिंह

हिन्दी साहित्य में शुद्ध वेदान्त सम्बन्धी रचनाओं का नितान्त [अभा]व रहा है। इस अभाव की पूर्ति [उन्न]ीसवीं शताब्दी में आकर सन्त निश्चल [दास] जी ने की है। सन्त निश्चलदास जी "जगत् स्वप्नसमान" वाली सन्तों, [महा]त्माओं की बातें को युक्तियों द्वारा [सु]गम कराने का कार्य किया है। इनसे कबीर, नानक, दादू, तुलसी, सुन्दरदास [आ]दि सन्त "जगत् स्वप्नसमान" का [सिद्ध]ान्त हिन्दी साहित्य में स्थिर कर चुके [थे।] परन्तु "स्वप्न मिथ्या है" इस विषय [को] लेकर किसी भी सन्त ने हिन्दी में [लेख]नी नहीं चलाई। इसकी ओर सर्व[प्रथ]म निश्चलदास ने ध्यान दिया। ये [हरियाणा] जिला हिसार के धनाना गांव में [उत्प]न्न हुए थे। परन्तु इनका देहरा [जि]ला रोहतक के किहड़ौली ग्राम में है। [इन्ह]ोंने लगभग दस पुस्तकें लिखी हैं। इनका [जन्]म सं० १८४८ श्रावण कृष्ण अष्टमी [के] दिन हुआ था।

"स्वप्न मिथ्या है" इस गूढ़ विषय को सरल हिन्दी में प्रस्तुत करने के सन्त निश्चलदास ने एक अभाव की पूर्ति की है।

स्वप्न

'चेतन से भिन्न अज्ञान और उसका कार्य समस्त अनात्म पदार्थ, वे सब स्वप्न के समान मिथ्या हैं। इन विचारों से निश्चलदास जी के "विचार सागर" की षष्ठ तरंग का आरम्भ होता है। साधारण से साधारण लोगों में संसार को स्वप्न से उपमा देने की प्रवृत्ति बलवती हो रही है। स्वप्न किस प्रकार मिथ्या है, इसको सिद्ध करने से पूर्व स्वप्न क्या है, इसको समझ लेना आवश्यक है।

साधारणतया शरीर युक्त आत्मा की जागृत स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। माण्डुक्य उपनिषद् में स्वप्नावस्था का वर्णन इस प्रकार किया है।

स्वप्नस्थानोऽन्तप्रज्ञः....प्रविविक्तभुक्।

अर्थात् स्वप्न में मनोवृत्तियां भीतर की ओर रहती हैं। वेदान्त दर्शन के

"स्वाप्ययात्" सूत्र का भाष्य करते हुए कहा गया है :—

"तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान्पश्यन् मनः शब्दवाच्यो भवति" अर्थात् स्वप्न में केवल वासनाएं ही रहती हैं।

स्वप्न के पदार्थों का कर्त्ता मन ही है। इस बात की संपुष्टि बृहदारण्यक उपनिषद् में आए अनेक दृष्टांतों से होती है। इस उपनिषद् में लिखा है कि न रथ होता है न मार्ग होता है, परन्तु मन इनको बनाता है।१ ब्रह्म सूत्र से यह भी सिद्ध होता है कि स्वप्न में ही सष्टि (अभ्यन्तर) होती है।२ इन्हीं विचारों को निश्चलदास जी ने मान्यता दी है।

निश्चलदास जी के स्वप्न सम्बन्धी विचारों के अध्ययन से पूर्व हम "इनसाईक्लोपेडिया ब्रिटेनिका" में दिये गये स्वप्न सम्बन्धी विचारों को संक्षिप्त रूप से इस प्रकार कह सकते हैं-कि अरस्तु के मतानुसार इन्द्रियों द्वारा जो कुछ हम प्रत्यक्ष करते हैं, उसी के संस्कार शेष रह जाते हैं, इसी से स्वप्न होता है। प्लेटो के अनुसार स्वप्न का जागृत अवस्था सम्बन्धी मानसिक व्यापारों से सम्बन्ध है। हाब्स का सिद्धान्त था कि मनुष्य के शरीर के आन्तरिक अंगों के अव्यवस्थित होने के कारण स्वप्न होते हैं। उपरिलि विचारकों की स्वप्न सम्बन्धी मान्यत का खण्डन हमें "विचार सागर" में मि है।

निश्चलदास जी की स्वप्न सम्ब विचार धारा शोपेन होकर से क माला में मिलती है। शोपेनहार का वि है कि स्वप्न का कारण मस्तिष्क की उत्प्रेरणा है, जो नाड़ी प्रबन्ध द्वारा श के आन्तरिक अंगों की ओर से हुआ क है।३

स्वप्न और जागृत की आधार अ आधेयता कैसे मानी जाए यह सम बहुत जटिल है। बहुधा यह एक वि प्रश्न रहा है कि हम जागृत में स्वप्न अनुकरण करते हैं अथवा स्वप्न में जा का? इनमें से जबकि दोनों ही अवस्थ आत्मा की हैं तो मौलिक अवस्था किस माना जाए? यदि स्वप्न मौलिक अवस है, तो हमें यह मानने में बाध्य होना पड़ कि स्वप्न में जो कुछ प्रतीति होती है, उस कारण बाह्य पदार्थ नहीं किन्तु आन्तरि आत्मा ही है। इस परिस्थिति में जाग अवस्था गत संस्कार भी बाह्य पदार्थों बिना ही होंगे। यदि जागृत अवस्था मौलि है और स्वप्नउ सका अनुयायी माना है,

१. बृहदारण्यक ४-३-१०
२. ब्रह्मसूत्र—४।३।८॥
३. इनसाईक्लोपेडिया ब्रिटेनिका —इलैवन्थ एडीशन वो० ८॥

न गत प्रतीतियों का कारण भी आत्मा बाहर के कुछ पदार्थ होंगे।

इस समस्या का समाधान हमें (नि)श्चलदास जी के "विचार सागर" में (मि)लता है।

अद्वैतवाद में सर्वप्रथम गौड़पाद ने (जग)त् के लिये स्वप्न की उपमा दी।1. (तद)नन्तर शंकराचार्य ने पांच अवयवों का (आ)श्रय लेकर कहा :—

१—जाग्रददृश्यानां भावानां वैतथ्यम् (प्रतिज्ञा)।

२—दृश्यमानत्वात् (हेतु)।

३—स्वप्नदृश्यभावावत् (उदाहरण)।

४—यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं, तथा जागरितेऽपि दृश्यत्व-विशिष्टमिति (उपनय)

५—तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यस्मृतमिति (निगमन)

अर्थात्

१—जागृत अवस्था में देखी हुई वस्तुएं मिथ्या हैं।

२—क्योंकि वे दिखाई देती हैं।

३—जैसे स्वप्न में देखी हुई वस्तुएं।

४—जिस प्रकार स्वप्न में देखी हुई वस्तुएं मिथ्या हैं उसी प्रकार जागृत अवस्था में देखी गई वस्तुएं मिथ्या हैं।

५—जागृत में देखी वस्तुएं मिथ्या हैं।

अद्वैत वेदान्तियों का "दृश्यमानत्वात्" शब्द विचारणीय है। कोई वस्तु दिखाई देती है" अतः वह मिथ्या है, यह बात साधारण लोगों के गले कम ही उतरती है। अतः यहाँ 'दृश्यमानत्वात्' का यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि वह केवल स्वप्न में ही दिखाई देती है। उसका जागृत अवस्था में सर्वथा अभाव होता है। अतः वह मिथ्या है। स्वप्न के मिथ्यात्व के पक्ष में निश्चलदास जी के विचार निम्न प्रकार हैं :—

स्वप्न की उत्पत्ति और मिथ्यात्व :—

चेतन से भिन्न अज्ञान और उसका कार्य समस्त अनात्म पदार्थ हैं, वे सब स्वप्न की भांति मिथ्या हैं। इस विषय में उठी अनेक शंकाओं का निश्चलदास जी ने विद्वत्ता के साथ इस प्रकार समाधान किया है :—

१—स्वप्न विषय में सर्व प्रथम यह शंका उत्पन्न होती है कि जागृत में जिनका ज्ञान होता है, उनकी स्वप्न में स्मृति होती है। स्मृति ज्ञान के विषय जाग्रत के पादर्थ सत्य होने से उनका स्वप्न में स्मृतिरूप ज्ञान भी सत्य है। अतः स्वप्न के दृष्टांत से जाग्रत पदार्थों को मिथ्या कहना उचित नहीं।

२—स्वप्न का ज्ञान और उसके विषयीभूत पदार्थ सत्य हैं मिथ्या नहीं। क्योंकि स्वप्न में स्थूल शरीर को छोड़ कर लिंग शरीर बाहर निकल कर सच्चे

१. माण्डुक्य कारिका—२।१-५।।

गिरि समुद्र आदि को देखता है। अतः स्वप्न मिथ्या नहीं।

पहली शंका के उत्तर में निश्चलदास जी कहते हैं कि :--

यह हस्ती आगै खरयो, ऐसो होवै ज्ञान।
स्वप्न मांहि स्मृतिरूप सो, कैसे होय सुजान ।। (छटी तरंग)

यहां निश्चलदास ने स्मृति शब्द को आधार मान कर कहा है कि पूर्व अनुभूत पदार्थों का ज्ञान स्मृति कहलाता है। "यह हाथी सामने खड़ा है।" ऐसे ज्ञान को स्मृति नहीं कहते। यह तो प्रत्यक्ष है, अतः जाग्रत में देखे पदार्थों की स्वप्न में स्मृति नहीं होती, किन्तु हाथी आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। "जाग्रत के पदार्थों के ज्ञान के संस्कार से स्वप्न के ज्ञान की उत्पत्ति होती है। संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति कहलाता है। अतः स्वप्न का ज्ञान स्मृति है।" ऐसा मानने वालों को निश्चल दास जी कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक अभिज्ञा रूप और दूसरा प्रत्यभिज्ञा रूप प्रत्यक्ष। केवल इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है, वह अभिज्ञा प्रत्यक्ष है। पूर्व ज्ञान के संस्कारों से तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष कहते हैं। यहां पूर्व दृष्ट हाथी के के ज्ञान के संस्कार और हाथी से नेत्र का सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का कारण है अतः संस्कार जन्यज्ञान स्मृति रूप ही होता है यह नियम नहीं है। परन्तु जो इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना केवल संस्कार जन्य ज्ञान होता है, वह स्मृति ज्ञान कहलाता है।

निश्चलदास ज. व ं ; { ; : आदि का ज्ञान केवल संस्कारजन्य ज्ञान नहीं, किन्तु निद्रारूप, दोष जन्य है, हाथी आदि की भांति स्वप्न में इन्द्रियां भी कल्पित हैं अतः इन्द्रिय जन्य है। अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये पुनः निश्चलदास जी कहते हैं कि नींद से जाग कर मनुष्य ऐसा कहता है "मैंने स्वप्न में हाथी आदि देखे यह नहीं कहता कि मैंने स्वप्न में हाथी आदि का स्मरण किया। अतः जाग्रत के पदार्थों की स्वप्न में स्मृति नहीं होती। जाग्रत में जो देखे सुने पदार्थ हैं, उन्हीं का स्वप्न में ज्ञान होता है यह नियम नहीं, कन्तु जाग्रत में अज्ञात पदार्थों का भी स्वप्न में ज्ञान होता है। इस जन्म के ज्ञान के संस्कार ही नहीं अपितु दूसरे जन्म के संस्कारों से भी स्मृति होती है।

२--दूसरी शंका का उत्तर निश्चलदास जी इस प्रकार देते हैं :-

बाहरि लिंग जु नीकसै, देंह अमंगल होय।
प्रान सहित सुन्दर लसै यात लिंग हि जोय।
(छटी तरंग वि० सा०)

स्वप्न में लिंग शरीर के बाहर निकलने पर शरीर मरण अवस्था के समान अमंगल प्रतीत होना चाहिए, पर स्वप्न अवस्था में ऐसा नहीं होता। अत स्वप्नावस्था में लिंग शरीर स्थूल शरीर से बाहर नहीं होता। स्वप्नावस्था में प्राण बाहर न जाकर अन्तःकरण और इन्द्रियां ही बाहर जाती हैं इस विचार को भी निश्चलदास जी उचित नहीं कहते। क्योंकि स्थूल सूक्ष्म समाज में सब के स्वामी प्राण हैं। प्राणों के

निकले बिना अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियां बाहर नहीं निकल सकती। निश्चलदास जी इस बात को दूसरी रीति से भी कहते हैं कि अन्तःकरण और ज्ञान-इन्द्रियां भूतों के सत्वगुण के कार्य हैं उनमें ज्ञान-शक्ति है और क्रिया-शक्ति नहीं है। प्राणों में क्रिया-शक्ति है। अतः प्राणों के सहारे बिना अन्तःकरण आदि का बाहर जाना सम्भव नहीं ।

जाग्रत की स्मृति अथवा लिंग शरीर का बाहर निकलना आदि दोनों पक्षों का निराकरण करके निश्चलदास जी स्वप्न सम्बन्धी अपना सिद्धान्त कहते हैं :–

"याते अन्तर ऊपजै त्रिपुटी सकल समाज ।
वेद कहत या अर्थ कूं सब प्रमान सिरताज ।
(छटी तरंग)

स्वप्न में जाग्रत की भांति ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय यह त्रिपुटी होती है। अतः कंठ की नाड़ी के भीतर ही सब कुछ उत्पन्न होता हैं। यद्यपि स्वप्न के पदार्थ शुक्ति रजत आदि की भांति साक्षी भाष्य हैं। अन्तःकरण और इन्द्रियों का स्वप्न के ज्ञान में कुछ उपयोग नहीं। अतः ज्ञेय पर्वत आदि की ही उत्पत्ति स्वप्न में माननी चाहिए, ज्ञाता, ज्ञान, और इन्द्रियों की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं। तथापि जैसे स्वप्न में पर्वत आदि प्रतीत होते हैं वैसे इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण सहित स्थूल शरीर भी स्वप्न में प्रतीत होता है। अतः उसकी उत्पत्ति भी मान लेनी चाहिए।

अन्त में निष्कर्ष रूप से स्वप्न मिथ्य है इस विषय में हम निश्चलदास जी का निम्न दोहा प्रस्तुत करते हैं :—

साधन सामग्री बिना, उपज झूठ सो होय।
बिना सामग्री ऊपजै, यों तिहि मिथ्या जोय।
(छटी तरंग वि० सा०)

स्वप्न का उपादान और अधिष्ठान:-

स्वप्न का उपादान और अधिष्ठान क्या है? इस विषय पर निश्चलदास जी ने अपने ग्रन्थ "वृत्ति प्रभाकर" में सुविस्तार के साथ अपने विचार प्रकट किये हैं। इस सम्बन्ध में उठने वाली शंकाओं का निराकण करने के उपरान्त उन्होंने अपना मत कहा है। यहां इसी विषय पर विचार प्रस्तुत हैं। निश्चलदास जी तूलाज्ञान को स्वप्न की उपादानता मानने के पक्ष में हैं। उनकी विचार-धारा मे निद्रा अज्ञान की अवस्था विशेष है। क्योंकि आवरण विक्षेप शक्ति युक्त होना ही अज्ञान का लक्षण है, और स्वप्न काल मे जाग्रत द्रष्टा-दृश्य का आवरण तो अनुभव सिद्ध ही है। यह निद्रा ही स्वप्न के पदार्थाकार परिणाम को प्राप्त होती है। तूलाज्ञान आगन्तुकाकार विशिष्ट होने से सादि होता है और जाग्रत भोग के हेतुभूत कर्मों का उपराम ही जाना यही तूलाज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है। उपरोक्त विचार में जाग्रद् द्रष्टा और स्वप्न द्रष्टा का भेद मानने से स्वप्न के अनुभव की स्मृति जाग्रत्काल में होनी

असम्भव है। इस शंका को निश्चलदास जी तादात्म्य सम्बन्ध द्वारा दूर करते हैं और कहते हैं कि स्वप्न द्रष्टा जाग्रत-द्रष्टा के तादात्म्य वाला है, अतः एक के अनुभव की स्मृति दूसरे को हो सकती है। इस प्रकार स्वप्नाध्यास का उपादान निद्रारूप तुलाज्ञान है ।

स्वप्न के अधिष्ठान के विषय में "वृत्ति प्रभाकर" में लिया है कि स्वप्न का अधिष्ठान व्यावहारिक जीव जगत् न मान कर अहंकारावच्छिन्न चेतन को अधिष्ठान मानना उपयुक्त है। अपने पक्ष का समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि व्यावहारिक द्रष्टा भी दृश्य की भांति अनात्म होने से जड़ है। अतः व्यावहारिक द्रष्टा में सत्ता स्फूर्ति प्रदान रूप अधिष्ठानता सम्भव नहीं होती। अपितु स्वप्न प्रपंच का अधिष्ठान चेतन ही मानना उचित है। इसलिये जहां सर्प रजत का अधिष्ठान रज्जु शुक्ति कहा गया है वहां इस बात का अभिप्राय रज्जु अवच्छिन्न चेतन और शुक्ति अवच्छिन्न चेतन में होता है। अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन अथवा बिम्बरूप ईश्वर चेतन अहंकारानवच्छिन्न चेतन कहलाते हैं। एक अज्ञान में अनन्त विक्षेपों का हेतु अनन्त शक्ति होती है, परन्तु विरोधी ज्ञान से एक विक्षेप हेतु शक्ति का ही नाश होती है और ऊपर विक्षेप हेतु शक्ति शेष रहती है। अतः कालान्तर में उसी अधिष्ठान में पुनः स्वप्नाध्यास होता है। इस प्रकार जाग्रत् बोध से अतीत स्वप्न का बोध होने पर भी आगामी स्वप्न रूप विक्षेप हेतुक शक्ति अवशेष रहने से दिनान्तर में पुनः स्वप्नाध्यास होती है। अतः अहंकारानवच्छिन्न चेतन भी स्वप्न का अधिष्ठान हो सकता है। अहंकारावच्छिन्न चेतन और अहंकारानवच्छिन्न चेतन दोनों पक्षों को निश्चलदास जी ने समीचीन कह कर स्वप्न को अन्तर्देशस्थ ही माना है और कहा है :—

अहंकारानवच्छिन्न चेतन को स्वप्न का अधिष्ठान कहा जाये तो उसमें दो भेद हैं। अर्थात् अविद्या में प्रतिबिम्ब रूप जीव चेतन अथवा अविद्या में बिम्ब रूप ईश्वर चेतन दोनों अहंकारावच्छिन्न है और व्यापक होने से दोनों ही शरीर के अन्तः कहे जा सकते हैं। क्योंकि चेतन में बिम्ब प्रतिबिम्ब का भेद कोई स्वाभाविक नहीं है। यदि यह भेद चेतन में स्वाभाविक रूप से रहता हो तो अन्तर्देशस्थ एक ही चेतन में दो धर्मों की आश्रयता सम्भव नहीं होती। परन्तु यथार्थ स्थिति तो यह है कि बिम्ब प्रतिबिम्बता रूप ईश्वर-जीवता तो उपाधिकृत है और अज्ञानता से उभयविध व्यवहार होता है।

इस प्रकार यदि उस एक ही अन्तर्देशस्थ चेतन में स्वप्नाध्यास की अधिष्ठानता का अवच्छेद अन्तःकरण माना जाए, तब तो अहंकारावच्छिन्न चेतन में

अधिष्ठानता सिद्ध होती है। यदि [illegible] को उस अधिष्ठानता का अवच्छेदक न समझा जाए तो अहंकारावच्छिन्न में अधिष्ठानता सम्पन्न होती है। इसके लिये निश्चलदास जी विवक्षा का आश्रय लेते हुए कहते हैं कि एक ही देवदत्त में पुत्र की दृष्टि से **विवक्षा** हो तो उसे पिता कहते हैं और देवदत्त के जनक की दृष्टि से विवक्षा हो तो उसे पुत्र कहते हैं। विवक्षा भेद से एक ही देवदत्त में पितृ-पुत्रता रूप विरुद्ध धर्मों के व्यवहार के समान अन्त-र्देशस्थ एक ही चेतन में अहंकारावच्छिन्नत्व और अनवच्छिन्नत्व बिम्बत्व और प्रति-बिम्बत्व रूप विरुद्ध धर्मों का व्यवहार सम्भव है। इस प्रकार अविद्या में प्रतिबिम्ब रूप जीव में चेतन में अथवा बिम्ब रूप ईश्वर चेतन में स्वप्न की अधिष्ठानता मान कर अहंकारावच्छिन्न चेतन में स्वप्नाध्यास माना जाए तब भी शरीर देशस्थ अन्तः चेतन प्रदेश में ही स्वप्न की अधिष्ठानता माननी उचित है।

यह अधिष्ठान ईश्वर चेतन न होकर जीव चेतन ही मानना अधिक युक्ति-युक्त है। क्योंकि यह नियम है कि [illegible] अध्यास अपरोक्ष अधिष्ठान में ही हो सकता है। यदि ईश्वर चेतन को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान माना गया तो शुद्ध ब्रह्म के समान ईश्वर चेतन का ज्ञान भी केवल शास्त्र से परोक्ष रूप ही होता है। अत अधिष्ठान की अपरोक्षता के अभाव से अध्यास की अपरोक्षता असम्भव होगी। जीव चेतन ही स्वप्न का अधिष्ठान है यह बात संक्षेप शारीरिक में सर्वज्ञात्म मुनि ने भी किसी न किसी रूप में स्वीकार की है। क्योंकि संक्षेप शारीरिक में अध्यास की अपरोक्षता के लिये अधिष्ठान की त्रिविध अपरोक्षता मानी गई है। उनमें से सर्प-रजतादि अध्यासों की अपरोक्षता की उपयोगी रज्जु शुक्ति आदि की अपरोक्षता इन्द्रियजन्य होता है। गगन में नीलता आदि अध्यास की अपरोक्षता का उपयोगी गगन की अपरोक्षता मन से होती है तथा स्वप्नाध्यास की उपयोगी अधिष्ठान की अपरोक्षता स्वभाव सिद्ध है।

● ●

(शेष पृष्ठ १३ का)

भारतीय संस्कृति के प्रति असीम श्रद्धा ने कवि को देश गौरव के भाव से प्लावित रखा है और गांधीवाद के दृष्टिकोण ने कवि की सम्पूर्ण काव्य साधना को शुद्ध मानवीय बना दिया है। हम कह सकते हैं कि उनका मूल भूत जीवन दर्शन विशुद्ध मानववाद है। वे प्रेय को छोड़ कर श्रेय की साधना में रत रहे हैं। उनके काव्य को पढ़ कर मन आत्मद्रव से भीग कर एक स्निग्ध शांति का अनुभव करता है।

○ ○ ○

आधुनिक युग का युगद्रष्टा :
प्रेम-गीत का कवि डांटे

अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार

भारत और इटली के मध्य अनेक भौगोलिक समानताएं हैं। एशिया के दक्षिण में भारत है, यूरोप के दक्षिण में इटली है। भारत की उत्तरी सीमा गिरिराज हिमालय से सुरक्षित है, इटली की उत्तरी सीमा पर एल्प्स पर्वत है। भारत एक प्रायः द्वीप है, इसके तीन ओर समुद्र हैं, इटली भी एक प्रायः द्वीप है और इसके तीनों ओर समुद्र का वलय है। इन दोनों देशों में महासागर के समान विशाल हृदय के और पर्वतराज के समान उत्तुंग प्रतिभा के महाकवि हुए हैं।

डांटे भी इसी कोटि का महाकवि हुआ है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध प्रेमी कवि शैली ने इस कवि के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था : प्राचीन और नवीन जगत् को जोड़ने वाले काल-प्रवाह पर भव्य पुल, जर्मन कवि गेटे अंग्रेज़ी के इस युग के महाकवि और आलोचक इलियट और भारत के कवीन्द्र रवीन्द्र सदृश महा-कवियों ने इस महाकवि के प्रति स्तुति सुमनांजलि की वर्षा की है। डांटे की ७वीं जन्म शताब्दी विश्व भर में मनाई जा रही है। अगले वर्ष इस समारोह की समाप्ति होगी। रोम के 'केपीटानिल हिल' में उत्सव की समाप्ति होगी।

डांटे का जन्म फ्लोरेंस के सम्भ्रान्त कुल में हुआ, यह निर्विवाद है। परन्तु इसकी जन्म तिथि अज्ञात है। २२ मई १२६५ जन्म तिथि मान ली गई। इस वर्ष इटली के स्कूलों में २२ मई को ही डांटे दिवस मनाया गया। परन्तु कुछ लोग ३० मई १२६५ बताते हैं। बात यह है कि महाकवि ने अपने जन्म के बारे में स्वतः लिखा है, उसका जन्म उस समय हुआ जब सूर्य मिथुन राशि में था। इस हिसाब से डांटे का जन्म १८ मई से १७ जून के मध्य किसी दिन होना चाहिए। फलतः भक्तों ने अपनी श्रद्धा के अनुसार इस महाकवि का जन्म दिन भी निश्चित कर लिया है।

डांटे के जन्म के समय ग्राज का इटली [दे]श कहीं नहीं था। इटली ग्रनेक छोटे [छो]टे राज्यों में विभक्त था। उनमें ग्रनेक [ग]णराज्य भी थे। फ्लोरेंस भी एक नगर [र]ाज्य था। फ्लोरेंस एक सुन्दर नगर ही [न]हीं था, यह एक व्यापारिक नगर भी था। [अ]त:पुराने सामन्तों, सरदारों ग्रौर जमींदार [व]र्ग का प्रभाव क्षीण हो रहा था। मध्यम-[व]र्ग ग्रौर व्यापारी वर्ग का उदय हो [र]हा था। डांटे इस युग का स्वप्नदर्शी [ग्र]ौर युगद्रष्टाकवि था। विज्ञान निष्ठ [पु]नरुजीवन के ग्रान्दोलन मे यूरोप [ग्र]ान्दोलित था। फ्लोरेंस से भी इसकी [ल]हरें टकरा रही थीं। इस ग्राधुनिक युग [क]ा जयगान करने वाला पहला महाकवि [डां]टे है।

महाकवि ग्रलघिएरी डांटे का बालपन [सु]ख से बीता। किन्तु बालक शीघ्र ही [मा]तृहीन हो गया। जब वह १८ वर्ष का [हु]ग्रा, तो उसका पिता भी स्वर्गवासी हो [ग]या। लेकिन इससे डांटे की पढ़ाई में कोई [ग्र]न्तर नहीं ग्राया। उस समय की परिपाटी के ग्रनुसार उसने लेटिन का गम्भीर ग्रध्ययन किया। लेटिन का ज्ञान भण्डार उसने तरुणाई में ही प्राप्त कर लिया। इसके कारण उसकी काव्य प्रतिभा का विद्वत्ता के साथ संगम हुग्रा। चित्रकला ग्रौर काव्य कला का भी डांटे ने ग्रभ्यास किया। किन्तु डांटे का बनाया चित्र ग्रभी तक कहीं मिला नहीं है। इससे उसका व्यक्तित्व बहुमुखी हो गया। वक्तृत्व कला ग्रौर तत्व ज्ञान की भी शिक्षा पाई।

डांटे के सारे जीवन को एक बालिका ने जैसा प्रभावित किया, वह ग्रद्भुत है। डांटे इस समय नौ वर्ष का था। वह ग्रपने पिता के साथ एक पार्टी में गया था। वहां एकत्र बच्चों में 'बीएट्रिस पोर्टीनारी' नामक एक बालिका डांटे को दिखाई दी। बालिका का वय उस समय सात साल का होगा। उस बालिका के लावण्य ने डांटे को मुग्ध कर दिया। इसकी स्मृति की ग्रमिट रेखाएं उसके हृदय पट पर ग्रंकित हो गई। इस सम्बन्ध में डांटे ने बाद में लिखा: वह मूर्तिमान गरिमा ग्रौर प्रशंसनीय दिव्य मूर्ति थी। डांटे ने यह भी लिखा कि होमर का यह कथन उसके विषय में सर्वथा सत्य है। वह साधारण मानव की बेटी नहीं मालूम होती, वह तो साक्षात् देव-पुत्री प्रतीत होती।

महाकवि ने उसके प्रति ग्रनेक मधुर प्रेम गीत लिखे हैं। "वीतानूग्रोवा" नामक काव्य में उसके दिव्य प्रभाव की प्रेम-कथा का वर्णन है। बीएट्रिस ही उस को 'डिवाइन कमिडी' में मिलती है, ग्रौर उसका पथ-प्रदर्शन करती है। बीएट्रिस का विवाह एक ग्रन्य पुरुष एक बंकर से हुग्रा, ग्रौर डांटे का विवाह एक दूसरी लड़की से, किन्तु बीएट्रिस डांटे की प्रेयसी बनी रही ग्रौर उसके कल्पना लोक में सदा व्याप्त रही। यद्यपि बीएट्रिस की मृत्यु

२५ वर्ष की आयु में ही हो गई थी, और डांटे इसके बाद और बत्तीस साल जीवित रहा, परन्तु उसके अनुराग में कोई अंतर नहीं आया। महाकवि डांटे में अनेक भारतीय समीक्षकों ने राधाकृष्ण के प्रेम को देखा है, और अनेकों ने वैष्णव-प्रेम को यहां पाया है।

सात सौ साल बाद डांटे आधुनिक जगत् के लिये एक विद्रोही कवि के रूप में आविर्भूत हुआ है। मध्ययुग के अन्त ने इस की घोषणा की। डांटे ने राजाओं और पोप की कड़ी आलोचना की थी। उसका "मोनो र्की" ग्रन्थ उसके मरने के आठ साल बाद रोम में पोप जान २२वें के आदेश से जलाया गया। उसके आदेश का पालन किया गया और बोलोगना के बाज़ार में वह जलाया गया। इस मौके पर कुछ ने सुझाव दिया कि उसकी कब्र खोदी जाय और वहां से हड्डियां निकाल कर इस पुस्तक के साथ जलाई जायं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि डांटे तात्कालिक शासकों और धर्म गुरुओं की दृष्टि में कितना बड़ा विद्रोही था।

'डिवाइन कमेडी' और 'न्यू लाइफ' का लेखक विद्रोही था, सहसा इस पर विश्वास न होगा। किन्तु यह न भूलना चाहिए कि उसका आधा जीवन निर्वासन में बीता और मरा भी फ्लोरेंस से दूर। यद्यपि मोटर और रेल ने वह दूरी बहुत कम कर दी है।

डांटे फ्लोरेंस में जन्मा था। नगर राज्य में एक प्रतिभाशाली नागरिक का शासक बन जाना स्वाभाविक है। १२९५ में वह राजनीति में आया। ६ व्यक्तियों की शासक परिषद् का भी एक बार सदस्य चुना गया। उसने अपने सैनिक कर्त्तव्य का पालन घुड़सवार के रूप में किया। दो लड़ाइयों में वह लड़ा भी।

फ्लोरेंस का नगर राज्य दो पार्टियों के कलह का रणक्षेत्र बना हुआ था। इनके नाम थे 'ब्लेक' और 'ह्वाइट'। ब्लेक पार्टी में पुराने युग के पोषक सामन्त और सरदार लोग थे। ह्वाइट पार्टी व्यापारियों की थी। डांटे ने सामान्यजनों का पक्ष लिया। ३६ साल की आयु में डांटे ने राजनय सेवा में प्रवेश किया। तात्कालिक पोप बोनफेस अष्टम फ्लोरेंस नगर राज्य की स्वाधीनता को सीमित कर रहा था। वह ब्लैक पार्टी के नेता कोसो डोनेरी का समर्थक था। ब्लेक पार्टी बैंकरों और असन्तुष्ट-भूस्वामियों की थी। डांटे ने पोप की कड़ी आलोचना की थी कि वह धर्म और राजनीति को मिला रहा है। डांटे पोप को इससे विरत करने के उद्देश्य से रोम गया था। रोम से जब वह वापस लौट रहा था, तो उसने सुना कि नगर राज्य में राज्य-विप्लव हो गया है। पोप की समर्थक पार्टी ब्लैक के हाथ में राज्य सूत्र आ गए हैं। उसको नए शासकों ने देशनर्वासन और भारी

जुर्माने का दण्ड दिया। उसका घर भी लूट लिया गया। इस पर वह फ्लोरेंस नहीं गया। उसकी अनुपस्थिति में उसको जीवित जला कर मारने का दण्ड दिया गया। मिलान के ड्यूक बार्टोलोमम ओ डेला स्काल और बेरोना के लार्ड ने सर्वप्रथम उसको आश्रय दिया। उसका देश-निर्वासन का जीवन इस प्रकार प्रारम्भ हुआ। इसका अन्त उसके जीवन के साथ ही हुआ।

परन्तु निर्वासन-काल में भी महाकवि फ्लोरेंस का ही स्वप्न लेता रहा। उसने फ्लोरेंस की निन्दा भी की, उसको कोसा भी और लिखा कि बुरे लोगों का नगर है। बाद में फ्लोरेंस ने निर्वासितों को क्षमादान देने की घोषणा की। पर यह सशर्त थी। जुर्माना भरना पड़ता था। डांटे को यह शर्त स्वीकार नहीं थी। फ्लोरेंस के महान्तम पुत्र ने अपने नगर में पुन प्रवेश करने से इन्कार कर दिया।

डांटे की मृत्यु के कई सौ साल बाद फ्लोरेंस के लोगों ने "होली क्रास" चर्च में एक बड़ा मकबरा डांटे के लिये बनाया। किन्तु रावेन्ना के लोगों ने डांटे के अवशेष को अपने यहां से ले जाने नहीं दिये। उनका ज़वाब था: फ्लोरेंस को जब जीवित महाकवि नहीं चाहिए था तो वह अब मृत को पाने का क्यों आग्रह कर रहा है। अतः डांटे का मकबरा आज भी खाली है। डांटे की ७वीं जन्म शताब्दी उत्सव का प्रारम्भ अवश्य फ्लोरेंस से हुआ, परन्तु विद्वानों की कांग्रेस का अधिवेशन बाद में रावेन्ना में हुआ। विद्वानों की इस सभा का सभापतित्व प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कवि इलियट करने वाला था, परन्तु उसके स्वर्गवासी हो जाने के कारण नोबुल पुरस्कार विजेता फ्रेंच कवि सेटजान पर्स ने प्रारम्भिक और उद्घाटन भाषण दिया। उत्सव 'प्लज़ा डेलिया सिगनोरिया' नामक भवन में हुआ, जिसका निर्माण १२९८ से १३१४ के मध्य में हुआ था।

डांटे ने निर्वासन में बहुत अधिक लिखने का कार्य किया। लेकिन लेखक डांटे का इटालियन जनता से सम्पर्क टूट जाने से उसको सच्ची इटालियन भाषा जानने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। वह ऐसी इटालियन भाषा में कविता करना चाहता था जो लेटिन का स्थान ले सके, जो विद्वानों, और साधारण जनों दोनों के मध्य समादृत हो। लेटिन उस समय अमीर, पादरी और विद्वान् लोग पढ़ते थे। डांटे सामान्य जनता के वास्ते लिखना चाहता था और कविता करना चाहता था। डांटे संगीत का भी ज्ञाता था। कर्णमधुर शब्दों को पहचानने की अद्भुत क्षमता रखता था। प्रतिदिन की बातचीत और व्यवहार के शब्दों में से ललित सुन्दर और कर्ण मधुर शब्दों को उसने अपनी कविता के लिये चुना। इस रीति से उसने आधुनिक शक्तिशाली, गतिमान इटा-

लियन भाषा को जन्म दिया। अंग्रेज़ों का कहना है कि एक आज के अंग्रेज़ को शेक्सपियर को पढ़ने और समझने में जो कठिनाई का सामना करना पड़ता है, वह एक इटालियन को डांटे को समझने और पढ़ने में नहीं होती। क्योंकि डांटे ने जिन शब्दों का व्यवहार किया था, और जिस अर्थ में किया था, वे शब्द आज भी इटालियन जीवन-व्यवहार में प्रचलित हैं। डांटे इस लिए आधुनिक इटालियन भाषा का जन्मदाता, निर्माता और नये युग का कवि माना जाता है, यद्यपि ऐतिहासिक काल की दृष्टि से वह मध्य युग था।

डांटे की लेखक और कवि के नाते ख्याति थोड़ी ही अवस्था में हो गई थी। इस ख्याति ने ही उसको राजनीति में भाग लेने के लिये प्रेरित किया। 'मानार्की' पर उसने एक पुस्तिका लिखी। इसमें उसने सम्राट् और पोप के मध्य चलते रहे शीत-युद्ध की निन्दा की। पोप और सम्राट् के बीच शीत-युद्ध चलने से यूरोप दो भागों में विभक्त हो गया था। डांटे ने प्रश्न किया, दोनों साथ-साथ क्यों न रहें? क्यों नहीं सह-जीवन और सह-अस्तित्व का जीवन दोनों बितावें? दोनों में एक आध्यात्मिक क्षेत्र का और दूसरा लौकिक क्षेत्र का प्रभु है, तब क्यों नहीं एक साथ शान्ति से रह सकते हैं? डांटे का कहना था, कि सम्पूर्ण यूरोप एक न्यायपूर्ण शासन में रहे।

"कोमेडी" में भी उसकी राजनीति विचारधारा के दर्शन होते हैं। इस पुस्तक के साथ 'डिवाइन' शब्द 'डांटे' के भक्तों ने जोड़ा है। महाकवि ने यह विशेषण अपने अमर काव्य को नहीं दिया था। उसकी मृत्यु के २२४ साल बाद एक प्रकाशक ने दिया। डांटे को इस काव्य ने अमर कर दिया है। यह तीन भागों में विभक्त है। इसमें कुल १०० कैंटो (साहित्यिक गीत) हैं। इस काव्य का ५० भाषाओं में अनुवाद हो गया है।

काव्य अमर सन्देश देता है। आत्मा की पुकार सुनो और उसका अनुसरण करो। समाज का एक उपयोगी सदस्य होने के वास्ते लोभ, मोह, ईर्ष्या-प्रेम से ऊपर उठो।

महाकवि ने व्यवस्था, शांति, और उत्तम नागरिकता की आवश्यकता बताई। महाकवि ने संयुक्त विश्व की कल्पना की और इस कारण वह पहला आधुनिक यूरोपियन माना जाता है। यदि यही बात डांटे को आधुनिक बताती है तो वैदिक ऋषि को, जिसने हज़ारों साल पहले संयुक्त विश्व की कल्पना की थी:

"यत्र विश्वं भवस्येकनीड़म्"

आधुनिक क्यों न माना जाय?

डांटे की इस काव्य की हस्तलिखित ५०० प्रतियां उसके मरने के थोड़े ही दिनों बाद बिक गईं। यह बिक्री की सर्वोत्तम पुस्तक पाई गई। मिशेलैंगले ने "लास्ट

जजमैंट" को चित्रों में चित्रित किया। बोट्रीसेली और गुस्टाव डोरे भी उसकी सजीव और शक्तिशाली कविता से प्रभावित हुए। आज हजारों इटालियनों ने डांटे के इस काव्य को कण्ठस्थ कर रखा है। प्रतिवर्ष इसकी ८०,००० प्रतियां बिकती हैं। फ्लोरेंस में संगमरमर के पत्थरों पर उसकी सूक्तियां अंकित की गई हैं। ये लेख-पट यात्री को स्मरण कराते हैं कि कभी डांटे इन सड़कों पर कविता गुनगुनाता हुआ घूमता था।

फ्लोरेंस के गवर्नर के राजमहल की दीवार पर डांटे के समसामयिक चित्रकार ने उसका चित्र बनाया था। इससे मालूम होता है कि डांटे ऊंचे कद का एक व्यक्ति था। यह चित्र बताता है कि डांटे का चेहरा पतला-दुबला, लम्बा और क्षीण था, उसकी नाक लम्बी, पर असुन्दर थी, चेहरा अहंकारी था वह फूला हुआ लम्बा चौड़ा गाऊन पहनता था। सिर पर वह "स्टाकिंग-टोपी" पहनता था, जोकि उस समय इटली के विद्वान लोग पहनते थे। वह जीवन में दुखी और चिन्तित और विचारक दिखाई देता था। उसके परिचितों ने उसको प्रसन्न और उत्फुल्ल बदन नहीं देखा। उसका काव्य बताता है कि वह दृढ़ संकल्प का एक शक्तिशाली व्यक्ति था। वह झुकना नहीं जानता था। समझौतावादी भी नहीं था। दृढ़ विचारों और गर्म मिजाज का आदमी था।

डांटे के सर्वोतम गीत निन्दात्मक और गाली वाले हैं। पोप, नरेशों और नागरिक सब पर उसने कोड़े बरसाये हैं। डांटे में हंसाने की भी शक्ति थी। वह विनोदी प्रकृति का था। मधुर प्रेम से उसका सारा जीवन प्रेम-विभोर था। उसकी एक कविता की पहली पंक्ति है: "डोनने श अवेते इंटेलेत्तो अ अमीरे"--प्रेम-बुद्धि की महिला में।

'डिवाइन कमिडी' को यात्री का काव्य भी कहा जाता सकता है। इस यात्रा का प्रारम्भ १३०० ई० में हुआ और यात्रा सात दिनों में ही समाप्त हो गई।

यात्रा के प्रथम भाग में उसका पथ-दर्शक वर्जिल का भूत है। लेटिन के इस महाकवि का डांटे बहुत बड़ा प्रशंसक था। डांटे बहुत पहले मरे रोमन पार्श्वचरों के साथ नरक में प्रवेश करता है। नरक भयानक है। चारों ओर आग लगी हुई है। चारों ओर से करुण, हृदय विदारक चीत्कारें आ रही थीं, दुःख भरी आहें सुनाई देती थीं, पछतावों की आवाजें आ रही थीं। इस भयानक चित्र की पार्श्व भूमि में नदियां बह रही हैं, चट्टानें खड़ी हैं, विस्तृत मरुभूमियां हैं, और आग की लपटों के बीच जलता एक शहर है।

कथाकार का यहां अद्भुत शिल्प है। कवि की प्रतिभा ने यहां जीवन फूंक दिया है। भवभूति छाया सीता में प्राण नहीं डाल सका था, किन्तु डांटे ने अपने इस साम्राज्य को जीवित कर दिया है। डांटे यहां जिज्ञासु, प्रश्नकर्त्ता, रिपोर्टर के समान दिखाई देता है। वह गहराई में उतरता है। दुःखी आत्माओं से बात करना बन्द कर देता है। उनके साथ वह शान्ति के साथ विचार-विनिमय करता है। भेंट करता है। उनके विचार लिख लेता है। डांटे यहां उन बहुत से पापियों के चरित्र का चित्रण करता है, जो उस समय इटली के जीवन में प्रसिद्ध थे। डांटे को जिन राजकुमारों, नरेशों और राजनीतिज्ञों के प्रति घृणा थी, उनका उसने साहस के साथ चित्रण किया है।

नरक में कुछ पापी उबलती खौलती कढ़ाई में पड़े हुए दिखाई देते हैं, कुछ पेड़ों की गांठदार डालों के साथ बंधे हुए हैं। डांटे जब एक वृक्ष की टहनी तोड़ता है, तो वहां से रक्त की धारा बह निकलती है और चीत्कार की ध्वनि उठती है। दम्भी लोग रेंगते हुए और भिक्षुक घसीटे जाते हुए दिखाये गए हैं।

अब साहसी डांटे के दर्शन होते हैं। वह पृथ्वी के मध्य में है। यहां शैतान दिखाई देता है। वह काला भूत है, पर हिंमावृत है। पिछले दरवाज़े से वह नरक से बाहर आता है। शैतान पर ही चढ़ कर सुरंग से पार होता है। पृथ्वी के दूसरे छोर पर पहुंच जाता है। यहां समुद्र से निकलते पाप-प्रक्षालन को देखता है।

डांटे यहां रुका नहीं। यदि वह नरक का ही चित्रण करता, स्वर्ग को भूल भी जाता, तो भी उसके काव्य में कोई अन्तर न आता। पर यात्रा अधूरी रहती। काव्य का दूसरा भाग पाप प्रक्षालन (परगेटरी) का है। इसमें वह ईडन के बाग में आता है। यहां उसका कोई सुन्दरी नाम ले रही है। यह सुन्दरी और कोई नहीं है, उसकी चिर प्रेयसी 'बिएट्रिस' है। स्वर्गीय प्रेम की प्राप्ति पापों के धुल जाने पर होती है, यह कवि ने इस रीति से दिखाया है। तीसरा भाग स्वर्ग का है। यहां आलोक है, संगीत-स्वर है। दोनों एक साथ उड़ते हैं। उड़ते हुए दोनों नौ लोक पार करते हैं। नौ लोकों को पार करने के बाद 'बीएट्रिस' भी साथ छोड़ जाती है। डांटे अकेला ही दसवें लोक में पहुंचता है। 'बीएट्रिस' के रूप में डांटे परमात्मा के दर्शन करता है। यहां उसकी प्रतिभा का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है। कविता अत्यन्त ओजपूर्ण है। वह विश्वास दिलाता है कि प्रेम में सूर्य और लोकों को घुमाने की शक्ति है।

बीएट्रिस डांटे को सेंट बर्नार्ड सुपुर्द करके अन्तर्धान होती है। सेंट बर्नार्ड की कृपा से मुमुक्षु यात्री को सत्य ज्ञान की

प्राप्ति होती है और विश्व रूप का दर्शन होता है। डांटे कह उठता है: विश्व ग्रन्थ के सहस्रों पन्ने विश्व में सर्वत्र बिखरे हुए हैं। ये सब पन्ने ईश्वरी प्रेम के सूत्र में व्यवस्थित रूप से ग्रथित हैं।

जीवात्मा का इस प्रकार परमेश्वर से साक्षात्कार होता है और स्वर्ग की प्राप्ती होती है। यह आत्म-सुख लाभ होने से इसका नाम डांटे ने 'कोमेडी' दिया है।

प्रवास में नायक की पृथ्वी-लोक के अनेक प्रसिद्ध पुरुषों से भेंट होती है। इन मुलाकातों के प्रसंग में डांटे ने तात्कालिक इटली के राजनीतिक और धार्मिक जीवन का चित्रण किया है। इस कारण यह महाकाव्य मध्ययुग का एक वैचारिक ज्ञानकोष हो गया है। डांटे की कल्पना की उड़ान इसमें है। उसकी भावना का विलास प्रत्यक्ष होता है और उसका ज्ञान-विलास पाण्डित्य भी यहां है। यह त्रिवेणी संगम है। निर्वासन में एकाग्र मन से चिन्तन करने के बाद डांटे ने इस महाकाव्य का निर्माण किया है।

काव्य की दृष्टि से यह ललित है। रम्य वर्णनों के अनेक उपवन काव्य में है। इस परिपूर्ण भावना का मधुर गुंजन है। उदात्त विचारों का प्रवचन भी इसमें है। इस काव्य का सार है: परमेश्वरी प्रेम का मार्ग प्रेयसी की कृपा की राह होकर जाता है। जैसे कहा गया है:

"हक़ीक़ी इश्क की इश्के मजाजी पहिली मंजिल है।"

डांटे का प्रणय-काव्य इसी सत्य को कह रहा है। उद्भासित कर रहा है। इसके बाद डांटे बहुत समय जीवित नहीं रहा। उसके मरने के तुरन्त बाद इटली के विश्व विद्यालयों नें इस काव्य का 'युग का महत्त्वपूर्ण नैतिक और धार्मिक ग्रन्थ' कह कर अभिनन्दन किया। मरने के बाद आत्मा कही जाती है, यह डांटे अपने पाठकों को विश्वास दिला गया है। डांटे के काव्य में वर्णित वर्जिल बुद्धि का प्रतीक है और बीएट्रस श्रद्धा और विश्वास का प्रतीक है। इस दृष्टि से इस काव्य को पढ़ने वाले आज भी इस महाकाव्य का अमर सन्देश सुन पाते हैं।

डांटे ने जिस युग का चित्रण किया था, वह भविष्य का था। वह स्वतः उस युग का प्राणी नहीं था। मानवता का युग उसके मरने के बहुत सालों के बाद आया। अन्धकारपूर्ण मध्यर्युग के बन्धनों को तोड़ कर विजयी मानव का उदय गान करने वाला पहला महकवि डांटे है। अतः इस महाकवि का यूरोप ७वीं जन्मशताब्दी धूम-धाम से एक वर्ष तक मना रहा है।

उदयकालीन बंगला नाटक साहित्य

डॉ० सत्येन्द्र कुमार

बंगला नाटक की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में विशेष मतभेद नहीं दिखाई देता। उसका उद्भव अंग्रेज़ी साहित्य एवं सभ्यता के संपर्क से हुआ। अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य की तरह मध्य युग में, बंगला साहित्य में भी नाटक का अभाव ही रहा। यात्राओं तथा नाट्य-गीतों आदि की एक समृद्ध परम्परा अवश्य मिलती है, और उसका सामान्य जनता में प्रचार भी पर्याप्त था परन्तु उससे आधुनिक बंगला नाटक की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। कलकत्ता अंग्रेजों की सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र था, वहां पर प्राय: अंग्रेज़ी नाटक खेले जाते थे। उनका अलग विकसित रंगमंच था जिसे देख कर बंगाली कलाकारों को प्रेरणा मिली और वे इस ओर उन्मुख हुए। वस्तुत: नई शिक्षा के प्रकाश में उन्हें यात्राओं एवं नाट्य-गीतों में कला एवं सुरुचि का अभाव दिखाई दिया। इसी पृष्ठभूमि में कलकत्ता का विलायती रंगमंच तथा अंग्रेज़ी नाट्य-साहित्य प्रेरणा का स्रोत बना।१ यहां पर उन्हें न तो परम्परा का आग्रह मिला और न नियमों का रूढ़िग्रस्त स्वरूप। ऐसे स्वतंत्र एवं कलापूर्ण वातावरण में बंगला नाटक ने जन्म लिया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि तत्कालीन नाटककार अपनी परिस्थितियों से अछूता न रह सका। इसी लिये संस्कृत नाटक, यात्राओं तथा गीत-नाट्य से प्रभावित होकर ही वह नए नाटक को प्रस्तुत कर सका।२ इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता के आगमन से ही बंगला नाटक का सृजन हुआ पर उसमें प्रादेशिक स्पर्श का परिचय स्पष्ट मिल जाता है। बंगला का प्रथम मौलिक नाटक 'कीर्ति विलास" (१८५२ ई०) इसका प्रमाण है। इस नाटक पर शेक्सपियर का विशेष प्रभाव होते हुए भी इसके रचयिता जि०सि०

१. आशुतोष भट्टाचार्य, 'बांगला नाट्य साहित्यर इतिहास,' पृ० ४१

२. डा० सुकुमार सैन, 'बांगला साहित्यैर इतिहास' (द्वितीय खण्ड) पृ० १७-१८

गुप्त को नाटक लिखने की प्रेरणा यात्राओं से ही मिली ।१ इसी तरह ताराशरण शिकदार ने अपने 'भद्रार्जुन' (१८५२ ई०) का पर्याप्त आधुनिकीकरण किया। यहां भी यात्राओं का प्रभाव मिल जाता है।२ अतः उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि बंगला नाटक का उदय संगम स्थल पर हुआ२ नए नाट्य विधान से प्रभावित होता हुआ भी उस युग का नाटककार प्राचीन आदर्शों से अलग न हो सका। संस्कार और परिस्थिति का मिलन यहां प्रत्यक्ष दिखाई देता है। बंगला नाटक का विकास निम्न धाराओं में हुआ—

(क) पौराणिक नाटक
(ख) ऐतिहासिक नाटक
(ग) सामाजिक नाटक
(घ) अनुवाद।

इस युग की सब से समृद्ध धारा पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की है। पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा से सांस्कृतिक चेतना फैलने लगी। इस बात की ओर विशेष ध्यान गया कि पश्चिम के अंधानुकरण में व्यक्ति भारतीय आदर्शों को भूल न जाए। ऐसी स्थिति में प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति भी आस्था उत्पन्न करने का प्रयास किया जाने लगा। इसके लिये तत्कालीन नाटककार ने पुराण एवं इतिहास का सहारा लिया। पौराणिक गाथाओं के द्वारा वह हमारे धार्मिक एवं नैतिक विश्वासों को दृढ़ करना चाहता था। फलस्वरूप अतीत के उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत किये जाने लगे जिनमें आदर्श पात्रों के प्रति श्रद्धा बनाये रखने के लिये उन्हें मानवीय स्पर्श दिया गया। बंगला के प्रथम प्रसिद्ध नाटककार रामनारायण तर्करत्न ने 'रुक्मिणी हरण', "कंसवध", "धर्म-विजय" तथा "स्वप्न-धन" लिख कर इस प्रवृत्ति का प्रारंभ किया। इसके बाद कई नाटककार इस ओर आए।

इस धारा के प्रमुख नाटककार माइकेल मधुसूदनदत्त हैं ३। "शर्मिष्ठा" तथा "पद्मिनी" की कथावस्तु पौराणिक है परन्तु नाटककार ने कथा और पात्रों में स्वाभाविकता लाने का प्रयास किया है। शर्मिष्ठा और देवयानी के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि दी गई है। घटनाओं के अलौकिक स्वरूप को दूर कर नाटक को सजीव और स्वाभाविक स्वरूप दिया गया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मनमोहन वसु में पौराणिकता का आग्रह अधिक मिलता है परन्तु उनके नाटक निष्प्राण नहीं हैं। उनमें पर्याप्त प्रभविष्णु शक्ति है। वास्तव में वे इस धारा के सर्वश्रेष्ठ

१. वही पृ० २९-३०
२. वही पृ० ३२
३. अजितकुमार घोष, 'बांगला नाटकेर इतिहास'. पृ०४७

नाटककार हैं। उन्होंने कई नाटक लिखे जिनमें "रामाभिषेक नाटक", "पार्थ-पराजय" "यदुवंशधर", "सत्य हरिश्चन्द्र," "सती-नाटक" प्रसिद्ध हैं। 'सतीनाटक' उनकी अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इसमें पार्वती का सुन्दर मनोविश्लेषण किया गया है। उन्होंने भक्ति-भाव रखते हुए भी स्वाभाविकता को बनाए रखा है, यही उनकी उपलब्धि एवं सफलता का रहस्य है।

ऐतिहासिक नाटकों के सृजन में जातीय गौरव एवं राष्ट्रीय भावना कार्य कर रही है। सांस्कृतिक अभ्युदय के साथ नाटककार का लक्ष्य राष्ट्रीय जागरण है। माईकेल का "कृष्णकुमारी" बंगला का प्रथम सफल ऐतिहासिक नाटक है। इसकी कथा राजस्थान के इतिहास से ली गई है। नाटककार ने रोमांटिक पृष्ठभूमि में देश-प्रेम की भावना जागृत की है। इसी प्रकार प्राणनाथ दत्त ने "प्राणेश्वर" तथा "संजुक्ता-स्वयंवर" नाटक लिखे। ऐतिहासिक नाटकों की बंगला में एक पुष्ट धारा मिलती है।[1]

पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रचार के साथ-साथ उस युग का कलाकार पर्याप्त प्रबुद्ध एवं जागरुक होता जा रहा था।[2] नई शिक्षा तथा नए वातावरण ने उसमें चिंतन एवं विश्लेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी थी। परिणामस्वरूप उसे स्पष्ट हो गया था कि हमारे रीति-नीति के बन्धन निरर्थक एवं निस्सार हैं। उनके नाम पर समाज में कुप्रथाएं एवं रूढ़ियां पनप रही हैं। इस परिस्थिति से अनप्रेरित हो तत्कालीन नाटककार सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ साहित्य में आया। इसी लिये उस समय का साहित्यकार तत्कालीन उद्धारवादी प्रवृत्तियों से अछूता नहीं रह सका। बल्कि प्रायः सुधारक एवं प्रचारक था। इस तरह सामाजिक नाटक अपने युग के प्रतिबिम्ब थे।

इस परम्परा का उद्घाटन दीन बन्धु ने "नील दर्पण" से किया। यह इस श्रेणी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह पहला बंगाली नाटक है जिसमें आर्थिक विषमता की पृष्ठभूमि में अंग्रेज़ों के अनाचार एवं शोषण के सजीव चित्र प्रस्तुत किए गए। इसमें नील के खेतों के मज़दूरों की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण हुआ है। वस्तुतः दीन बन्धु में दीन के लिये दया एवं सहानुभूति का अगाध सागर है। इसी लिये इस नाटक के प्रकाशन से सारे देश में कोहराम मचा।[3] अन्य नाटकों, 'लीलावती' तथा "नवीन तपस्विनी" में भी युग ध्वनि मिलती है।

रामनारायण तर्करत्न ने इस धारा को भी समृद्ध किया। उन्होंने 'नव-नाटक'

---

१. डा० सुकुमार सैन, 'बांगला साहित्यैर इतिहास' (द्वितीय खण्ड) पृ० ८५-८६
२. अजित कुमार घोष, 'बांगला नाटकैर इतिहास,' पृ० २८
३. H.N. Das Gupta, 'The Indian Stage,' (Vol. II), P. 91

लिखा। जैसा कि इसके पूरे नाम "बहु विवाह प्रभृति कुप्रथा विषयक नव-नाटक" से स्पष्ट है, इसमें बहु विवाह प्रथा के दोष दिखाए गए हैं।

अन्य कई नाटककारों का ध्यान युग की सामाजिक समस्याओं की ओर गया। सोद्देश्यता तथा लोकहित की भावना के विकास के साथ इन नाटकों की वृद्धि होती गई, परन्तु सुधार का स्पर्श उभरा रहा। इससे चरित्र–चित्रण में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं आया। वास्तव में पात्रों के चरित्र का निखार ही इस वर्ग के नाटकों में हुआ है।[1] हाराणचन्द्र, बेहारी लाल वंधोपाध्याय, क्षेत्रमोहन "धटक", ज्ञानधन विद्यालंकार आदि ने सामयिक समस्याओं पर नाटक लिखे।[2]

युग का प्रतिबिम्ब प्रहसनों में स्पष्ट रूप से मिलता है। शिल्प की दृष्टि से अनुकूल होने के कारण अधिकांश नाटककारों की प्रवृत्ति इसी तक रही। आकार प्रकार सीमित होने के कारण प्रहसन में व्यंग्य की गुंजाइश हो सकती है जो सामयिक समस्याओं के चित्रण में आवश्यक है। बंगला प्रहसन का जन्म नाटकों से भी पूर्व हुआ। वस्तुतः इस धारा का प्रारम्भ यात्राओं से हुआ जिनमें सामान्य जनता की समस्याएं एवं भावनाएं अभिव्यक्त हो रही थीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन में कला एवं सुरुचि का अभाव था पर इनका उद्देश्य केवल मनोरंजन मात्र था। इसके बावजूद पंडितों के मिथ्याडंबर, कुल और धन के झूठे अभिमान तथा कुलटा के व्यभिचार के चित्रण में वे बड़े मुखर एवं स्पष्टवादी थे।[3] ईश्वर चन्द्र विद्यासागर तथा राजाराम मोहनराय आदि के सामाजिक एवं शिक्षा आन्दोलनों से दृष्टिकोण में अन्तर आया। अब प्रहसनों का उद्देश्य विनोद न होकर सुधार एवं उद्धार बना। सामाजिक एवं धार्मिक विषमता पर कटाक्ष करना नाटककार का लक्ष्य हो गया। इधर नई शिक्षा-दीक्षा ने एक ऐसे वर्ग का निर्माण किया जिसका आधार ही कृत्रिम आचार व्यवहार का अनुकरण करना था। निश्चय ही उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर लगी रहती। इस तरह सामाजिक नाटकों तथा प्रहसनों की विषयगत समानता स्पष्ट है।

उक्त परिस्थितियों से प्रभावित होकर कालीचन्द्र राय ने पत्रों में विज्ञापन दिया कि "धर्म कर्म पतिव्रता चिह्नादि विषय" कोई रचना प्रस्तुत की जाए तो उसे ५० रुपये पुरस्कार रूप में दिये जायेंगे। इससे प्रेरणा पाकर रामनारयण तर्करत्न ने "पतिव्रतोपा ख्यान" लिखा। इसी

१. आशुतोष भट्टाचार्य, 'बंगला नाट्य साहित्यैर इतिहास', पृ० ४३
२. डा० सुकुमार सैन, 'बांगला साहित्यैर इतिहास', (द्वितीय खण्ड) बिस्तृत सूची के लिये देखिए पृ० ४२
३. वही, नाटककारों की सूची के लिये देखिए पृ० १८

प्रकार श्री कालीप्रसन्न ने एक और विज्ञापन दिया जिसके लिये रामनारायण तर्करत्न ने "कुलीन कुल सर्वस्व" लिखा। बाद में नाटककार ने "जेमन कर्म तेमनि फल", "उभय संकट", "चक्षुदान" तथा "संबन्ध समाधि नाटक" नामक प्रहसन लिखे जिनमें बाल-विवाह, बहु-विवाह आदि कुरीतियों का चित्रण किया गया। इस प्रकार राम नारायण तर्करत्न ने बंगला साहित्य में एक ऐसी धारा का प्रवर्तन किया[1] जिसमें लेखक समाज की रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर कटाक्ष एव व्यंग्य करते तथा ऐसी प्रथाओं का उपहास करते जो व्यक्ति और समाज के लिये कलंक थीं। निश्चय ही नाटककार तात्कालिक कुरीतियों को अपना आधार बनाता था। उमेशचन्द्र मित्र, उमाचरण चट्टोपाध्याय आदि इसी कोटि के नाटककार हैं।[२] संभवतः ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के आन्दोलन के प्रभाव-स्वरूप इनमें विधवा विवाह के प्रश्न को विशेष रूप से उठाया गया।[३]

माइकैल मधुसूदन दत्त न बंगला प्रहसनों को विषय और शिल्प की दृष्टि से चरम उत्कर्ष पर पहुंचाया। उनकी स्वतंत्र एव सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति जहां पश्चिम के अंधानुकरण की प्रवृत्ति पर कठोर आघात करती है वहीं भारत की जर्जर रूढ़ियां भी उनके व्यंग्य का आधार बनीं। "एकेइ कि बले सभ्यता" तथा "बुड़ शालिकेर घाड़े रों!" इसके उदाहरण हैं। वस्तुतः माईकैल तक व्यंग्य का स्वरूप बड़ा तीखा और सीधा हो गया था। पहले इतनी गहराई नहीं मिलती थी। इसीलिये उनके प्रहसन पूर्ववर्ती रचनाओं में अद्वितीय ही नहीं बल्कि परवर्ती प्रहसनों के लिए प्रेरणा स्रोत रहे।[५]

दीन बन्धु ने भी प्रहसन लिखे परन्तु उन पर माइकैल का प्रभाव मिलता है। "सधुधार एकादशी" पर माइकैल के "एकेइ कि बले सभ्यता" की प्रतिछाया दिखाई देती है पर दीनबन्धु ने यथेष्ट सुधार भी किया है।[६] वस्तुतः कला की दृष्टि से दीनबन्धु में अवश्य निखार दिखाई देता है परन्तु विषय-वस्तु की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं आ पाई। धीरे-धीरे यह धारा समृद्ध होती गई। सामाजिक समस्याओं के चित्रण तथा विश्लेषण में यथार्थवादी प्रवृत्ति होते हुए भी सोद्देश्यता की भावना

---

१. वही, पृ० ३७
२. वही, विस्तृत सूची के लिए देखिए पृ० ४६-४७
३. अजितकुमार घोष, 'बांगला नाटकेर इतिहास,' पृ० २६
४. P. Guha Thakurta, 'The Bangali Drama, its Origin and Development,' P. 83
५. डा० सुकुमार सेन, 'बांगला साहित्येर इतिहास' (द्वितीय खण्ड) पृ० ६७
६. वही पृ० ७२

बढ़ती गई। हाराण चन्द्र, राम नाथ घोष, क्षेत्र मोहन घटक, ज्ञान धन विद्यालंकार आदि ने युग के ज्वलंत प्रश्नों को उठाया।[1]

उपर्युक्त सामाजिक नाटकों तथा प्रहसनों का सामान्य पर्यवेक्षण करने से स्पष्ट हो जाएगा कि इनमें नारी के सतीत्व पर विशेष महत्व तथा आग्रह प्रकट किया गया। समस्याएं चाहे किसी भी प्रकार की हों, कलाकार की दृष्टि इस पक्ष से ओझल नहीं हो पाई। बाल-विवाह, विधवा-विवाह, बहु-विवाह, वेश्या-वृत्ति आदि में प्रत्यक्ष रूप से तथा पुरुष की लंपटता एवं व्यभिचार की पृष्ठभूमि में अप्रत्यक्ष रूप से इसी भाव को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया। किसी-न-किसी प्रकार से यही आदर्श स्थिर हुआ कि स्त्री के लिये पति भगवान का रूप है तथा उसकी सेवा, भगवान की सेवा है। इसलिये वह निर्द्वन्द भाव से सर्मपण करती है तथा पति के चरित्र या स्वभाव पर ध्यान न देते हुए अपने कर्तव्य में जुटी रहती है।

दूसरा सामान्य गुण भाषा का है। इन प्रहसनों की भाषा बहुत सरल-सुबोध तथा स्वाभाविक है। माईकेल जैसे संस्कृत निष्ठ शैली के कलाकारों की भाषा भी यहां आकर सुगम हो गई। इसमें कुछ परम्परा और कुछ जनता का प्रभाव दिखाई देता है।

बंगला नाटक के उदय में समृद्ध एवं लोकप्रिय रंगमंच का उल्लेखनीय स्थान है इसी लिए युग के समस्त नाटकों का अस्तित्त्व एवं महत्त्व प्रमुखतः रंगमंच पर आश्रित समझा गया। यह सत्य उस युग के नाटककार से छिपा नहीं था, इसीलिये उसका ध्यान रंगमंच की दृष्टि से प्रचलित एवं लोकप्रिय प्रणालियों की ओर अधिक गया। प्रहसनों का प्रचार इसका प्रमाण है। उसके हल्के-फुल्के व्यंग्य में प्रभविष्णुता की मात्रा अधिक है। लगभग प्रत्येक नाटककार ने प्रहसन लिखे। वस्तुतः उस युग में नाटक का रंगमंच के बिना कोई अस्तित्व ही न था : प्रत्येक महान नाटक-कार किसी न किसी थिएटर कम्पनी से सम्बद्ध था। रामनारांयण तर्करत्न तथा माइकेल ने समस्त रचनाएं इसीलिये लिखीं।

शिल्प विधान की दृष्टि से इस युग में समन्वयात्मक प्रवृत्ति अपनाई गई। ऐसा लगता है कि कलाकार पश्चिम के नए विधान को अपनाना तो चाहता है पर संस्कृत की नाट्य विधि से अलग नहीं हो पाता। प्रारम्भ के नाटक गद्य-पद्य मिश्रित थे पर माईकेल ने आकर पहली बार सम्पूर्णगद्य में "शर्मिष्ठा" की रचना की[2]। वह पहला विशुद्ध साहित्यिक नाटक है। यही प्रवृति 'पद्मावती'

१. वही, विस्तृत सूची के लिए देखिए पृ० ६०
२. वही, पृ ५०

और "कृष्णा कुमारी" में मिलती है। वस्तुतः वे संस्कृत की प्रत्येक परम्परा का विरोध करना चाहते थे[१]।

संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुसार सभी नाटक सुखान्त होने चाहिएं पर बंगला का सर्वप्रथम नाटक "कीर्ति विलास" दुखान्त रचना है। इस के कुछ एक वर्ष बाद ही उमेशचन्द्र मित्र की लोकप्रिय कृति "विधवा विवाह" भी इसी श्रेणी में आती है। माइकैल का "कृष्ण कुमारि" तो प्रथम 'सार्थक ट्रेजिडी' कही जाती है।[२] पाश्चात्य प्रभाव से ही उन्होंने पांच अंकों के नाटक लिखे। वस्तुतः उनके नाटकों का गठन-कौशल उसी प्रकार का है। इसी प्रवृत्ति के अनुरूप रंगमंच पर मृत्यु तथा आलिंगन आदि के वर्जित दृश्य दिखाये जाने लगे।

इतना होते हुए भी तत्कालीन नाटककार संस्कृत शिल्प विधान से अलग न हो सका। माइकैल जैसे प्रतिक्रियावादी नाटककार पर भी इसके यथेष्ट प्रभाव संकेत मिलते हैं।[३] भाषा का लालित्य, नान्दी-सूत्रधार का प्रयोग, भावपूर्ण स्थलों पर लम्बे संवाद आदि प्रवृत्तियां संस्कृत नाट्य साहित्य के कारण ही आईं।[४] इसी लिये राम नारायण तर्करत्न के नाटकों में कहीं चार अंक हैं और कहीं सात। शेक्सपियर के 'रोमियो ज्यूलियट' के अनुवाद 'चारुमुखचितहरा' के प्रारंभ में नांदी और प्रस्तावना दी गई है। इस तरह दृश्य के लिये कहीं अंग, अभिनय, गर्भांक प्रस्तावों, संयोगस्थल आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

इस युग में प्रतीकवादी नाटक भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। इसका प्रारम्भ श्रीपति मुखोपाध्याय ने "बाल्य विवाह नाटक" से किया। इसमें पुरुष पात्र विशेषणात्मक हैं यथा धनाढ्य, धनहीन, महदाशय, विद्याहीन, दाम्भिक, बुद्धिहीन, मतिच्छन्न आदि। इसी श्रृंखला में नफरचंद्र, तारक चंद्र, चूणामणि, हरिमोहन मुखोपाध्याय आदि की रचनाएं आती हैं।[५]

वस्तुतः यह प्रयोग युग था, प्रत्येक नाटककार ने अपने दृष्टिकोण अनुसार प्रयोग किये। कहीं कोई निश्चित धारा नहीं मिलती। जहां जो अच्छा एवं उपयुक्त लगा, अपना लिया गया।

ध्यान इस बात पर जाता है कि यात्राओं, पांचाली आदि ने भी बंगला नाटकों के शिल्प विधान पर गहरा प्रभाव डाला। इसका परिचय प्रथम युग में ही नहीं, बाद में भी स्पष्ट दिखाई देता है।

---

१. अजितकुमार घोष, 'बांगला नाटकैर इतिहास' पृष्ठ ४३
२. डा० सुकुमारसैन, 'बांगला साहित्यैर इतिहास' (द्वितीय खंड) पृ० ५६
३. वही, पृ० ५६
४. अजितकुमार घोष, 'बांगला नाटकैर इतिहास,' पृ० ३१
५. डा० सुकुमार सैन, 'बांगला साहित्यैर इतिहास' (द्वि० खंड), पृ०४२

इनकी गीत प्रियता तथा गीताभिनय की छाया आज भी मिलती है। बंगला नाटक में गीतों का आधिक्य एक सामान्य प्रवृत्ति बन चुकी है जिससे कोई भी नाटककार बच नहीं पाया। १ यही नहीं, बंगाली गीतिनाट्यों का जन्म अंग्रेज़ी ओपेरा से न होकर यात्राओं से अनुप्राणित दिखाई देता है।२

सब से अधिक मन मोहन बसु ने यात्राओं का सदुपयोग किया। उन्होंने पुरानी पद्धति का नए शिल्प के परिवेश में परिष्कार एवं समन्वय किया। परिणाम-स्वरूप रंगमंच की दृष्टि से उनके नाटक बहुत लोकप्रिय रहे। सम्भवतः इसीलिये उन्होंने पौराणिक उपाख्यानों का अधिक चुनाव किया। बाद में उन्हीं के आदर्शों पर भोलानाथ मुखोपाध्याय, ब्रजमोहन राय, गिरीश्चन्द्र घोष, आदि ने नाटक लिखे।

बंगला नाटक के उदय काल में अनुवादों के महत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। इनके पीछे एक विशाल सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन कार्य करता दिखाई देता है। उस युग का कलाकार नई चेतना से अछूता नहीं रह सकता था। पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा एवं साहित्य उसकी कल्पना के नए नीड़ बन रहे थे। इतना होते हुए भी देश के प्रति गौरव एवं स्वाभिमान की भावना भी कम नहीं। सम्भवतः इसी लिये नव जागरण को लेकर कलाकार शेक्सपियर की ओर आकृष्ट हुए तथा सांस्कृतिक भावना को लेकर कालिदास की ओर।३ वस्तुतः इनका इतना व्यापक प्रभाव रहा कि कुछ विद्वान् इसे अनुवाद युग अभिहित करने को तैयार हैं।

इस धारा के प्रमुख प्रणेता हरचन्द्र, काली प्रसन्न तथा रामनारायण तर्करत्न थे। हरचन्द्र ने सबसे पहले शेक्सपियर को बंगला समाज के सामने रखा उन्होंने 'मर्चेंट आफ वीनस' का अनुवाद ' भानुमती चित विलास' के नाम से किया। यह एक 'मर्मानुवाद' है जिस में नाटककार ने कुछ परिवर्तन भी किए।

इसके बाद "रोमियो ज्यूलियट" का "चारुमुखचित्तहरा" के रूप में अनुवाद किया। उनका तीसरा नाटक "रजतगिरि नन्दिनी" किसी अंग्रेज़ी नाटक का रूपांतर है। इसके बाद तो बंगला में अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद की परम्परा चल पड़ी।

---

१. वही, पृ० ६१

२. वही, पृ० ६३

३. श्री अजितकुमार घोष, 'बांगला नाटकेर इतिहास,' पृष्ठ २८

श्यामचरणदास दत्त, सत्येन्द्र नाथ ठाकुर तथा चन्द्रकाली घोष आदि कई नाटककारों ने इस धारा को पुष्ट किया।१

संस्कृत नाटकों के अनुवाद का सूत्रपात बंगला के प्रथम नाटककार रामनारायण तर्करत्न ने किया। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस युग का कलाकार प्राचीन आदर्शों के प्रति एकदम उदासीन नहीं था। तर्करत्न ने कई अनुवाद किए; 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' 'वेणी संहार', 'रत्नावली', 'मालती माधव' के अतिरिक्त कुछ पौराणिक नाटकों के भी अनुवाद किए। काली प्रसन्न सिंह ने भी कई सफल अनुवाद किये। इस तरह सुन्दर एवं सरल रूपान्तरों द्वारा उन्होंने आगामी नाटककारों का मार्ग प्रशस्त किया। बाद में शौरीन्द्रमोहन ठाकुर, कालिदास सान्याल, यतीन्द्रमोहन, केदारनाथ बंद्योपाध्याय ने इस धारा को समृद्ध, किया।२

इन अनूदित पुस्तकों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियां उल्लेखनीय हैं। शिल्प विधान की दृष्टि से इस युग का नाटककार स्पष्ट एवं स्थिर नहीं हो पाया। वह समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखता है। हरचन्द्र घोष के अंग्रेज़ी अनुवादों की भाषा संस्कृतनिष्ठ है तथा नांदी प्रस्तावना को भी अपनाया गया है। गद्य-पद्य के मिश्रण के साथ दृश्य के लिये अंग शब्द का प्रयोग मिलता है। संस्कृत अनुवादों की भाषा सरल तथा मुहावरेदार रही है तथा उनमें यात्रा के अनुकरण पर "कोरस गीत" दिये गए हैं। पर सामान्य रूप से इनमें संस्कृत नाटक विधान का ही अनुसरण हुआ।

इन अनुवादों में नाटककार मूल पाठ तक कभी प्रतिबद्ध नहीं रहे। इसी लिये अधिकांश अनुवाद स्वच्छन्द रूप से किये गए हैं जिनमें कहीं कहीं पात्र और घटनाएं कल्पित मिलती हैं।३ मूल कथा का तो केवल अवलम्बन मात्र लिया गया, यथा "भानुमती चित्त विलास" में नए पात्र और दृश्य जोड़े गय। 'चारुमुखचित्तहरा' 'रोमियो-ज्यूलियट' का देशीय संस्करण है।४

माइकेल मधुसूदन दत्त इस युग के सर्वश्रेष्ठ कलाकार थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी इसी लियें नाटक और कविता के क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व एवं प्रभुत्व छाया दिखाई देता है। दोनों

१. विस्तृत सूची के लिए देखिए डा० सुकुमार सैन, बांगला 'साहित्येर इतिहास' (द्वितीय खंड) पृ० ३५
२. विस्तृत सूची के लिए देखिए—वही, पृष्ठ ८२
३. अजितकुमार घोष, 'बांगला नाटकेर इतिहास', पृ० १६
४. डा० सुकुमार सैन, 'बांगला साहित्येर इतिहास' (द्वितीय खंड) पृ० ३२

काव्य रूपों को चरम सीमा पर पहुंचाने में उनका उल्लेखनीय योगदान है। वस्तुतः माइकेल प्रारम्भ से ही मेधावी तथा असाधारण तेज एवं महत्त्वाकांक्षा के स्वामी थे। उन्नीस वर्ष की आयु में ही अंग्रेज़ी सभ्यता एवं साहित्य से इतने प्रभावित हुए कि उसी धर्म में शरण ग्रहण कर ली। उसमें इतनी रुचि हो गई कि इसी बीच ग्रीक, हिब्रू, इटैलियन, फ्रेंच, आदि कई भाषाओं और उनके साहित्य का अध्ययन कर लिया। इतना ही नहीं उनकी भावना और कल्पना सर्वप्रथम अंग्रेज़ी के माध्यम से प्रस्फुटित हुई – मद्रास में ही उन्होंने Captive Lady तथा visions of the past नामक दो काव्यों का निर्माण किया। यह पश्चिम का आकर्षण और सम्मोहन उनके जीवन को सुखी न बना सका। उन्हें कहीं शान्ति न मिली, न पत्नी की ओर से और न माता-पिता की ओर से। व्यवसाय की कोई सुव्यवस्था थी नहीं। कलकत्ता लौट कर वे फिर स्वदेश तथा स्व-साहित्य की ओर उन्मुख हुए।

माईकैल के व्यक्तित्व का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है, परम्परा एवं संस्कार का तिरस्कार। उनकी प्रखरप्रतिभा पिष्टपेषित तथा रूढ़िग्रस्त मार्गों के लिये अभ्यस्त न थी। वे सदा नवीनता और प्रगति के पुजारी रहे।[1] इसके पीछे पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा का गहरा प्रभाव कार्य कर रहा है जिसने वैज्ञानिक दृष्टिकोण की क्षमता उत्पन्न कर दी थी। उनमें विश्लेषण एवं परख की नई शक्ति उत्पन्न हुई जिसके प्रकाश में उन्हें स्पष्ट हो गया कि प्राचीन धारा के मोह में पड़ कर साहित्य में पुनरुक्ति संकीर्णता तथा कलात्मक ह्रास के दोष घुसते आ रहे हैं। इसी लिये नाटक और कविता में विषय और शैली की दृष्टि से वे असाधारण परिवर्तन प्रस्तुत करने में समर्थ हुए।[2]

इसका प्रथम प्रमाण विषय-वस्तु में मिलता है। माइकैल ने प्राचीन पौराणिक एवं ऐतिहासिक गाथाओं की पुनर्व्याख्या की। उनको नवीन जीवन एवं स्पंदन दिया। "शर्मिष्ठा" और "पद्मावती!" की कथा-वस्तु पुराणों से ली गई है। परन्तु 'शर्मिष्ठा' एवं 'पद्मावती" के व्यक्तित्व निर्माण में युग की नारी की प्रतिछाया स्पष्ट रूप से उभर आई है। उनके चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में हुआ है। इसी तरह कथा में अलौकिक तत्त्व निकाल

१. माइकैल मधुसूदन दत्त, 'कृष्णाकुमारी' भूमिका पृः ७

२. "The Two outstanding characteristics which mark all of Madhu Sudan's works, namely his independence of Indian tradition and his adoption of Western Models." P. Guha Thakurta, 'The Bangoli Drama: its Origin and Development,' P. 72

कर उसे युक्तियुक्त एवं बौद्धिक आधार दिया। "कृष्ण कुमारी"। में भीमसिंह का पिता तथा महाराजा के रूप में अन्तर्द्वन्द बड़ा हृदयस्पर्शी बन पाया है। कृष्ण कुमारी के व्यक्तित्व में बड़ी सफलता के साथ जातीय भावना अनुस्यूत की गई है।

"मेघनाथ वध" का महत्त्व बंगला साहित्य तक ही नहीं सीमित है, वह भारतीय साहित्य में अलग स्थान रखता है। प्रत्येक भारतीय का रामायण से बचपन से लगाव है। उसके प्रति हमारे विश्वास एवं धारणाएं सैकड़ों वर्षों से पुष्ट हैं। "रामादिवदाचरतव्यम् न तुरावणादिवत्" जैसी उक्तियां हमारे लिये प्राप्त वाक्य बन चुकी हैं। इतने स्थिर संस्कारों को बदल कर एक ऐसे व्यक्ति के प्रति श्रद्धा एवं सहानुभूति उत्पन्न करना जो अब तक हमारी घृणा का पात्र था, केवल माइकैल जैसे सामर्थ्यवान कलाकार का ही साहस हो सकता है। मेघनाथ और उसकी पत्नी का चरित्र सजीव और प्रभावशाली है। सारी कथा का मानवीय स्पर्श दिया गया है ताकि रामादि के गुण दोषों की पृष्ठभूमि में रावण, मेघनाथ आदि का व्यक्तित्व स्वाभाविक दिखाई दे। "तिलोत्तमा संभव", "व्रजांगाना काव्य," "वीरांगना काव्य" आदि में भी यहां परिवर्तन तथा नवीन दृष्टि का परिचय मिल जाता है।

शिल्प विधान की दृष्टि से माइकैल अपेक्षाकृत अधिक क्रांतिकारी हैं। उन्होंने बंगला नाटक को नया रूप दिया। उनसे पूर्व कोई निश्चित मार्ग न था। संस्कृत एवं पश्चिमी नाट्य-विधानों का विचित्र मिश्रण होता था। उन्होंने नया गठन-कौशल प्रस्तुत किया। वही पांच अंक के नाटकों की प्रणाली के प्रवर्त्तक हैं। अंकों का दृश्यों में विभाजन, गीतों का संयत प्रयोग आदि नवीन सूत्रों के अतिरिक्त सब से पहले उन्होंने केवल गद्य में नाटक लिखने की परिपाटि का सूत्रपात किया। प्राचीन नियमों की निरर्थकता सिद्ध करके दुखांत नाटक तथा वर्जित दृश्यों के प्रदर्शन की ओर प्रवृत हुए। उनका 'कृष्ण कुमारी' नाटक इस दृष्टि से सफल एवं उत्कृष्ट रचना है।

कविता के क्षेत्र, विशेषतः कलापक्ष में भी उनकी मौलिकता निस्संदिग्ध है। वीर, रसपूर्ण "मेघनाथ" के सृजन के समय उन्हें न तो बंगला भाषा अनुरूप लगी और न कोई उपयुक्त छन्द मिला। पहली समस्या का निवारण उन्होंने संस्कृत के आभिधानिक शब्दों को ग्रहण करने से किया तथा दूसरी का अमित्राक्षर प्यार

१. Priya Ramjan Sen, 'Western Influence in Bengali Literature,' P, 192.

छन्द के निर्माण से। अमित्राक्षर प्यार छन्द उनकी प्रतिभा का प्रतीक है। इनसे उन्होंने बंगला कविता को सदा के लिये समृद्ध कर दिया।

पश्चिम का इतना अनुसरण करते हुए भी माइकैल में संतुलन का अभाव कम ही मिलता है। वे अंततः भारतीय थे।१ उनकी समस्त रचनाओं का यह स्वर कभी नहीं दब पाया। उनके प्रहसन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। वहां एक ओर वे पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण की घोर निन्दा करते हैं तथा दूसरी ओर धर्म की आड़ में हो रहे अनाचार उनसे छिपे नहीं रहते। "एकेइ कि बले सभ्यता" और "बुड़ शालिकेर घोड़े रों" उनके संतुलित दृष्टिकोण को सिद्ध करते हैं। इस तरह पश्चिमी वातावरण में अधिकांश जीवन बिताने के बावजूद वे इस मिट्टी की गंध को नहीं छोड़ सके। वस्तुतः उन्होंने इसी मिट्टी के नए ढांचे प्रस्तुत किये।

माइकैल की रचनाओं में एक और सामान्य प्रवृत्ति द्रष्टव्य है। उनकी समस्त कृतियों का आधार नारी हृदय का विश्लेषण रहा। उनके समस्त नाटक नायिका प्रधान हैं जिनमें स्त्री के विभिन्न पक्षों का चित्रण मिलता है। शर्मिष्ठा तथा पद्मावती में स्त्रियोचित रूप और सौंदर्य का गर्व तथा ईर्ष्या को केन्द्र बनाया गया है। कृष्णकुमारी में नारी का उज्ज्वल एवं उदात्त रूप प्रकट हुआ है। यह देश और जाति के लिये अपने बलिदान को गौरव समझती है। इसकी कुछ प्रति-छाया विलासवती में भी दिखाई देती है। कविता के क्षेत्र में भी "तिलोत्तमा", "ब्रजांगना काव्य" तथा "वीरांगना काव्य" में नारी का मनोविश्लेषण किया गया है। संभवतः इसके पीछे युग का प्रभाव है यह पश्चिमी सभ्यता का जहां पर नारी के लिये समाज में उचित स्थान है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि उदयकालीन नाटक साहित्य में स्वस्थ परंपराओं का विकास हुआ। साथ ही इस युग में दीन बन्धु तथा माइकैल जैसे श्रेष्ठ एवं महान नाटककार भी हैं जो बंगला नाटक साहित्य में स्थायी स्थान ग्रहण किये हुए हैं।

प्राचीन संस्कृत नाटकों में वर्णित पुलिस व्यवस्था

इन्द्र देव

प्राचीन काल की सभ्यता और संस्कृति का परिचय पाने के लिये प्राप्त साधनों में से साहित्य अतीत उपयोगी साधन है। लेखक अथवा काव्यकार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने काल की विचार परम्पपाओं, मान्यताओं, व्यवस्थाओं, सामाजिक–धार्मिक-राज–नैतिक और आर्थिक अवस्थाओं पर प्रकाश डालता है। महान् कलाकारों की कृतियों में कलात्मक रूप से स्वतः ही इनका उन्मेष हो जाता है।

प्रस्तुत निबन्ध में कविकुल गुरु कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और अत्याधुनिक दृष्टि से भी सफल नाटककार राजा शूद्रक विरचित 'मृच्छकटिक' नाटकों के आधार पर पुलिस-व्यवस्था, पुलिस कर्त्तव्य, पुलिस-भष्टाचार आदि पर विचार किया गया है। इन नाटकों के आधार पर पुलिस के कार्य व्यापार का विश्लेषण करने से पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के महामात्य कौटिल्य के दृष्टिकोण से परिचय प्राप्त करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

कौटिल्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "कौटिल्य अर्थ शास्त्र" में समाहर्ता और नागरिक (Collector general and city Superintendent) के कर्त्तव्यों का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि जनपद अथवा राष्ट्र की सुरक्षा, व्यवस्था और कर-संचय आदि कार्यों का उत्तरदायित्व समाहर्ता पर है। वह रक्षा-व्यवस्था के लिये सम्पूर्ण राष्ट्र को चार भागों में विभाजित करे। इसके अनन्तर प्रत्येक भाग को उपज और जन-गणना के आधार पर ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ नामक तीन वर्गों में बांटे। राष्ट्र के एक चौथाई भाग की जानकारी और सुरक्षा का कार्य स्थानिक तथा पांच अथवा दस गांवों का निरीक्षण कार्य गोप नामक पदाधिकारी को प्रदान करे। दूसरी ओर नागरिक का अधिकार क्षेत्र मुख्य नगर अथवा राजधानी तक सीमित है। वह कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये नगर

को घरों आदि की दृष्टि से विभाजित करे। वह दस या बीस या चालीस घरों पर एक गोप की नियुक्ति करे जो इनमें निवास करने वालों की जाति, गोत्र, नाम आजीविका के साथ-साथ इनके आय-व्यय का लेखा-जोखा रखे। ये ही गोप नगर में आने तथा वहां से जाने वाले सभी प्रकार के व्यक्तियों का ध्यान रखें और अनुचित व्यय करने वाले, गुप्त रीति से रोगी की चिकित्सा करने वाले व्यक्तियों की सूचना उच्च अधिकारियों को दें। ये गोप नगर-व्यवस्था में बाधा पहुंचाने वाले, आग लगने पर उसे बुझाने में सोत्साह योगदान न देने वाले, सार्वजनिक स्थानों तथा राज्य-संस्थाओं को बिगाड़ने अथवा नुकसान पहुंचाने वाले व्यक्तियों की सूचना उच्च अधिकारी स्थानिक को दें।

नगर के चौथाई भाग की देख रेख अथवा सुरक्षा का उत्तरदायित्व स्थानिक के कन्धों पर है। वह 'गोपों' से प्राप्त सूचनाओं को एकत्रित कर 'नागरिक' तक पहुंचाता है और नगर व्यवस्था एवं सुरक्षा में सहायता देता है। उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त जन-कल्याणकारी संस्थाओं (चिकित्सालय आदि), धर्मशालाओं, तीर्थस्थानों, मन्दिरों, राजकार्यालयों, जलस्थानों आदि को सुरक्षित तथा स्वच्छ रखने का गुरुभार भी 'नागरिक' पर है। वही नगर की स्वच्छता तथा लावारिस पशुओं के उपद्रव से जनता की रक्षा करने के लिये उत्तरदायी है। वह अपने सहायकों तथा गुप्तचरों के द्वारा सूचनाएं प्राप्त कर राजनियमों का उल्लंघन करने वाले तथा जन-सुरक्षा को नष्ट करने वालों को पकड़ कर उचित दण्ड की व्यवस्था कराने में सहायक होता है। वह कर एकत्रित करने में भी सहायता देता है। कौटिल्य विवेचन समाप्त करने से पूर्व एक बार पुनः बल देकर कहता है:—

नित्यमुदकस्थान–मार्ग–भूमिच्छन्न-पथ–वप्र–प्राकार रक्षावेक्षणं, नष्ट-प्रस्मृताऽपसृत च रक्षणम्।'

नागरिक (नगर कोतवाल) जल-स्थान, सड़कें, सुरंगें, (गुप्त रीति से नगर से बाहर जाने के मार्ग), दुर्ग, दुर्ग-प्राकार, तथा रक्षा-कार्यों का प्रतिदिन निरीक्षण करे। वह प्राप्त हुई गुम, भूली हुई और गिरी हुई वस्तुओं की उसके स्वामी के लेने तक सुरक्षा करे।

इस प्रकार नागरिक का अधिकार-क्षेत्र नगर-सुरक्षा और व्यवस्था तक ही सीमित नहीं रहता। वह गुप्तचर विभाग का भी अध्यक्ष है। कर-संग्रह में भी अनिवार्य रूप से सहायक होने के कारण उसका पद महत्त्वपूर्ण हो जाता है। उसे नगर के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित करने का सुयोग सुलभ है। वह अपने पद का सदुपयोग अथवा दुरुपयोगकर प्रजा-

जनों में राज-शासन के प्रति आस्था अथवा अनास्था उत्पन्न करने का कारण बनता है।

संस्कृत नाटकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राजा इन महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावयुक्त पदों पर अपने सम्बन्धियों विशेष कर अपने सालों (श्यालक) की नियुक्ति करता था। उसे विश्वास था कि सम्बन्धी होने के कारण वह राजा के हितों की अधिक सतर्कता और जागरूकता से रक्षा करेगा और राष्ट्र-अहित कार्यों एवं राजद्रोह की सूचनाएँ यथाशीघ्र राजा तक पहुँचायेगा।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में विवेचित पुलिस कार्यों का परिचय 'मृच्छकटिक और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटकों से भी होता है। 'मृच्छकटिक' प्रकरण के पहले, छठे, आठवें, नौवें तथा दसवें अंकों तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के छठे अंक से पुलिस अधिकारियों के कर्त्तव्य, कार्य-व्यापार और उनमें विद्यमान भ्रष्टाचार पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इनके साथ-साथ नगर-व्यवस्था के लिये की गई पुलिस-व्यवस्था भी प्रकट होती है।

पुलिस व्यवस्था :—दोनों नाटकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि नगर-सुरक्षा के लिये 'नागरिक' (City Superintenden: की नियुक्ति की जाती है। इन नाटकों में वर्णित हस्तिनापुर और उज्जयिनी नामक नगर राजधानियां हैं। नागरिक की नियुक्ति इन राजधानियों में होती है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में इस पद पर राज-श्यालक (राजा का साला) के दर्शन होते हैं परन्तु 'मृच्छकटिक' में नागरिक का पद प्रकाश में नहीं आता। इसमें 'संस्थानक' पदाधिकारी का वर्णन है जिस पर राजा का साला, शकार नियुक्त है। कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र की पृष्ठभूमि में विचार करने पर निष्कर्ष निकलता है कि नगर की सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिये उत्तरदायी पदाधिकारियों की उच्चता और शक्तिमत्ता की दृष्टि से प्रथम स्थान 'नागरिक' का है। इसके पश्चात् 'संस्थानक' (कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस पारिभाषिक शब्द के स्थान पर 'स्थानिक' शब्द प्रयुक्त हुआ है) और अन्त में गोप का स्थान है। ये अपने आधीन कर्मचारियों के द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में नागरिक रक्षा-पुरुषों (कांस्टेबल) की सहायता से ही संदिग्ध अपराधी धीवर को पकड़ता है और उसे राजा के सम्मुख उपस्थित करता है।

इन नाटकों के द्वारा पुलिस की वैधानिक व्यवस्था पर प्रकाश नहीं पड़ता है परन्तु 'मृच्छकटिक' एक अन्य पहलू को उद्घाटित करता है जिससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक व्यवस्था के अनुसार ही उस काल में भी न्याय पुलिस के अधिकार-क्षेत्र से बाहर था। थाना और न्यायालय पृथक्-पृथक् नहीं थे। आजकल थाने में लिपिबद्ध कराई जाने वाली घटनाएँ

'अधिकरण' (न्यायालय) में लिखाई जाती थीं। 'अधिकरणिक' (न्यायाधीश) ही सत्यासत्य का विश्लेषण कर अपने निष्कर्ष को अन्तिम निर्णय के लिये राजा के सम्मुख उपस्थित कर देता था। नागरिक अथवा स्थानिक पदाधिकारियों को भी नगर में होने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं को दर्ज कराने के लिए अधिकरण में उपस्थित होना पड़ता था। अधिकरण में (१) अधिकरणिक (२) श्रेष्ठी (३) कायस्थ और (४) सेवक (चपरासी नामक चार प्रकार के पदाधिकारी कार्य करते थे। अधिकरणिक का कार्य विवादास्पद विषयों अथवा झगड़ों को सुनना, प्रमाणों के आधार पर सत्यासत्य का विश्लेषण करना तथा निष्कर्ष को राजा के समक्ष उपस्थित करना था। श्रेष्ठी के निश्चित कर्वव्य का ज्ञान नाटक में नहीं होता परन्तु इसकी उपस्थिति और गतिविधि सूचित करती है कि यह अधिकरणिक को सत्यासत्य के विवेचन तथा निर्णय में सहायता देता था। इसकी नियुक्ति अथवा स्थिति आधुनिक अवैतनिक न्यायाधीश (Honorary Magistrate) के समान थी। कायस्थ रीडर अथवा क्लर्क की भांति कार्य करता था। न्यायालय में लिखाई जाने वाली रिपोर्टें लिखता था, वहां की कार्यवाही को लिपिबद्ध करता था और न्यायाधीश के निष्कर्ष को लिखित रूप देता था। चपरासी अधिकरण के कार्यालय को निर्धारित समय पर खोलता और बन्द करता था, बैठने और लिखने के उपकरणों तथा कागज-पत्रों को झाड़ पोंछ कर यथा स्थान सजाता था और सम्मन (आह्वान-पत्र पहुंचाना भी इसका कर्त्तव्य था १।

पुलिस के कर्त्तव्य:—दोनों नाटकों का समन्वित अध्ययन स्पष्ट करता है कि पुलिस का कार्य नगर की सुरक्षा करना और राजा तथा प्रजा के हितों को हानि पहुंचाने वाले व्यक्तियों को पकड़ना एवं रोकना है। पुलिस कर्मचारी (रक्षा-पुरुष) अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए नगर में चोरी करने वाले चोरों, चोरी का माल बेचने वालों, जनता की हत्या करने वालों, राज-विद्रोहियों आदि को पकड़ कर अधिकरणिक (न्यायाधीश) अथवा राजा के सम्मुख उपस्थित करें। वे जनता के प्राण-माल की रक्षा करें। रात्रि में चोरों और डाकुओं से बचाने के लिये राजमार्गों पर पहरा दें। अपराधी और संदिग्ध व्यक्तियों को हिरासत में ले लें।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक में नागरिक राजा दुष्यन्त के नाम से अंकित

---

१. अधिकरणिक :—भद्र शोधनक ! वसन्तसेना-मातरमनुद्वेजयन्नाह्वय। (मृच्छ० नवमोऽङ्क
अधि० :—भद्र शोधनक गच्छ, आर्य चारुदत्तं स्वैरमसम्भ्राम्त मनुद्विग्नं सादरमाह्वय प्रस्तावेन अधिकरणिकस्त्वां द्रष्टु मिच्छति। (मृच्छ० नवमोऽङ्क)

अंगूठी को बेचते हुए मछुहारे को हिरासत में ले लेता है। 'मृच्छकटिक' नाटक में शर्विलक चोरी करते समय रात्रि काल में पहरा देने वाले पुलिस कर्मचारियों से भयभीत होता है। परन्तु निर्विघ्न चोरी समाप्त कर अपनी प्रिया मदनिका के समीप जाता हुआ कहता है :—"जित्वा नृपतेश्च रक्ष्यान्।१.

(पुलिस की आँखों में धूल झौंक कर)। इसी नाटक में वीरक और चन्दनक नामक रक्षा पुरुष तथा कथित राजद्रोही को पकड़ने का असफल प्रयास करते हैं इसके अतिरिक्त वसन्त सेना की हत्या की अफवाह फैलने पर उज्जयिनी निवासी कर्त्तव्य का पालन न करने वाली असावधान पुसिल को कोसते हैं। ?

दोनों नाटकों के पुलिस पात्र:—दोनों नाटकों में कुल छः पुलिस पात्र हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में आये हुए तीन पुलिस पात्रों में से राज-श्यालक नागरिक पदाधिकारी (City Superintendent हैं। सूचक और जानुक दो रक्षा-पुरुष (कांस्टेबल) हैं। 'मृच्छकटिक' में भी तीन ही पुलिस पात्र हैं। 'संस्थानक के पद पर राज-श्यालक है तथा अन्य दो रक्षा पुरुष चन्दनक और वीरक हैं।

कर्त्तव्य पालन और मनोवृत्ति के आधार पर इन पात्रों को दो वर्गों में सुगमता पूर्वक विभाजित किया जा सकता है —(१) कर्त्तव्यपालक और (२) कर्त्तव्य-विमुख। कर्तव्यपालक पात्रों को भी सात्विक और राजसिक भागों में बाँटा जा सकता है।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के तीनों पात्र और 'मृच्छकटिक' का रक्षापुरुष वीरक कर्त्तव्यपालक पात्र हैं। इनमें से वीरक सात्विक वृत्ति का है। वह अपने कर्तव्य को सर्वोपरि समझता है। तथा कर्तव्य के प्रति पूर्ण रूप से सजग है। सम्पत्ति और सम्बन्ध, राग और विराग, भय और घृणा, अस्थान और असमय उसे कर्तव्य का पालन करने से विचलित नहीं कर पाते। वह कारागार से भागे हुए गोपाल दारक आर्यक को पकड़ने के लिये यथाशक्ति तत्पर है। इस प्रसंग में वह अपने सहकारी रक्षापुरुष चन्दनक पर भी विश्वास नहीं करता है। अतः उससे पूर्व निरीक्षित शिविका (गाड़ी) को स्वयं देखे बिना जाने की आज्ञा नहीं देता। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के तीनों पात्र भी कर्तव्य का पालन करते हैं। वे चोरी का माल बेचने वालों को पकड़ने में प्रमाद नहीं करते। वे मछुहारे को तब तक बन्धन मुक्त नहीं करते जब तक राजाज्ञा नहीं मिलती और वह निरपराध घोषित नहीं हो जाता। ये तीनों पात्र कर्तव्यपालक होने पर भी अपराधियों

१. अहो ! नगर रक्षिणां प्रमादः (मृच्छ० नवमोऽङ्कः)

पुरस्कार या रिश्वत लेना और शराब-खाने में जाकर शराब को मित्रता की साक्षी बनाना बुरा नहीं समझते। ये बिना गाली-गलोच के अपराधी से बात नहीं करते। अपराधी को—संदिग्धावस्था में भी—मारने पीटने के लिये इनके हाथ खुजलाते हैं। इनके ये कार्य हमारे मन में इनके प्रति अविश्वास और सन्देह उत्पन्न करते हैं। नाटक में पूर्ण रूप से सिद्ध न होने पर भी अनुमान लगाया जा सकता है कि चाय-पानी अथवा फल-फूल के नाम पर सहर्ष धन लेने वाले तथा शराब के प्याले पर मित्रता स्थापित करने वाले पात्र इन आकर्षणों के सम्मुख कर्त्तव्य से च्युत भी हो सकते हैं।

कर्त्तव्य-विमुख पात्रों में रक्षा पुरुष चन्दनक और संस्थानक राजश्यालक शकार का परिगणन होता है। चन्दनक गोपाल दारक आर्यक को चारुदत्त के रथ में छिप कर भागता हुआ देख कर न केवल स्वयं ही नहीं पकड़ता अपितु सहकार्यकर्ता वीरक को भी पकड़ने नहीं देता। वह उसे पकड़ कर अपने मित्र चारुदत्त को फंसाना नहीं चाहता। क्योंकि रथ का स्वामी होने के कारण चारुदत्त भी राजा का कोपभाजन बनेगा। इसलिये वह चालाकी से वीरक को ठगना चाहता है परन्तु अपने कार्य में सफल न होने पर शारीरिक शक्ति का उपयोग करने से भी नहीं चूकता।

अन्तिम पुलिस-पात्र शकार कर्तव्य के प्रति नितान्त उदासीन है। वह अपने अधिकार और पद का प्रयोग काम-वासना की तृप्ति, वैरी-मर्दन, प्रभाव-स्थापन आदि में करता है। वह नगर निवासियों की रक्षा करने के स्थान पर स्त्रियों का आखेट करता है। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को डराता धमकाता है, अभिलाषा की पूर्ति में हानि पहुंचाने के लिए कटिबद्ध रहता है। वह अपने कुकर्म को छिपाने के लिये धन का लोभ देकर—रिश्वत देकर—मुंह बन्द करने का प्रयत्न करता है। इस प्रसंग में वह हत्या करने से भी हिचकिचाता नहीं यह पात्र व्यभिचारी, दुराचारी, कर्त्तव्य-विमुख पुलिस अधिकारियों के चरित्र-कार्य-व्यापार और काले कारनामों पर प्रकाश डालता है।

उपरोक्त दोनों कर्त्तव्य-विमुख पात्रों में से चन्दनक मित्र को आपत्ति से बचाने के लिये कर्त्तव्य की उपेक्षा करता है परन्तु शकार की दृष्टि में परार्थ के स्थान पर स्वार्थ ही प्रमुख है उसके विचार में मित्र तभी तक मित्र है जब तक वह स्वार्थ-साधन में सहायक है। विपरीत अवस्था में वही व्यक्ति उसकी दृष्टि में अमित्र और शत्रु हो जाता है।

पुलिस में भ्रष्टाचार :—उच्च पद और अपरिमित अधिकार मनुष्य को पथ-भ्रष्ट कर देते हैं। पद और अधिकार की उन्नति और वृद्धि के साथ-साथ मनष्य में

अहंकार और मादकता की मात्रा बढ़ती जाती है। फलतः अधिकार प्राप्त व्यक्ति पथभ्रष्ट होने लगता है और अपने अधिकार का दुरुपयोग करने लगता है। प्रस्तुत नाटकों के पुलिस-पात्रों के कार्य-व्यापार और चरित्र से यह तत्त्व निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है। गहन अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि आज से लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व पुलिस में वे सभी बुराइयां विद्यमान थीं जिनके लिये यह वर्ग आज भी कुख्यात है। ये भ्रष्टाचार का शिकार थे और अपने अधिकारों को अनेक रूपों में दुरुपयोग करते थे। उनमें रिश्वत खोरी, मद्यपान, नारी-आखेट आदि दुर्वृत्तियां थीं। वे गाली गलौच दिए बिना भले मानस के साथ बोलने में असमर्थ थे।१

१. **अधिकार का दुरुपयोग**:—नागरिक और संस्थानक जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति का आधार सम्बन्ध या योग्यता नहीं। राजा का निकट सम्बन्धी होने के कारण ये अधिकारी अन्य पदाधिकारियों तथा जनता के बिना किसी विशेष प्रयास के प्रभावित करते थे। प्रातःकाल इनका दर्शन अशुभ माना जाता था। न्यायालय आदि में इनकी उपस्थिति अपशकुन मानी जाती थी। इसी लिये न्यायालय का चपरासी शकार को देख कर मुंह फेर लेता है। "कथम् !! एव राष्ट्रीय श्यालो दुष्ट दुर्जन मनुष्य इत एव आगच्छति !! तत् दृष्टिपथं परिहृत्य गमिष्यामि।२"

न्यायाधीश भी चपरासी से शकार के आने की सूचना पाकर कहता है—

"कथम् !! राष्ट्रीय श्याल: कार्यार्थी !! यथा सूर्योदये उपरागो महापुरुष निपातमेव कथयति। शोधनका ! व्याकुलेनाद्य व्यवहारेण भवितव्यम्।३" ...

इसलिए न्यायाधीश चपरासी से कहलवाता है:—

"भद्र ! निष्क्रम्य उच्यतां, गच्छ, अद्य न दृश्यते तव व्यवहार:।४"

परन्तु शकार इसे अपना अपमान समझता है। इसलिये राजा से अपने सम्बन्ध

१. पाटच्चर ! किमस्माभिजानाति : पृष्टा ?
गच्छ, अरे गण्डभेदक :

(अभिज्ञान शाकुन्तल षष्ठोऽङ्क:)

२. अरे ! यह राजा का साला दुष्ट दुर्जन मनुष्य इधर ही आ रहा है। इसलिए नजर बचा कर चला जाता हूं।

३. अरे ! राजा का साला कार्य चाहता है राहु के द्वारा सूर्य के ग्रसे जाने के समान किसी महापुरुष के विनाश की बात कहेगा। शोधनक ! आज न्यायालय की कार्यवाही गड़बड़ी से युक्त होगी।

४. भाई ! जाकर कहदो—जाओ., आज तुम्हारा मुकदमा नहीं सुना जायेगा।

। ढोल पीटते हुए न्यायाधीश को ही नौकरी से हटवाने की धमकी देता है :—

"किम् ! न दृश्यते मम व्यवहारः ? यदि न दृश्यते, तदा आबुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य, भगिनीं अन्तिकाञ्च विज्ञाप्य एतमधिकरणिकं दूरीकृत्य अत्र अन्यमधिकरणिकं स्थापिष्यामि ।" (क्या मेरा मुकद्दमा नहीं सुना जाएगा ? यदि मेरा मुकद्दमा नहीं सुनोगे तो मैं अपने जीजा प्रजापालक राजा को नौकरी से हटवा कर इसके स्थान पर दूसरे न्यायाधीश की नियुक्ति करवा दूंगा ।)

शकार की धमकी को सुन कर न्यायाधीश भयभीत हो जाता है । वह सोचता है —

"सर्वमस्य मूर्खस्य सम्भाव्यते" इस मूर्ख से सब प्रकार की आशा की जा सकती है। इस लिये वह मुकद्दमा सुनने के लिये तय्यार हो जाता है ।

'मृच्छकटिक' के दसवें अंक में चारुदत्त को फांसी पर चढ़ाए जाने के लिये प्रसंग में शकार उपस्थित होता है। वह चांडालों को चारुदत्त के साथ-साथ उसके निरपराध पुत्र रोहसेन को भी मारने के लिये बाधित करता है परन्तु चाण्डाल अप्रभावित रहते हैं और दृढ़तापूर्वक इस प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं ।

शकार जनता पर और बसन्त सेना गणिका पर रोब डालने के लिये भी अपने पद तथा राजा से सम्बन्ध का प्रयोग करता है परन्तु अपने बुरे व्यवहार तथा मूर्खता-पूर्ण काले कारनामों के कारण उनके हृदयों पर अधिकार पाने में असमर्थ रहता है।

रिश्वत खोरी और मद्यपान :—

तत्कालीन पुलिस समाज में रिश्वत खोरी और मद्यपान की बुराइयां थीं । यद्यपि रिश्वत खोरी की बुराई को सिद्ध करने के लिये विवेच्य नाटकों में स्पष्ट पुष्ट प्रमाण का अभाव है फिर भी संकेत अवश्य मिल जाता है। शकार बसन्त सेना की हत्या को छिपाने के लिये घटना के एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण अपने नौकर को हाथ पैर बांध कर कमरे में बन्द कर देता है। परन्तु वह जिस-किसी प्रकार भाग निकलता और वास्तविकता को प्रकट कर देता है । इस विकट परिस्थिति में शकार रिश्वत का सहारा लेता है । वह इसके महत्त्व से भली प्रकार परिचित है। वह उसे रहस्य को न खोलने के लिये अपने हाथ के सोने के कंगन की रिश्वत देता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि रिश्वत देने वाले हाथ रिश्वत लेने से भी संकोच नहीं करते होंगे ।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक के छठे अंक के प्रवेशक में राजा दुष्यन्त द्वारा निरपराध घोषित और पुरस्कृत मछुहारा ईर्ष्या पूर्वक ताकते हुए रक्षा पुरुष जानुक को सम्बोधन करता हुआ कहता है :—

"भट्टारक ! इतोऽर्धं युष्माकं सुमनो मूल्यं भवतु ।" अर्थात् इस पुरस्कार का

आधा आपके फल-फूल अथवा चाय पानी के लिये है। यह सुन कर तीनों प्रसन्न हो जाते हैं और राजा का साला नागरिक (City Superintendent) धीवर को प्रेम पूर्वक कहता है :--

"धीवर ! महत्तरस्त्व प्रियवयस्क इदानीं में संवृत्तः । कादम्बरी सखिस्त्वं-मस्माकं प्रथम शोभितमिष्यते। तच्छौणिकापणमेव गच्छामः ।" (अरे भाई धीवर ! अब तुम मेरे प्यारे दोस्त बन गये हो । मेरी इच्छा है-- मदिरापान हमारा प्रथ प्रीतिपात्र हो। तो आओ, शराब की दुकान पर चलें ।)

भाईचारा :—पुलिस भाईचारे से प्रभावित थी। अनेक अवसरों पर भाईचारे के लिये कर्त्तव्य को तिलांजलि दे दी जाती थी। चन्दनक, राजा के प्राण-शत्रु गोपाल दारक आर्यक को बन्दी बना लेना परन्तु अपने मित्र चारुदत्त को आपत्ति में फंसने से बचाने के लिए उसे चारुदत्त की शिविका में छिपा हुआ देख कर भी अनदेखा कर देता है। सहकार्यकर्ता वीरक के शिविक में झांकने का प्रयत्न करने पर तपाई करने से भी झिझकता नहीं ।

झूठे मुकद्दमे बनाना:— 'मृच्छकटिक पुलिस की इस पुरानी आदत पर स्पष्ट प्रकाश डालता है। पुलिस के कर्मचारी अपने अपमान का बदला लेने और प्रतिद्वन्द्वियों तथा स्वार्थसिद्धि में बाधक व्यक्तियों को फंसाने अथवा नष्टमूल करने के लिए झूठे मुकद्दमे बनाते थे। संस्थानक पदाधिकारी शकार के क्रियाकलापों से यह तथ्य प्रकट होता है। वह बसंतसेना की स्वयं हत्या करता है। इस कार्य में सहायता न देने पर अपने सेवकों--विट और चेट— को धमकाता-डराता है। विट दोषारोपण के भय से घटनास्थल से जाना चाहता है। परन्तु शकार कहता है:—"अरे! बसंत सेनां स्वयमेव मारयित्वा मां दूषयित्वाकुत्र पलायसे?" अन्य प्रसंग में वह बसंतसेना की हत्या की रिपोर्ट लिखाने के लिए न्यायालय में पहुँच कर सोचता है:--

"विसग्रन्थि-गर्भ-प्रविष्टेनेव कीटकेनान्तरं मार्गमाणेन प्राप्तं मया महदन्तरम्; तत् कस्येदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि ? आं ! स्मृतं मया,दरिद्र चारुदतस्य इदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि अन्यच्च,दरिद्र:खलु सः, तस्य सर्व सम्भाव्यते"

(कमल की जड़ में घुसे हुए और बाहर निकलने का रास्ता खोजते हुए कीड़े के समान मैंने रास्ता निकाल लिया है हां, याद आया, निर्धन चारुदत्त के सिर पर इस हत्या को थोपूंगा। वह निर्धन है। इससे इस सबकी आशा हो सकती है।) दुर्भाग्य से चारुदत्त के फंस जाने पर वह कहता है :--"अनेन मया कृतं पाप-मन्यस्य मस्तके निपातितम् ।"

वह इस सत्य से भी भली भांति परिचित है कि पहले रिपोर्ट लिखाने वाले

व्यक्ति का पक्ष सबल होता है।[1] इसलिये वह चारुदत्त पर बसन्त सेना की हत्या का आरोप लगा कर न्यायालय से रिपोर्ट लिखवा देता है। वह विट के सिर पर भी हत्या मढ़ने की धमकी देता है। इसके अतिरिक्त वह चेट पर झूठा आरोप लगाता है। उसे भय है कि वह मेरे कुकृत्य बसन्त सेना की, हत्या के अपराध के रहस्य का भण्डा न फोड़ दे। परन्तु हत्या को छिपाने के लिये घर में कैद किये हुए प्रत्यक्ष प्रमाण चेट को द्वारा रहस्य खोलने पर शकार हाथ का कड़ा उतार कर रिश्वत देता है बाद में इसी सोने के कंगन की सहायता से उसे अपराधी और चोर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। जनता उसकी बातों पर विश्वास कर लेती है। भला गरीब की बात पर कौन विश्वास करेगा। शकार इस सत्य से भी पूर्णतया परिचित है।

आजकल भी धनिक और शक्ति सम्पन्न वर्ग निरीह, निराश्रित, मजदूर अथवा घर-कार्यालय के नौकर की पसीने की कमाई को मारने के लिये या अपने अपराधों से बचने के लिये इन पर अथवा गरीबों पर झूठा मुकद्दमा बना देते हैं। बेचारा सिर धुनता है और अपने भाग्य को कोसता है।

अहं भाव और शक्ति-प्रदर्शन :—

विवेच्य काल की पुलिस अहंभाव और शक्ति-प्रदर्शन की प्रवत्ति से मुक्त नहीं थी। पुलिस अधिकारी समय-असमय और स्थान-अस्थान पर इसका प्रदर्शन करते थे उच्च अधिकारियों में यह रोग अपेक्षाकृत अधिक था 'मृच्छकटिक' के ध्ययन से यह बात प्रमाणित होती है शकार अपने पद और राजा से अपने सम्बन्ध का ढोल पीटता है वह बसन्त सेना को अपने व्यक्तित्व और चरित्र से नहीं अपितु पद और सम्बन्ध से प्रभावित करने का यत्न करता है उसको प्राप्त करने के मार्ग में प्रतिद्वन्द्वी चारुदत्त को भी इसी बल बूते पर राह से हटाना चाहता है वह न्यायालय के चपरासी से कहता है :—

"अहं वरपुरुषो मनुष्यो वासुदेवो राष्ट्रिय श्यालो कार्यार्थी।" अर्थात् मैं महा मानव, साक्षात् भगवान् राजा का साला रिपोर्ट लिखवाने आया हूँ।

वह न्यायाधीश को भी इसी आधार पर मुकद्दमा सुनने के लिये बाधित करता है।[2] वध्य स्थल पर भी शकार के इसी रूप के दर्शन होते हैं। वह राज मार्ग पर बसन्त सेना का पीछा करता है रात्रि के अन्धकार में बसन्त सेना दैवयोग से चारुदत्त

---

१. अधिकरणमण्डपं गत्वा अग्रतो, व्यवहारं लेखयिष्यामि तथा "चारुदत्तेन बसन्त सेना मोटयित्वा मारिता"। (मृच्छकटिक नवमोऽङ्कः)

२. इस घटना का उल्लेख 'अधिकार का दुरुपयोग' प्रसंग में किया गया है।

के घर में घुस कर रक्षा करती है इसी अवसर पर शकार चारुदत्त के मित्रमैत्रेय को कहता है:—

"अरे रे दुष्ट वटुक ! भणिष्यसि मम वचनेन दरिद्र–चारुदत्तकम्— एषा. वसन्तसेना ....अस्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा तत् यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्य एनां समर्पयसि ततो अधिकरणे व्यवहारं बिना लघुनिर्यातयमानस्य तव मया अनुबद्धा प्रीतिर्भविष्यसि अथवा अनिर्यातयमानस्य आमरणांतकं वैरं भविष्यति ।"

अर्थात् अरे ओ दुष्ट ब्राह्मण के बच्चे! मेरी ओर से उस गरीब चारुदत्त को कह देना कि मेरे द्वारा बलपूर्वक पीछा की जाती हुई बसन्त सेना तेरे घर में घुस गई है। यदि तू इसको अपने आप आकर मुझे सौंप देगा तो न्यायालय में लिखित समझौते के बिना भी तेरी-मेरी पक्की दोस्ती होगी। इसके विपरीत आमरण दुश्मनी रहेगी।

आतंक—अधिकार-सम्पन्न व्यक्तियों का सामान्य व्यक्तियों पर स्वाभाविक रूप से आतंक बैठ जाता है पुलिस कर्मचारियों के शक्ति-सम्पन्न होने के कारण जनता इनसे भयाकुल रहती थी। अन्य अधिकारी भी इस आतंक के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। शकार और अधिकरणिक की घटना इसकी साक्षी है। 'मृच्छकटिक' नाटक में ऐसे अनेक स्थल हैं जो इस सत्य को उद्घाटित करते हैं परन्तु एक पंक्ति इस आतंक के वीभत्स रूप को नग्न रूप में प्रस्तुत करती है। यह सूचित करती है कि इन तथा कुछ अन्य प्रकार के व्यक्तियों से डर कर सामान्य नागरिक सायंकाल हो जाने पर घरों से बाहर निकलना मुसीबत को बुलाना मानते थे। चारुदत्त अपने मित्र मैत्रेय को चौराहे के मन्दिर में पूजा-बलि चढ़ाने के लिये जाने के लिये कहता है परन्तु वह टका सा जवाब दे देता है। क्योंकि—

"एतस्यां प्रदोषवेलायां इह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषा संचरन्ति, तस्मातमण्डूक-लुब्धकस्य कालसर्पस्य मूषिक इव अभिमुखापातितो बध्य इदानीं भविष्यामि ।"

(सायंकाल में इस राजमार्ग पर वेश्याएं, उनके नौकर-चाकर तथा राजा के प्रिय पात्र घूमते रहते हैं। इसलिये मेंढक के लोभी सांप के मार्ग में आए हुए चूहे के समान मैं उनके सामने पड़ने पर मारा-पीटा जाऊंगा।)

पुलिस के आतंक का एक अन्य कारण भी था। इसके पंजे में फंसा हुआ व्यक्ति सौभाग्य से ही निकल पाता था। धीवर के निरपराध सिद्ध होने पर कहे हुए रक्षा-पुरुष जानुक के ये शब्द प्रमाण स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं करते:—

"एष यम सदनं प्रविश्य प्रतिनिवृतः ।"
अर्थात् यह यमराज के घर जाकर (मौत

के मुंह से) वापस लौटा है।

अपराधियों को मारना-पीटना तथा दुर्व्यवहार करना :—पुलिस कर्मचारी अपना रोब डालने के लिये या रहस्य का उद्घाटन कराने के लिये संदिग्ध अथवा स्वयं सिद्ध अपराधियों को मारा-पीटा भी करती थी। "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में दोनों रक्षा पुरुष धीवर को मारते हुए अंगूठी की प्राप्ति की सूचना मांगते हैं। राज दरबार के बाहर राजाज्ञा की प्रतीक्षा करते हुए सूचक अपने साथी जानुक से कहता है :—

"जानुक ! प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं।" मेरे हाथ इसे मारने के लिए फड़क रहे हैं।

वे धीवर को मारते हुए ही रंगमंच पर प्रविष्ट होते हैं। तथा उसके साथ अभद्र व्यवहार करते हैं।

कामुकता :—'मृच्छकटिक' नाटक से पुलिस उच्चाधिकारियों में वर्तमान कामुक प्रवृत्ति पर भी प्रकाश पड़ता है। पदाधिकार मनुष्य की आर्थिक अवस्थाको सुधार देते हैं। भौतिक आवश्यकताओं के पूरा हो जाने पर व्यक्ति अयत्नप्राप्त अथवा अल्प-प्रयासोपलब्ध असीमित धन को भोगना चाहता है। उसके सम्मुख कामवासना तृप्ति, मद्यपान और द्यूत के मार्ग ही रह जाते हैं। शकार का आचरण इसे उद्भासित करता है। संस्थानक बनने पर उसकी आर्थिक दशा सुधर जाती है। अधिकार और शक्ति उसे मदान्ध बना देते हैं। वह पथ भ्रष्ट हो जाता है। दिल-फक नौजवान की तरह वह बसन्त सेना का शिकार करता है और उसे अपने पद तथा धन के द्वारा आकर्षित करने का आयास करता है। गणिका के प्रति इस आकर्षण के होने के कारण उसके अपराध और पतन की गुरुता में लघुता का कुछ कुछ समावेश होता है।

अन्त में उस पुलिस को धिक्कार है जो कर्त्तव्य की हत्या कर उच्चाधिकारियों के हाथ की कठपुतली मात्र है। उनके संकेत पर निरपराध व्यक्ति पर झूठे मुकद्दमे बनाना पुलिस के बांये हाथ का खेल है। चांदी की जूती का जिन पर मदारी के चुर्लू के समान प्रभाव पड़ता है और तत्क्षण अपराधी को निरपराध और निरपराध को अपराधी बना दिया जाता है। खूनी हत्यारा बेदाग छूट जाता है और निश्छल सूली पाता है। जिनकी दृष्टि में माता-पिता, पत्नी-पुत्र, भाई-बहन आदि पवित्र सम्बन्ध क्षण-स्थायी और निरर्थक हैं। जिनकी कामाग्नि में पतिव्रताओं का सतीत्व भस्म हो जाता है। उत्कोच और मद्य जिनके हाथ और मस्तिष्क में गुदगुदी और मस्ती पैदा करते हैं। इन महानुभावों को मेरा दूर से ही शत-शत नमस्कार है।

○ ○

संस्कृत काव्य में हास्य रस

शाम्भवी दत्त शास्त्री

संस्कृत सब भाषाओं की जननी है प्रायः इसे सब मानते हैं। एक समय वह भी था जब भारत में इसका आधिपत्य था। राजा लोग विद्वानों का सम्मान करते थे। अपनी सभाओं मे शास्त्र-चर्चा सुनते थे। बड़े-बड़े विद्वानों के शास्त्रार्थ सुनने के लिये लोग एकत्रित होते थे। जिस प्रकार राजा लोग दिग्विजय करते थे उसी प्रकार विद्वान् भी दिग्विजय करने जाते थे। परस्पर शास्त्रार्थ कर एक दूसरे को पराजित करता था, और ये शास्त्रार्थ होते थे संस्कृत में। दिग्विजय करने के लिये गये हुए स्वामी शंकराचार्य जी को मण्डन मिश्र का परिचय देती हुई ग्रामीण स्त्रियों ने कहा था—"जिस घर के द्वार पर लटकते हुए पिंजरों में तोते और मैनाएं परस्पर शास्त्र-चर्चा कर रहे हों उसे ही मण्डन मिश्र का घर समझना।" यह था संस्कृत भाषा का चरमोत्कर्ष। रामायण महाभारत और पुराण छन्दोबद्ध रचनाएं हैं। इनके बाद इनकी कथाओं के आधार पर कालिदास आदि कवियों ने काव्य रचना की। संस्कृत में जितना साहित्य छन्दोबद्ध (पद्यात्मक) मिलता है उसके समक्ष गद्यात्मक साहित्य आटे में नमक के समान है। उस समय पद्य-प्रवाह ऐसा चला, जिससे काव्य का अर्थ छन्दोबद्ध रचना (कविता) लिया जाने लगा। जैसा कि संस्कृत और उसके काव्य के सम्बन्ध में यह श्लोक स्पष्ट है—

भाषासु मुख्या मधुरा दिव्या गीर्वाण भारती।
तस्याः हि काव्यं मधुरं तस्मादपि सुभाषितम्॥

भाषाओं में सबसे मुख्य, सुनने में मधुर, दिव्यगुणों वाली संस्कृत भाषा है। उसमें भी काव्य मधुर है और काव्य में भी सुभाषित मधुर है।

काव्य की आत्मा रस को माना गया है। जिस काव्य में रस नहीं उसे काव्य नहीं कहा जा सकता। वह रस कितना आनन्द देने वाला है जिसे 'ब्रह्मानन्द सहोदरः' का नाम दिया गया है। जिस प्रकार योगीजन समाधिस्थ होकर ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करते हैं उसी प्रकार पुण्यवान व्यक्ति ही इस रस का आनन्द प्राप्त करते हैं।

इस भूतल पर रहने वाला मानव काव्य-रस को पीकर आनन्द का अनुभव करता है। वह झूमता है, परन्तु उसके हृदय में एक जिज्ञासा है जिसका समाधान उसे आजतक नहीं मिला।

कान्पृच्छामः सुरा स्वर्गे निवसामो वयं भुवि। किं वा काव्य रसः स्वादुः किं वा स्वादीयसि सुधा ॥

—देवता स्वर्ग में रहते हैं, हम मनुष्य पृथ्वी पर रहते हैं। इस बात का निर्णय किस से करें कि काव्य-रस अधिक आनन्द दायक है अथवा अमृत-रस।

जिस 'रस' का आनन्द सहृदय व्यक्ति ही ले सकते हैं, आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार उसके भेद इस प्रकार हैं।

शृंगार हास्य करुण रौद्र वीरभयानकाः। वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा-मतः ॥

—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांतरस।

इन नौरसों में हास्य रस अपना विशेष स्थान रखता है। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का अनुसरण करने वाले कुछ विद्वानों का यह मत कि "संस्कृत में शृंगार रस की प्रचुरता है और अधिकतर गम्भीर साहित्य की रचना हुई है, किन्तु हास्य रस का अभाव है। यदि कुछ है भी, तो वह कुरुचि पूर्ण और निम्नकोटि का है।" यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है, क्योंकि सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य को न लेकर यदि केवल काव्य (कविता) को ही लिया जाय तो उसमें जितना हास्य रस मिलता है वह थोड़ा नहीं प्रचुर मात्रा में है। निम्न कोटि का न होकर उच्च कोटि का है। हास्य रस का भेद उपभेदों सहित जितना विशद विवेचन संस्कृत में मिलता है उतना अन्य भाषाओं में मिलना असम्भव है।

नाट्य शास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने हास्य रस की उत्पत्ति शृंगार रस से मानी है। उनका यह मत नाटकों में घटित हो सकता है। किन्तु जब हम नाटकों को छोड़ कर अन्यत्र दृष्टिपात करते हैं तो हास्यरस का स्वतन्त्र रूप हमें स्पष्ट दीख पड़ता है। जन्म लेने के बाद बच्चा रोता है, झूले में झूलता हुआ स्वयं मुस्कराने लगता है। कभी कभी खिलखिला कर हंसता भी है। अबोध बच्चे की ये दोनों क्रियाएं स्वाभाविक हैं। शृंगार से वह अछूता है किन्तु फिर भी उसके हास्य को देख कर शृंगार को हास्य रस का जनक कौन मान सकता है। छोटे छोटे पद्यों में वक्रोक्ति, पारस्परिक वार्तालाप में, सुभाषितों में, राजा, निर्धन और भिखारी आदियों की उक्ति में हास्य रस की सुन्दर छटा यत्र तत्र बिखरी हुई दिखाई देती है। अतः उपर्युक्त रसभेदों में आचार्य विश्वनाथ ने हास्य रस को नौ रसों में एक अलग रस मान कर इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

विकृताकार वाग्वेष चेष्टादेः कुहकाद् भवेत्।

हास्यो हास स्थायिभावः श्वेतः प्रमथ दैवतः ।।

—किसी के स्वयमेव बिगाड़े हुए आकार, वाणी, वेषभूषा और मुखादि की चेष्टाओं को देख कर हास्य रस की उत्पत्ति होती है। जिसका स्थायीभाव हास है, सफेद रंग है और प्रमथ देवता है। हास्य के वर्ण का जहां तक सम्बन्ध है कवियों ने सफेद वर्णन किया है। कवि समय ख्याति इस प्रकार है।

......यशसि धवलता वर्ण्यते हास कीर्त्योः

—यश, हास्य और पुण्य को श्वेत वर्णन किया जाता है।

जिस व्यक्ति के विकृत आकार और चेष्टाओं को देख कर एवं वाणी को सुन कर अन्य व्यक्ति हंसता है उसे 'आलम्बन' कहते हैं। उसकी चेष्टाओं को 'उद्दीपन' माना है। आँखों को बन्द करना और हँसना आदि अनुभाव हैं। निद्रा, आलस्य और अवहित्था इसमें 'व्यभिचारीभाव' होते हैं।

प्राचीन आचार्यों ने हास्य रस के भेद इस प्रकार किये हैं।

आत्मस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेद एद्वयं मतम् ।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः ।।
हसन्त मपरं दृष्ट्वा विभाव श्चोपजायते ।
योऽसौ हास्य रस स्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः ।।

—हास्य के आत्मस्थ और परस्थ ये दो भेद हैं। किसी को देख कर जब व्यक्ति स्वयं हंसता है उसे 'आत्मस्थ' कहते हैं। किसी दूसरे को हंसता हुआ देख कर जब व्यक्ति हंसता है बुद्धिमान पुरुष उसे 'परस्थ' कहते हैं।

इसके बाद छः भेद और किए हैं—

ज्येष्ठानां स्मित हसिते मध्यानां विहसिता वहसिते च ।
नीचाना मपहसितं तथाति हसित तदेष षड्भेदः ।।

—उत्तम व्यक्तियों में स्मित और हसित, मध्यम प्रकार के व्यक्तियों में विहसित और अवहसित, निम्न श्रेणी के अथवा छोटे दर्जे के लोगों में अपहसित और अतिहसित देखा जाता है।

स्मित (मुस्कान) में गालों का थोड़ा सा फूलना तो पाया जाता है किन्तु दन्त-पंक्ति दिखाई नहीं देती। उसमें कितना माधुर्य है। काव्य में प्रयुक्त 'शुचिस्मिताम्, 'शुचिस्मिते' पदों से स्मित की पावनता भी व्यक्त होती है। हसित में मुंह खुलता है, दन्तावली अपनी थोड़ी सी झलक दिखाती है। गालों का फूलना और आंखों का विकास होता है। कतिपय आचार्यों ने जवानी की मस्ती के कारण अचानक हंसना अथवा विक्षिप्तावस्था में वृथा हंसी को हसित माना है। जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में जब विदूषक शकुन्तला के प्रेम के सम्बन्ध में राजा से पूछता है तब राजा दुष्यन्त उसके उत्तर में कहता है वह तापस कन्या चंचल नहीं किन्तु फिर भी

अभिमुखे मयि संहृत मीक्षितम्,
हसित मन्यनिमित्त कथोदयम् ।

—मेरे सम्मुख होने के कारण शकुन्तला ने लज्जावश अपनी आँखें नीची कर लीं, पर दूसरी बातों के बहाने हंसती रही ।

विहसित में मुख से आवाज़ निकलती है, मुखमण्डल पर लालिमा दौड़ती है, आँखें संकुचित हो जाती हैं । अवहसित में कन्धे सिकुड़ने लगते हैं, सिर हिलता है, दृष्टि टेढ़ी हो जाती है और नाक फूलने लगती है । बिना अवसर की हंसी को अपहसित कहते हैं । इस अवस्था में आंसुओं की तरह नेत्रों से जल गिरने लगता है, सिर और कन्धे कांपने लगते हैं । अतिहसित में नेत्रों से जल प्रवाहित होता है, तीव्र ध्वनि कानों को अच्छी नहीं लगती और कमर को हाथों से दबा लिया जाता है ।

इन मुख्य भेदों के अतिरिक्त परिहास, उपहास और अट्टहास का प्रयोग भी काव्य में होता है । नाट्यशास्त्र में परिहासको मनोविनोद बतलाया है । 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में राजा दुष्यन्त सोचता है, शकुन्तला' के सम्बन्ध में जो बातें मैंने विदूषक से की हैं यह अन्तःपुर में जाकर कहीं सब को न सुना दे । अतः विदूषक से कहने लगा—मैं आश्रम में ऋषियों की आज्ञा पालन करने जाता हूँ । उस पतापस कन्या शकुन्तला के लिये नहीं । तनिक सोचो तो —

क्व वयं, क्व परोक्ष्य मन्मथो
मृगशावैः सह वर्द्धितो जनः ?
परिहास विजल्पितं सखे !
परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥

मित्र ! सांसारिक विषय वासनाओं में फंसा हुआ कहां तो मैं ? मृगों के बच्चों के साथ रह कर पली हुई और विषयों से अनभिज्ञ वह शकुन्तला कहां ? मन बहलाव के लिये की हुई मेरी इन सब बातों को तुम सच न समझ लेना ।

जब किसी गुणविशेष के न होने पर भी उसके प्रदर्शन की चेष्टा की जाती है तब लोग उसकी हंसी उड़ाते हैं। इसे 'उपहास' कहते हैं। यह पंचतन्त्र के एक श्लोक में दिखाया गया है ।

अपि शास्त्रेषु कुशलाः लोकाचार विवर्जिताः
लोके ते हास्यतां यान्ति यथा ते मूर्ख-पण्डिताः॥

—शास्त्रों में प्रवीण होते हुए भी लोक व्यवहार न जानने वाले व्यक्ति मूर्ख पण्डितों की तरह संसार में उपहास का पात्र बनते हैं ।

उच्च स्वर से खिखिला कर हंसने को अट्टहास कहते हैं । जैसा कि दुर्गा सप्तशती में व्यक्त किया गया है—

प्राह प्रचण्डाट्टहास मिश्रमभ्येत्य चण्डिकाम् !

कालिका चण्डिका के पास जाकर भीषण अट्टहास करती हुई कहने लगी।

संस्कृत में हास्य रस का यह सूक्ष्म विवेचन प्राचीनतम है । रामायण और महाभारत के प्रसंग आज के नहीं, हजारों वर्ष पहले के हैं । हास-परिहास और व्यंग-

विनोद केवल बच्चों [illegible] नहीं वह तो उच्च कोटि के श्रेष्ठ व्यक्तियों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। सभा में बैठने का ढंग जानने वालों को 'सभ्य' कहा जाता है। जिस सभा में सन्नाटा छाया रहे वह सभा नीरस प्रतीत देगी, क्योंकि विनोद ही सभा के वातावरण को सरस बनाता है। राजाओं की सभा के विद्वान्, कवि, भाट, गायक, विदूषक, (हंसाने वाले) इतिहास-पुराण वेत्ता ये सात अंग माने हैं। राजा भोज की सभा में कवि कालिदास और सम्राट् अकबर की सभा में बीरवल की विद्यमानता इसका प्रबल प्रमाण है। जो अपने हास्यरस के प्रवाह से सभासदों का हृदय आप्लावित करते थे।

प्रत्येक व्यक्ति जीवन में हंसता अधिक है और रोता कम है, क्योंकि हँसना उसे दीर्घजीवी बनाने में सहायक सिद्ध होता है। रोना मृत्यु की ओर ले जाता है। अतएव 'पादतड़ितकम्' का यह पद्य हमें हंसने की प्रेरणा देता है।

न प्राप्नुवन्ति यतयो रुदितेन मोक्षं,
स्वर्गायतिं न परिहास कथा रुणद्धि।
तस्मात्प्रतीत मनसा हसितव्यमेव
वृत्तिं वुधेन खलु कौसकुचीं विहाय।

यतिगण रोने-कलपने से ही मोक्ष नहीं पाते। यदि आगे स्वर्ग मिलने वाला होगा तो हंसी ठट्ठे से उसमें किसी प्रकार बाधा नहीं पड़ सकती। इसलिये बुद्धिमानों [illegible] बिगाड़ने की आदत को छोड़ कर बेखटके हँसना चाहिए।

हास्य-विनोद केवल मनुष्यों के लिये ही नहीं बल्कि ब्रह्मादि देवता भी कितने विनोदप्रिय थे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश के आदि में पार्वती और भगवान शंकर को संसार के माता-पिता कह कर प्रणाम किया। ज़रा देखिए उनके विवाह की घटना कितनी विनोदपूर्ण है —

तातं तत्तात तातं कथय हरकुलेऽलंकृते सम्प्रदाने,
तच्छ्रुत्वा चन्द्रमौलिर्नत मुखकमलो जात लज्जोबभूव।
ब्रह्मावादीत्तदानीं शृणुत हरकुलं वेद कण्ठोग्रकण्ठौ
श्रीकण्ठान्नीलकण्ठः प्रहसित वदनः पातु व श्चन्द्रचूड़ः॥

कन्यादान के समय जब शिव को उनके प्रपितामह, पितामह और पिता का नाम पूछा तो उन्होंने लज्जावश अपना सिर झुका लिया। उस समय ब्रह्मा जी झट बोल उठे—अच्छा, सुनो इनकी वंशावली पहले वेदकंठ हुए उनके उग्रकंठ हुए, उनके श्रीकंठ फिर नीलकंठ का जन्म हुआ। इस प्रकार ब्रह्मा जी की वाक्चातुरी सुन कर शिव हँसने लगे।

विवाह के बाद शिव और पार्वती अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत कर

रहे हैं। एकदिन बैठ बैठे पार्वती के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई——

क्व तिष्ठतस्ते पितरौ ममेवेत्यपर्णयोक्ते परिहासपूर्वम् ।
क्व वा ममेव श्वसुरौ तवेति तामीरयन् सस्मितमीश्वरोऽव्यात् ॥

पार्वती परिहास करती हुई शिव से पूछने लगी—क्यों महाराज ! मेरे माता पिता की तरह आपके माता पिता कहां हैं ? यह सुन कर शिव मुस्कराकर बोले—अच्छा, ज़रा तुम ही बतलाओ तो मेरे सास और ससुर की तरह तुम्हारे सास-ससुर कहां हैं ? इस प्रकार कह कर शिव मुस्कराने लगे ।

किसी के घर पुत्र का जन्म होता है तो प्रसन्नता का सागर उमड़ पड़ता है। सगे सम्बन्धी, मित्र और परिचित व्यक्ति बधाई देते हैं। उनका मुंह मीठा होता है। जब स्कन्द का जन्म हुआ प्रसन्न हुए ब्रह्मा जी ने शिव जी को बधाई दी। उस समय ब्रह्मा जी को किस प्रकार मालामाल कर दिया जाता है ।

श्रुत्वा षड़ानन जनुर्मुदितान्तरेण पंचाननेन सहसा चतुराननाय ।
शार्दूलचर्म भुजगाभरणं सभस्म दत्तं निशम्य गिरिजा हसितंपुनातु।

स्कन्द के जन्म का समाचार सुन कर प्रसन्न हुए शिव जी ने ब्रह्मा जी को अपने ओढ़ने का बाघाम्बर, सर्प आभूषण और शरीर पर लेपन करने वाली विभूति ये सब वस्तुएं दे दीं। यह सुन कर पार्वती अपनी हँसी को न रोक सकी ।

गृहस्थ जीवन बच्चों के बिना अधूरा है। जहां बच्चों की मधुर बोली गृहस्थी के हृदय को सरस बनाती है, वहां बाल-सुलभ उनकी अपनी ही बातें अनेक बार हृदय में गुदगुदी पैदा कर देती हैं। शिव-पार्वती के सदन में उनके दोनों पुत्र स्कन्द और गणेश खेल रहे हैं। सहसा रोने की आवाज़ सुन कर पार्वती पूछती है ——

हे हेरम्ब ! किमम्ब रोदिषी कथं कर्णौ लुठत्यग्निभूः ।
किन्ते स्कन्दविचेष्टितं मम पुरा संख्या कृता चक्षुषाम् ।
नैतत्तेप्युचितं गजास्य चरितं नासां मिमीतेऽम्ब मे
तावेवं सहसा विलोक्य हसित व्यग्रा शिवा पातुवः ॥

पुत्र गणेश ! क्यों रो रहे हो ? गणेश बोला——माता जी ! यह स्कन्द मेरे कान ऐंठता है। पार्वती ने पूछा—क्यों रे स्कन्द ! यह क्या शरारत करता है? यह मेरी आंखें गिन रहा था स्कन्द ने उत्तर दिया। गणेश, तुम्हें भी ऐसा करना उचित नहीं पार्वती ने फिर कहा। माता जी, यह मेरी नाक नाप रहा था। इस प्रकार उन दोनों की बातें सुन कर पार्वती हंसने लगी ।

एक दिन सायं सन्ध्या में जब शिव पद्मासन लगा कर दोनों हाथ जोड़

ध्यान मग्न बैठे थे। उस समय खेलता हुआ स्कन्द उधर आ गया। उसने समझा सम्भव है मेरे पिता जी ने अपने हाथों में कुछ छुपा रक्खा है। वह माता पार्वती से पूछता है --

मातर्जीव किमेत दंगुलिपुटे तातेन गोपाप्यते
वत्स स्वादुफलं प्रयच्छति न मे गत्वा
गृहाण स्वयम्।
मात्रैवं प्रहिते गुहे विघटयत्याकृष्य
सन्ध्यांजलिं
शम्भोर्भिन्न समाधि रुद्ध रभसो हासोद्गमः
पातु वः।

माता जी ! क्यों पुत्र ? पिता जी ने अपने हाथों में क्या छुपा रक्खा है ? पार्वती ने कहा --पुत्र ! यह स्वादिष्ट फल है। स्कन्द ने फिर पूछा--तो यह मुझे क्यों नहीं देते ? पार्वती ने झट कहा--तू स्वयं जाकर ले ले। माता के कहने पर स्कन्द ने दोनों हाथों की अंजलि को खोला, परन्तु वहां कुछ नहीं था। ध्यान भंग होने के कारण शिव जी को तनिक क्रोध आया परन्तु खड़े हुए स्कन्द से सारी बात सुन कर हँस पड़े।

जिस घर में हद से बढ़ कर खाने वाले हों, उसका निर्वाह कैसे हो सकता है। शिव भी उनमें से एक हैं परन्तु उनका दिवाला क्यों नहीं निकला इसका भी कारण सुनिये--

स्वयं पंचमुखः पुत्रौ गजानन षड़ाननौ।
दिगम्बरः कथं जीवे दन्नपूर्णा न चेद् गृहे॥

खाने के लिये शिव के स्वयं ही पाँच मुख हैं। पुत्रों में भी एक का हाथी का मुंह है, तो दूसरे के छः मुख हैं। बेचारे नंग-धड़ंग शिव कैसे जीवित रहते यदि उनके घर में साक्षात् अन्नपूर्णा (पार्वती) न होती।

अन्नपूर्णा के घर में रहते हुए भी शिव को विशेष सहारा न मिला क्योंकि यह पेट एक ऐसी गुफा है जिसे प्रतिदिन भरते हैं परन्तु फिर भी भरी नहीं जाती। मनुष्य जीवन भर अनेकों पापड़ बेलता है। देश-विदेशों में धक्के खाता है। इसीलिये रहीम ने कहा था 'पेट लागि वैराट घर तपत रसोइ भीम।' इस पेट को भरने की चिन्ता शिव को भी सताती रही।

उदर द्वय भरणभयादर्धांगाहित्त दारः।
यदि नैवं तस्य सुतः अद्यापि कथं कुमारः॥

शिव ने अपने को अपना और पार्वती का पेट भरने में असमर्थ पाकर पार्वती को अपने साथ मिला कर अर्धनारीश्वर रूप धारण किया और दो के बजाए एक पेट बना लिया, मगर बहू का पेट भरने लायक आज तक उनके घर में नहीं जुटा। इसी-लिये तो उनका बड़ा पुत्र कार्तिकेय आज तक भी क्यों कुमार (कुँआरा) है।

जैसे दो मित्र और उनकी पत्नियां परस्पर मिल कर मनोविनोद करते हैं, वैसे ही विष्णु और शिव मिले। उधर लक्ष्मी और पार्वती मिलती हैं। उन दोनों

के वार्तालाप में जितना हास्य भरा है सुनिये—

लोले । ब्रूहि कपालि कामिनि पिता कस्ते पति पाथसां
कः प्रत्येति जलादपत्य जननं प्रत्येति यः प्रस्तरात् ।
इत्थं पर्वत सिन्धुराज तनयोराकर्ण्य वाक्चातुरीं
सस्मेरस्य हरेर्हरस्य च मुदो निघ्नंतु विघ्नंतु वः ॥

पार्वती ने कहा—चंचले ! खप्पर-धारी की पत्नी बोलो, क्या कहती हो ? भला तुम्हारे पिता जी कौन हैं ? उत्तर मिला—सागर । अरी, रहने दो । समुद्र से कन्या का जन्म होना भला इस पर कौन विश्वास कर सकता है । क्यों नहीं, जो पत्थर से अर्थात् पर्वतराज हिमालय से कन्या जन्म का विश्वास कर सकता है । इस प्रकार लक्ष्मी और पार्वती की वाक्चा-तुरी सुनकर हँसते हुए विष्णु और शिव की प्रसन्नता सब विघ्नों का नाश करे ।

कभी-कभी हास्य विनोद में कही हुई बात व्यंग्योक्ति बन कर हृदय में चुभ जाती है । पार्वती को खप्परधारी की पत्नी सम्बोधन न रुचा । वह शिव को खेती करने की सलाह देती है क्योंकि सम्भव है उसके ध्यान में यह लोकोक्ति आगई हो । 'उत्तम खेती मध्यम व्यापार' परन्तु खेती करने के लिये भूमि हो, उसे जोतने के लिये हल भी चाहिए । यह सब सामान कैसे उपलब्ध हो सकेगा । यह प्रस्ताव वह शिव के सामने किस प्रकार रखती है—

रामाद्याचयमेदिनीं धनपते वीजं वलाल्लांगलं
प्रेतेशान्महिषं तवास्ति वृषभः फालं त्रिशूलं तव ।
शक्ताहं तवचान्नदान करणे स्कन्दोऽस्ति गोरक्षणे
खिन्नाहं हर भिक्षया कुरु कृषिं गौरी वचः पातु वः ॥

हे शिव ! परशुराम जी ने ब्राह्मणों को अनेक बार पृथ्वी का दान किया है । भूमि आप उन से मांग लें । कुबेर जी से बीज ले लें । वलभद्र जी के पास हल है, उनसे हल मिल जायेगा । यमराज की सवारी भैंसा है, वह उससे प्राप्त करें । एक बैल आपके पास है ही और फाल का काम आपका त्रिशूल है दे देगा । रोटी पहुंचाने का काम मैं स्वयं करूँगी । पशुओं को चराने स्कन्द जाया करेगा । बस, और क्या चाहिए मैं आपकी भिक्षा वृत्ति से ऊब गई हूँ । अब आप किसान बन कर खेती करने की कृपा करें ।

पार्वती ने खेती करने का प्रस्ताव तो बहुत अच्छा रख दिया परन्तु उसे कार्यान्वित करना शिव के लिये कोई खाला जी का घर नहीं था । परिवार बढ़ गया था । भिक्षा वृत्ति से पार्वती को घृणा होने लगी । खेती शिव न कर सके आखिर में गृह कलह होने लगा । संसार की दृष्टि में शिव के विषपान करने का भले

ही कोई अन्य कारण हो परन्तु कवि से वह छिपा न रह सका।

अत्तुं वांछति वाहनं गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी
तंच क्रौंचपते शिखी च गिरिजा सिंहोऽपि नागाननम्।
गौरी जह्नुसुतामसूयति कलानाथं कपालानलो
निर्विण्णः स पपौ कुटुम्ब कलहा दीशोऽपि हालाहलम् ।।

गणेश के वाहन चूहे को शिव का भूखा नाग खाना चाहता है। नाग को कार्तिकेय का वाहन मोर खाने की इच्छा करता है। माँ दुर्गा का सिंह हाथी के मुख वाले गणेश को खाने दौड़ता है। पार्वती शिव के मस्तक पर रहने वाली गंगा से ईर्ष्या रखती है तो तीसरे नेत्र की अग्नि को मस्तक पर रहने वाले चन्द्रमा से शत्रुता है। इस प्रकार परिवार के झगड़ों से परेशान होकर शिवजी ने भी ज़हर पी लिया।

गृह कलह के कारण केवल शिव को ही परेशान नहीं होना पड़ा। पारिवारिक जीवन तो बड़े-बड़ों के बल निकाल देता है। अपनी पारिवारिक स्थिति को देख कर तो श्रीकृष्णचन्द्र को भी काठ मार गया। अथवा पत्थर की मूर्ति क्यों बनना पड़ा इसे भी सुनिये —

एका भार्या प्रकृतिमुखरा चंचला च द्वितीया
पुत्रस्त्वेको भुवन विजयी मन्मथो दुर्निवारः।
शेषः शय्या शयन मुदधौ वाहनं पन्नगारिः,
स्मारं-स्मारं स्वगृह चरितं दारुभूतो-मुरारिः ।।

एक पत्नी का नाम प्रकृति है जोकि वाचाल है, और दूसरी पत्नी लक्ष्मी जो बहुत चंचल है अर्थात् कहीं स्थिर नहीं रहती। एक पुत्र सारे संसार पर विजय पाने वाला कामदेव है परन्तु वह निरंकुश है। सोने के लिये बिस्तर शेषनाग का मिला, शयन स्थान समुद्र और सवारी करने को गरुड़। इस प्रकार अपने घर की स्थिति को बार बार याद करके श्रीकृष्ण सूख कर लकड़ी बन गए अथवा जड़ बन गए।

श्रीकृष्णचन्द्र की बाल-लीलाएं अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उन्हें दूध, दही और माखन इतना प्रिय था कि उसे प्राप्त करने के लिये अनेकों उपाय करते थे। इन बाल-लीलाओं में कहीं-कहीं मधुर हास्य रस की झलक भी पाई जाती है। वह माता के सामने किस प्रकार दिन को रात बनाते हैं यह भी एक करामात है—

मातः ! किं यदुनाथ देहि चषकं किं तेन पातुं पयः,
तन्नास्त्यद्य कदास्ति तन्निशि निशा का वान्धकारोदये।
आमील्याक्षियुगं निशाप्युपगता देहीति मातुर्पुनः
वक्षोजाम्बर कर्षणोद्यतकरः कृष्णः स पुष्णातु नः ।।

श्री कृष्णचन्द्र ने कहा—माताजी ! मुझे कटोरी दीजिए। क्यों कृष्ण, उसे क्या करोगे ? उससे दूध पीऊंगा। किन्तु दूध तो अब है नहीं । फिर कब मिलेगा ? वह रात के समय मिलेगा। भला रात कब होगी। जब अन्धकार छा जायगा। यह सुन कर श्रीकृष्ण ने अपनी दोनों आंखें बन्द कर लीं और कहा—यह लो अन्धेरा हो गया, रात आ गई। अब तो दूध दीजिये। इतना कह कर माता के गले में डाला हुआ उत्तरीय खैंचने लगे ।

एक दिन श्रीकृष्णचन्द्र किसी ग्वालिन के घर में जा घुसे और चुपचाप किसी माखन के वर्तन में से माखन निकालने लगे। इतने में ग्वालिन आ गई और पूछने लगी —

कस्त्वं कृष्ण मवेहि मां किमिह ते मन् मन्मन्दिराशंकया।
युक्तं तन्नवनीत भाजन पुटे न्यस्तः किमर्थं करः ।
कर्तुं तत्र पिपीलिकापनयनं सुप्ताः किमुद्-बोधिताः
बाला वत्सगतिं विवेक्तु मिति संजल्पन् हरि पातुवः ॥

तू कौन है ? यहां क्यों आया है ? मैं कृष्ण हूँ, इसे अपना घर समझ कर आ गया। "इसे अपना घर समझ कर आए हो" अच्छा, यह तो ठीक है। किन्तु यह बतलाओ माखन के बर्तन में हाथ क्यों डाला है ? इसमें पड़ी हुई च्यूंटियां निकाल रहा था। भला बालकों को क्यों जगाया ? मेरा बछड़ा नहीं मिल रहा उसका पता लगाने के लिए ।

एक कहावत है 'ससुरार सुख की सार' क्योंकि वहां स्वर्ग के समान सुख प्राप्त होता है । आवभगत होती है, खूब गुलछर्रे उड़ते हैं। यही कारण है शिव और विष्णु ससुराल में रहते हैं ।

असारे खलु संसारे सारं श्वसुरमन्दिरम्।
हरो हिमालये शेते हरिश्शेते महोदधौ।

इस असार संसार में ससुराल ही सार है। इसीलिये तो शिव हिमालय पर (पार्वती के पिता के यहां) और विष्णु क्षीर सागर में (लक्ष्मी के पिता के यहां) शयन करते हैं ।

खटमलों से भरी हुई खाट पर करवटें बदलते हुए किसी कवि को ध्यान आया कि विष्णु, शिव और लक्ष्मी खाट पर क्यों नहीं सोते इसका अन्य कोई कारण नहीं—

कमला कमले शेते हरः शेते हिमालये ।
क्षीराब्धौ च हरिश्शेते मन्ये मत्कुण शंकया ॥

लक्ष्मी (जल में उत्पन्न हुए) कमल पर सोती है। शिव हिमालय पर और विष्णु क्षीर-सागर में सोते हैं। मैं समझता हूँ ये खटमलों से डर कर ही ऐसा करते हैं।

सीता ने श्रीरामचन्द्र जी के चरण-स्पर्श से अहल्या के उद्धार की कहानी सुनी हुई थी। उनके चरणों में प्रणाम न करने का कारण कवि किस प्रकार वर्णन करता है—

शिक्षितापि सखिभिर्नन् सीता

रामचन्द्र चरणौ न ननाम ।
किं भविष्यति मुनीशवधूवद्
भालरत्नमिह तद्रजसेति ।।

सखियों ने सीता को श्रीरामचन्द्र जी के चरणों में प्रणाम करने को कहा, परन्तु उसने प्रणाम नहीं किया क्योंकि उसे भय था कि कहीं मेरी चूड़ामणि इनकी चरण रज लग जाने से मुनि गौतम की पत्नी अहल्या की तरह स्त्री रूप न धारण कर ले ।

'संसार में कवि बनना अत्यन्त कठिन है' यह उक्ति सोलह आने सच है। परन्तु आजकल तो तुकबन्दी करने वाले कवि बरसाती जीवों के समान एक ईंट उठाते ही अनेकों मिलते हैं तो इसका परिणाम क्या होगा यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है।

हठादाकृष्टानां कतिचित् पदानां रचयिता
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्य वचसा ।
भवेदद्य श्वोवा किमिह बहुना पापिनी कलौ
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः ।

अहा ! बड़ी कठिनाई से थोड़ी बहुत तुकबन्दी करने वाला कोई व्यक्ति यदि किसी उच्च कोटि के कवि से स्पर्धा करने लग जाए । अधिक क्या कहें इस पापी कलियुग में आज या कल किसी न किसी दिन घड़े बनाने वाले कुम्हार का सृष्टि कर्ता ब्रह्मा जी से झगड़ा अवश्य होगा । क्योंकि कुम्हार कौन सा ब्रह्मा जी से कम है। वह भी तो अपने को प्रजापति कहलाता है ।

धनमाल की चोरी तो संसार में प्रसिद्ध है, परन्तु काव्य की चोरी करने वालों को भी कमी नहीं ऐसे लोग पढ़े लिखे व्यक्तियों में ही आपको बहुत से मिलेंगे ।

कविरनुहरति छायां पदमेकं पादमेकमर्धंवा
सकल प्रबन्ध हर्त्रे साहस कर्त्रे नमस्तस्मै ।

यह हो सकता है किसी कवि की रचना में दूसरे की रचना की छाया के समान झलक दिखाई दे । एक पद, पूरा पाद अथवा आधा पाद भी आ सकता है। परन्तु जो सारे प्रबन्ध की ही चोरी करने का साहस करता है ऐसे व्यक्ति को नमस्कार है ।

एक लोकोक्ति है 'जहां न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि' इसके अनुसार कल्पना लोक में विचरण करता हुआ कवि कभी-कभी ऐसी कल्पना करता है जो उसके लिये समस्या बन जाती है जिसे वह हल नहीं कर सकता ।

कस्त्वं भो कविरस्मि तत्किमु सखे !
क्षीणोऽस्यानाहारतो
धिग्देशं गुणिनोऽपि दुर्गतिरियं देशं न मामेव धिक् ।
पाकार्थी क्षुधितो यदैव विदधे पाकाय बुद्धि तदा ।
विन्ध्येनेन्धनमंबुधौ न सलिलं नान्नं धरित्रि तले ।।

मित्र, तुम कौन हो जो इस प्रकार दुर्बल हो रहे हो ? मैं कवि हूँ, भोजन न

मिलने के कारण मेरी ऐसी दशा है। ऐसे देश को धिक्कार है, जहां आप जैसे गुणवान् व्यक्ति की दुर्दशा हो रही है। नहीं, इसमें मेरा ही दोष है यहां के निवासियों का नहीं क्योंकि भूख लगने पर जब मैं भोजन बनाने की तैयारी करता हूँ तो मुझे विन्ध्याचल पर कहीं लकड़ी दिखाई नहीं देती। जल से भरा हुआ समुद्र भी सूखा प्रतीत देता है इस पृथ्वी पर अन्न तो कहीं दृष्टिगोचर ही नहीं होता। अर्थात् मेरी कल्पना में सब जगह वस्तुओं का अभाव ही दीखता है।

कल्पना की लम्बी-लम्बी उड़ाने भरने वाले कवि की यह दुर्दशा देख कर किसका हृदय नहीं पसीजेगा। कवि तुक से तुक मिलाता है परन्तु ऐसे कवियों की बातें लोगों को बेतुकी प्रतीत देती हैं। वैद्यों ने बहुत से बात रोगी देखे होंगे परन्तु वे लोग कवि को वातरोगग्रस्त समझते हैं। ऐसे ही किसी कवि को काव्य रचना करते हुए देख कर किसी व्यक्ति से न रहा गया वह इस विक्षिप्तता का उपचार बतलाता है—

काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति
ये त्वामुदीर्ण पवनं न निवारयन्ति।
गव्यं घृतं पिब निवातगृहं प्रविश्य
वाताधिकाहि पुरुषा कवयो भवन्ति॥

कवि महोदय! आप कविता लिख रहे हैं, क्या आपके मित्र नहीं हैं? जो आपके शरीर में वायु प्रकोप को देख कर आपको इस काम से नहीं रोकते। जहां वायु न लगे आप किसी ऐसे घर में प्रविष्ट होकर गाय का घी पीजिये क्योंकि जिनके शरीर में वायु भड़क उठती है वे ही कविता करते हैं।

स्वामी शंकराचार्य जैसे दिग्विजयी पण्डित आपने बहुत देखे या सुने होंगे परन्तु ऐसे पण्डितम्मन्य तो आपको विरले ही मिले होंगे—

मयि कुर्वति शास्त्रार्थं नो जल्पति वृहस्पतिः।
ब्राह्मी वदति नो किंचिद् दुर्मुखस्तु चतुर्मुखः॥

जब मैं शास्त्रार्थ करने बैठता हूँ तब देवताओं के गुरु वृहस्पति के मुख को ताला लग जाता है। सरस्वती कुछ बोल नहीं सकती और ब्रह्मा जी के मुखों का रंग तो पीला पड़ जाता है।

रात दिन एक करके विद्या प्राप्त करना लोहे के चने चबाना है। यदि नवीनतम परिपाटी सीखनी हो तो इनसे मिलिये—

गुरोर्गिरः पंच दिनान्यधीत्य
वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान्
समागता कुक्कुट मिश्रपादाः॥

यह देखिए आपके सामने कुक्कुट मिश्र जी पधारे हैं। इन्होंने मीमांसा-शास्त्र केवल पांच दिनों में पढ़ लिया है। सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र को पढ़ने में तीन दिन लगाए हैं तथा तर्कशास्त्र को तो फूल की तरह सूंघ कर हृदयङ्गम कर लिया है।

यह थी कुक्कुट मिश्रजी की विशेषता सम्भव है उन्हें किसी जादूगर से सरस्वती चूर्ण मिल गया हो जिसने अपना ऐसा प्रभाव दिखाया।" एक अन्य धुरन्धर विद्वान् की भी विशेषताएं सुनिए ––

वाचयति नान्य लिखितं लिखित मनेनापि
वाचयति नान्यः ।
अयमपरोऽस्य विशेषः स्वयमपि लिखितं
स्वयं न वाचयति ।।

यह किसी और का लिखा हुआ पढ़ नहीं सकता । न कोई दूसरा इसके लिये हुए को पढ़ पाता है । इसकी और भी विशेषता तो यह है कि यह अपना लिखा हुआ स्वयं ही नहीं पढ़ सकता ।

वैयाकरण शब्द को ही प्रमाण मानते हैं। जो कुछ शब्द कहता है उससे तिलमात्र भी इधर उधर नहीं हो सकते । यहां तक कि वे एक मात्रा के लाघव को भी पुत्र-जन्म के समान समझते हैं । नैषधकार ने किस प्रकार उनके कान खोले हैं ––

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं
पद प्रयोगाध्वनि लोक एषः ।
शशोयदस्यास्ति शशी ततोऽय
मेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीतिनोक्तः ।।

इस संसार म प्रयुक्त हुए पद की यह समान ध्वनि व्याकरण के अभिमान को चकनाचूर करने के लिये पर्याप्त है । शश को धारण करने वाला शशि (चन्द्रमा), तो इसी प्रकार मृग को धारण करने वाली मृगी क्यों न कहा ? अर्थात् जैसे शशी की व्युत्पत्ति की गई है वैसे ही मृगी की व्युत्पत्ति होनी चाहिए परन्तु ऐसा न करके 'मृगस्य पत्नी मृगी' मृग की पत्नी मृगी क्यों की गई वैयाकरण इसका उत्तर तो दें ।

पाणिनि ने अपने व्याकरण में मन को नपुंसक लिखा है। किसी व्याकरण के पण्डित ने इस पर विश्वास किया और धोखा खा गया ।

नपुंसक मिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः।
तत्तु तत्रैव रमते हता पाणिनिना वयम् ।।

हमने मन को नपुंसक मान कर उसे अपनी प्रिया के पास भेज दिया परन्तु अब तो वह उसी के साथ रम गया । अहो ! हमें तो पाणिनि ने मरवा डाला ।

एक कवि किसी राजा की कीर्ति का किस प्रकार मधुर हास्य में वर्णन करता है ––

अनिस्सरन्तीमपि देहगर्भात्
कीर्तिं परेषामसतीं वदन्ति ।
स्वैरं चरन्तीमपि च त्रिलोक्यां
त्वत्कीर्तिमाहुः कवयः सतीं न ।।

कवि आपके शत्रुओं की कीर्ति को जो उनके शरीर से कभी बाहर नहीं निकली उसे असाध्वी (कुलटा) कहते हैं । किन्तु तीनों लोकों में इच्छानुसार विचरण करने वाली आपकी कीर्ति को साध्वी कहते हैं ।

किसी अन्य राजा के यश और गुणों ने तो देवाङ्गनाओं को भी उलझन में डाल दिया ।

त्वत्कीर्ति मौक्तिकफलानि गुणैस्त्वदीयैः
सन्दर्भितु विवुध वामदृशः प्रवृत्ताः।
नान्तो गुणेषु नच कीर्तिषु रन्ध्र लेशो –
हारो न जात इति ताश्च मिथो हसन्ति ।।

हे राजन् ! देवताओं की स्त्रियां आप के गुणों के धागे में आपके यश रूपी मोतियों को पिरो कर हार बनाने बैठीं परन्तु उन गुणों के धागे का कोई अन्त न मिला और यश के मोतियों में कोई छिद्र नहीं था । इस प्रकार हार न बनने के कारण वे आपस में हंसने लगीं । अर्थात् वे हार गईं पर हार न बना ।

राजा भोज का बढ़ता हुआ यश किसी कवि को क्यों परेशान करता है इसका कारण उससे ही सुनिये—

यथायथा भोज यशो विवर्धते
सितां त्रिलोकी मिव कर्तुमुद्यतम् ।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते
प्रियालकाली धवलत्व शंकया ।।

महाराज भोज ! तीनों लोकों को श्वेत करने के लिये ज्यों-ज्यों आपका यश बढ़ रहा है त्यों-त्यों मेरा हृदय बैठता जाता है, कि कहीं वह मेरी प्रियतमा के केशकलाप को भी सफेद न करदे । जिससे वह यौवनावस्था में ही वृद्धा प्रतीत दे ।

अपनी पत्नी के केशकलाप के श्वेत होने के भय से कवि का परेशान होना कोई नई बात नहीं, स्वाभाविक है । महाकवि केशव के साथ ऐसा ही हुआ था कि उनके सफेद केशों को देख कर युवतियां उन्हें बाबा कहने लगी थीं । ऐसी हरकत किसी संस्कृत कवि के साथ भी की गई उसका क्षोभ देखिए —

आपाण्डुरा शिरसिजा स्त्रिवली कपोले,
दन्तावली विगलिता नच मे विषाद : ।
एणी दृशो युवतयः पथि मां विलोक्य
तातेति भाषणपराः खलु वज्रपातः ।

सिर के बाल सफेद हो गए, गालों में झुर्रियां पड़ गईं और दांतों की पंक्तियां गिर गई हैं । इसका मुझे खेद नहीं । मगर वज्रपात तो यह है कि मृगनयनी युवतियां मुझे राह में देख कर बाबा कह कर पुकारने लगी हैं!

'गोली अन्दर और दम बाहर' यह उक्ति कतिपय वैद्यों पर चरितार्थ होती है। ऐसे ही किसी वैद्य को लक्ष्य कर यह व्यंग्य किया गया है—

वैद्यराज नमस्तुभ्य क्षपिताशेष मानव ।
त्वयि विन्यस्त भारोऽयं कृतान्तः सुख-
मेधते ॥

सब मनुष्यों की जीवन लीला समाप्त करने वाले वैद्यराज तुम्हें प्रणाम हो । तुम्हें यह काम सौंप कर यमराज चैन की वंशी बजाता है ।

यमराज क्यों न निश्चिन्त हो । बड़े भाई के होते हुए छोटे भाई का मौजें

उड़ाना स्वाभाविक है। फिर वैद्यराज तो उससे दो कदम आगे बढ़ा हुआ है—

वैद्यराज नमस्तुभ्यं यमराज सहोदर ।
यमस्तु हरति प्राणान् वैद्य : प्राणधनानि च ।

यमराज के बन्धु वैद्यराज तुम्हें प्रणाम हो ! यमराज तो केवल प्राण ही हरता है परन्तु वैद्य प्राण और धन दोनों हर लेता है !

परप्राण हरणप्रवीण वैद्यराज को क्यों आश्चर्य होता है—

चितां प्रज्वलिता दृष्ट्वा वैद्यो विस्मयमागतः
नाहं गतो न मे भ्राता कस्येदं हस्तलाघवन्।

जलती हुई चिता को देख कर वैद्य आश्चर्यान्वित होकर सोचने लगा कि न तो मैं पहुँचा न कोई मेरा भाई (फिर इस व्यक्ति को मारने की) यह हाथ की सफाई कौन दिखा गया ।

दैवज्ञ सूर्यादि नौ ग्रहों को मानते हैं। कवि की दृष्टि में इन सब से क्रूर दसवां ग्रह एक और है —

सदा वक्रः सदा क्रूरः सदा पूजामपेक्षते ।
कन्या राशि स्थितो नित्यंजामाता दशमः ग्रहः।

जमाई तो वास्तव में दसवां गृह है, जो हमेशा टेढ़ा रहा है । इसकी दृष्टि क्रूर ही रहती है। सदा ही यह अपनी पूजा चाहता है तथा हमेशा कन्याराशि में स्थित रहता है ।

कभी-कभी आशाओं पर किस प्रकार पानी फिरता है वह भी एक के मुख से सुनिये—

अयं रत्नाकरोऽम्भोधि रित्यसेवि धनाशया।
धनं दूरेऽस्तु वदन मपूरी क्षार वारिभिः ।।

समुद्र रत्नों का भण्डार है यह समझ कर धन की आशा से उसके पास गए । धन मिलने की तो बात छोड़ो उल्टा खारे पानी से मुंह भर गया ।

कोई निर्धन व्यक्ति तिरस्करणी विद्या के समान निर्धनता को भी एक सिद्धि समझ कर किस प्रकार उसके गुण गाता है—

हे दारिद्रय ! नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः।
पश्याम्यहंजगत्सर्वं न मां पश्यति कश्चन ।।

अरी गरीबी, मेरा तुम्हें प्रणाम है, क्योंकि तुम्हारी कृपा से मुझे ऐसी सिद्धि प्राप्त हो गई है जिससे मैं तो सारे संसार को देखता हूँ परन्तु मुझे कोई नहीं देखता।

आपने कंजूस तो बहुत देखे होंगे तनिक इन्हें भी देखिए जिनकी कंजूसी अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच गई है—

अयं पटो मे पितुरङ्ग भूषणं
पितामहाद्यै रुपभुक्त यौवनः ।
अलं करिष्यत्यथ पुत्रपौत्रकान्
मयाधुना पुष्पवदेव धार्यते ।।

जो कपड़ा आज मैंने फूल की तरह धारण किया हुआ है यह किसी समय मेरे पिता के शरीर पर शोभित रहा है । मेरे दादा पड़दादाओं ने भी इसे पहना है। इतना ही नहीं मेरे पुत्र पौत्रों की शोभा को भी यही कपड़ा बढ़ायेगा ।

आजकल सपरेटा दूध और वनस्पति घी का बोलवाला है। जहां दूध की नदियां और घृत कुल्या बहती थी उन्हें इस बात का पता नहीं था:—

घृतं न श्रूयते कर्णे दधि स्वप्नेऽपि दुर्लभम्।
मुग्धे दुग्धस्य का वार्ता तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्।

प्रिये ! घी का नाम तो कानों को भी सुनाई नहीं देता। दही के दर्शन स्वप्न में भी नहीं होते। दूध की तो बात ही छोड़ो आज तो इन्द्र के लिये भी छाछ दुर्लभ है।

"स्वाति एक गुण तीन" इस उक्ति के अनुसार हास्य भी कभी कभी विभिन्न रूपों में अपना प्रभाव डालता है—

धवली करोति हरितो मलिनी कुरुते
मनः सपत्नीनाम्।
अस्या हास्य विकासो मम तु मनो
रक्तमाचरति।।

कोई नायक कहता है मेरी प्रियतमा का हास दिशाओं को सफेद बना देता है। सपत्नियों के मनों को मलिन (काला) कर देता है, किन्तु मेरे मन को तो राग-युक्त (लाल) कर देता है।

कभी-कभी शीघ्रता के कारण किस प्रकार कार्टून बनना पड़ता है—

श्रुत्वायान्तं बहिः कान्त मसमाप्त विभूषया।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः।।

शृंगार करती हुई किसी युवती ने जब यह सुना कि उसका पति घर के द्वार पर आ पहुंचा है तब उसने शीघ्रता से मस्तक पर काजल, आंखों में सुरखी और गालों पर बिन्दिया लगा ली।

इस प्रकार संस्कृत काव्य में कितना मधुर हास्य-रस भरा पड़ा है जिसका आनन्द रसिक व्यक्ति ही ले सकते हैं। हास्य रस का अभाव केवल उन्हें ही प्रतीत देता है जिन्होंने इसकी खोज करने का कभी प्रयत्न नहीं किया।

● ● ●

राष्ट्र-कवि सुब्रमण्य भारति

ना राम सुब्रमण्यन्

भारतीय राष्ट्र-कवियों में, मद्रास के श्री सुब्रमण्य भारति का ऊंचा स्थान है। यद्यपि, आजके राजनीतिज्ञ, एवं जनसाधारण भारतीय एकता के बारे में, धूम धाम से रंगमंचों में आवेगपूर्ण शब्दों से चिल्लाते रहते हैं, आज से तैंतालीस वर्ष पहले, दक्षिण में एक साधारण धोती पहने हुए एक कवि के, ओजपूर्ण, स्नेहमयी, भावपूर्ण शब्दों की धारावली की ओर यदि मुड़ कर देखें, तो पता चलेगा कि अंग्रेज शासन के बीच में एक सिंह गर्ज रहा था। भक्ति से लेकर राष्ट्रीय विषयों तक वह घनघोर बादल अंग्रेज़ी साम्राज को चेतावनी देते हुए, कविता की वर्षा कर रहा था। ये कवितायें, न तो अटपटी भाषा में थीं, न पुराने साहित्य से नकल की गई थीं। ये कवितायें, आत्मा को भाव विभोर करते हुए सारे मनुष्यों के शरीर में कम्पन पैदा करती थी। आनन्द, धैर्य, वीरता, एवं माधुर्य की भावनाओं को जगाने में ऐसी शक्ति शायद ही अन्यत्र थी। यह कविता प्रवाह केवल बीस पच्चीस साल के एक युवक के वागिन्द्रियों से उत्पन्न होता था। वही था श्री सुब्रमण्य भारति।

अठारह सौ बयासी में मद्रास के एट्टयपुरम् नामक स्थान में इनका जन्म हुआ। पिता श्री चिन्नस्वामि अय्यर थे। माता थी, श्रीमती लक्ष्मी अम्माल। भारति तिरुनेलवेली के हिन्दू कालेज में पांचवीं कक्षा तक पढ़ा था। ग्यारहवें साल में एट्टयपुरम् के समस्थान विद्वानों ने इनको "भारति" की उपाधि दे दी।

सन् १८९७ में कुमारि चेल्लाम्माल से इनकी शादी हुई। १८९८ में पिता जी स्वर्गवास हुए। उसी साल इन्होंने काशी पहुंच कर चार साल तक संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं को सीख लिया। उसके बाद मदुराई की 'विवेक भानु' नामक पत्रिका में इनकी पहली कविता छपी थी। मदुराई में सेदुपति हाई स्कूल में कुछ समय तामिल पढ़ाते थे।

सन् १९०० में जब वे "इण्डिया" दनिक में काम करते थे, तब राज्य की ओर से उन्हें कैद करने की आज्ञा हुई। वे मद्रास छोड़ कर पुतुच्चेरी (आज का पांडिचेरी)

पहुंच गये जो फ्रेंच शासन के अधीन था। उसके बाद कई जगह घूमते रहे। आखिर मद्रास में १९२१ में इनका देहावसान हो गया।

तामिल साहित्य में भारति ने एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। समाज की विभिन्न स्थितियों को गौर से देख कर जनसाधारण के लिये ही इन्होंने कविता लिखी। ये कविताएं इतनी सरल एवं प्रवाहमयी थीं कि हर एक बच्चा आसानी से दुहरा सकता था। इनकी कविताओं को निम्नलिखित वर्गों में बांट सकते हैं —

(१) रष्ट्र सम्बन्धित :—

५३ कविताओं में इनकी राष्ट्रीय भावनाओं को देख सकते हैं :— भारत के जन समाज की दयनीय स्थिति, भारत मां को स्वतंत्र रखने के लिये क्या क्या करना चाहिए, राष्ट्रीय झंडा, भारत समाज, स्वतंत्रता की महिमा, इत्यादि। शिवाजी, गोखले, तलक, लाजपतराय, दादाभाई नौरोजी, चितम्बरनाथ, गुरु गोविंद, आदि कई राष्ट्रीय पुरुषों के बारे में सरल सुबोध एवं ओजपूर्ण, लेकिन जनरंजक गीत गाये। "भारत समाज एक है, तीस करोड़ आत्माओं का संघ है, वह महान् है, इन में किसी एक को रोटी न मिली तो, सारे जगत को जला देंगे।" इन शब्दों में कितनी महान् योजनाओं की भावनायें तरंगित होती हैं। "एक ही समाज" की कल्पना, उन्होंने पहले ही कर डाली। आज उस की प्रतिध्वनि ही सुनाई देती है। इन सारी कविताओं में वह शक्ति है, जो फ्रांस में, रूसो वालटेर के शब्दों में थी। इतना ही नहीं भविष्य वाणी के रूप में भी एक कविता रची है। वह है "आडुओं मे पल्लु पाडुओं" मे इस में कहते हैं, आनंद स्वतन्त्रता मिल गयी, इसलिए, नाचेंगे गायेंगे। खेती बाड़ी और उद्योगों की वंदना करेंगे। इस भूमि में हम किसी के दास नहीं हैं आदि। सन् १९४७ में हमें जो स्वतन्त्रता मिली, इस की कल्पना, सन् १९२१ में ही हो गई थी। इस के साथ ही, नया रूस नामक कविता में "ज़ार" कैसे मारा गया, वहां विद्रोह कैसे हुआ आदि का वर्णन है। अतः ज़ार के अत्याचारों कम सांगोपांग वर्णन है। इस के द्वारा, अंग्रेज़ों को चेतावनी देते हैं। इस प्रकार सारी कविताएं वास्तविकता का एक जीता जागता चित्र हैं। अतः निश्चय ही राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने की इन में अवर्णनीय शक्ति थी। "स्वर्ण राशि भारत, हमारा राज है," इत्यादि इस का उदाहरण है।

(२ भक्ति से सम्बन्धित कवितायें :—

एक नये युग के कवि होनें पर भी सुब्रमण्यम भारति भारतीय परम्परा की भाक्ति को खुले दिल से प्रोत्साहन देना चाहते हैं। अतः विनायक, कार्तिकेय शिव-शक्ति, महाशक्ति, महा काली

श्री कृष्ण. आदि कई देवताओं की महिमा का यशोगान करते हैं। कृष्ण के साथ उन का अपार प्रेम था। नन्दलाल का जन्म, उनकी मुरली, उन के पैर का सौंदर्य आदि के बारे में भक्ति पूर्ण वर्णन किया है। राधा का प्यार, प्रेमी–प्रेमिका की रीतियों पर प्रकाश डालता है। ईसा, अल्ला, सूरज, चांद, और न जाने कितने ही देवताओं का उन्होंने आत्मीयता के साथ समान रूप से वर्णन किया है।

उनका विशाल हृदय सब की ओर आकृष्ट हुआ है। भक्ति सम्बन्धी गीतों में, प्रार्थना, प्रेम आदि के साथ राष्ट्र भावना का भी संयोग हुआ है।

(३) वेदान्त सम्बन्धित कविताएं :—

आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में भारति की भावनायें पक्की थीं। वे यमराज को भी धमकी देते हैं। सिर पर आसमान टूट कर गिरने पर भी डर नहीं है। माया को फटकारते हैं, बुद्धि को ईश्वर मानते हैं। मन को वश में रखना, दूसरों को प्यार करना, विरोधियों को भी करुणा से देखना आदि भावनाओं को कई अमूल्य कविताओं में भर लिया है। उनका विचार है, कि भगवान मनुष्य में बुद्धि बन कर रहते हैं। अतः बुद्धि की अवहेलना, परमात्मा की अवहेलना है।

(४) स्त्री सम्बन्धित कवितायें :—

भारतीय नारियों को रसोई घर में मरते हुए नहीं देख सकते थे। भारतीय महिलायें ताली बजाते हुए गाती हैं, "कि पुस्तकों को स्त्रियों द्वारा छूना, पाप समझने वाले मर गये। घर में स्त्रियों को बन्द रखने वाले विचित्र मनुष्य आज सिर नीचा करते हुए जा रहे हैं। हम तालियां बजाकर गायेंगे।" इन्होंने नारियों का पुनरुद्धार उनकी शिक्षा, उनकी उन्नति के बारे में कई कवितायें रची हैं।

बच्चों को भी इन्होंने नहीं छोड़ा। "हे बच्चा, दौड़ कर खेलो। शान्ति से मत बैठो। सब से मिल कर खेलो। किसी भी बच्चे को दुःख मत दो। मुर्गी, कौआ, गाय, कुत्ता, घोड़ा, बकरी आदि सब तुम्हारे ही मित्र हैं। उन से प्यार करो। सुबह पढ़ो, फिर गीत गाओ। शाम को खेलो। यही तुम्हारी आदत होनी चाहिए। झूठ मत बोलो। ईश्वर हमारे साथी हैं। अतः कोई दुख नहीं होगा।" ये उपदेश हैं, लेकिन साथ ही नन्हें नन्हें मुन्नों को वशीभूत करने वाले गीत हैं। गेय पद हैं, फिर भी एक झनझनाहट है। पूरी पूरी मिठाइयां हैं।

(५) प्रकृति सम्बन्धित कवितायें :—

प्रकृति और भारति में एक अपूर्व सम्बन्ध था। सुबह, शाम, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र वर्षा, अग्नि, धूमकेतु, अन्धेरा और रोशनी, शब्द कविता-नायिका, कविता-प्रेमिका, मधुआदि कई प्राकृतिक विषयों पर इन्होंने कविता रची है। इन में सरलता एवं माधुर्य है। भाव पूर्ण हैं। और मनोरंजक भी हैं।

(६) आत्म कहानी :—

अपने बचपन, अंग्रेज़ी शिक्षा, शादी, पिता की गरीबी, पैसा की महिमा, आदि पर भी इनकी वाणी का स्पर्श है। साथ ही, मरण पर विजय, कोप की कहानी, शांति की महिमा, प्रेमिका की श्रेष्ठता, स्वतंत्रता से प्रेम, सर्व धर्मों की समानता आदि पर भी रसीली कवितायें रची हैं।

(७) कृष्ण सम्बन्धित गीत :—

कृष्ण मेरा मित्र है, मेरी मां है, मेरा पिता है, मेरा सेवक है, मेरा राजा है, मेरा शिष्य है, मेरा सतगुरु है, मेरा बच्चा है, मेरा प्रेमी है, कृष्ण की खोज, दूत भेजना, विमुक्त होने पर दुख प्रकट करना, कृष्ण मेरा कुलदेवता है, आदि उद्भावों से कृष्ण के साथ अपना अटूट सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह ऐसा है, मानो, सूरदास ही ने दक्षिण में जन्म लेकर और एक बार नन्दलाल को गीतों से सजाया है। देखिये "कृष्ण खेलों का बच्चा है, गली की लड़कियों के लिये हमेशा का दर्द है, खाने के लिये फल लायेगा, हमारे खाते समय झपट कर छीन लेगा। मेरे नन्दलाल, हे दुलारे, मेरे नाथ, आदि कहने पर उसको झूठा करके, आधा काट कर, दे देगा, वेणी को पीछे से खींचेगा। पकड़ने से पहले ही गायब हो जायेगा। नई साड़ी पर धूल फेंक देगा। मुरली बजायेगा। अमृत की वर्षा करेगा।" भक्ति, प्रेम युक्त गालियां, वेदान्त, जीवात्मा परमात्मा सम्बन्धित विचार आदि सब इनमें देखने को मिलते हैं।

(८) पांचाली शपथ :—

"भारत" की कहानी एक अमूल्य अक्षय भंडार है। भारति ने भी इसका उपयोग किया है। पांचाली शपथ इसका उदाहरण है। यह ब्रह्म स्तुति से आरम्भ होता है। पांडवों का वैभव देख कर ईर्ष्या वश भूत, दुर्योधन की जलन, शकुनी से सलाह लेना, जुआ खेलना आदि का वर्णन है। अन्त में, पांचाली की शपथ का वर्णन है। चार सर्गों में सरलता पूर्ण शैली में प्रवाहमयी भाषा में इसकी रचना हुई है।

(९) कोयल के गीत :—

एक कोयल, उसकी प्रेम कहानी, प्रेम ही प्रेम, कोयल और बन्दर, अन्धेरा और प्रकाश, कोयल और बैल, चौथा दिवस, कोयल का पूर्व जन्म आदि शीर्षकों में कोयल की कहानी की रचना हुई है।

इन कविताओं में प्रेम, प्रेम से वंचित होना, प्रेमी को ढूंढ कर दुनियां की सैर करना आदि विचारों के साथ साथ, वेदान्त विचारों का परिपाक हुआ है। जैसा कि भारति ने स्वयं ही कहा है, कि हे पंडित गण, शाम के नशे में मन में हुई कल्पना ही है, फिर भी यदि वेदान्त की दृष्टि से कुछ अर्थ निकाल सकते हैं, तो मुझे भी ज़रा बता दीजिये।

कविताओं के अलावा, लेख आदि भी लिख चुके हैं।

राष्ट्र कवि और युग प्रवर्तक :—

ऊपर जो लिखा जा चुका है, उनसे स्पष्ट है, कि आज के छायावाद, रहस्यवाद आदि कई नवीन दृष्टिकोणों का परिपाक इनमें हुआ है। युग-प्रवर्तक के रूप में इन्होंने हर गीत में युग का संदेश दिया है। इनसे सामाजिक उन्नति, जाति-पांति निषेध, उद्योगों की आवश्यकता स्त्रियोंकी स्थिति में सुधार, स्त्री शिक्षा की आवश्यकता, आदि कई सन्देश हमें मिलते हैं। गांधीवाद की छाप स्पष्ट ही है। अतः सुब्रमण्य भारति को राष्ट्र कवि कहने में, भारत गौरव प्राप्त करता है।
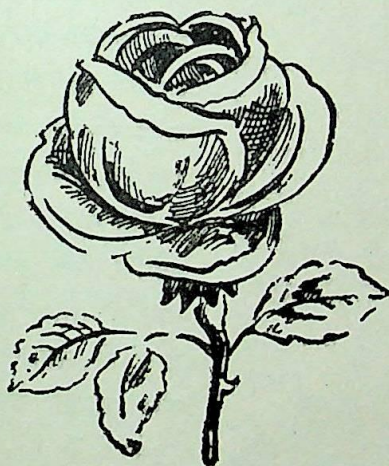
ऋग्वेद में मेघ वृष्टिजल-विज्ञान

सुन्दर लाल गुप्त

वेदों को हमारे देश में अनादि और विभिन्न ज्ञान-विज्ञान का उद्गम तथा भाण्डार स्वीकार किया गया है; और इस बात में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि वेदों में लगभग सभी भौतिक शास्त्रों और विद्याओं का वर्णन हुआ है। मेघविज्ञान, वृष्टिविज्ञान और जलविज्ञान भी इसके अपवाद नहीं हैं। प्रस्तुत लेख में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि प्राचीन काल में आर्यों को उपरोक्त विज्ञान सम्बन्धी उपयुक्त ज्ञान था जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर की है जो उनकी विज्ञान-सम्बन्धी खोजों और वैज्ञानिक ज्ञान की परिचयाक है।

मेघशास्त्र के सम्बन्ध में पहली बात है। वायु का तापांश जो भूतल को प्राप्त होने वाली सौरशक्ति की मात्रा पर निर्भर है। वायु का तापांश ही वायु को जलवाष्प ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करता है। यदि वायु का तापांश बढ़ता है तो वायु अधिक जलवाष्प अपने में रख सकती है और यदि तापांश कम हो जाता है तो उसके अपने अन्दर जलवाष्प रखने की क्षमता भी कम हो जाती है। इस तथ्य का भली भांति स्पष्टीकरण ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से होता है :—

त्वमपामपिधानावृणोरपाधारयः पर्व दानुमद्वसु। (ऋग्वेद, प्र. मं. सू.५१ मं. ४)

अर्थात् (अपाम् अपिधाना) "सूर्य आकाश में जलों के रखने वाले कारणों को दूर कर देता है" से स्पष्ट है कि सूर्य ही वायुमण्डल को जलवाष्प ग्रहण कराता तथा उस कारण को दूर भी करता है। वास्तव में यहां सूर्य से अभिप्राय तापांश से ही है क्योंकि सूर्य द्वारा विसर्जित शक्ति ही वायु को तापित करने का प्रधान स्रोत है। वायु के तापांश में कमी अथवा वृद्धि सौर शक्ति की न्यूनाधिकता पर ही निर्भर है।

इसी तथ्य की स्पष्ट पुष्टि ऋग्वेद के निम्न मन्त्र द्वारा होती हुई दृष्टिगत होती है :—

उध्वं नुनुद्रेऽवतं ओजसा दादृहाणं चिद्बिभिदुर्वि पर्वतम्।

धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे ।१०।।

(ऋग्वेद, प्र० मं०, सू० ८५, मं० १०)

अर्थात् "(मरुतः) । वायुराशि (ओजसा) अपने बल या सूर्य के तेज से (अवतं) नीचे भूमि पर स्थित जल को (उर्ध्वनुनुद्रे) ऊपर उठा ले जाते हैं और वे ही (दादृहाणं) बढ़ते हुए (पर्वतम्) मेघ को (विबिभिदुः) विविध प्रकार से छिन्न-भिन्न कर देते हैं।" यह मन्त्र पूर्ण-रूपेण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि सूर्य का तेज ही भूमि स्थित जल को जल-वाष्प में परिणत करता है और जलवाष्प वायु (मरुतः) में मिश्रित हो जाती है। सूर्य द्वारा मेघों के छिन्न भिन्न किये जाने तथा जलधाराओं को आकाश से नीचे गिराने का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है जो इस प्रकार है :—

निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्य निर्डिवः । .....।।४।। (ऋग्वेद, प्र. मं., सू ८० मं. ४)

मार्के की बात तो यह है कि आर्यों को इतना तक ज्ञान था कि मेघों की विद्युत मेघों को वर्षा करने अथवा जलों के बह जाने के लिये प्रेरित करती है। इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है :—

इन्द्रा वृत्रस्य दोघतः सानुं वज्रेण हीलितः ।
(ऋग्वेद, प्र० मं०, सू० ८० मं० ५)

इसी बात की ओर भी स्पष्ट वर्णन निम्न मन्त्र में किया गया है :—

त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः ।
अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः ।।२।।
(ऋग्वेद, प्र० मं०, सू० ८५, मं० २)।

अर्थात् जिस प्रकार (उक्षितासः) जलों को बरसाने वाले (रुद्रासः) प्रबल वायुगण (दिवि सदः चक्रिरे) आकश में स्थान प्राप्त करते या सूर्य के प्रकाश से आश्रय लेते हैं और (महिमानम् आशत्) महान बल को प्राप्त करते हैं।........से भी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत मिलता है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल, सूक्त ८५ मन्त्र ४ में वृष्टिविज्ञान पर बहुत कुछ कहा गया है। मन्त्र निम्न प्रकार है:—

वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा ।
मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ।।४।।

अर्थात् "जिस प्रकार वायु सूर्य प्रकाश को धारण कर अथवा ग्रहण कर तीव्र आघात को धारण कर अथवा ग्रहण कर तीव्र आघात करने वाली विद्युतों से चमकते हैं और बलपूर्वक न गिरने वाले जलों को बरसाने वाले मेघों को एकत्र करते हैं... " से इस बात का आभास मिलता है कि

आर्यों को यह मालूम था कि आकाश में चमकने वली विद्युत सौर शक्ति का ही एक अन्य रूप है, तथा वायु ही मेघमालाओं को एकत्र करके द्रवीभवन क्रिया में सहायक होती तथा वर्षा का कारण बनती है। मेघों के एकत्र होने का अभिप्राय वायु- मिलन व्यवस्था (Convergence wind System) से तथा वायु द्वारा मेघों के छिन्न-भिन्न होने से अभिप्राय (Divergence wind System) से मालूम पड़ता है।

आर्यों का यह ज्ञान अत्यन्त विस्मय-कारी है, क्योंकि आधुनिक योरोपीय ऋतुविज्ञान वेत्ता वृष्टि विज्ञान और मेघशास्त्र को अपनी बपौती समझते हैं और उनका यह अटल विश्वास है कि योरोप में ही इस विज्ञान की नींव रखी गई है। लेकिन वास्तविकता इसके विपरीत है। प्राचीन काल में भी भारत में इस विषय पर पर्याप्त खोज कार्य हो चुका था। पैटर्सन के अनुसार ईसा के ४५० वर्ष पूर्व भी भारत में वायु दिशा मापक यन्त्र प्रयुक्त होता था। पताकाओं जो बहुत महीने और हल्के कपड़े से बनाई जाती थीं, द्वारा भी वायु दिशा का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता था। वराहमिहिर (५०५ ई०) ने वर्षा की मात्रा मापन-विधि का उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है :—

हस्तविशालं कुण्डकमधिकृत्याम्बुप्रमाण - निर्देशः ।
पंचाशत्पलमाढ़कमनेन मिनुयाज्जलंपतितम्।

अर्थात् एक हाथ तुल्य व्यास वाले और एक हाथ गहरे वर्तुलाकार कुण्ड में वृष्टि के जल का प्रमाण मापना चाहिए। जल से पूर्ण इस कुण्ड में पचास पल तुल्य जल होता है। पचास पल का एक आढ़क और चार आढ़क का एक द्रोण होता है। इसके अतिरिक्त वर्षण का प्रमाण मापने की अन्य विधि का उल्लेख भी वराहमिहिर ने किया है जो अधोलिखित है:

येन धरित्री मुद्रा जनिता वा बिन्दवस्तृणाग्रे
वृष्टेन तेन वाच्यं परिमाणं वारिणः प्रथमम्।

अर्थात् जिस वृष्टि से पृथ्वी पर धूलि मिट जाय या तृणाग्र में जलकण दिखाई दें, उससे जल का प्रमाण कहना चाहिए।

मेघों के विषय में अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य जिसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है, यह है कि मेघों की स्वयं की कोई दिशा नहीं होती, प्रत्युत मेघ प्रचलित पवनों के साथ उसी दिशा में गमन करते हैं जिस ओर पवन चला करती है। ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र इस तथ्य की पुष्टि करता है :

गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु
शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः ।
बाधन्ते विश्वमभिमातिनमप वर्त्मान्यु-
षामनु रीयते घृतम् ॥३॥
(ऋग्वेद, प्र० मं०, सूक्त ८५, मं० ३)

वर्षा के सम्बन्ध में सब से आश्चर्य-जनक बात जो आर्यों को विदित थी, कृत्रिम वर्षा के सम्बन्ध में है। आर्यों को न केवल

बनावटी वर्षा की धारणा (Conception) ही थी, प्रत्युत उन्होंने बनावटी वर्षा कराने वाले मन्त्र का जो अग्नि से संचालित होता था, का आविष्कार भी कर लिया था। ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र इस तथ्य की भली भांति पुष्टि करता है:

प्र यद्रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं वाजे अद्रिं मरुतो रंहयन्तः ।
उतारुषस्य विष्यन्ति धाराश्चर्मेवोदभि। र्व्युन्दन्ति भूम ।।५।-

(ऋग्वेद, प्र० म०, सू० ८५, मं० ५)

अर्थात् "(मरुतः) वायु जिस प्रकार (वाजे) पृथ्वी पर अन्नादि की उत्पत्ति के लिये अद्रि रहंयन्त :) मेघ को लाते व (पृषतीः) जल सेचन करने वाली मेघ-मालाओं को एकत्र करते हैं, (अरुषस्य) चमचमाते सूर्य अथवा विद्युत बल से (धाराः) जलधाराओं को (विस्यन्ति) विविध दिशाओं में बरसाते हैं और (उदभिः भूम व्युदन्धित) जलों से समस्त भूमि को (चर्म इव) चमड़े की भांति तरबतर कर देते हैं, उसी भांति (मरुतः) विद्वान् जनों आप लोग जब-जब जिन यन्त्रों आदि में (पृषतीः) जल सेचन करने वाली यन्त्र-कलाओं को (अयुग्ध्वम्) जोड़ कर बनाओ तब-तब (वाजे) वेग उत्पन्न करने के लिय (अद्रिम्) कभी नाश न होने वाले मेघ के समान जल-वर्षक—यंत्र (रंहयन्तः) चलाते रहो। (उत और (अरुषस्य) दीप्त अग्नि के बल से (धारा): नाना जल धाराएं (वि स्यन्ति) नाना दिशाओं में छूटें और वे (उदभिः) जलों से (चर्म इव भूम व्युदन्ति) थोड़ी सी भूमि के समान पर्याप्त भूमि को जल से प्लावित करदें।"

इससे यह स्पष्ट है कि आर्यों को बनावटी वर्षा का पूर्ण ज्ञान था और इसके लिये उन्होंने जल-वर्षक यन्त्र का आविष्कार भी कर लिया था। यह यन्त्र अग्नि से चलता था तथा पर्याप्त भूमि को जल से प्लावित करने में समर्थ था यहां यह नहीं कहा जा सकता कि यह यन्त्र कैसा था इसके संचालन की विधि क्या थी। तथा यह किस ईंधन का उपभोग करता था? सच तो यह है कि आर्यों का यह ज्ञान आधुनिक बनावटी वर्षा के विशेषज्ञों से अधिक उन्नत जान पड़ता है, क्योंकि आज का विज्ञान केवल निम्न स्तरीय मेघों (low clouds) का बीजारोपण करके वर्षा कराने में सफल है। उच्च तथा माध्यमिक मेघों तथा उन्मुक्त आकाश से वर्षा कराना अभी सफल नहीं हो सका, यद्यपि इस दिशा में वैज्ञानिक निरन्तर जुटे हुए हैं। लेकिन आर्यों का जलवर्षक यन्त्र स्थिर मेघ के समान किसी भी समय जल बरसाने में समर्थ था।

यहां यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि मैक्समूलर ने ऋग्वेद का समय ईसा से १२०० वर्ष पूर्व और डा० एन. एन.

ला ने ईसा से ८००० वर्ष पूर्व स्वीकार किया है। उस समय के आर्यों को जबकि योरोप के देश, पाषाण युग से गुज़र रहे थे, इस महान तथ्य का ज्ञान होना तथा इसके लिये उपयुक्त यन्त्र का निर्माण उनकी उच्च सभ्यता और वैज्ञानिक महानता का दिग्दर्शन कराने के लिये पर्याप्त है। आज भी वैज्ञानिक भूतलस्थित यन्त्रों (Ground based generators) की सहायता से निम्न मेघों में सिल्वर आयोडाइड अथवा शुष्क हिम कणों की बौछार करके मेघों में स्थित महीन-महीन जलबून्दों को संयुक्त करने का कार्य सम्पन्न करते हैं। जिस से वर्षा होने लगती है। हो सकता है आर्यों का जल-वर्षक यन्त्र इसी प्रकार अथवा इससे उन्नत किस्म का कोई यन्त्र विशेष हो। ऐसी खोज करने का भी पर्याप्त कारण हमारे पास उपलब्ध है। आर्य पंजाब और उत्तर पश्चिम के जिस भाग में आबाद थे, वहां वर्षा की कमी थी। साथ ही साथ उनकी अर्थ-व्यवस्था कृषि पर आधारित थी और कृषि-कार्य वर्षा की सफलता पर निर्भर है। अत: जल की कमी को उन्होंने बनावटी वर्षा के द्वारा पूर्ण करने का सफल उद्योग किया हो।

यहाँ एक बाधा उपस्थित होती है और वह यह कि आर्यों को कुँओं, नहरों और जलाशयों द्वारा सिंचाई की विधि का ज्ञान था और इन साधनों का भी उन्होंने उपयोग किया है जिसका उल्लेख ऋग्वेद में विद्यमान है। अत: वर्षा की कमी सिचाई के साधनों द्वारा पूर्ण हो जाने के उपरान्त बनावटी की आवश्यकता नहीं पड़ती। फिर आर्यों ने ऐसा आविष्कार किया हो, यह बात समझमें नहीं आती। यहां पर हमने दो बातों पर विचार करना है। प्रथम तो यह कि नहरों का पानी हर जगह नहीं पहुंच सकता। उदाहरण के लिये ऊंचे भागों में नहरें नहीं जा सकतीं। आज भी राजस्थान के हर भाग में नहरें नहीं जा सकतीं क्योंकि नहरों में पानी नीचे भागों से ऊंचे भागों में नहीं चढ़ सकता। आर्यों का उस प्रदेश को भूरचना का जिसमें वे आबाद थे, पूर्ण ज्ञान रहा होगा और वे इस कठिनाई को भली भांति समझते होंगे। इसके अतिरिक्त अन्य बात यह है कि उन्हें विदित था कि वर्षा का जल सिंचाई के जल की अपेक्षा कृषि के लिये अधिक अनुकूल और लाभ-दायक रहता है। कारण यह है नाइट्रेट पौधों के लिये एक आवश्यक भोजन है और मिट्टी में इसका उपलब्ध होना नितान्त आवश्यक है। इसके अभाव में पौधा ठीक तरह से नहीं पनप सकता। वायुमण्डल का ७८ प्रतिशत भाग नन्त्रजन नामक गैस से निर्मित है और मेघों में होने वाली विद्युत घटनाओं के फलस्वरूप वायुमण्डल में उपस्थित नभजन नाइट्रेट में परिणत हो जाता है और फिर वर्षा के

जल में घुल मिल कर भूतल और मिट्टी को प्राप्त होता है। इस प्रकार वर्षा के साथ केवल जल ही नहीं आता, प्रत्युत् नाइट्रेट भी मिट्टी को प्राप्त होता है। सिंचाई की कोई भी विधि और कितनी भी मात्रा वर्षा के इस महत्त्वपूर्ण कार्य को नहीं सम्पन्न कर सकती। आर्यों को इस प्रक्रिया का ठीक-ठीक ज्ञान रहा होगा और इसी लिये उन्होंने सिंचाई पर कम बनावटी वर्षा पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जान पड़ता है।

ऋग्वेद का निम्न मन्त्र इस बात की पुष्टि करता है कि आर्य ऊंचे प्रदेशों में जलाशय बनाते और जल को नालियों द्वारा बहाकर खेतों तक लाया करते थे। उन्हें नहरों का पूर्ण ज्ञान था और वे जल को एकत्र करना तथा उसका सदुपयोग जानते थे। देखिए मन्त्र :

अहानि गृध्राः पर्या व आगुरिमां धियं
वाकीर्यां च देवीम ।
ब्रह्म कृण्वन्तो गोतमासो अर्कैरुध्वं नुनुद्र
उत्सधिं पिबध्यै ।।४।।
(ऋग्वेद, प्र० मं०, सू० ८८, मं० ४)

अर्थात् जैसे ऊँचे स्थान पर बने जलाशय से विद्वान् जन पानी को यन्त्रों की सहायता से नीचे बहा लेते हैं.........। विद्वान् जन जिस प्रकार (वार्कार्याम् धियम्) जल प्राप्त करने की क्रिया को (परि आ अगुः) सब प्रकार से हैं......।

(ब्रह्म कृणवन्तः गोतमासः) जल को उत्पन्न करने वाले कृषिकर विद्वान जन (पिबध्यैः) भूमियों को जलपान कराने अर्थात् सेंचने के लिये (अर्कैः) नाना साधनों से (उत्सधिम्) कूप में स्थित जल को (ऊर्ध्व नुनुद्रे) ऊपर खींच लेवें। इससे यह भी अवगत होता है कि आर्यों को भूमिगत जल का भी ज्ञान था और वे इसका उपयोग कुएं बना कर किया करते थे ।

आर्यों का उत्तरी भारत की समस्त बड़ी बड़ी नदियों का ज्ञान ऋग्वेद के दशम् मण्डल के ७५ सूक्त के ५वें मन्त्र

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं
सचता परुष्ण्या ।
असिकन्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये
शृणुह्या सुषोमया ।।५।।

मे गंगा यमुना सरस्वती, सतलुज, रावी, चनाब (असिकन्या., मरुद्वृधा, झेलम (वितस्ता), ब्यास (आर्जीकीये) और सिन्धु '(सुषोमा)क उलालेख मिलता है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल, सूक्त २४, मन्त्र २७ में "सप्तसिन्धुषु" का उल्लेख है जिसका अभिप्राय पंजाब की सात नदियों से है। मैक्समूलर इन्हें पंजाब की सात नदियां–सिन्धु, झेलम, चनाब, रावी, ब्यास, सतलुज और सरस्वती–मानते है ऋग्वेद में ही (प्रथम मण्डल, सूक्त ८०,

मन्त्र ८) "नवति नाव्या : अनु" अर्थात ९० नाव चलाने योग्य नदियों का वर्णन मिलता है। जिससे आर्यों के जलविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान का पता लगता है।

इतना ही नहीं आर्यों को समुद्र की भी भली भांति ज्ञान था। ऋग्वेद मे अनेक स्थलों पर समुद्र का उल्लेख आया है। उदाहरण के लिये प्रथम मण्डल, सूक्त ११६, मन्त्र ५, सूक्त ९७, मन्त्र १२, तथा दशम मण्डल, सूक्त १९०, मन्त्र १ में समुद्र का उल्लेख है जो आर्यों के समुद्री ज्ञान का परिचायक है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आर्य जिस प्रदेश में आबाद हुए वहां जंगलों का बाहुल्य था। उन्होंने जंगलों को काट कर साफ किया तथा भूमि को कृषि योग्य बनाया क्योंकि (वाशी:) कुल्हाड़ी आदि अस्त्रों और ऊंचे-ऊंचे वृक्षों वाले वनों (ऊर्ध्वा वना) का उल्लेख भी और इसके काटने की चर्चा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल, सूक्त ८८, मन्त्र ३ में हुई है।

अतः स्पष्ट है कि आर्यों का मेघशास्त्र वृष्टि विज्ञान तथा जलविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान पर्याप्त बढ़ा चढ़ा और महान था। इस दिशा में अभी पर्याप्त कार्य होना है और इसके लिये विद्वानों को सामने आना चाहिए।
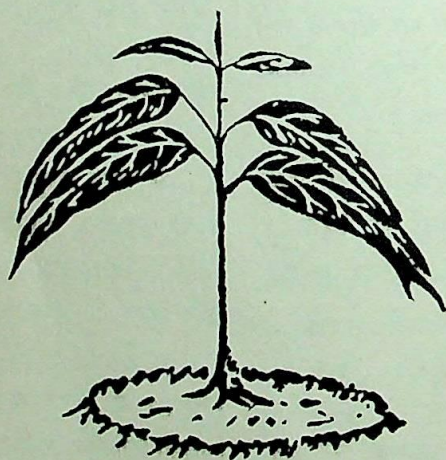
"क़िस्सा"—व्युत्पात्ती तथा विकास

मैथिली प्रसाद भारद्वाज

क़िस्सा" तथा कुरान :– किस्सा शब्द अरबी भाषा-मूल से आता है। कुरान में किस्सा शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। "क़स" धातु से बना "क़सस"( ) शब्द अवश्य पांच बार (२:५५; ७:१७५; १२: ३; ॥।; और २८:२५ शीर्षकों में) प्रयुक्त हुआ है। परन्तु इसका सीधा अर्थ 'आख्यान' 'वर्णन' अथवा 'कथन' नहीं है। भाग १८:६३ के एक प्रयोग में इसका तात्पर्य है–"इस प्रकार वे दोनों उनके पग-चिन्हों पर उन्हें खोजते लौट ..."। २८:१० में मूसा की माता कहती ... कुस्सीहि" जिसका तात्पर्य है– "उसे खोजो"। "क़स्सा" का तात्पर्य प्रतीत होता है –"उसने क्रम-क्रम से किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के सम्बन्ध में विषय की खोज निकाला, अथवा उसने उस पर अपना अभिमत प्रकट किया"।१

क़िस्सा तथा परवर्ती शब्दकोष

परवर्ती शब्दकोषों में 'क़स' शब्द के स्पष्ट दो अर्थ मिलते हैं "–काटना या कैंची आदि से कतरना" अथवा "पग-चिन्हों का अनुसरण करना"। स्टैनगैस के फारसी-अंग्रेज़ी शब्दकोश में 'क़स', 'क़स्सास', 'कस्साह' आदि शब्दों के अर्थ दिए हैं— अनुसरण करना, काटना, कतरना, पक्षी के पर कतरना, मृत्यु-द्वार तक पहुंचाना, कत्ल करना, मृत्यु दण्ड देना। 'क़िसा' का तात्पर्य जहां स्वादिष्ट भोजन दिया गया है वहां कोई बात, कथन, वस्तु, इतिहास, आख्यान, कथा, कहानी, पशु-कथा, रोमांस, आदि अर्थ भी दिए गए हैं। इसी क्रम में 'क़िस्सा–ख्वानी 'का तात्पर्य है 'कथा सुनाना' जबकि 'क़िस्सा गो'––कथा सुनाने वाला 'किस्सा दराज़ करदन'––बात बढ़ाना, 'क़िस्सा–कोताह'– बात संक्षिप्त करना, अर्थ भी दिए हैं।२

1. The Encyclopaedia of Islam—Volume II—Page 1042—44. (Note on word quissa)
2. Parsian—English Dictionary of Steingass (Notes on words qs, quassas, quassa and quissa etc.)

पर ये अर्थ अर्थ-विकास का कोई संकेत न देते हुए व्यवहार-गत अर्थ ही स्पष्ट करते हैं। "अरबी-अंग्रेज़ी कालिजिएट शब्दकोष" में भी "क़सास्" का तात्पर्य दण्ड अथवा काटना दिया है, जबकि "ओकास" तथा "क़िसूसी" का तात्पर्य है आख्यानकार अथवा कथा-वाचक। आगे "क़िस्सा" को तीन भागों में बांटा गया है—"क़िस्सा ज़राफिया"—पशु-कथा, "क़िस्सा ख्यालिया"— कल्पित कथा तथा "क़िस्सा शेरिया"—गाथा-काव्य।१ हैमी के फारसी-अंग्रेज़ी शब्द-कोश में भी "क़स्स्" का तात्पर्य कसाई तथा "क़स्सास्" का तात्पर्य दण्ड, प्रतिकार ही दिया गया है, जबकि उसी के क्रम में "क़िस्सा" का तात्पर्य दास्तान, हिकायत, कथा अथवा आख्यान तथा "किस्सा-गो" का तात्पर्य कथा सुनाने वाला कहा गया है।२ उर्दू के एक उच्च स्तरीय शब्दकोश में भी किस्सा तथा सम्बन्धित शब्दों के यही अर्थ दिये हैं। यहां "क़िस्सा उठाना" का तात्पर्य है झगड़ा उठाना, "क़िस्सा-ख्वां" तथा "क़िस्सा ख्वानी" का तात्पर्य है—कथा कहने वाला तथा कथा कहने की कला। "क़िस्सा पाक करना" का तात्पर्य है— कत्ल करना अथवा बदला लेना, जबकि "क़िस्सा-कोताह" का तात्पर्य है —संक्षिप्त में बात करना।३

भारतीय शब्दकोश और किस्सा:—"द एनसाइक्लोपीडिया इंडिका" में "आख्यान" शब्द का अर्थ दिया है—कथन, बयान, वक्तृता, बोली, कथा, **किस्सा**, कहानी। "आख्यानक" का तात्पर्य है कथा अथवा **छोटा किस्सा**। इसी प्रकार "आख्यानिका" का तात्पर्य है—गल्प, **किस्सा** आदि। इससे भी किस्सा का प्रयोगजन्य आख्यानमूलक अर्थ स्पष्ट होता है।४ डॉ० रामशंकर शुक्ल रसाल के अनुसार भी आख्यान तथा आख्यायिका का तात्पर्य कहानी, कथा, वृत्तान्त तथा किस्सा आदि हैं। "किस्सा" से उनका तात्पर्य कहानी, कथा, आख्यायिका, समाचार, कांड, झगड़ा, वृत्तान्त, हाल, बात आदि है।५ राष्ट्रभाषा कोश

1. The Collegiate Arabic—English Dictionary—Cairo. (Notes on Kssas, kissa, kassassa etc.)
2. Heimi's One Volume Persian—English Dictionary—Tehran (Notes on words kasa, kassas, kissa etc.)
3. The students Practical Urdu—English Dictionary—National Press, Allahabad. (Notes on Words kassas, kissa etc.)
4. The Encyclopaedia—India—Nagendra Nath Verma Vol. I (Notes on Akhyan, Akhyayika etc.)
5. भाषा शब्दकोश—डा० रामशंकर शुक्ल रसाल (किस्सा, आख्यान व आख्यायिका पर टिप्पणियां)

में भी "किस्सा" शब्द का प्रयोगजन्य अर्थ कथा, कहानी, उपाख्यान, समाचार, वृत्तान्त, कांड, झगड़ा तथा तकरार दिया है।१ हिन्दी साहित्य-कोश में आख्यायिका का साधारण अर्थ कहानी वृत्तांत तथा किस्सा दिया गया है।२

अरबी लिसान तथा किस्सा :—इन सब कोशों का स्रोत अरबी प्रयोगजन्य अर्थ प्रतीत होता है। कुरान में तो, जैसा कहा जा चुका है, यह शब्द उपलब्ध नहीं है पर "लिसान" में इसका तात्पर्य अनुसरण करना माना गया है। वहां भी प्रयोग की परम्परा का ही संकेत मिलता है। प्रमाण-स्वरूप कोई काव्य-अंश अथवा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया गया है। "मिसवाह" में किस्सा का तात्पर्य विषय-मुआमिला, घटना आदि दिया गया है। "लिसान" (३४१-१-५) में किस्सा का एक प्रयोग है—"फि रॉ सिहि किस्सा"—उसके सिर में किस्सा है, जिसका तात्पर्य है—सारी बात कल्पित घटनामात्र है।३

लिसान, मतवादी संकेत —बाद में लिसान में इसके मतवादी प्रयोगके संकत भी मिलते हैं। "कस्स" अथव। कथाव।चक धार्मिक महत्त्व की कथाएं सुनाने वाला कहा गया है। यह भी कहा गया है कि "क़स्स" द्वारा कथाओं की घटा बढ़ी पर उसे ईश्वरीय "मकत" अथवा घृणा का भाजन बनना होगा। इस पर भी "क़स" तथा "किस्सा" का मूलभूत सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हो पाता।४

परवर्ती अरबी-भाषा तथा किस्सा:—बाद की अरबी भाषा में किस्सा शब्द के दो स्पष्ट अर्थ मिलते हैं —

(१) कथा—मूलतः धार्मिक तथा उपदेशात्मक, पर अधिक विस्तृत अर्थ में भी प्रयुक्त। "वोकैबुलिस्टा ऑव पीदरो दॅ अलकाला" (भाग २, पृष्ठ ३५२ अ, ब क़स्सास तथा मुक़स्सिस) के अनुसार इसका हस्पानवी तात्पर्य "इतिहास" है जबकि रैडहाउस के "टर्किश इंग्लिश लैक्सिकन" (पृष्ठ १४५८ अ) के अनुसार "इतिहासकार"।५

(२) निवेदन, प्रार्थना, विज्ञापन, किसी उच्चस्तरीय व्यक्ति के सम्मुख प्रस्तुत आवेदन। क्वाटरेम्येर के "सुलतान ममलूकस" (I, i, पृष्ठ २३६, टिप्पणी-३) में इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। इन आवेदनों को निपटाने के लिये एक अधिकारी होने का हवाला भी मिलता है,

---

१. राष्ट्रभाषा कोश—इंडियन प्रेस, प्रयाग (किस्सा शब्द पर टिप्पणी)
२. हिंदी साहित्य कोश—भाग १., संस्करण—२, वाराणसी—विक्रमी—२०२० (आख्यायिका शब्द पर टिप्पणी)
३. Encyclopaedia of Islam Vol. II pp. 1042—44.
४. —Ibid— pp. 1042—44.
५. —Ibid— pp. 1042—44.

जिसका पद "क़िस्सादार" का होता था। इस सब के अनुसार अरबी में आज तक "क़सस्" अपने दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है--(क) इस प्रकार की धार्मिक कथाओं का पेशेवर-गायक तथा (ख) पुलिस-अधिकारी, जासूस, खोजी, खुफिया आदि ।१

पंजाबी साहित्य में किस्सा:—उपर्युक्त उद्धारणों के आधार पर हम अवश्य यह निर्णय ले सकते हैं कि किस्सा शब्द अरबी-फारसी भाषाओं में कथात्मक, आख्यान-मूलक अथवा इतिवृत्तात्मक रचना के लिये प्रयुक्त होने लग पड़ा था। पंजाबी साहित्य में इतिवृत्तात्मक, कथात्मक रचना के लिये यह नामांकन मुसलमानों के आने के बाद के सीधे फारसी-अरबी प्रभाव का परिणाम है। हमें यह भी प्रतीत होता है कि अपने बियानिया '(वर्णनात्मक) किस्सों के समकक्ष कथात्मक-साहित्य के पंजाब में प्रचलन को देख कर मुसलमानों ने ही पहले-पहल इस प्रकार की रचनाओं को किस्सा नाम दिया होगा जो बाद में इस बहुप्रचलित विधा के लिये मान्य हो गया। पंजाबी के प्रायः सब विद्वान् पद्य-मय कथात्मक रचनाओं को किस्सा स्वीकार करने में लगभग एकमत हैं।२

भारतीय आख्यान साहित्य का विश्व में प्रसार—अति प्राचीन काल से भारत आख्यान-साहित्य का घर रहा है। विश्व की अधिकांश जातियों को कथा-भंडार कथा-रूप तथा कथानक-रूढ़ियों की दृष्टि से सम्पन्न बनाने में भारत का महत्वपूर्ण योग रहा है।३ हमारी कथाओं के बाहर फैलने के तीन मार्ग रहे हैं।

(१) उत्तर में बौद्ध साहित्य के तिब्बती, चीनी अनुवादों के माध्यम से (२) पूर्वी तथा दक्षिणी समुद्र-मार्ग से द्वीपान्तर-भारत अर्थात् बाली, जावा सुमात्रा, चम्पा; तथा जापान, चीन एवं लंका आदि देशों में; (३) उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से फारस-अरब में से होते हुए यूरोप तथा उत्तरी अफ्रीका में।

प्रसार का मुख्य मार्ग:—भारतीय आख्यानों के बहिर्गमन का मुख्य मार्ग भारत और अरब (तथा उसके माध्यम से पश्चिमी जगत्) के व्यापार का मुख्य मार्ग ही रहा है। पेशावर नगर के पुराने भाग में किस्सा-कहानी"।४ या "किस्सा

1. Encylopaedia of Islam—Vol. II pp. 1042—44.
2. (i) पंजाबी साहित्त दी उत्पत्ती ते विकास—पृष्ठ 125-26. परमिंदर सिंघ किरपाल सिंघ कसेल ।
   (ii) साहित्त प्रकाश—पृष्ठ 165, परमिंदर सिंघ, किरपाल सिंघ कसेल।
   (iii) साहित्त दी परख—डा० गोपाल सिंघ—पृष्ठ 71, दिल्ली, 1950.
   (तथा अनेकों अन्य)

ख्वानी"१-नामक एक बाज़ार का अब भी होने का पता चलता है। प्राचीन काल में वहां अन्य वस्तुओं की भान्ति किस्सा-कहानी भी बिका करते थे। व्यापार-मार्ग पर अवस्थित यह स्थान पैदल और सार्थवाह में आने वाले यात्रियों का विश्राम-स्थल था। इसी अवसर पर श्रोता-व्यापारियों को कथा सुना कर कथा-व्यापारी बदले में धन लेते थे ।२

आहयान प्रसार–मार्ग पंजाब और किस्सा :—भारतीय आख्यान साहित्य के बहिर्गमन के मुख्य मार्ग में पड़ने के कारण देश के पश्चिमोत्तरीय सीमांत-प्रदेश पंजाब का आख्यान-प्रेमी होना सरल स्वाभाविक है। मुसलमानों के आगमन के बाद की नवचेतना के परिणामस्वरूप फूट पड़ने वाली पंजाबी किस्सा काव्य की धारा का स्रोत बहुत गहरी भारतीय आख्यान परम्परा में निहित रहा है । कथा-तत्त्व तथा कथानक-रूढ़ियों का सम्यक् अध्ययन इसका पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है। शैली अथवा अभिव्यक्ति पक्ष में अरबी-फारसी साहित्य के एकान्त प्रभाव से अवश्य इनकार नहीं किया जा सकता । * *

3. Tales, fables and stories belong to the best production of the Indian mind. . . . .It is most wonderful that the Indian narrative material has passed from nation to nation in such a way that we find in almost all the countries of Europe and Asia and even among those of Africa stories and tales of which the original home was India pp. 301-302. History of Indian Literature Vol. III. Part I, winternitz. (English translation of German—1922) Varanasi-1963.

४. साहित्य वर्ष १२, अंक २. जुलाई १९६१—पृष्ठ ५६—५९—कथा, शैली की परम्परा—(लेख) श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी।

१. प्रोफैसर केसर सिंह ओबराय की व्यक्ति-गत सूचना के आधार पर।

२. साहित्य वर्ष १२, अंक २, जुलाई, १९६१—पृष्ठ ५६-५९.—कथा, शैली की परम्परा—(लेख)—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी।

'स्फुलिंग'

नरेन्द्र मोहन शर्मा

आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुतविधान" विषय पर शोध-कार्य करते हुए, नवीन काव्य धाराओं में अन्तर्निहित सौन्दर्य का विवेचन, अवगाहन और मूल्यांकन करने का अवसर मुझे मिला था और तब मेरी यह धारणा बनी थी कि उत्तर-छायावादी काव्य में विभिन्न परस्पर विरोधी काव्य-प्रवृत्तियों और काव्य-दृष्टियों का जो तुमुल संघात मचा था, उसे अब एक निश्चित रूपाकार मिल रहा है, नयी कविता की भी रूढ़ियां अब टूट रही हैं और मूल्य-सापेक्ष व्यंजना गर्भित काव्य दृष्टि का उदय हो रहा है। कहना नहीं होगा कि ऐसी काव्यदृष्टि किसी वाद के खूंटे से बंधी नहीं रह सकती। सन् १९६० से १९६५ तक की काव्य-कृतियों का प्रत्येक अध्येता हमारी इस धारणा से सहमत होगा। केवल प्रचार के कोलाहल के आधार पर कोई काव्य रचना कब तक टिक सकती है ? रचना के स्थायित्व का आधार तो उसका काव्यत्व ही है। प्रचार के कोलाहल में यह आशंका अवश्य रहती है कि कहीं सच्ची काव्य प्रतिभा उपेक्षित न रह जाये। प्रसन्नता की बात यही है कि प्रचार के धुएं को चीरती हुई सर्वथा नयी सौन्दर्य दृष्टि लिये मूल्य-सापेक्ष व्यंजना गर्भित काव्य रचनाएं आ रही हैं। सन् १९६५ के अन्त में प्रकाशित श्री महेन्द्र प्रताप की काव्यकृत्ति "स्फुलिंग" ऐसी ही एक महत्त्व-पूर्ण काव्य रचना है।

"स्फुलिंग" कई दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण काव्य रचना है । सब से बड़ी बात यह है कि यह काव्य संग्रह किसी वाद के खूंटे से बंधा हुआ नहीं है। इसमें कवि की स्वस्थ एवं सौंदर्यात्मिक काव्यदृष्टि को लक्षित किया जा सकता है। नयी कविता में जो स्वस्थ एवं उदात्त है उसका ग्रहरूप तो इसमें हुआ है पर यह काव्यकृत्ति नयी कविता की बंधी हुई लीकों को तोड़ती है, यह बात विशेष रूप से महत्त्व-पूर्ण है। मेरे विचार से इसका कारण कवि की मूल्य-सापेक्ष-दृष्टि है। यों जब चारों ओर मूल्यों का विघटन एवं अराजकता हो तो किन्हीं मूल्यों से चिपटे रहना खतरे से खाली

नहीं होता। किन्तु यहां तो कवि ने इन विघटित स्थितियों को स्वयं भोगा है और इस प्रक्रिया के दौरान ही कुछ मानव मूल्य उसके काव्य में उभरे अथवा प्रत्यक्ष हुए हैं। ये मूल्य सांस्कृतिक महत्त्व के हैं। आजकी मूल्य निरपेक्ष विसंगतियों को भोग कर ही कवि को इनकी उपलब्धि हुई है। जिजीविषा, सत्य, आस्था जैसे मूलभूत मानव-मूल्य ही कवि के चरम अभीष्ट हैं। निराशा, नकार, अनिश्चय, घुटन जैसी मानसिक प्रवृत्तियों का चित्रण तो उसके काव्य में है, पर ये प्रवृत्तियां कवि काव्य में फैशन के तौर पर या नयी कविता की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति का अनुवर्त्तन करने से नहीं आई है, और न ही इन प्रवृत्तियों का चित्रण करना इन कविताओं का अन्तिम लक्ष्य है विसंगतियों के बावजूद, जीवन को जीने की, जिजीविषा को कवि की प्यास अदम्य है। संक्षेप में कहें तो कवि ने आधुनिक बोध को ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में ग्रहण किया है, ऐतिहासिक परिणति के रूप में नहीं। उनके काव्य में क्षण की अनुभूति का उतना नहीं जितना अनुभूति की समग्रता के बोध का महत्त्व है। 'मर रही है आत्मा अमर जो रही' और 'होने को बने हैं हो लेते हैं' आदि पंक्तियां युग जीवन की वास्तविकता को आत्मसात् करने वाला कवि ही लिख सकता है। इन के आधार पर कवि को क्षणवादी या नियति वादी समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए, क्योंकि इन युगीन स्थितियों को स्वय भाग कर कवि ने उन्हे एक मूल्यगत आयाम भी दिया है। इस प्रकार की कुछ कविताएं यहां उल्लेखनीय हैं—'मैं बूढ़ा हो रहा हूं', 'यातना', 'अवरुद्ध', 'प्रतिकृत्ति' 'अनभोगा बिन्दु', 'झाग के द्वीप', 'धिक् हमारी निष्ठा', 'प्रश्न उत्तर' आदि।

'स्फुलिंग' का कवि अत्यधिक संवेदनशील एवं भावप्रवण है किन्तु मस्तिष्कहीन कोरी भावुकता ढूढने वालों को यहां निराशा होगी। कवि व्यक्तित्व की सहज भावप्रवणता इन पंक्तियों में अभिव्यक्त है —

मैं कुछ इस तरह ढला हूँ
कि मानो बरफ़ का डला हूँ
जब चाहो झांक लो पूरा
गला लो जरा सी आंच देकर,
उठा लो प्यार से मुझ को
तो हाथों में पिघल जाऊं।

हृदय के सहज विस्तार से ही कवि-व्यक्तित्व में ऐसी भाव-प्रवणता आती है। कवि की वैयक्तिक चेतना में जीवन जगत् का जो बिंब उतरता है अथवा जो सत्य अनुभूत होता है, उसे जब वह कल्पना के स्पर्श से, निर्वैयक्तिक ढंग से अभिव्यक्त कर देता है, तो कवि का अनुभूत सत्य सभी का हो जाता है, सभी के लिये संवेद्य और साधारणीकृत हो जाता है। यही संक्षेप में काव्यप्रक्रिया है। हमारे कवि ने भी वैयक्तिक चेतना के धरातल पर जो अनुभूत

किया है उसे समष्टि तक संप्रेषित करने में उसे सफलता मिली है। कवि के काव्य का मूल स्वर व्यथा का है जिसे रस सम्प्रदाय की शब्दावलि में करुणा भी कहा जा सकता है। यह व्यथाबोध, आज के सन्दर्भ में, प्रत्येक संवेदनशील प्राणी का व्यथाबोध है। कवि ने इस मानसिक व्यथा, यातना अथवा यंत्रणा को वैयक्तिक चेतना के स्तर पर भोगा है और उसे वाणी दी है। व्यथा बोध की यह अभिव्यक्ति बड़ी सप्राण और उदात्त है। कातिपय उदाहरण देखिए --

मैं धुला हूँ
भीतर ही भीतर इस तरह
जैसे कोई पत्थर का डला
पानी में पड़ा,
किसी घूमती दहकती
बड़े से मिल की
भट्टी में धरा
चूर्ण हुआ धुलता है ।

कितनी भीषण मानसिक यंत्रणा की द्योतक है ये पंक्तियां ! आज के युग की विभीषिकाओं में संवेदनशील व्यक्ति इस प्रकार धुलने को ही तो अभिशप्त है। उसके गिर्द तो सींकचों की एक कारा मानों घूमती ही रहती है। 'मन बेचैन, फट पड़ने को आतुर, न संभल पाता है, न बरस पाता है'। और यह व्यथा-बोध भी क्या है—

अजीब हालत है व्यथा की
ज्यों फांसी के तख्ते पे कोई,
न टूटता हो
न छूटता हो ।

कवि ने इस व्यथाबोध को कई स्थलों पर मनोवैज्ञानक गहराई भी दी है। कवि के इस व्यथा-बोध में मूल्यों के लिये एक छटपटाहट भी व्यंजित है।

"स्फुलिंग" में कुछ कविताएँ चिन्तन-प्रधान है। इन कविताओं की शैली प्रमुखत: विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक अथवा वर्णनात्मक है। ऐसी कविताओं की कथन-भंगी कहीं-कहीं सहज, व्यंजक और व्यंग्यात्मक भी है। 'आदमी', 'मरीचिका', '!' 'संभावना', और 'बिन्दु की खोज' कविताएं विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक हैं। कवि की जीवन दृष्टि का उद्घाटन 'बिन्दू की खोज' कविता द्वारा अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से हुआ है। इस कविता को कवि की काव्य-दृष्टि का घोषणा-पत्र कहा जा सकता है। 'नया कैपिटलिस्ट' अपने ढंग की एक नयी रचना है जिसमें विश्लेषण के साथ-साथ व्यंग्य की मात्रा भी पर्याप्त है। 'धिक् हमारी निष्ठा', 'प्रश्न-उत्तर', 'मरणोन्मुख' अत्यन्त महत्वपूर्ण चिन्तन प्रधान कविताएँ हैं जिन की शैली या तो व्यंग्य प्रधान है अथवा व्यंजना-गर्भित। एक उदाहरण देखिए

सत्य का पट
उजला, विशाल !

बुने पर कौन ?
हम तो बिलों में रहते हैं,
गलियों में बसते
केवल अपनी कहते हैं,
सूत सूत लिये बैठे
सर्वाधिकार सुरक्षित !

अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से भी स्फुलिंग का विशेष महत्त्व है। कला की कारीगरी दिखाने का प्रयत्न अथवा मणि-कुट्टिम कला का प्रदर्शन इन कविताओं में कहीं कहीं मिलेगा, तो भी भावमयी उत्पादक कल्पना द्वारा कला सौंदर्य का चरम उत्कर्ष कई कविताओं में है। यहां अभिव्यक्ति के सौन्दर्यमय उपकरण काव्यानुभूति से उत्स से उठी हुई स्फूर्तियां हैं। कवि को अपनी अनुभूति के लिये अलग और अभिव्यंजना के लिये अलग प्रयास नहीं करना पड़ा है। काव्य सृजन प्रक्रिया में दोनों अलग अलग हैं भी नहीं। कवि तो स्वयं यह मानता है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच का अन्तराय सर्जना की दुर्बलता है। कवि के काव्य का अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत पक्ष के सौन्दर्योत्कर्ष के लिये ही हुआ है। कवि ने सूक्ष्म आन्तरिक साम्य के आधार पर ही उपमानों, प्रतीकों का रुचिर विधान किया है। अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से कुछ कविताएं विशेष महत्त्वपूर्ण हैं; वे हैं—'अवरुद्ध', '?', 'झाग के द्वीप' 'यातना', 'अंधा कुणाल' आदि। कवि के अप्रस्तुत कई स्थलों पर सर्वथा अभिनव एवं मौलिक हैं। नीचे हम कुछ उदाहरण लेते हैं —

मेरी कल्पना के भाल पर
है खिंच गयी तू
भुरती दीवार से अटकी
फट गयी तस्वीर की तरह.....

० ० ० ०

हमारी रगों का खून
पानी बन चुका है !
उबाल खा कर
निकले द्रव की तरह
बैठ गये हैं हम;
उतर चुकी है बाढ़,
झाग के तैरते द्वीप
फूट कर छितरा गये !

० ० ० ०

कोई बेबसी सी,
बिंधी सी
मछली की तरह,
कांटे पे टंगी
निहारती !
बस निहारती है !!

उपर्युक्त उदाहरणों में जो अप्रस्तुत आए हैं,उनका विधान सर्वथा नया है और वे सुष्ठु और मर्म-स्पर्शी भी हैं। ये मात्र प्रयोगात्मक अथवा बौद्धिक नहीं हैं। ये कवि की कल्पना तथा सौंदर्य-दृष्टि द्वारा काव्यानुभूति के सन्दर्भ में आए हैं। 'भुरती दीवार से अटकी फट गयी तस्वीर की तरह', और 'उबाल खा कर निकले द्रव

की तरह बैठ गये हैं हम' 'उतर चुकी है बाढ़,''झाग के तैरते द्वीप फूट कर छितरा गये' अप्रस्तुत कवि के अभीष्ट अर्थ को अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से व्यंजित करते हैं। तीसरे उदाहरण का बिम्ब भी अत्यधिक मर्मस्पर्शी है। आज के युग-जीवन में व्यक्ति की बेबसी का, उसकी निरुपाय स्थिति का कितना मार्मिक करुण चित्र प्रस्तुत करता है यह बिम्ब ! 'कांटे पे टंगी बिंधी सी मछली की तरह' आज के व्यक्ति की व्यथा कितनी दारुण है, उसकी विवशता कितनी कचोटने वाली है ! युग जीवन की यथातथ्य स्थिति के ऐसे बिम्ब कवि की काव्यगत संवेदना की सच्चाई के द्योतक हैं और उसकी कल्पना शक्ति के भी सूचक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'स्फुलिंग' में ऐसी कविताएं भी हैं जिनमें धारणाओं-प्रत्ययों का विश्लेषण ही प्रधान है, अनेक कविताओं के पीछे सामान्य कल्पना ही सक्रिय है और बिम्ब विधायिनी कल्पना शक्ति से स्फूर्त कविताएं अल्प ही हैं। तो भी यह बात अपने आप में विशेष महत्त्वपूर्ण है कि कवि के प्रथम काव्य संग्रह में ही कुछ ऐसी कविताएं हैं जिनका बिम्बगत सौन्दर्य सहज ही पाठक का ध्यान आकर्षित कर लेता है।

आज चारों ओर प्रचार का कोलाहल मचा है। वादों के संकीर्ण घेरे हैं, दलबन्दियां हैं। चर्चित होने के लिये चौंका देने वाली प्रवृत्तियां काव्य-क्षेत्र में बढ़ रही हैं। एक विकृत किस्म की आधुनिकता (जिसे आधुनिक बोध का स्वांग भर कह सकते हैं, सच्चा आधुनिक बोध नहीं।) को प्रश्रय दिया जा रहा है। ऐसी स्थिति में एक स्वाधीन-चेता काव्य सर्जक क्या करे ? प्रचार के कोलाहल को तो आखिर चीरना ही होगा और नयी काव्य प्रतिभाओं को तथाकथित 'प्रतिष्ठित' (?) कवियों की जूठन को छोड़, नये युग बोध के अनुरूप अपने कृतित्व के बल पर आगे बढ़ना होगा, नया पथ प्रशस्त करना होगा। मुझे लगता है आगे की कविता मूल्य सापेक्ष व्यंजना गर्भित कविता होगी। स्फुलिंग का स्वाधीन चेता कवि उसी ओर इंगित करता प्रतीत होता है।

पंजाब के प्रमुख गद्य लेखक

o

सत्यपाल गुप्त

देश के अन्य भागों की भांति पंजाब प्रारम्भ से ही कवियों, लेखकों और साहित्य प्रेमियों की भूमि रहा है। हम यूं भी कह सकते हैं कि यह प्रदेश हिन्दी साहित्य के निर्माण के लिये आदि काल से ही उर्वरा भूमि रहा है। ईश्वरीय ज्ञान की वैदिक कविता की झंकार पंजाब की नदियों के कूलों पर ही गूंजी थी। यहां के निवासी यह अनुभव करते हैं कि किसी भी देश या जाति का बड़प्पन उसके लेखकों और कवियों पर निर्भर होता है वे जितने ही महान् होंगे उतना ही महान् होगा उनका देश और उतने ही महान् होंगे उनके आदर्श और स्वप्न।

पंजाब ने जहां हिन्दी कविता, उपन्यास, कहानी एव नाटक के क्षेत्रों में अपना महत्व_ पूर्ण योगदान दिया है वहां आलोचना एव अनुसंधान के क्षेत्र में भी बहुमूल्य साहित्य हिन्दी को दिया है। यदि पंजाब के सारे हिन्दी गद्य लेखकों का वर्णन किया जाए तो एक विस्तृत ग्रन्थ तैयार हो सकता है। मैंने अपने इस लेख में कुछ प्रमुख गद्य लेखकों का उल्लेख किया है जिन्होंने इस प्रदेश का नाम उज्ज्वल किया। इनमें कुछ ऐसे भी लेखक हो सकते हैं जिनका उल्लेख किसी कारण वश न हो सका हो फिर भी मैंने अपने इस लेख में सभी प्रमुख लेखकों का संक्षिप्त वर्णन किया है।

श्री राम प्रसाद निरंजनी :--आप खड़ी बोली के सुप्रसिद्ध गद्य लेखक हैं। आप पटियाला दरबार के प्रसिद्ध कथा-वाचक थे। आप उस समय के पटियाला नरेश की महारानी को योग वशिष्ठ की कथा सुनाया करते थे। आप द्वारा लिखा गद्य खड़ी बोली का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। आपकी साहित्य साधना का काल १७९८ विक्रमी था। आपने भाषा योग वशिष्ठ को सुनाम (जो गत पटियाला रियास्त का एक छोटा सा नगर है तथा संगरूर जिला में स्थित है) में गद्य रूप में लिखा। आपका गद्य सुन्दर और परि-मार्जित है। आपका आधुनिक खड़ी बोली

गद्य का प्रवर्तक माना जाता है। आपके गद्य का एक नमूना इस प्रकार है:—

"प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिस से सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं।......अगस्त्य जी के शिष्य सुतीक्षण के मन में एक संदेह पैदा हुआ, तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवान आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हो। मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं हमें समझाय के कहो।"

पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी:—आपका जन्म फिलौर में १८९४में पं० जैदयाल जोशी के घर हुआ। आपकी माता का नाम विष्णु देवी था। आप पंजाब के गांव-गांव में घूम कर रामायण महाभारत आदि की कथा सुनाया करते थे। आप एक सिद्ध-हस्त हिन्दी लेखक थे। आपने हिन्दी भाषा के विकास के लिये बहुत प्रयत्न किया। आपने १९२० से स० १९३८ तक हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें प्रौढ़ और परिमार्जित भाषा में लिखा 'सत्यामृतप्रवाह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आपने १४०० पृष्ठों का अपना जीवन चरित्र सुन्दर भाषा में लिखा। यह महान् ग्रन्थ इस समय प्राप्त नहीं है। आपकी अन्य पुस्तकें आत्म चिकित्सा, धर्म रक्षा, उपदेश संग्रह, तत्वदीपक आदि हैं। आपने एक उपन्यास 'भाग्यवती' नामक भी लिखा। 'जय जगदीश हरे' नामक आरती जो आज भी अत्यन्त लोकप्रिय है आपने ही लिखी थी। आपका देहान्त १९३८ में हुआ।

पंडित माधव प्रसाद मिश्र:—आप पंजाब प्रदेश के हिसार जिला में कूगड़ गांव के निवासी थे। आपके पिता का नाम श्री रामजीदास था। आपने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने विद्वान् पिता से ही प्राप्त की। अपने पिता से उन्होंने इतिहास और पुराणों की कथाएं सुन-सुन कर ज्ञान प्राप्त किया तथा काव्य, व्याकरण, धर्म-शास्त्र आदि की शिक्षा प्राप्त की। आप न केवल हिन्दी के विद्वान् थे बल्कि मराठी, गुजराती, पंजाबी, उर्दू और बंगला की भी अच्छी जानकारी रखते थे। आपने श्री बाबू देवकीनन्दन खत्री के सहयोग से "सुदर्शन" नामक मासिक पत्रिका संवत् १९५७ में निकाली जो कुछ समय चल कर बन्द हो गई। आपके सुन्दर और विद्वत्ता पूर्ण निबन्ध इसी पत्रिका में प्रकाशित होते रहे। आपके निबंधों की भाषा पुष्ट और परिमार्जित होती थी। आपने ६० से ऊपर निबंध लिखे जिनमें अधिक संख्या जीवन चरित्रों की है। आपने पर्वों और त्यौहारों जैसे होली, रामलीला विजय दशमी और व्यास पूजा आदि संबंधी लेख लिखे। आप एक निर्भीक समालोचक भी थे। आपकी

समालोचनाएं [illegible] । आपने कुछ वर्ष "वैश्योपकारक" पत्र का सम्पादन भी किया । आपने हिन्दी तथा संस्कृत में पद्य रचना भी की थी जो अभी पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हुई । आपका देहान्त ३६ वर्ष की अल्प आयु में सम्वत् १९६४ में चैत्र बदी ४ को हो गया । आप उच्च कोटि के निबंध लेखक के रूप में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए हुए हैं ।

प्रो० पूर्ण सिंह:—आपकी प्रारम्भिक शिक्षा रावलपिंडी, पंजाब में हुई फिर आप लाहौर पढ़ने चले गए जहां से आप जापान गए और वहां से इम्पीरियल विश्वविद्यालय में आपने व्यावहारिक रसायन शास्त्र का अध्ययन किया। आप पर स्वामी रामतीर्थ के व्याख्यानों का बहुत प्रभाव पड़ा और वे वेदान्ती बन गए। आपने हिन्दी में केवल पांच ही लेख पवित्रता, मज़दूरी और प्रेम, सच्ची वीरता, आचरण की सभ्यता और कन्यादान लिखे हैं जो समय समय पर 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित भी होते रहे हैं। इन लेखों में भावों की विभूति, भाषा की विशाल शक्ति एवं उनके ज्ञान का परिचय मिलता है । आपने अपने अन्तिम दिनों में पंजाब में जड़ांवाला में कृषि कार्य प्रारम्भ कर दिया था । यहीं आपकी मृत्यु ३१ मार्च १९३१ को हुई ।

श्री चन्द्र धर शर्मा गुलेरी:—पंजाब के जिन साहित्यकारों ने अपनी-अपनी रचनाओं द्वारा हिंदी साहित्य में अपना स्थायी स्थान बना लिया है उनमें गुलेरी जी का नाम हम गौरव से ले सकते हैं। आपका जन्म २५ आषाढ़ संवत् १९४० को पंडित शिवराम के घर हुआ । आप छोटी अवस्था से ही संस्कृत के बहुत से श्लोक और अष्टाध्यायी के दो अध्याय याद करते रहते थे । सन् १९०३ में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी०ए० की परीक्षा प्रथम रह कर पास की जिसके लिये आपको एक स्वर्णपदक और बहुत सी पुस्तकें पुरस्कार रूप में मिली थीं । आपने मेयो कालिज के संस्कृत प्रधान अध्यापक पद को सुशोभित किया। सन् १९२० में आप काशी विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष होकर आए । आपके शिष्यों में कई महाराजा भी सम्मिलित हैं जिनमें प्रतापगढ़ के महाराजा रामसिंह, अमरसिंह और दलपत सिंह तथा काश्मीर के महाराजा हरिसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आपने संस्कृत, अंग्रेज़ी, प्राकृत, पाली, बंगला, मराठी आदि भाषाओं का अध्ययन किया तथा वैदिक साहित्य, दर्शन और पुरातत्व का अनुशीलन किया ।

आप एक सफल कहानीकार और चोटी के निबंध लेखक थे । आपने केवल तीन ही कहानियां लिखी हैं किन्तु आपने अपनी कहानी "उसनें कहा था" द्वारा हिन्दी लेखकों को कहानी लेखन में मार्ग-दर्शन किया है । "उसने कहा था" नामक कहानी सन् १९७२ में सरस्वती में प्रका-

शित हुई थी। इस कहानी में पूर्ण यथार्थवाद के साथ भावुकता कुतूहल आदि, कहानी के सभी गुण मौजूद हैं। सारी कहानी में भी प्रेम की निर्लज्जता के दर्शन नहीं होते। इस कहानी में गत महायुद्ध में सिक्खों की वीरता, दृढ़ता और कर्त्तव्यपालन का बहुत ही सजीव चित्र अंकित किया है। दूसरी कहानी "सुखमय जीवन" में आपने एक ऐसे नवयुवक का चित्र पेश किया है जो अपने पुस्तक-ज्ञान के आधार पर एक पुस्तक तो लिख बैठता है किन्तु जिसे संसार का बिल्कुल अनुभव नहीं। परिस्थितियां उसे ऐसे घेरती है कि वह होश में आ जाता है और सुखमय जीवन को प्राप्त करने में सफल हो जाता है तीसरी कहानी 'बुद्धू का कांटा' मे आपने एक ऐसे विद्यार्थी को पेश किया है जिसे संसार का व्यावहारिक अनुभव नहीं तथा जो लोटे में फंदा डाल कर कूएं से पानी खेंचना चाहता है किन्तु सफल नहीं होता और गांव की स्त्रियों के हास्य का पात्र बनता है। वह लज्जा के कारण आंख भी नहीं उठा सकता किन्तु जैसे जैसे उसका सांसारिक अनुभव बढ़ता जाता है उसका अल्हड़पन दूर होता है और वह संसार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। परोक्ष रूप से वर्तमान शिक्षा की त्रुटियों और कमियों का ज्ञान एक सफल ढंग से करवाया गया है कि किस प्रकार पुस्तकें रट-रट कर परीक्षा पास करने वाले युवक वास्तविक जीवन में असफल रहते हैं।

तीनों कहानियां भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का सुन्दर और सजीव चित्र उपस्थित करती हैं।

कहानी लेखक के साथ साथ-आप एक प्रसिद्ध निबंध लेखक भी थे। आपके निबंध बहुत थोड़ी संख्या में हैं किन्तु उनमें हमें पूर्ण साहित्यिक पुट मिलता है। आपके लेखों में हास्य का पुट मिलता है। भाव, भाषा, आत्मीयता और व्यक्तित्व की दृष्टि से आपका अपने समय के निबंधकारों में सर्वश्रेष्ठ स्थान था। आपके निबंधों में 'देवकुल', पुरानी हिन्दी, संगति, मारेसि मोहिं कुठाऊँ और कछुआ धर्म अधिक प्रसिद्ध हैं। आप नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के चोटी के नेताओं में थे। आप के प्रयत्नों से महाराजा उम्मेदसिंह ने अपनी पत्नी ककी स्मृति में २० हजार रुपया दान देकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सूर्य कुमारी पुस्तकमाला स्थापित करवाई। आपने कई वर्ष तक 'समालोचक' नामक पत्र का संपादन भी किया था।

बाबू नवीन चन्द्र राय :—आपने वर्षों इस प्रदेश में रह कर कई विषयों की अनेक सुन्दर पुस्तकें लिखीं। 'नवीन हिन्दी व्याकरण' उनमें बहुत प्रसिद्ध है। आपने संवत् १९२४ में "ज्ञान प्रदायिनी" पत्रिका भी प्रकाशित की।

बाबु बालमुकन्द गुप्त :—आप रोहतक जिला में गुड़ियाना नामक गांव के निवासी थे। आपने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें "मडेल भागिनो", 'हरिदास' और 'रत्नावली' की रचना की। पहली दो रचनाएं बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासों के अनुवाद हैं तीसरी रचना संस्कृत के उसी नाम की नाटिका का अनुवाद है।

ज्ञानी दित्त सिंह जी :—आप अपने समय के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ महारथी थे। इनके चार ग्रन्थ मिलते हैं—राजप्रबोध नाटक, अबलानिन्द मन संबोधन और स्वप्न नाटक। इनका समय श्री 'स्वामी दयानन्द जी सरस्वती का समयथा। कहते हैं कि इनके साथ स्वामी जी का कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार-विनिमय भी हुआ था।

श्री सत्यदेव परिव्राजक :—आपका जन्म सम्वत् १९४३ विक्रमी में लुधियाना में क्षत्री परिवार में सम्पन्न हुआ। आप एक साथ दार्शनिक सन्यासी, पर्यटक, और लेखक हैं। आपने अनेकों बार विदेशों की यात्रा की है और इनका सुन्दर और वास्तविक वृतान्त पुस्तकों के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। आपने ५० के लगभग बहुमूल्य पुस्तकें हिन्दी साहित्य को दी हैं। पंजाब सरकार द्वारा आपको इन साहित्यिक सेवाओं के लिये सम्मानित भी किया जा चुका है।

स्वामी स्वतंत्रानन्द जी :—आपका जन्म मौज़ा मोही ज़िला लुधियाना में हुआ। आपने हिन्दी में अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखे। कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद भी किया।

स्वामी श्रद्धानन्द :—आपका पहला नाम ला० मुन्शीराम था। आपने वैशाख १९४६ (सन् १८८९-९०) में संद्धर्म प्रचारक पत्र प्रकाशित किया। इसके पश्चात् आपने देहली से 'विजय' और 'अर्जुन' दो पत्र हिन्दी में निकालने प्रारम्भ किये। पत्रकार के नाते, आपकी सेवाएं महान् हैं। आप हिन्दी के माने हुए वक्ता, लेखक और राष्ट्र-भक्त थे।

भाई परमानन्द जी :—आप एक महान् क्रांतिकारी होने के साथ साथ हिन्दी के एक महान् लेखक थे। आपने हिन्दी में कई बहुमूल्य ग्रन्थ लिखे जिनमें "आप बीती" "वीर वैरागी" "भारत रमणी-रत्न", वाल्मीकि मुनि का जीवन-चरित्र, स्वराज्य संग्राम आदि उल्लेखनीय हैं। हिन्दी के प्रसार के लिये आपन एक "आकाशवाणी" नाम से प्रकाशित किया।

पं० नेकी राम शर्मा :—आप का जन्म वि० सम्वत् १९५३ में रोहतक जिला के केलंगा स्थान में हुआ। आप हिन्दी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। आपने "अभ्युदय" "वेंकटेश्वर समाचार" आदि में अपने महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। भिवानी से 'सन्देश' नामक पत्र आपने प्रकाशित किया।

डा० देवराज जी :—आपने लगभग दो दर्जन सुन्दर पुस्तकें हिन्दी साहित्य को दीं। आप साहित्य साधक होने के साथ साथ राष्ट्र भाषा के अनन्य उपासक भी थे। आपकी रचनाओं में "नारी प्रार्थना" "देवनाद", "सावित्री नाटक", "भीम देव," "सुबोध कन्या" आदि उल्लेखनीय हैं। आपने शिक्षा के विकास के उद्देश्य से जालंधर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना कीं।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा:—आपका जन्म ३ नवम्बर, १८८७ ई० को रावलपिंडी के एक धनी घराने में हुआ। आप १९२४ तक जर्मन, फ्रैंच, ग्रीक तथा रूसी भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। १९२७ में आपको लन्दन से भारतीय व्याकरणों के ध्वनि विचारों के समालोचनात्मक अध्ययन पर डी. लिट की उपाधि मिली। आपने हिमालय की कई बार यात्राएं करके वहां की २१ अज्ञात बोलियों की खोज की। हैदराबाद सरकार द्वारा उर्दू विश्व कोष के मुख्य सम्पादक के नाते आपने लगभग ४० विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे जिनमें से कुछ एम. ए. परीक्षा के लिये निर्धारित किये गए।

डा० परमानन्द :—आप पंजाब के हिन्दी संस्कृत के वरिष्ठ एवं लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों में से हैं। संस्कृत-हिन्दी के प्राध्यापक के रूप में आपका स्थान उन गम्भीर आलोचकों और चिन्तकों में है जिन्होंने पंजाब के शिक्षण-क्षेत्र में विशेष स्थान प्राप्त किया है। आपने पंजाव विश्वविद्यालय से एम०ए०, एम०ओ० एल० और शास्त्री परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। इसके साथ ही आपके अंग्रेज़ी मे लिखे हुए ऋग्वेद विषयक एक गम्भीर शोध प्रबन्ध पर यूनिवर्सिटी ने आपको "डाक्टर आफ फिलासोफी" (पी. एच. डी.) की पदवी से विभूषित किया है। काशी के विद्वानों ने संस्कृत साहित्य में आपकी प्रगाढ़ एवं गम्भीर योग्यता को देखते हुए "विद्या रत्न" की उपाधि दी है। हिन्दी संस्कृत के साथ आपने पंजाबी की "ज्ञानी" परीक्षा देश-विभाजन से बहुत पूर्व तब उत्तीर्ण की थी जब इस भाषा का अध्ययन करना केवल भाषा प्रेम मात्र ही था।

इनका कार्य-क्षेत्र डी. ए. वी. कालेज लाहौर की प्रबन्धक समिति द्वारा संचालित दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय लाहौर के आचार्य पद पर १९३७ में आसीम होने से प्रारम्भ होता है। तदनन्तर ये डिग्री कलेजों में हिन्दी-संस्कृत विभागों के अध्यक्ष रहे। इस कार्य को करते हुए इन्होंने १९३७ से आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब लाहौर के हिन्दी प्रमुख पत्र साप्ताहिक "आर्य जगत्" का सन् १९४८ तक बहुत कुशलता-पूर्वक सम्पादन किया। ये इस साप्ताहिक पत्र के अवैतनिक सम्पादक दस वर्ष से अधिक रहे। हिन्दी की प्रमुख गद्य लेखिका श्रीमती रजनी

पनिकर ने भी प्रारम्भ में लेखन कला-नैपुण्य इनसे ही अपने शिक्षा-काल में प्राप्त किया था।

मान्यवर डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने एक बार कहा था कि आजकल के युग में सभी साहित्यकार प्रारम्भ में कवि होते हैं। धीरे-धीरे कविता के क्षेत्र से निकल कर वे आलोचक, प्राध्यापक या शोध-विद्वान् बन जाते हैं। डाक्टर साहब भी प्रारम्भ में संस्कृत में कविताए लिखते रहे जो ओरियण्टल कालेज लाहौर की पत्रिका में डा० लक्ष्मण स्वरूप जी के सम्पादकत्व में छपती रहीं। "प्रावृट् वर्णनम्" "शरत् सुषमा" जैसी कविताएँ बहुत प्रसिद्ध रहीं, हिन्दी में भी कुछ फुटकर रचनाएं इन्होंने "आनन्द" नाम से लिखीं जो इनके लिखे "पिंगल पीयूष" नामक पुस्तक में उदाहरणों के रूप में कहीं-कहीं दी गई हैं। परन्तु कविता इनका ध्येय क्षेत्र न था।

संस्कृत हिन्दी और पंजाबी माध्यमों में इन्होंने पुस्तकें लिखीं। 'निरुक्त रहस्यम्" नाम की पुस्तक संस्कृत माध्यम में निरुक्त के ऐतिहासिक एव विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिये बहुत छात्र प्रिय रही। जिस समय हिन्दी-प्रेमियों में पंजाबी पढ़ना या लिखना एक विचित्र बात समझी जाती थी तब उन्होंने "जपुजी साहब" नामक सिक्खों के पवित्र ग्रन्थ पर व्याख्या "सह-लेख" के रूप में लिखी जिसे "जानकीदास एण्ड सन्स" (मोहन लाल रोड) लाहौर ने १९४२ में छपवाया। "भीष्म प्रतिज्ञा" नामक हिन्दी के नाटक का पंजाबी रूपान्तर भी तभी इनका लाहौर में छपा था। हिन्दी की सर्व-प्रथम रचना इनकी "सरल सुबोध व्याकरण" है। तदनन्तर "शान्ति और क्रान्ति के कवि" नामक शीर्षक से इनकी एक रचना लाहौर में "सूरी वरादरज़" ने १९३९ में प्रकाशित की। इसके कई संस्करण भी छपे। इसमें हिन्दूमुस्लिम द्वेषाग्नि से सन्तप्त भारतीय जनता के हृदयों को "शांति" सलिल से सिंचित करने वाले महात्मा कबीर एवं भारत की स्वतन्त्रता के प्रथम प्रवर्त्तक छत्रपति शिवा जी के वीर कवि-"भूषण" के व्यक्तित्व, कवित्व एवं कृतित्व पर विशद आलोचना की गई थी। यह पुस्तक पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर ने पाठ्य पुस्तक के रूप में नियत की थी। "हिन्दी के प्रतिनिधि कवि" नामक कविता संग्रह भी प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त वीर कथा साहित्य में इनकी रचनाएं हैं--(१) भारत के नव रत्न (२) स्वातन्त्र्य संग्राम के महारथी (३) भारत की दिव्य विभूतियां आदि। इनमें देशोत्थान की प्रबल प्रेरणा, युवकों में अदम्य साहस की झलक तथा मातृ-भूमि के लिये मर मिटने की उद्दाम भावना है। छन्दः शास्त्र पर इनकी एक सुन्दर कृति "श्री पिंगल पीयूष" कई वर्षों तक यूनिवर्सिटी

की प्रभाकर परीक्षा में पाठ्य पुस्तक नियत रही। इसमें छन्दों के लक्षण उसी छन्द म दिये गये हैं। और साथ ही अन्य उदाहरण भी। इन्होंने अपनी एक रचना "प्राचीन कवि –परिक्रमा" नाम से लिखी है जिसमें हिन्दी के चौदह प्रमुख कवियों (चन्द वरदाई, कबीर, सूर, जायसी, मीरा, तुलसी, नन्ददास, केशव, मतिराम, बिहारी, सुन्दर दास भूषण, गुरु गोविन्द सिंह और देव का नवीन शैली पर विवेचनात्मक अध्ययन है।

इसके अतिरिक्त आपके विद्वत्तापूर्ण लेख विभिन्न सम्मानित पत्रिकाओं मे तो छपते ही हैं। उनका संकलन विश्व-विद्यालय द्वारा निर्धारित एवं संपादित पाठ्य पुस्तकों में भी पाया जाता है।

सन् १९६० में जब पंजाब सरकार ने भाषा-विभाग के अन्तर्गत "हिन्दी-विभाग" की स्थापना की तो आपको शिक्षा विभाग से लाकर इसका प्रथम निदेशक नियत किया गया। इन गत पांच वर्षों में अनेक बाधाओं के होते हुए भी इन्होंने पंजाब में जो हिन्दी के विकास और प्रसार का महान् कार्य किया है उसकी प्रशंसा सर्वत्र है। हिन्दी को सरकारी भाषा बनाने के लिये आवश्यक था कि इसे कार्यालयों के योग्य बनाया जाय। एतदर्थ सरकार ने कोड, मैन्युल ऐक्ट, एवं नियम तथा अधिनियमों का अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद कराना आवश्यक था। इनकी देख-रेख में पचास हज़ार से अधिक पृष्ठों का ऐसा अनुवाद हो चुका है जिसे सरकार प्रकाशित कर रही है। सरकारी ऐसी कोई फार्म नहीं बची जिसका हिन्दी अनुवाद न हुआ हो। "हिन्दी-पंजाबी कोश" एवं संस्कृत हिन्दी-पंजाबी कोषों के साथ विभाग ने इनके मार्गदर्शन में "कांगड़ी एवं हरियाणवी" शब्दावली-कोष भी लिखवाए, कई दुर्लभ हिन्दी के हस्त लेख प्रकाशनोद्यत हैं। इनमें "डोगरी" भाषा में लिखी "राजावली" विशेष है, पंजाबी भाषा का इतिहास भी हिन्दी में लिखा गया और पंजाब में रचित हिन्दी साहित्य का इतिहास भी सम्पूर्ण हो चुका है। विविध विद्वानों द्वारा ये कार्य इन्होंने अपनी निर्धारित पद्धति पर करवाए जो इनकी योग्यता एवं प्रौढ़ता के परिचायक हैं। इनकी गवेषणा ज्ञान पिपासा पर आधारित है।

विभाग की पत्रिकाओं के ये सम्पादक भी स्वयं हैं। "सप्तसिन्धु" गवेषणा-प्रधान हिन्दी पत्रिका है और 'जन-साहित्य' मे सृजनात्मक रचनाएं होती हैं। इनके सम्पादकीय लेख साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। रचनाओं के चयन में जो कौशल है वह भी प्रशंसनीय है। इन पत्रिकाओं के विशेषांक स्थायी साहित्य की सामग्री हैं। "अश्क अंक", "रवीन्द्र अंक," एकांकी अंक", (दो) "नेहरू अंक" "हरियाणा-लोक-मानस अंक" और

"उप-भाषा अंकों" में जो विद्वत्प्रियता प्राप्त की है—वह अद्वितीय है। केन्द्रीय एवं प्रादेशिक मन्त्रियों नेताओं एवं विद्वानों ने इन्हें स्थायी साहित्य की सामग्री माना है। परम विद्वान् डा० राम कुमार वर्मा अध्यक्ष हिन्दी प्रयाग विभाग "हरियाणा लोक मानस अंक" के विषय में लिखते हैं :—

"Permit me to congratulate you on the most informative and critical study of the Hariana Dialect Number, which you have so inteligently brought out. In the realms of folk literature, this special number of Jan-Sahitya will stand out as a substantial contribution to the scientitic study of the dialect. Let me say, it is a national service."

Dr. Ram Kumar Verma.

श्रद्धेय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० विनय मोहन एवं, डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० नगेन्द्र आदि चोटी के विद्वानों ने भी इनको सराहा है।

पंजाब में हिन्दी की प्रगति पर इनका योग दान अपना स्थान रखता है। इनका महान् व्यक्तित्व और हृदय की निर्मलता इन के लेखों और निर्भीक भाषणों में स्पष्ट उद्भासित होती है। ये निष्पक्ष समालोचक एवं कुशल सम्पादक हैं। भारत-भारती की आराधना इनका मनो-विनोद है।

वैदिक साहित्य इनका प्रधान विषय है। ऋषि दयानन्द की अद्वितीय कृति "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" पर इन्होंने अंग्रेजी में एक विवेचनात्मक विस्तृत गवेषणा की है और उसका अंग्रेजी अनुवाद भी साथ दिया है। इस से इनके वेदों के सम्बन्ध में किये गये गम्भीर अध्ययन का परिचय मिलता है। इस में देशी-विदेशी विद्वानों के वैदिक साहित्य के विविध विचारों का तुलनात्मक अध्ययन देकर ऋषि दयानन्द की भाष्य सरणि की अभूत-पूर्वता एवं विशिष्टता सिद्ध की है।

हमें आशा है कि डा० परमानन्द इसी प्रकार सरस्वती का आराधन करते रहेंगे और इससे भारती-भण्डार की संवृद्धि होती रहेगी।

श्री इन्द्र विद्या वाचस्पति:—आप श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के सुपुत्र हैं। एक सुयोग्य पत्रकार होने के साथ-साथ एक सफल लेखक भी माने जाते हैं। जहां आपने "सद्धर्म प्रचारक" "सत्यवादी" "विजय" अर्जुन आदि कई पत्रों का सम्पादन किया वहां निम्न-लिखित पुस्तकें हिन्दी साहित्य को दीं। "संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन" "महावीर गैरी बाल्डी", "पं० जवाहर लाल नेहरू", "अपराधी कौन ?" "मुगल साम्राज्य का क्षय", "जमींदार" "उपनिषदों की भूमिका" "राष्ट्रों की उन्नति" आदि।

पं० विश्म्भर नाथ शर्मा कौशिक :—आपका जन्म अम्बाला छावनी में हुआ। संस्कृत, हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू फारसी के भी आप ज्ञाता थे। कला की दृष्टि से

आपका स्थान प्रेमचन्द धारा में है। आपने कहानियां एवं उपन्यास लिखे हैं। "मां" "भिखारिणी" नाम के उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए हैं। "दुबे जी की चिट्ठियां" नाम से हास्य रस के पत्रों का संकलन भी प्रकाशित हो चुका है।

आप नाटककार के रूप में हिन्दी साहित्य में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आप की रचनाओं में दार्शनिकता की पुट होती है।

आचार्य विश्वबन्धु :—आपका जन्म पश्चिमी पंजाब में मेरा नामक स्थान पर सन् १८९६ ई० में हुआ। आप संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् होने के साथ-साथ हिन्दी के भी अनन्य उपासक हैं। जहां आपका मुख्य क्षेत्र वैदिक अनुसंधान है वहां आपने लगभग ८० पुस्तकें लिखी हैं। "वेद संदेश" "वेदसार" और "आर्योदय" आदि आपकी कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं।

डा० रघुवीर :—आप पंजाब के निवासी हैं। आपने साहित्य साधना के साथ-साथ पारिभाषिक शब्द निर्माण के क्षेत्र में महान् कार्य किया है। भारतीय संविधान के हिन्दी अनुवाद में भी आपका प्रमुख भाग था।

डा० सूर्यकान्त :—आप हिन्दी एवं संस्कृत के माने हुए विद्वान् हैं। आपने "पद्मावत" का अभिनव संपादन किया है और तुलसी कृत रामायण की एक शब्दानुक्रमणिका भी प्रकाशित की है। आपकी पुस्तक "हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास" पुरस्कृत भी हो चुकी है। आपने "साहित्य मीमांसा)" नामक एक बहुत ही खोजपूर्ण पुस्तक लिखी।

श्री गुरुदत्त :—आपका जन्म लाहौर में हुआ। आप उपन्यास लेखक के रूप में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आपके उपन्यास बहुत भारी संख्या में प्रकाशित होकर लोक-प्रिय हो रहे हैं।

महात्मा आनन्द स्वामी :—आप का जन्म ज़िला गुजरात के छोटे से गांव जलालपुर जट्टां में हुआ। आप का पहला नाम श्री खुशहाल चन्द खुरशन्द था। आपने बहुत समय तक आर्य गज़ट का सम्पादन किया तथा राष्ट्र-भाषा प्रेम से प्रेरित होकर "हिन्दी मिलाप" नामक दैनिक पत्र प्रकाशित किया जो सफलता पूर्ण ढंग से प्रकाशित हो रहा है। आपने बहुत सुन्दर भक्ति-साहित्य हिन्दी जगत् को दिया है। आपकी पुस्तकों में "एक ही रास्ता", 'प्रभु-भक्ति", 'प्रभु दर्शन" "तत्वज्ञान" "आनन्द गायत्री कथा" आदि बहुत लोक प्रिय हो रही हैं।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार :—आप का जन्म १८९९ ई० में पश्चिमी पंजाब के लायलपुर जिला की डिजकोट बस्ती में हुआ। भारतीय इतिहास का कोई युग या पहलू ऐसा नहीं जिस पर आपकी मौलिक खोजों ने नया प्रकाश न डाला हो। आपकी

पुस्तकों में "भारतवर्ष में [illegible] शिक्षा", भारतीय इतिहास का भूगोलिक आधार" "भारत भूमि और उसके निवासी" आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। "भारतीय इतिहास की रूपरेखा!!" पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया।

पंडित भीम सेन विद्यालंकार:—आपने कई पुस्तकें लिखीं जिनमें "वीर मराठे", "शिवा जी", "वीर पंजाबी" आदि उल्लेखनीय हैं। कई पत्रों का सफलता से सम्पादन भी आपने किया।

श्री सुदर्शन :—आपका पूरा नाम बदरी नाथ भट्ट है। आपका जन्म स्यालकोट में हुआ आप विचारों और कला की दृष्टि से उपन्यास सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द के बहुत निकट समझे जाते हैं।

आपने अपनी कहानियों, नाटकों, प्रहसनों और उपन्यासों द्वारा हिन्दी साहित्य को भरपूर किया है। इसके साथ-साथ अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया है। आपकी भाषा सरल और मधुर होती है तथा यथार्थ चित्रण की शक्ति इतनी प्रबल और पात्रों की सृष्टि इतनी सजीव होती है कि पाठक का उससे प्रभावित होना आवश्यक है।

श्री सन्तराम बी. ए.—आपका जन्म पुरानी बस्ती (जिला होशियारपुर) में हुआ। आपने कई पत्रों के सम्पादन के साथ साथ असंख्य पुस्तकें लिखी हैं। आपके लेख देश की प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आपने जात-पात तोड़क एवं विधवा विवाह आदि सामाजिक विषयों पर अधिक साहित्य हिन्दी को दिया है।

श्री धर्मवीर एम ए. :—आपका जन्म जेहलम में हुआ। आपकी पुस्तकों में "संसार की कहानियां", "पंजाब का इतिहास" "अमर पुत्र" आदि उल्लेखनीय हैं। आपने कई पत्रों का सम्पादन भी किया है।

श्री रघुनन्दन शास्त्री :—आपका जन्म नूरपुर ज़िला कांगड़ा में हुआ है। आपने अनेकों पुस्तकें लिखीं एवं अनुसंधान पत्रिका जिसका नाम "आदर्श भारत" था का सम्पादन किया।

आपकी पुस्तकें "गुप्त वंश का इतिहास" और "नागरिक शिक्षा" पुरस्कृत भी हो चुकी है।

डा० हरदेव बाहरी :—आप एक सफल आलोचक और लोकप्रिय साहित्यकार हैं। भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में आपके लेख बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। "हिन्दी काव्य शैली का विकास" आपकी बहुत खोजपूर्ण रचना है।

श्री अज्ञेय :—आपका पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय है। आपका जन्म गुरदासपुर (पंजाब) में सन् १९०२ में हुआ। आप जहां हिन्दी

के ख्यातिप्राप्त उपन्यासकार हैं वहां एक महान् क्रान्तिकारी भी हैं। आप अपने विद्यार्थी जीवन में ही देश को स्वतन्त्र करवाने के विचार से क्रान्तिकारी आंदोलन में शामिल हो गये थे तथा दिल्ली केस में जेल भेज दिये गये। आपने जेल की कड़ी से कड़ी यातनाएं सही हैं। आपने अपने जेल-जीवन में बहुत सी कहानियां लिखीं जो बहुत लोकप्रियता, को प्राप्त हुईं। कहानियों के साथ-साथ आपने श्रेष्ठ और लोक-प्रसिद्ध उपन्यास भी हिन्दी को दिये। शेखर "एक जीवनी" आपकी महान् एवं अभूतपूर्व रचना है जिसको हिन्दी उपन्यास साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। ये तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ है। यह उपन्यास प्रवाह शैली विचार धारा की दृष्टि से उच्च कोटि का कहा जा सकता है। आप के दूसरे उपन्यास "नदी के द्वीप" को भी एक सफल उपन्यास कहा जा सकता है। आप के कहानी संग्रहों में विपथका, शरणार्थी, परम्परा आदि कहे जा सकते हैं। आपकी रचनाओं में आपने व्यक्तिगत अनुभूतियों का सुन्दर एवं सफल चित्रण किया है। आप हिन्दी में मनोविशेषणात्मक उपन्यास के जन्मदाता कहे जाते हैं। आपने मानव के आन्तरिक विचारों का सफल वैज्ञानिक चित्रण किया है। आप पर विदेशी साहित्यकारों का जिनमें फ्राइड हैवोलाकएलिस तथा क्राफ्टएविंग का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है।

पंजाब को आपकी साहित्य सेवा पर गौरव है।

श्री मोहन राकेश :—आप हिन्दी के एक प्रतिभा सम्पन्न गद्य लेखक हैं। आप ने बहुत थोड़े समय में हिन्दी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। आपने कहानियों के साथ-साथ उपन्यास एवं नाटक भी लिखे हैं। आपकी रचनाओं मे इन्सान के खण्डहर, नए बादल, जानवर और जानवर, एक और जिन्दगी, फौलाद का आकाश (कहानी संग्रह) आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, अन्धे और अधूरे (नाटक) सत्य और कल्पना और दूध के दांत एकांकी संग्रह तथा अन्धेरे बन्द कमरे और नीली रोशनी की बाहें उपन्यास हिन्दी में बहुत लोकप्रिय हो चुके हैं। आपकी साहित्य सेवाओं की मान्यता एवं लोकप्रियता के कारण ही आपको इस वर्ष पंजाब सरकार द्वारा सर्व-श्रेष्ठ साहित्यकार के रूप में सम्मानित किया गया है। आप द्वारा साहित्य की विधाओं में जो नये प्रयोग किये गए वे बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। आप द्वारा लिखा नाटक "आषाढ़ का एक दिन!" १९५९ में संगीत नाट्य अकादमी द्वारा १९५८ का सर्वश्रेष्ठ नाटक घोषित किया गया।

आपने महाकवि कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" तथा एक अन्य नाटक "मृच्छकटिक" का संस्कृत से सुन्दर अनुवाद

किया है। आपके नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल कहे जा सकते हैं।

आपने हिन्दी पत्रकारिता को भी अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। आपने हिन्दी की लोक-प्रिय पत्रिका "सारिका" का सफलतापूर्वक सम्पादन किया है।

पंजाब के लिये आपका सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यक जीवन गौरव का कारण है। अभी आपसे हिन्दी अनेक गौरवपूर्ण रचनाओं की आशा रखती है।

श्री यश:--एक सफल पत्रकार के साथ-साथ एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार के रूप में भी हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। जहां आपने बहुत सुन्दर एवं मझी हुई भाषा में हिन्दी गद्य लिखा है वहां आप द्वारा लिखी कहानियां विशिष्ट महत्व की कही जा सकती हैं। आपने प्रायः सामाजिक वातावरण से पीड़ित पात्रों का चित्रण किया है। आपकी रचनाओं में व्यंग्य का अच्छा पुट भी विद्यमान होता है। "कारावास" और "आग" में आपने सुन्दर कहानियां लिखी हैं। अभी पिछले दिनों आप का एक कहानी संग्रह "मैं पूछता हूँ" नाम से प्रकाशित हुआ जिसका हिन्दी साहित्य में बहुत स्वागत हुआ। हिन्दी के प्रसिद्ध पत्र "वातायन" बीकानेर (राजस्थान) में श्री लाल बहादुर सिंह ने हिन्दी कहानी "पिछला दशक" नामक अपने लेख में इस संग्रह के सम्बन्ध में निम्न शब्द लिखे हैं। यश का कहानी संग्रह" "मैं पूछता हूँ" पिछले दशक का महत्वपूर्ण संग्रह है। इसकी कहानियां शिल्प-विधि, कथानक और अनूठी शैली के कारण काफी लोक प्रिय हैं।" पृष्ठ (१०१)

डा० कैलाश नाथ भटनागर:--आप एक सफल नाटककार हैं। आप द्वारा लिखित प्रसिद्ध नाटक हैं "भीष्म प्रतिज्ञा", "कुणाल" "श्रीवत्स"। आप द्वारा लिखित पुस्तक "नाट्य सुधा" पर आपको पुरस्कार भी मिल चुका है।

डा० इन्द्रनाथ मदान:--आपका चोटी के आलोचक के रूप में हिन्दी साहित्य में एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपने आधुनिक हिन्दी साहित्य पर बड़े वैज्ञानिक ढंग से नवीन खोज की है। आपकी आलोचनाएँ सुलझी हुई मार्मिक और सुस्पष्ट होती हैं। आपकी रचनाओं में "आधुनिक हिन्दी साहित्य", "प्रेमचन्द एक विवेचन", "हिन्दी काव्य निवेचन", "हिन्दी कलाकार", "शरतचन्द्र, चट्टोपाध्याय, एक विवेचन," "प्रेमचन्द" चिन्तन एवं कला" शास्त्रीय और सुगम संगीत" आदि बहुत लोकप्रिय हुई हैं।

डा० सरनदास भक्त:-- आपका जन्म ११ जुलाई १९०७ को करतारपुर (ज़िला जालंधर) में हुआ। आलोचना के क्षेत्र में आपने बहुत उल्लेखनीय कार्य किया है। "श्याम स्नेही" (आलम् कृत) पर आपको डाक्टरेट की उपाधि दी गई।

देवेन्द्र सत्यार्थी :—प्रसिद्ध लोकगीत-कार एवं संस्मरण लेखक के रूप में हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कुछ देर "आजकल" मासिक पत्र के सम्पादक भी रहे। आपकी पुस्तकों में "गिद्धा" और "रथ के पहिए" बहुत प्रसिद्ध हैं।

म० म० पं० परमेश्वरानन्द :—आप द्वारा "अलंकार कौमुदी" और छन्द शिक्षा नामक पुस्तकें लिखी गई।।

श्री भंदत आनन्द कौसल्यायन :—आपका जन्म सन् १९०५ में पंजाब के अम्बाला नगर मे हुआ। आपकी रचनाओं में "बुद्ध वचन" "बुद्ध और उनके अनुचर" "भिक्षु के पत्र" "जातक—दो भाग" आदि प्रसिद्ध हैं।

श्री यशपाल :—आपको जन्म कांगड़ा में हुआ। एक लोकप्रिय क्रांतिकार होने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकार भी हैं। आपने जेल में रहकर भी कलम की स्याही सूखने नहीं दी। लगभग ५० रचनाएँ हिन्दी को दे चुके हैं जिनमें "दादा कामरेड", "मनुष्य के रूप" "ज्ञान दान", "वो दुनिया" आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी :—आपका साहित्य साधना का क्षेत्र पंजाब में ही रहा। आप एक सफल नाटककार के रूप मे हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते है। आपकी पुस्तकों में "रक्षा बंधन" "जादूगरनी", "अनंत के पथ पर" बहुत लोकप्रिय हैं।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार :—आपका जन्म पंजाब के कोट आदु नामक ग्राम में हुआ। आप आलोचक एवं कहानी लेखक के रूप में बहुत प्रसिद्ध हैं। आपकी पुस्तकों में "कास्मोपौलिटन क्लब" "रेवा", "शिवसती", "कुछ प्रश्न" और आजकल" उल्लेखनीय हैं।

बैकुण्ठनाथ दुग्गल :— आपका जन्म हदियाबाद फगवाड़ा मे हुआ। आपने "रणभेरी" "श्री हर्ष", "समुद्र गुप्त", नारी, भिक्षा आहुतियां" पुस्तकें लिखी।

श्री उपेन्द्र नाथ अश्क :—आप जालंधर निवासी हैं चाहे आजकल पंजाब से बाहिर चले गये हैं। कहानी और एकांकी दोनों के सृजन करने वालों में आपका अन्यतम स्थान है। मध्यवर्ग के घरेलु जीवन का चित्र खींचने में आप निपुण हैं। "छटा बेटा", "स्वर्ग की झलक", "जुदाई की शाम का गीत!" "पत्थर अल पत्थर" आदि आपकी लोकप्रिय रचनाएँ हैं।

श्री पृथ्वी नाथ शर्मा :—आप नाटक-कार एवं कहानी लेखक के रूप मे लोक-प्रिय हैं। आपकी रचनाओं में "दुविधा" "अपराधी" "पंखुड़ियां", "उर्मिला", "उदय अस्त" आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

श्री विष्णु प्रभाकर :—आप लगभग पन्द्रह वर्ष हिसार में रहे। आपने कई

ग्रन्थों का सम्पादन किया है तथा एकांकी लेखक के रूप में बहुत नाम पैदा किया है। आपकी रचनाओं में 'रहमान का बेटा', "इन्सान", "क्या वह दोषी था", आदि हैं।

प्रो० इन्द्र :—आप द्वारा लिखी पुस्तकों मे "कौटिल्य अर्थशास्त्र" . "धम्मपद" "प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति" "संसार के महान् युग प्रवर्तक" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

श्री सत्यकाम विद्यालंकार :—आप बहुमखी प्रतिभा के लेखक हैं। कहानी, उपन्यास, व्यंग्य, मनोविज्ञान, वैवाहिक-जीवन सभी विषयों पर आपने श्रेष्ठ कृतियां दी हैं। आप द्वारा लिखित "सोमा" बहुत लोकप्रिय हुई जो नारी हृदय को चित्रित करती है।

डा० संसार चन्द :—जहां आप एक विद्वान् एवं आलोचक के रूप मे प्रसिद्ध हैं वहां हास्य व्यंग्य जैसे कठिन विषय पर भी आपने सफलता से लेखनी चलाई है आपने निबंध अथवा निबंधात्मक शैली में कहानियां लिखी हैं। आप के निबंधों में शिष्ट हास्य और तीखे व्यंग्य की पुट होती है। आपकी लोकप्रिय रचनाएं हैं "अन्योक्ति", "सटक सीतारम" "बहादुर शाह जफर"।

डा० दुर्गादत्त मेनन :— आपका जन्म अमृतसर में हुआ। आप हिन्दी संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् हैं। आपके खोज-पूर्ण लेख देश के चोटी के पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं। आपने ४० के लगभग रचनाएं हिन्दी साहित्य को दी हैं।

श्री हंसराज रहबर:—आपका जन्म पटियाला के एक गांव में हुआ। आपने इतिहास, गांधीवाद और मार्क्सवाद का गहरा अध्ययन किया है। आप द्वारा उपन्यास, कहानियां एवं खोजपूर्ण पुस्तकें हिन्दी जगत् को दी जा चुकी हैं। "प्रेमचन्द जीवन और कृतित्व," "नव क्षितिज," "उपहास," "परेड ग्राउण्ड", "हाथ में हाथ", "कंकर" आदि आपकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

श्री चिरंजीत :—आपका जन्म अमृतसर ज़िला में हुआ। आप द्वारा लिखित कहानी-संग्रह "चिलम" है। आप एक प्रसिद्ध कहानी लेखक, एकांकीकार एक सम्पादक हैं।

डा० जयनाथ नलिन :—आप हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार हैं। आपने आलोचना कहानी, रेखा चित्र, नाटक, एकांकी, रेडियो नाटक सभी अंगों पर अपना बहुमूल्य योगदान हिन्दी साहित्य को दिया है। "हाथी के दांत' उनकें एकांकियों का नवीन सग्रह है। हिन्दी निबंध कार, हिन्दी नाटककार विद्यापतिं, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि, आपकी आलोचनात्मक पुस्तकें आप को एक सफल आलोचक सिद्ध करती हैं।

झुरमुट में आपकी कहानियां संग्रहीत हैं। "अवसान" रंगमंच की दृष्टि से एक सफल नाटक बन पड़ा है। "शतरंज के मोहरे" भी बहुत सुन्दर कृति है।

श्री सन्तोष गार्गी :—आपका जन्म लाहौर में हुआ। आपका प्रिय विषय कहानी एवं नाटक रहा है। आपकी रचनाओं में "प्रायश्चित्त", (मोपासां की श्रेष्ठ कहानियों का अनुवाद) "एटम दैत्य" (नाटक) छाया (अनूदित नाटक) मनोविश्लेषण और उसके जन्मदाता लेख संग्रह उल्लेखनीय हैं।

श्री देवराज दिनेश :—एक लोकप्रिय एवं सफल कवि होने के साथ-साथ बहुत सुन्दर एकांकी लेखक भी हैं। रेडियो के लिये नाटक लिखने में आपका विशेष स्थान है। आप लेखक एवं कवि के साथ साथ एक सुलझे हुए रंग मंचीय अभिनेता भी हैं। "रावण" और "मानव प्रताप" नाटक बहुत लोकप्रिय हुए।

श्री विश्व प्रकाश दीक्षित बटुक :—आपने पंजाब में रह कर कविता, कहानियां, एकांकी तथा आलोचनात्मक निबंध हिन्दी को दिये हैं। आपकी रचनाओं में "हिन्दी साहित्य का नूतन इतिहास" "तुलसीदास:—एक अध्ययन" आदि आपके गम्भीर अध्ययन के परिचायक हैं।

पं० सत्यदेव शर्मा:—आप एक सफल कहानीकार हैं। आपकी रचनाओं में "सती", "परमेसरी" "मोह की ज्वाला" "अभिशाप" "सुहाग के कंगन" आदि हैं।

श्रीमती पुष्पा महाजन —आप लोकप्रिय कहानी लेखिका हैं। आपका कहानी संग्रह "संघर्ष और शांति" प्रकाशित हो चुका है। आधुनिक नारी की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक सभी प्रकार की समस्याएं इनकी कहानियों का विषय है।

श्रीमती रजनी पनिकर :—आप कहानी लेखिका एवं उपन्यास लेखिका के रूप में हिन्दी साहित्य की सेवा कर रही हैं आपके उपन्यासों में "ठोकर" "पानी की दीवार" "मोम के मोती" "प्यासे बादल" "काली लड़की" आदि बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। "सिगरेट के टुकड़े" आपका लोकप्रिय कहानी संग्रह है।

श्री वीरेन्द्र मेहदी रत्ता :—आप अपनी कहानियों में सामाजिक जीवन के बड़े ही सुन्दर और व्यंग्यात्मक चित्र उपस्थित किये हैं। आपकी रचनाओं में "शिमले की क्रीम" और "पुरानी मिट्टी नये ढांचे" विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रो० टेक चन्द :—आपका जन्म छारा जिला रोहतक में हुआ। आपका गद्य बहुत सुन्दर एवं भावपूर्ण होता है। आपने जो भी साहित्य लिखा है वह बहुत उपयोगी कहा जा सकता है। आपकी रचनाओं में "अतीत भारत के चित्र" और "आदर्श आलोचन" विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रो० श्रीमती दुवाली :—आपकी कहानी कला विकास की ओर अग्रसर हो रही है। आपकी कहानियों की भाषा एवं भाव बहुत सुन्दर एवं सजीव होते हैं। आपकी कहानियों के दो तीन संग्रह "मन रो दियं" आदि प्रकाशित हो चुके हैं।

इन नियमित रूप से साहित्य साधना करने वाले प्रमुख साहित्य साधकों के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं में कुछ नवोदित लेखक भी अपनी महत्त्वपूर्ण गद्य रचनाओं द्वारा साहित्य सृजन कर रहे हैं। ऐसे लेखकों में कुछ का गद्य बहुत सुन्दर एवं भावपूर्ण कहा जा सकता है।

अन्त में हम यह बात निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हिन्दी कविता के अनुरूप ही हिन्दी गद्य को भी पंजाब के लेखकों की देन स्थायी महत्त्व की है।
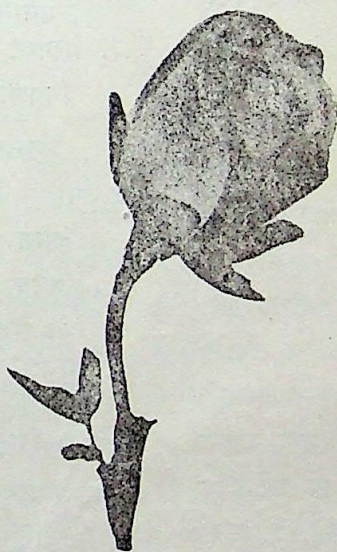
तार्किक अर्थापन

(Logical Interpretation)

सभी अधिनियमों में, चाहे वे दाण्डिक हों, या कल्याणकारक; अवरोधक हों, या सामान्य विधि के विस्तारक, चार बातों का पता लगाना आवश्यक होता है—

(१) इस अधिनियम से पूर्ववर्ती विधि क्या थी,

(२) वे कौनसी निश्चित बुराइयां थीं, जिन्हें पूर्ववर्ती विधि ने जन्म दिया, वे कौन सा दोष था जिसके लिये पूर्ववर्ती विधि में उपबन्ध नहीं था,

(३) वर्तमान अधिनियम में क्या उपचार उपबन्धित किया गया है; और

(४) उपचार का वास्तविक कारण क्या है ?

ऐसा अर्थापन करना चाहिए जो दोष को दबाये और उपचार को उभारे, तथा विधायकों के सच्चे आशय के अनुसार उपबन्धित उपचार को बल और जीवन प्रदान करे, भले ही इसके लिये उसे सूक्ष्म आविष्कारों और टालमटोल को रोकना पड़े।

तार्किक अर्थापन करते समय अदालत को निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना होता है —

(क) अधिनियम की आत्मा, विधि की पूर्ववर्ती स्थिति, विधान की कार्यवाही, शीर्षक, प्रस्तावना, उपशीर्षक, पार्श्व-टिप्पणियां, विरामचिन्ह, स्पष्टीकरण, परन्तुक, अपवाद, निवार्क खण्ड, आदि आदि,

ख) अन्य नियम—

१. सामान्य उपबन्ध विशिष्ट उपबन्ध द्वारा पराजित हो जाता है,

२. किसी विशिष्ट वर्ग के लाभार्थ. अधिनियमित उपबन्ध को विधिक बारीकियों का शिकार नहीं बनाना चाहिए,

३. अस्पष्ट खण्ड का अर्थ अन्य अधिनियमों की संगति में किया जाना चाहिए,

४. संदिग्ध शब्दों का वही अर्थ लगाया जाना चाहिए जो अधिनियम के विषय और विधान के उद्देश्य के अनुकूल हो,

५. धुंधली भाषा का उदार अर्थापन करना चाहिए,

६. अवरोधक या दाण्डिक अर्थापन तब तक ग्रहण नहीं करना चाहिए जब तक वह भाषा की दुर्धर शक्ति द्वारा तर्क संगत न हो; और

७. अधिनियम को सुखदायक दस्तावेज समझना चाहिए। अधिनियम का मूल स्वभाव बन्धन या दण्ड नहीं है।

—हरिचन्द पाराशर

।। ब्रह्मचार्येण तपसा देवा मृत्युमपा ध्नत ।।

महाविद्यालय गुरुकुल झज्जर (रोहतक)

ति० ८-२-६६

आदरणीय श्री डा० परमानन्द जी !

सादर नमस्ते ।

आपका "सप्तसिन्धु" का 'उपभाषा विशेषांक' मिला धन्यवाद । विशेषांक गम्भीर गवेषणापूर्ण सामग्री से सज्जित है । विशेषांक बड़ा ही उपादेय है । सम्पादक मण्डल को हार्दिक बधाई है ।

आपका—

भगवानदेव

परमश्रद्धेय डाक्टर साहब,

"जनसाहित्य" का विशेषांक प्राप्त हुआ सचमुच हरियाणा-संस्कृति संबंधी अपूर्व संकलन सर्वांगपूर्ण बन पड़ा है । इस अछूते विषय पर आपने जो विविध सामग्री एक स्थान पर प्रस्तुत की है, वह जिज्ञासु जन-समुदाय एवं विद्धत्समाज के लिए आलोक स्तम्भ का काम देगी । इस विषय में अभी तक लोग कुछ विशेष नहीं जानते थे "जन-साहित्य" के इस विशेषांक में उन्हें अपेक्षित संपूर्ण जानकारी मिल जायगी । आपने जो उपकार किया है उसके लिए हरियाणा प्रदेश विशेषतः तथा भारतीय समाज सामान्यतः आपका आभारी रहेगा ।

कृपाकांक्षी,

—उदय भान हंस

जन साहित्य का एक अभूतपूर्व

पार्वती लोक मानस विशेषांक

जो मई-जून, १९६६ में प्रकाशित हो रहा है।

जिसमें पंजाब, हिमाचल प्रदेश और जम्मू काश्मीर राज्यों के पर्वतीय प्रदेशों के सांस्कृतिक जन-मानस के विविध स्वरूपों का चित्रण होगा।

विशेष नोटः-पाठकों से विशेष अनुरोध है कि वह अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करवा लें। प्रत्येक प्रति का मूल्य एक रुपया। स्थायी ग्राहकों से अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जायेगा।

निदेशक,
हिन्दी विभाग, पंजाब
पटियाला

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवा कर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक—डा० परमानन्द

जन साहित्य का एक अभूतपूर्व

जन साहित्य का एक अभूतपूर्व

देश मनुष्य की सृष्टि है। देश मृण्मय नहीं, चिन्मय है। मनुष्य यदि प्रकाशमान हो, तभी देश प्रकाशित होता है। सुजला-सुफला मलयजशीतला भूमि की बात जितने ही उच्च कंठ से रटूंगा, मुझपर उसकी जवाबदेही उतनी ही बढ़ेगी। प्रश्न उठेगा कि प्राकृतिक दान तो उपादान-मात्र है, उसे लेकर मानवी संपदा कितनी गढ़ी गई ? मनुष्य के हाथ में देश का पानी अगर सूख जाए, अगर फल मर जाये, मलयज अगर महामारी के कीटाणुओं से विषाक्त हो उठे, फसल की जमीन अगर बांझ हो जाये, तो काव्य कथा से देश की लज्जा को ढका न जा सकेगा। देश मिट्टी से नहीं, मनुष्य से बनता है।

—रवीन्द्र नाथ ठाकुर

जन साहित्य का एक अभूतपूर्व

पार्वती लोक मानस विशेषांक

आवश्यक सूचना

जन–साहित्य पाठक परिवार को सूचित किया जाता है कि पार्वती विशेषांक जो कि अब तक प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में आ जाना चाहिए था। काफी समय तक प्रैस के बंद : जाने के कारण समय पर छप नहीं सका अब यह जुलाई के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित हो रहा है।

निदेशक,
हिन्दी विभाग, पंजाब
पटियाला

लिये उनके हृदय में उद्भुत एक दृढ़ सहानुभूति का परिचायक है। अत: अपने मित्रों के साथ गाय चराना और लीला करना कृष्ण के द्वारा प्रणीत सख्य भावना का बीज रूप कहा जायगा। इन्हीं लीलाओं में जहां कहीं कुमार लीला आती है वहां असुर मर्दन आदि में कृष्ण की सख्य लीला की अलौकिक झांकी देखने को मिल जाती है।

माखन चोरी भी सख्य रस की परिपूर्ति में पूर्ण योग देती है। इसके पश्चात् छाक तथा दान लीला आदि प्रसंगों को लिया जा सकता है। दानलीला में कृष्ण की कुमार लीला अधिक आ जाती है जिसका सीधा सम्बन्ध सख्य के साथ मिश्रित माधुर्य के स्वरूप से हो जाता है।

इसके पश्चात् सख्य रस के प्रसंग बसंत होरी तथा धमार के पदों में मिल जाते हैं। साथ ही साथ मिषांतर दर्शन, गोदोहन प्रसंग परस्पर हास्यवचन, सखन सों खेल आदि प्रसंग भी सख्य के अन्तर्गत आते हैं। सख्य की यें सब कोटियां निम्नांकित पदों के द्वारा अनुभूत की जा सकती हैं।

१. खेल

कृष्ण अपने सखाओं के साथ क्रीड़ा रत हैं। सखा विविध प्रकार के खेलों से कृष्ण का सामीप्य प्राप्त करते हैं। बाल सुलभ क्रीड़ाएं बालकों के परस्पर झगड़े तथा विविध चुहल बाजियां उनके परस्पर सखा भाव को पुष्ट करने वाली होती है। यह सखा और सखियां दोनों के साथ होता है। सखाओं के साथ जो क्रीड़ाएं होती हैं उनमें विशुद्ध सख्य होता है और सखियों के साथ होने वाली क्रीड़ाओं में मधुर भाव। खेल सम्बन्धी कुछ उदाहरण अलग होंगे :—

गोपाल विविध खेलों में अपने सखाओं के साथ प्रवृत्त हैं :—

(१) गोपाल माई खेलत हैं चौगान
ब्रजकुमार बालक संग लीने वृन्दाबन मैदान
चंचल बाजि नचावत आवत होड़ लगावत पान
सव्य इतर हस्त गोइ चलावत करत बबा की आन
करत न संक निसंक महाबल हरत नृपति कुल मान
"परमानन्ददास" की ठाकुर गुन आनन्द निधान१

उक्त पद में गोपाल घोड़े पर चढ़कर चौगान खेल रहे हैं। कृष्ण का पतंग उड़ाना, चकडोरियां खेलना और बंगी फिराना आदि कवि के मौलिक प्रसंग हैं।

१—देखिए परमानन्द सागर पृ० १०७ पद २३५

(२) गोपाल फिरावत हैं बंगी
भीतर भवन भरे सब बालक नाना
विधि बहुरंगी
सहज सुभाइ डोरि खेंचत ही लेत
उठाइ करहि कर संगी
कबहुंक डारि देत हैं भों में
कबहुंक मुखहिं बजावत जंगी
कबहुंक कर लै स्त्रवन सुनावत
नाना भांतिन अधिक सुरंगी
परमानन्द स्वामी मनमोहन खेल
सरयो अरु चले सब संगी १

(३) संग लरिकन की जोटी
खेलत फिरत गोपाल धोख में,
धावत शिशु अंग छोटी
खोरि खोरि प्रति भवन भवन प्रति
सैं नैं दैं दैं बतावैं
जाके घर गोरस बहु तेरो अंगुरिनि
कैं कैं खिखावै–
इह कुमार लीला हरि केरी गोपीजन
मन भावै
चोरी करत हरत दधि मांखन,
कछ परमानन्द पावै २

सखाओं के साथ क्रीड़ा सख्य का उद्दीपन कहलायेगी। सखाओं की क्रीड़ाएं कृष्ण के लिये उद्दीपन हैं।

सख्य के अनुभावों का वर्णन गोचारण के प्रसंग में किया गया है। बालक कृष्ण का मां से अपने सखाओं के साथ खेलने जाने की उत्कंठा सख्य का प्रारम्भिक स्वरूप प्रस्तुत करता है :—

(१) मैया गांइ चरावन जैहों
तू कहे नंद महर बाबा सों बड़ों भयो
न डरैं हौं
श्रीरामा आदि सखा सब अपने अरु
दाऊ संग लैहों
दह्यो भात कावरि भरिलैहों
भूखे लागै खैहों
बंसीवट की सीतल छहियां खेलत
अति सुख पैहों
परमानन्द तब साथ खेलहु
जौ जमुना जल-नैहों ३

(२) प्रथम गौ चारन चले कन्हाई
कुंडल स्त्रवन कपोल विराजित
सुन्दरता चलि आई
माथे तिलकु पीताम्बर की छवि
उर माला पहिराई
गृह गृह ते दधि छाक लेत हैं
संगसखा सुखदाई
गोधन हांकि आगे सब कीने
पाछे मुरलि बजाई
परमानन्द प्रभु मदन मोहन ब्रज-
वासिन सुरति कराई ४

१—देखिए परमानन्द सागर पृ० १०८ पद २३६
२—परमानन्द सागर पद २३८ प० १०९
३—वही, पद २६४, पृ० १२१
४—परमानन्द सागर पद २६५ पृ० १२२

(३) कवन बन जैबो भैया आज
कहत गोविन्द सुनो रे गोपौ करहु
गवन को साजु
ऐसौ कौन चतुर नंद नंदन जो जाने
रस रीति
तहां चलहु जहां हरखि खोलिये
अरु उपजै मन प्रीति
पूरे बेनु बिखान महुवरि छीके कंध
चढ़ाइ
रोटी भात दह्यो भरि भाजन
अरु आगे दै गांइ
ठौर ठौर कूक देत हैं प्रहसित
आए जमना तीर
परमानन्द प्रभु आनन्द रुपी
राम कृष्ण दोउ वीर१

उक्त पदों में सख्य के उद्दीपन कृष्ण बलराम का बन में जाना तथा विविध ढंग से कार्यक्रम बना कर क्रीड़ाएं करना तथा शृंग, वेणु लकुटी महुवरि आदि सब सजा कर गोचारण को जाना एक विविध आकर्षक स्थिति है ये सखाओं की परस्पर क्रीड़ाएं सख्य रस को पुष्ट करने वाली उद्दीपन की स्थितियां हैं।

सखाओं की क्रीड़ाएं तथा खेल ही खेल में उनमें परस्पर लड़ाई झगड़ा हो जाना सयुजा सखाओं के लिये सामान्य बात है। तथा उसी खेल ही खेल में उन्हें मीठ उराहन देना तथा परस्पर स्पर्धा को पुष्ट करना भी सख्य के अनुभावों को पुष्ट करता है। विविध क्रीड़ाएं करते सखा मंडली में गोपाल कृष्ण कैसे लगते हैं, किस प्रकार गोपों के साथ क्रीड़ाएं करते हुए वे वन में पहुंचते हैं:—

(१) ब्रज ते बन को चलत कन्हैय
सखा मंडली मध्य विराजित प्रवन
चरावन गैया
नंद सुनंद गोप गोपीजन जसुमति
रोहिनी मईया
बड़े ग्वाल कों सुतकौ सौंपति
प्रमुदित लेति बलैया
दधि ओदन भोजन भरि भाजन
एकनि कांधे लैय
इक नाचत इक करत कुतूहल
हरि हलधर दोउ भैया
बैठे जाइ सघन बन अंतर दुहि दुहि
दुहि ल्यावत घईया
आपुन खात खवावत औरनि
परमानन्द लेत बलईयां२

(२) गोधन चारत मदन गोपाल
जूथ जूथ मिलि ग्वाल मंडल
कमल नैन कौ ख्याल
धौरी धूमरि, भूहरि, चमरी न
नंदन की गां
बाजत बेनु रहत सब ठाढी सुन
स्रवन को भांति

१—वही, पद २११ पृ० १२३

२—देखिए परमानन्द सागर, पृ० १२५ पद २१४

३—वही, पृ० १२६ पद २७७

(३) चले ह[illegible] चरावन गाई
रेंता, पेंता, तोक श्री दामा लीने
संग लगाई
कहत "गोपाल सुनहु रे गोपी
वृन्दावन अनुसरिए
मधु मेवा पकवान मिठाई भूखे
लागै खइए
खेलत हंसत करत कौतूहल आए
जमुना तीर
"परमानन्ददास" कौ ठाकुर
रामकृष्ण दोउ वीर१

(४) वे देखो बनधेनु चरावन दोऊ
जादौ वीर
कान्ह कान्ह कहि टेरत डोलत
फिरत अहीर
एक जु शृंगी पत्र बजावत एक धावत
एक धीर
एक जु निर्त करत कोलाहल कालिंदी
के तीर
यह मंडली कहा बनि आवै पीबत
पिबावत छीर
परमानन्द सुर कौतुक भूलें नैननि
आनद नीर ।२

संचारी भावों में सख्य के सबसे प्रमुख संचारी हैं---हर्ष, गर्व, मति, धृति आदि इनमे हर्ष और गर्व तो सर्वत्र उपलब्ध है। सखाओं के क्रीड़ा पूर्ण कार्य तथा कृष्ण जैसे उत्साहपूर्ण सखा को पाकर "गर्व" करना गोप सखाओं के लिये एक सामान्य बात है। अत इन संचारियों ने सख्य भाव को इतना परिपुष्ट कर दिया है कि उसे निर्भ्रांत रूप से रस कहा जा सकता है।

"छाक" के पदों में सख्य की सारी स्थितियां देखी जा सकती हैं। सखाओं के मध्य में बैठ कर आनंद से बन भोजन खाना एक उत्कृष्ट साहचर्य का संयोजन करता है :---

(१) दुहि दुहि ल्यावति धौरी गैया
कमल नयन कोंअति भावतु है मथि
प्यावति घैया
हंसि हंसि ग्वाल कहत सब बातें
सुनु गोकुल के रैया
ऐसो स्वाद कबहुं न चरवायो अपनी
सौंह कन्हैया
मोहन भूख अधिक जो लागी छाक
बांटि लेहु भैया
"परमानन्ददास" कौ दीजै पुनि
पुनि लेत बलैया३

(२) कन्हैया हेरी दै गावै
माना वरन नाम गांहनि के बेनु
बजाई बुलावै

१---वही पृ० १२७ पद २७८
२---वही। पद........
३---देखिए परमानन्द सागर पृ० १३९ पद ३०९

सींग आवरी [illegible] [illegible] मोर्दे
जिनके पाठे
तिनके डरनि सिंघ थर कांपै ब्रज में
बिजाहर बाठे
जांघनि पर रोटी धरै दधि सों
ओदन सान्यौ
परमानन्द स्वामी के संगी दूध
पतो अनि आन्यौ १

(३) हंसत परस्पर करत कलोल
बिंजन सवै सराहे माधो
मीठे कमल नयन के बोल
तोरि पलासपत्र बहुतेरे पनवारौ
जोर्‌यो विस्तार
चहुं दिसि बैठि ग्वाल मंडली जेंवन
लागे नंदकुमार

शुद्ध सख्यरस के इसी प्रकार के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं २ बालकों का खेल खेल में परस्पर तकरार स्वाभाविक है एक उदाहरण देखिए। सूरदास में भी इसी प्रकार का पद पाठान्तर के साथ उपलब्ध होता है :-

खेलत में को काको गुसैयां
श्री दामा जी त्यो तुम हारे बरवटहीं
कहा करत बडईयां
जाति पांति कुल बड़े न हमतें अरु
हम बसत तुम्हारी छैयां
याही ते अब देत अधिकायो हमते
बहुत तुम्हारे-गईयां
रूठ करै तासों को खेलै रहहु सखा
सख ठांके ठइयां
परमानन्द प्रभु खेल्यो चाहो तो
पोत देहु कर नंद दुहईयां ३

उक्त पदों में सख्य रस के विभिन्न अंग प्रत्यगों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है।

१---आलम्बन—कृष्ण-सखा—कृष्ण
आश्रय—सखा—कृष्ण-सखा—
प्रिय सखा,

विभाव

२---उद्दीपन---कृष्ण की पोगेण्ड लीलाएं सखाओं के साथ क्रीड़ाएं, शैतानियां, शृंग, वेण तथा पत्तों द्वारा निर्मित वाद्य हैं। कृष्ण तथा सखाओं का रूप वर्णन आदि।

३---अनुभाव---परस्पर स्पर्धा, सखाओं की शारीरिक चेष्टाएं, असुरों के आक्रमण पर डर जाना, कोलाहल करना, नाचना गाना, वेणु बजाना आदि हैं। सखाओं की अन्य

१—वही, पृ० १२८ पद २८२

२—वही, पृ० १३० पद ३८६

३—देखिए परमानन्द सागर पृ० १०६-१०७ पद २३३

शारीरिक चेष्टाएं कौतूहल आदि उसके अनुभाव कहे जायेंगे।

४—संचारी—हर्ष, गर्व, मति, धृति, चिन्ता आदि सख्य रस के संचारी हैं।

५—स्थायी—समान दृष्टि तथा सायुज्य या सखा धर्म के कारण सख्य रति स्थायी भाव है। यही सख्य रति उत्तरोत्तर सख्य, प्रणय, प्रेम, स्नेह, राग आदि पांच प्रकार की हो जाती हैं। कृष्ण के सहयोगी सखाओं में सुबल, श्रीदामा सुमंगल आदि हैं। इस प्रकार उक्त रस विषयक अंग प्रत्यंगों के आधार पर यह सरलता पूर्वक कहा जा सकता है कि सख्य एक भाव मात्र ही न रह कर परमानन्ददास के काव्य में पूर्ण रसरूप में निष्पन्न हुआ है।

शुद्ध सख्य के अतिरिक्त परमानन्द दास के काव्य में कुछ उद्धरण इस प्रकार के भी मिल जायेंगे जिनमें सखा के साथ प्रचलित अन्य संकर भावों का भी विविध स्थितियों के साथ सफल निर्वाह हुआ है। इनमें प्रमुख सख्य के साथ वात्सल्य, माधुर्य तथा दास्य भावों का सफल निर्वाह भी पाया जाता है। इनके कुछ उद्धरण इस प्रकार देखे जा सकते हैं:—

सख्य और माधुर्य

राधे इह नीकौ है खेलु
अपने माट को दह्यो जमायो मेरी
अंजुरिया मेलु
इहैं बात नीकी जो लागै एक गांठ
को वासु
जिनि दुराइ मेरे सन्मुख ह्वै लोगनि
के उपहासु
इह गोविंद कह्यो राधा प्रति
जो मांगो सो देहु
जो इह गोरसु मोहि समर्पे अति
बहुते करि लेहुं
जो आज्ञा सो माथे ऊपर सदा
तुम्हारी दासी
परमानन्द ग्वालिनी मोही
बंधी प्रेम की पासी[१]

(२) तुम संग खेलत लर गई टूट
रहु ढोटा तुम खरेइ अचगरे मेरो
हास लियो कर लूटि
जो रिसाइ कहति हों तुम सों बचन
रहत हों घूंटि
अबहि नई पहेरि आई ही चुरिया
गई सब फूटि
इह विनोद नीको करिपायो मानो
पसरी है लूटि
परमानन्द प्रभु जौ बीनौगी तो
बकरहुगे कूटि[२]

१— परमानन्द सागर पृ० १०४-१०५ पद २२८
२—वही, पृ० १०५-१०६ पद २३०

(३) गोपाल भाई खेलत हैं चकडोरि
लरिका सत पचास संग लीनें
निरट सांकरी खोरि
चढ़ि धरहरा झरोखा चितयो सखी
लियो मन चोरि
उहंई भयें बलईया लीनी अपनो
अंचर छोरि
चारयों नैन मिले जब सनमुख
रसिक हंसी मुख मोरि
परमानन्ददास रति नागर चितै
लई रति जोरि१

कवि ने कृष्ण को पतंग उड़ाते हुए प्रस्तुत किया है यह उसका मौलिक प्रयोग है। कवि के सख्य और माधुर्य के ऐसे संमिश्रण उल्लेखनीय हैं।

(१) कान्ह अटाचढ़ि चंग उडावत मैं
उततें इत आंगन हेरौरी
नैन भये बिबचारी नराइन भाजत
लाज किधौं भट भेरौरी
मोहितो इहजक लगी रहति है
क्योंऊँ क्योऊँ फिरतन फेरौरी
परमानन्द प्रभु यहै अचंभो ऐंचत
डोरी किधों मन मेरोरी२

(२) इह जिय बात परस्पर भावै
खेलत लाल सखा संग लीने
खटकोरी मिस कछुक कहावै
हट करि हरिजू के हरत खिलौना
गेदनि उरजनि बीच छुपावै
रह्यो न परत नंदनंदन बिनु याही
मिस करि पर मुसम्यावै
चोली चीर आप पे फारत मुदित
जसोमति ताहि दिखावै
परमानन्द ग्वालिनि मुसिक्याई
चलो ललन नंद नारि बुलावै३

(३) भईया हो आजु बनी गोपाल मंडली
बोलत आवै धेनु
परम कुलाहल कमल नयन संग
बाजत आवै बेनु
बरहा मुगुर स्त्रवन गुंजामनि अंगराग
बन धातु
किए सिंगारु सब गोपमंडली ललित
बजावत पातु
कोउ काहु को गारि देत है कोउ
मिलि गावें गीत
निरगुन ब्रह्म सगुन तन काछें इहि
लीला रस रीति
वोपी एक कहति सखियनि सों
चलौ आगे ह्वै लीजै
परमानन्द स्वामी के ऊपर प्रान
न्योछावर कीजै४

सख्य और माधुर्य के अतिरिक्त रस की संकर स्थिति सख्य और दास्य में

१—वही पृ० १०७ पद २३४
२—परमानन्द सागर पृ० १०८ पद २३७
३—वही पृ० १०९-११० पद २३९
४—वही पृ० १६४ पद ३७०

मिलती है। जहां कृष्ण की लौलिक क्रीड़ाएं अलौकिकता का परिवेष प्राप्त करती हैं और सखा उन्हें अवतार समझते हुए भी उनमें सख्यत्व का मान करते हैं :—

सख्य और दास्य

(१) गोधन चारत मदन गोपाल
जूथ जूथ मिलि ग्वाल मंडली
कमलनयन को ख्याल
धौरी धूमरि भूहरि, चमरि, नंद
नंदन की गाइ
बाजत बेनु रहत सब ठाढी सुनत
स्त्रवन को भांइ
परमानन्द स्वामी नट नागर लीला
मानुष रूप
सिव विरंचि जाको जसु गावत अब
उह भेष अनूप१

(२) आजु दधि मीठो मदन गोपाल
भावै मोहि तुम्हारौ झूठौ सुन्दर नैन
विसाल
बहुत दिवस हमरहे कुमुद वन
कृष्ण तुम्हारे साथ
ऐसों स्वाद हम जबहुं ना देख्यो सुनु
गोकुल के नाथ
आने पत्र लगाए दौनों दीए सबहिन
बांति
जिनि नहि पायो सुनु रे भैया।
मेरी हथेली चारि

आपुनि हंसत हंसावत औरन्ह
मानोऽब लीला रूप
"परमानन्द' प्रभु इह जानति हों
तुव त्रिभुवन के भूप २

सख्य और वात्सल्य

सख्य के साथ-साथ वात्सल्य का समन्वय भी अद्वितीय है। सखाओं की क्रीड़ाएं और माता यशोदा का उनके लिये विकलता से भोजनादि के लिए प्रतीक्षा तथा उन्हें सब सखाओं के साथ खाते पीते देख कर असीम संतोष और आनन्द का अनुभव करना उनकी वात्सल्याशक्ति का सशक्त उदाहरण कहा जा सकता है:—

कृष्ण गोचारण पर

(१) मैया कैसी मैं गांइ चराई
बूझि देखि बलभद्र ददा सो जो तू मो
न पत्याई
बिडरि चली सघन वन महियां
हेरी दै ठहराई
ग्वालिन के लरिका पचिहारे वे
सब मेरी दाई
भलो भलो करि मोहि सराहत फूले
अंग न माई
परमानन्द प्रभु वीर वचन सुनि
जसुमति देत बधाई३

(२) ब्रज ते बन कों चलत कन्हैया
सखा मंडली मध्य विराजत प्रथम
चरावन गैया॥

१—वही पृष्ठ १२६ प० २७७
२—परमानन्द सागर पृ० १३१ पद २८२
३—वही पृ० १२४-२५ पद २०३

नन्दसुनन्द गोप गोपीजन जसुमति
रोहिनी मईया ।
बड़े ग्वाल कों सुत को सोपति
प्रमुदित लेति बलैया ।।
दधि ओदन भोजन भरि भाजन
एकनि कांधे लैंया
इक नाचत इक करत कुतूहल करि
हलधर दोउ भैय्या ।।
बैठे जाइ सघन बन अन्तर दुहि दुहि
लावत घईयां
आपुन खात खवावत औरनि जन
परमानन्द लेत बलईयां ।।१

(३) आजु अति आनदे ब्रजराइ ।
धन्य धौस वन चलत प्रथम हो कान्ह
चरावन गांइ ।।
नव पीताम्बर लकुट मुरलिका अरु
सिर: खोरि बनाए।
प्रीति सहित अवलोकि गहत हैं
मात पिता के पांइ ।।
गोरोचन अरू दूब दधि माथे रोरी
अच्छत लाइ ।
निरखति मुख, पावति सब सुख
गोपीजन लेति बलाइ ।।
ग्वाल विमल भए मिलत परस्पर
घर घर ते सब आई
हेरी देत बजावत महुबरि डर आनन्द
न समाई ।।
ब्रज जन सब मिलि धेनुहि सोपत
नैन निरखि सचुपाई।
"परमानन्द" प्रभु बानिक ऊपर
बारि-वारि बलि जाई ।।२

उक्त सभी स्थितियों के द्वारा, यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि सख्य परमानन्द दास के काव्य में केवल मात्र भाव न रह कर रस रूप में निष्पन्न हुआ है। उसमें विभावों अनुभावों तथा संचारी भावों की विविध स्थितियों का विस्तार है। परमानन्द दास को भगवान का सख्यत्व विशेष रूप से प्रिय था क्योंकि पुष्टिमार्गीय भक्ति में उनको कृष्ण के अष्ट सखाओं में से एक प्रमुख सखा माना गया है। निष्कर्षत: अष्टछाप काव्य में सख्य वात्सल्य और श्रृंगार इन तीन प्रकार की रस भावनाएं ही मुख्यतय: सन्निहित हैं। कवि के "सागर" रूप में हम सख्य रस को अधिक पा सकते हैं क्योंकि भागवतीय प्रसंगों में इसी भावना की अधिकता रहती है। ३ परमानन्द दास के काव्य को पढ़ कर कोई भी सुधी पाठक उन्हें वात्सल्य और सख्य रस का पुष्ट प्रणेता कवि कह सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

१—१२५-२७४
२—पृ० १२६, पद २७६, परमानन्द सागर
३—देखिए परमानन्द सागर, पृ० १२ अष्टछाप की काव्य परम्परा और परमानन्द सागर शीर्षक लेख

डा० इन्द्रनाथ मदान की आलोचना पद्धति

डा० धर्मसवरूप गुप्त

आधुनिक हिन्दी साहित्य का सांगोपांग विवेचन एवं इतिहास प्रस्तुत करने का श्रेय डा० मदान को ही है। उनकी प्रथम आलोचनात्मक कृति "माडर्न हिन्दी लिट्रेचर" सन् १९३९ में प्रकाशित हुई थी जिसके सम्बन्ध में कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने अपनी सम्मति प्रस्तुत करते हुए लिखा था "आधुनिक हिन्दी साहित्य" में डा० इन्द्रनाथ मदान द्वारा आधुनिक-कालीन काव्यकारों के सम्बन्ध में किया गया पर्यवेक्षण एक महत्त्वपूर्ण देन है। "वस्तुतः उस समय तो डा० मदान का साहित्य-क्षेत्र में प्रारम्भिक कार्य था परन्तु उसके उपरांत तो उन्होंने विभिन्न रूपों में साहित्यकारों की कृतियों की आलोचना प्रस्तुत की। इन कृतियों में 'प्रेमचन्द : एक विवेचन", "आलोचना तथा काव्य", "आधुनिक कविता का मूल्यांकन", एवं "आलोचना और साहित्य", विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में कविता का मूल्यांकन करने अथवा विकासशील साहित्य की समीक्षा करने एवं उसे यथा-तथ्य रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हें ही है।

"व्यक्तित्व एवं आलोचक के रूप में डा० मदान पर एक समीक्षात्मक लेख लिखते हुए डा० गणपति चन्द्र गुप्त ने एक आरोप लगाया है "फिर भी एक बात अवश्य खटकने वाली है—वह यह कि डा० मदान ने विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुशीलन में जितनी व्यापकता का परिचय दिया है, उतनी गंभीरता का नहीं। वे प्रवृत्तियों का संधान करते हुए बड़े तेज़ी से आगे बढ़ जाते हैं, उनकी जमकर व्याख्या नहीं करते, जिसका परिणाम यह होता है कि उनका प्रतिपाद्य कहीं-कहीं बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता।" वस्तुतः ऐसी ही विचारधारा मेरी भी प्रारम्भ में थी और सम्भवतः अन्य आलोचकों की भी हो परन्तु उस समय तक डा० मदान के दृष्टिकोण को पूर्ण रूप में समझने की भूल थी। वास्तव में डा० मदान जब आलोचना करने बैठते हैं तो उस समय उनका एक विभिन्न दृष्टिकोण रहता है जो उनकी निम्नांकित पंक्तियों में स्पष्ट हो गया है :—

"इस समय हिन्दी-आलोचना में व्यक्ति-चिन्तन तथा समाज-मंगल के आधार पर विभिन्न दृष्टिकोण तथा मूल्य

उपलब्ध होते हैं। साहित्य के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष में एक अभिन्न सम्बन्ध के होते हुए भी उनका विवेचन तथा मूल्यांकन विरोधी जीवन दृष्टियों से हो रहा है।" जब डा० मदान किसी कृति की आलोचना करने बैठते हैं तो यही दृष्टिकोण उनके समक्ष रहता है। वे किसी भी पूर्वाग्रह अथवा वाद विशेष से बंध कर आलोचना नहीं करते जिससे किसी भी साहित्यकार की कृति के मूल्यांकन में अन्याय न हो जाय। उनकी इस विचारधारा का सम्बन्ध एक स्वस्थ दृष्टिकोण से है कि किसी भी कृति की समीक्षा का कोई भी अंतिम सत्य नहीं है–अर्थात् समीक्षा-पद्धति में निरंतर विकास अपेक्षित है अन्यथा युग-परिवर्तन के साथ काव्यकार की कृति दूषित घोषित कर दी जायेगी। जिससे भारी अनर्थ होने की आशंका है। वे प्रत्येक आलोचक को समीक्षा करते समय तटस्थ रहने की सलाह देते हैं। वे ऐसे आलोचक की प्रतीक्षा में हैं "जो आलोचना की संदेहात्मक एवं अनिश्चयात्मक स्थिति को दूर करेगा और इसके स्थान पर समीक्षा के स्थायी, किन्तु निरंतर विकासशील मानदण्डों को स्थापित करेगा।"

वे स्वभाव से स्पष्ट होने के नाते साहसपूर्ण स्वीकार करते हैं कि "आलोचक स्वयं भी निस्संग तथा निरपेक्ष नहीं होता। वह सदैव नये सामाजिक-बोध तथा सौंदर्य-बोध की उद्भावना करता आया है, जिसके आधार पर साहित्य का मूल्यांकन सम्पन्न हो सके" —परन्तु फिर भी ऐसे आलोचक की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव करते हैं जो 'अनिश्चय से ग्रस्त तथा विरोध से त्रस्त हिन्दी आलोचना' के क्षेत्र में एक स्पष्ट एवं तटस्थ आलोचना का सूत्र-पात करे। ऐसी आशा वे लगाये हुए अवश्य हैं परन्तु वे अपनी ओर मुड़ कर नहीं देखते–यह सब कुछ उनमें स्वयं तो है। उनकी निजी धारणा है कि नकारात्मक त्याज्य है अपितु स्वीकारात्मक ग्राह्य। वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों की भांति वे इस बात पर बल देते हैं कि किसी भी आलोचक अथवा पाठक में इस बात की क्षमता नहीं कि वह किसी भी काव्य-कार के साथ यथोचित न्याय करे क्योंकि काव्य कृति (creative work) कवि की दशा, उसके दृष्टिकोण एवं संदर्भ—अर्थात् वह किस प्रसंग में कोई बात कह रहा है आदि पर निर्भर है। आलोचक अथवा पाठक को जब तक उस काव्यकार की स्थिति का परिचय नहीं हो पाएगा तब तक यह अधिक सीमा तक सम्भव है कि उस काव्यकार की कृति का ग़लत अर्थ ग्रहण कर ले।

डा० मदान की समीक्षा-पद्धति यद्यपि मार्क्सवाद की शक्ति सम्पन्न विचार धारा को प्रारम्भ में आधार बनाये हुए थी परन्तु जैसे उनके विचार हैं उन्हीं के अनुसार उन्होंने मार्क्सवाद का चरम सत्य स्वीकार

करने से इनकार कर दिया है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे ऐसी पद्धति की अवहेलना करने लगे हैं अपितु इसका बहिष्कार न करते हुए नवीन उपलब्धियों की आशा लगाये बैठे हैं ।

डा० मदान की आलोचना-पद्धति में स्पष्टता है। भले ही आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एवं डा० नगेन्द्र हों अथवा स्वयं अज्ञेय, किसी भी बात को स्पष्ट रूप में एवं निर्भीकतापूर्ण कहने के लिये हिचकिचाते नहीं। वे नई कविता के मूल्यांकन एवं डा० जगदीश गुप्त तथा अज्ञेय की दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए, जब निष्कर्ष की स्थिति में पहुंचते हैं तो अपने विचार इस प्रकार रखते हैं :

"डा० जगदीश गुप्त तथा अज्ञेय ने रस तथा साधारणीकरण की समस्याओं पर अपनी दृष्टि से आलोक डाल कर इनको सुलझाने अथवा उलझाने का प्रयत्न किया है। यह सत्य है कि आज के विशेषीकरण के युग में काव्य का भी विशेषीकरण हो रहा है। अतः रस तथा साधारणीकरण के 'शाश्वत' सिद्धान्तों पर भी प्रश्न चिह्न लगाये जा रहे हैं और इनका विवेचन नयी दृष्टियों से किया जा रहा है।"

X. X X X

"डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी काव्य को अकाव्य घोषित करने से भी संकोच नहीं किया है। उनके इस मूल्यांकन में रागात्मकता तथा साधारणीकरण की परम्परावादी दृष्टि लक्षित होती है ।"

डा० मदान की आलोचना में संक्षिप्तता एक विशेषता है । वे पाठक को शब्द के वाग्जाल से उलझना नहीं चाहते। अज्ञेय का परिचय एक वाक्य में ही दे डालते हैं :

"अज्ञेय, जिनका व्यक्तित्व जटिल तथा काव्य जटिलतर है, प्रयोगवाद से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं ।"

X X X X

"रस-दृष्टि समग्र काव्य-दृष्टि नहीं है । रसानुभूति को जहां भाव-विस्तार अभीष्ट रहता है वहां सह-अनुभूति के लिये भाव और बौद्धिकता दोनों का विस्तार अपेक्षित है। नयी कविता में सह-अनुभूति है ।"

डा० मदान की आलोचना पद्धति में एक अन्य विशेषता है। वे जब भी किसी विषय पर लेखनी उठाते हैं तो पाठक को गुमराह नहीं करते। जब नयी कविता की आलोचना एवं विकास की बात करते हैं तो उस समय इस प्रकार की कविता पर लगाये गये आरोपों की भी यथेष्ट चर्चा करते हैं। पाठक के सम्मुख चित्र के दोनों पट सामने रख देते हैं जिससे पाठक स्वयं निर्णय पर पहुंच जाय। वास्तव में उनकी आलोचना पद्धति का यही दृष्टिकोण बार-बार उभर कर सामने आ जाता है—यही है तटस्था—जिसकी आलोचन इच्छा प्रकट करता है। अस्तु, डा० मदान

का आलोचना एवं आधुनिक साहित्य में गहरा योगदान है ।

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डा० मदान एक तटस्थ मनीषी हैं जो आलोचना को किसी भी व्यक्ति, समाज़ एवं वाद से दूर की वस्तु समझते हैं । उनकीभाषा सरल एवं स्पष्ट है एवं शैली एवं सामान्य समन्वयवादी । वे किसी भी काव्यकार पर व्यंग्यात्मक एवं जलीकटी भाषा के प्रयोग करने के पक्षपाती नहीं । आशा है ऐसा स्वस्थ दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य क्षेत्र में भी एक नवीन आलोचना-पद्धति का सूत्रपात करेगा ।

सुख की चोटी

दुःख की गहराइयों में गोता लगाए बिना हम सुख की चोटी पर नहीं चढ़ सकते । अन्यथा हम यह कैसे जानेंगे कि सुख क्या है ? – – हर कवि और संगीतकार के हिस्से जीवन में कष्ट और दुख ही आता है । क्योंकि वे जानते हैं कि वे अपने सबसे मीठें गीत दुःख के माध्यम से ही संसार को दे सकते हैं ।

—टालसटाय

कार पर
प्रयोग
है ऐसा
क्षेत्र में
ति का
य
सिन्धु

हमारी प्राचीन राजनीति का मूलमन्त्र-दण्ड

प्रो० देवदत्त भट्टि

प्राचीन युग में भारत ने राजनीति के क्षत्र में पर्याप्त प्रगति की थी। हमारे कृष्ण तथा कौटिल्य का स्थान संसार के सर्वोच्च राजनीतिज्ञों में है। राजनीति के क्षेत्र में ही क्यों, लगभग सभी क्षेत्रों में भारत विश्व-गुरु रहा है। मनुस्मृति का यह उद्घोष इस बात को प्रमाणित करता है कि हमने चरित्र के क्षेत्र में इतनी प्रगति की थी कि सभी संसार के लोग हमसे चरित्र की शिक्षा पाते थे––

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व-मानवाः ॥२,१७॥

इस देश के उत्पन्न अग्रजन्मा से पृथ्वी के सभी लोग अपने-अपने चरित्र की शिक्षा पाएं। इस चरित्र के बल पर ही हमने विश्व पर सांस्कृतिक विजय पायी थी। लेकिन खेद है कि आज हम इस चरित्र की उच्चता को खो चुके हैं। चरित्र की उच्चता का पुनः प्राप्त करना बहुत कठिन है। इसके अभाव में हम प्राचीन राजनीति का आचरण करने से भी अपनी सत्ता तथा अपने आदर्शों की सत्ता की रक्षा कर सकते हैं। प्राचीन राजनीति के मूलमन्त्र दण्ड के द्वारा ही हम अपने खोये चरित्र को प्राप्त कर सकते हैं। चरित्र के निर्माण में प्रेम तथा भय दोनों या दोनों में से एक अवश्य कारण होता है। अब प्रेम का तो अभाव है ही और उसके लाने के लिये कुछ समय अपेक्षित होगा। हां, दण्ड के अपादान से हम चरित्र को अवश्यमेव ऊंचा उठा सकते हैं।

चरित्र के पतन की यह अवस्था कोई नवीन बात नहीं। हम पहले भी कई बार इस स्थिति से गुजर चुके हैं। महाभारत युग को ही लीजिए। उस युग में समाज का आचार-विचार आज के हमारे आचार-विचार से कोई अधिक ऊंचा नहीं था।

महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म पितामह युधिष्ठिर को एक कहानी सुनाते हैं—"पहले पहल कोई राजा या राज्य, दण्ड लेने या देने वाला नहीं था। लोग धर्म पूर्वक आचरण करते थे। कोई किसी को पीड़ा न देता था। सब अपने कर्त्तव्यों को नित्यकर्मों की भाँति निभाते थे। कालान्तर में प्रजाओं में कुछ प्रमाद आ गया। प्रमाद वश लोग अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में अपने आपको अनुत्तरदायी समझने लगे। इससे त्रस्त देवगण ब्रह्मा के पास गये और ब्रह्मा से अपनी व्यवस्था

भंग होने की बात कहाँ। ब्रह्मा ने एक लक्ष श्लोकबद्ध शास्त्र की रचना की। जिसमें दण्डनीति आदि नीतियों, षड्गुण तथा चतुर्वर्ग आदि का वर्णन किया। जिसे पढ़ कर उन्होंने अपने में से एक को राजा चुनना सीखा, जो शान्ति एवं व्यवस्था का उत्तरदायी होता था।"

[शान्तिपर्व, अ० ५६, श्लो० १४–३६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत के समय से पहले भी शान्ति एवं व्यवस्था का भंग चरित्र की उच्चता के न होने के कारण वर्त्तमान था। महाभारत के युग में तो हम देखते हैं कि स्त्रियों को द्यूत पर लगा देना, भरी राजसभा में अपने ही भाई की स्त्री का नग्न करना तथा पंचपति आदि प्रथाओं का होना उस समय के उच्चतम वर्ग में और राजकुल में भी सम्भव था। साधारण वर्ग की तो बात ही क्या! ऐसी सामाजिक व्यवस्था में महाभारत का युद्ध हुआ। आज की अवस्था भी कुछ उस समय की व्यवस्था से मिलती जुलती ही है। ये उदाहरण यद्यपि आज हमें उपलब्ध नहीं हो सकते तथापि हमारे चरित्र के पतन के इससे भी भद्दे प्रमाण आजकल मिलते हैं।

सुनते हैं, महाभारत के युद्ध के पश्चात् समाज की व्यवस्था काफ़ी सुधर गयी थी। उस सुधार के कारण उस युग की राजनीति में निहित हैं। इसी प्रकार आधुनिक चरित्र के पतन का सुधार भी वैसा ही राजनीति से सम्भव है। आज हम भी एक युद्ध के समय में से होकर चल रहे हैं। इस युग में से विजेता बनकर निकलना हमारे लिये तभी सम्भव है यदि हम प्राचीन भारतीय राजनीति के ग्राह्य अंशों को अपनाएं। महाभारत, आधुनिक युग के लिये बहुत कुछ लिये हुए है। शान्ति पर्व के पन्द्रहवें अध्याय में भीष्म युधिष्ठिर को राजधर्म का अनुशासन करते हुए, दण्ड को राजधर्मों का मुख्यतम पहलू बताते हैं। वे कहते हैं कि संसार में अन्धकार छा जाए, यदि दण्ड न हो (अन्धे तमसि मज्जेयुः, यदि दण्डो न धारयेत्)। दण्ड को राज धर्मों का मूलाधार माना गया है। आजकल चारों ओर अनुशासन हीनता, चारित्रिक-पतन का संक्रमण देख रहे हैं। वह सब केवल दण्ड के अभाव में ही है। आज हमारे में वह चरित्र की प्रेरणा नहीं जो समाज की इकाइयों को भ्रष्टाचार से रोकने में साधक बनें। आज हम ऐसी अवस्था में पहुंच गये हैं जब केवल दण्ड ही हमें उचित दिशा की ओर ला सकता है। दण्ड की शिथिलता हमारे लिए असफल सिद्ध हो चुकी है। आज दण्ड ही एक ऐसा सूत्र रह गया है जो हमें एकता के रूप में बांधकर विशृंखल होने से बचा सकता है। जब प्रेम का अभाव होता है तो दण्ड के भी अभावमें समाज विघटित हो जाया करता है। आज हम देख रहे हैं कि हमारे देश में कुछ विघटन की आवाजें

बुलन्द हो रही हैं, जो पहल की तरह इस देश को टुकड़ों में बांट कर कमज़ोर बना देगी। इस विघटन को रोकने के लिये हम सब का कर्त्तव्य हो जाता है कि प्राचीन राजनीति के उन मूल तत्त्वों को ओझल न होने दें, जिनके कारण हमारी राजनैतिक सत्ता आजतक बनी रही है।

आज हम ही अपने राजा एवं शासक हैं। अतः यदि हम इन कमियों को या बुराइयों को दूर नहीं करते तो स्वयं पापी बनेंगे। भीष्म कहते हैं कि ऐसा राजा, जो बुराइयों को दूर नहीं कर सकता, पाप का भागी होता है--

पापान् सर्वेह पायैस्तान्नियच्छेच्छातयीतवा।
अतोऽन्यथा वर्तमानो राजा प्राप्तनोति ।।
किल्विषम् शान्तिपर्व, अ० ३२

राजधर्मों का वर्णन करते हुए भीष्म कहते हैं कि "जो सप्तांग राज्य की व्यवस्था में प्रत्यूह उत्पन्न करे, उसे मृत्युदण्ड देना चाहिए, चाहे वह गुरु हो, मित्र हो अथवा कोई सगा सम्बन्धी हो।"

[शा० प०, ५७.५]

स्पाश (गुप्तचर) विभाग की दृढ़ता की आवश्यकता की ओर संकेत करते हुए भीष्म कहते हैं कि जिस राजा के स्पाश (गुप्तचर) तथा मन्त्रणाएं विरोधियों के द्वारा ज्ञात न हों, वह राजा सफल राजा माना जाता है।

[शा० प०, ५७.३९]

एक राजा का अपने शत्रुओं के प्रति कैसा व्यवहार हो, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रपितामह बताते हैं कि राजा को शत्रुओं के प्रति क्रूर होना चाहिए। क्रूरता की नीति शत्रु को भयभीत रखती है। उदारता या प्रेम की नीति सफल नहीं होती। इसी बात को वे एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं कि यदि इन्द्र अपने शत्रु वृत्र का वध न करता तो आज इन्द्र (देवराज) न होता। भीष्म ने राजा को यहां तक आज्ञा दी है कि जो अविश्वसित या संदिग्ध हो उसे प्राणदण्ड दे। यद्यपि आजकल ऐसा सम्भव नहीं है तथापि शासक का दण्ड ऐसा कठोर होना चाहिए कि लोगों के मनो में पाप करते समय भय की भावना अवश्य रहे जिसके कारण वह भ्रष्टाचार में प्रवृत्त न हो। देश द्रोहियों को तो बिना किसी अपवाद के मृत्युदण्ड देने का विधान है। यदि आज हम दण्ड की शिथिलता वश ऐसा नहीं करते तो इसके भयंकर प्रणाम सामने आने में देरी नहीं लगेगी।

राजा के गुणों में 'गुप्तमंत्र' होना भी परमावश्यक है। इसके विपरीत आज हमारा ढांचा ऐसा है कि कोई बात कितनी ही गुप्त क्यों न हो, दूसरे दिन पत्रों में छप जाती है। इन सब बुराइयों या त्रुटियों के पीछे एक ही कारण है, वह है दण्ड का अभाव।

दण्ड का अर्थ बहुत व्यापक है। दण्ड का अभिप्राय उन सभी प्रकार के

कठोरतम एवं क्रूरतम उपायों से है जो किसी एक बुराई को समाप्त करने के लिये किये जा सकते हैं। दण्ड की परिभाषा के अन्तर्गत अनुशासन, चरित्र, आचार, धर्म एवं कर्त्तव्य के निर्वहन करने और कराने के वे सभी साधन आ जाते हैं जो समय-समय पर आप्तों द्वारा निर्धारित किये जात हैं।

शान्तिपर्व का १२१ वां अध्याय दण्ड की महिमा से पूर्ण है। वहां कहा है—"दण्ड ही ब्रह्मा है, विष्णु है, शिव है।" अर्थात् दण्ड ही भगवान् है। "दण्डो हि बहुविग्रहः" कह कर दण्ड के बहुत रूप बताये हैं। दण्ड को 'लोहिताक्ष' कह कर इसके प्रयोग में क्रूरता एवं निर्दयता का आश्रय लेने की ओर इंगित किया गया है। शासक के लिये दण्ड, हिंसा, संयम, धन इन चार बातों को अत्यन्तावश्यक बताया है।

दण्ड की ही आवश्यकता को मनु ने भी अनुभव किया। वे मनुस्मृति के सातवें अध्याय में राजधर्मों का वर्णन करते हुए, दण्ड को ईश्वर के द्वारा उत्पन्न किया मानते हैं। वे कहते हैं :—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्
ब्रह्म तेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ७.१४।

आगे चल कर दण्ड की आवश्यकता एवं प्रशंसा में मर्यादा पुरुषोत्तम मनु बताते हैं— "दण्ड ही वास्तव में राजा है, पुरुष है, नेता है, शासक है, चारों आश्रमों तथा वर्णों के धर्मों की स्थिति का रक्षक है।" ७.१७

मनु स्वयं सूर्यकुल के आदि राजा थे। उन्हें राजनीति का दण्ड के ऊपर अवलम्बित होना ज्ञात था। वे अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि "दण्ड ही प्रजाओं की रक्षा करता है, दण्ड ही शासन करता है, दण्ड सोते हुओं में जागता है, दण्ड को बुद्ध धर्म की संज्ञा देते हैं। यदि संसार में दण्ड की स्थिति विचलित हो जाए तो बड़े छोटों को खा जाएं। सारे वर्ण लड़ मरें, सब बन्धन टूट जाएं, सब संसार दण्ड के विचलित होने से प्रकुपित हो उठे। जहां दण्ड का संचार होता है वहां प्रजाएं अपने-अपने कार्यों में रत रहती हैं। कोई अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होता।

[मनु०, अ० ७, श्लो० १७–२५]

मानवों की तो बात दूर रही, मनु तो देवताओं के लिये भी दण्ड की व्यवस्था करते हैं। वे कहते हैं कि देवता भी दण्ड के भयसे ही कार्यों में प्रवृत्त होते हैं—

देवदानव गन्धर्वाः रक्षांसि पतगोरगाः।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते, दण्डेनैव निपीड़िताः।

इसी प्रकार कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद तथा कृष्ण ने भी दण्ड को भारतीय राजनीति का मेरुदण्ड माना है। आज कल हमारी राजनीति में दण्ड की शिथिलता के कारण ही उत्प्लव एवं उपद्रव हो रहे हैं। इन सब को शान्त करने के लिये, बाह्य

(शेष पृष्ठ २३ पर)

रामधारी सिंह दिनकर

आधुनिकता बनाम भारतीयता

प्रस्तोता–प्रो० कृष्ण दत्त शर्मा

पिछले डेढ़ सौ वर्षों से भारत आधुनिकता की ओर बढ़ता आ रहा है, लेकिन स्वतंत्रता के बाद से आधुनिकता का प्रश्न अत्यन्त प्रखर हो उठा है। यह प्रश्न विचारणीय है कि आधुनिक बनने पर भारत का कौनसा रूप बचने वाला है और कौन बलिदान में जायगा।

जहां तक आधुनिकता के स्थूल पक्ष का सवाल है, मुझे इसमें सन्देह नहीं कि भारत उसे स्वीकार करने को उद्यत हो गया है। कल-कारखाने इस देश में भी बेशुमार बढ़ने वाले हैं और नगर भी दिनों-दिन अधिक बड़े और संख्या में विशाल होते जायेंगे और इनका जो स्वाभाविक परिणाम लोगों के आपसी सम्बन्धों पर, उनकी आदतों और रिवाजों पर, उनकी नैतिक भावना पर यूरोप और अमेरिका में पड़ा है यह यहां भी पड़ेगा। साक्षरता भी यहां एक दिन काफी हो जायगी और उन लोगों की संख्या में भी वृद्धि होगी जो गम्भीर पुस्तकें न पढ़ कर अखबार, सनसनी खेज़ उपन्यास और पैंफलेट ज्यादा पढ़ेंगे अथवा रेडियो और टेलीविजन से अपना मन बहलायेंगे। प्रति व्यक्ति के पीछे होने वाली आय यहां भी बढ़ेगी और यह देश भी एक दिन बेरोजगारी का मसला हल कर लेगा।

भारत आधुनिक बने

ये तो स्थूल बातें हैं, आधुनिकता की असली व्याप्तियां इनसे ज्यादा बारीक हैं। आधुनिकता और आधुनिकीकरण में भेद है और यह भेद लगभग वैसा ही है, जैसा भेद हम संस्कृति और सभ्यता में मानते हैं। मोटर, महल, हवाई जहाज और कल-कारखाने ये सभ्यता के उपकरण हैं। संस्कृति इनसे कहीं बारीक चीज़ का नाम है। सभ्यता वह है जो हमारे पास है, संस्कृति वह है जो हम स्वयं हैं। जहां तक आधुनिकीकरण का प्रश्न है भारत को आधुनिक बनना ही पड़ेगा और इस क्षेत्र में भारत के आधुनिक होने से भारतीयता नष्ट ही हो जायेगी, ऐसा मेरा विचार नहीं है, गरचे धोती, कुरता, अचकन और चादर को हम भारतीयता से सम्बद्ध मानते आए हैं, किन्तु भारत की जो आत्मा है, भारत का जो असली धर्म है, वह पोशाकों में नहीं बसता, उसका निवास भारतीयों के मन में है, चिन्तन की पद्धति में है, सृष्टि को

देखने वाली भारतीय दृष्टि बच गयी अथवा आधुनिकता से उसका सामंजस्य बैठ गया तो वह स्वप्न पूरा हो जायगा जिसे राममोहन राय, विवेकानंद, गांधी और अरविन्द ने देखा था। अर्थात् हम पाश्चात्य जगत् के सर्व श्रेष्ठतत्वों को अपनी संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्वों से एकाकार करने में समर्थ हो जायेंगे।

बुद्धिवाद भारत में भी था और यूरोप में भी लेकिन यूरोप में वह स्थूल हो गया। पश्चिम के चिकित्साशास्त्र ने सर्जरी में जितनी उन्नति की है उतनी उन्नति वह कायचिकित्सा में नहीं कर सका है। कारण यह है कि यूरोप शरीर का विशेषज्ञ है। शरीर के भीतर जो मन अथवा आत्मा बसती है उसे भी वह उन्हीं औज़ारों से नापना चाहता है जिनसे शरीर के नापने का रिवाज़ है। इसी लिये मन और आत्मा के धरातल पर सफलता उसे कम मिली है। विज्ञान को किसी विद्या की खोज करनी चाहिए जो मन और आत्मा से जन्म लेने वाली बीमारियों की रोकथाम करे।

बुद्धि मन की गहराइयों तक नहीं जा सकती है। वह स्वभाव से ही स्थूल है। विज्ञान का विकास आदि से अन्त तक बुद्धिवाद के मार्गदर्शन में हुआ है। इसी लिये वह परमाणु से ऊपर पर्यंत जिस आत्मविश्वास के साथ बोलता था उस आत्मविश्वास के साथ परमाणु से नीचे पहुंचने पर नहीं बोल सकता। इसी लिये सर्जरी आगे और कायचिकित्सा पीछे चल रही है।

भारतीय सृष्टि बोध की रीढ़

अदृश्य के प्रति आस्था और परलोक के अस्तित्व में विश्वास इसे मैं भारतीय सृष्टि बोध की रीढ़ मानता हूं। मूल में यही विश्वास भारत का अटल मौलिक विश्वास रहा है और भारत में धर्म और नैतिकता का विश्वास इसी विश्वास के अधीन हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि भारत केवल आस्तिक दर्शन का गढ़ नहीं है। सांख्य सेश्वर भी है और निरीश्वर भी। जैन और बौद्धमत ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं किन्तु इस एक बात में भारत के सभी दर्शन एक समान विश्वास करते हैं कि परलोक सत्य है अदृश्य योनियों का अस्तित्व है और मरने के बाद जीव का पुनर्जन्म भी होता है। जन्मान्तरवाद का खण्डन यहां केवल चार्वाक ने किया था, किन्तु उसके अनुयायी इस देश में थे या नहीं यह रहस्य अज्ञात है।

और यह विश्वास समस्त पुरातन विश्व का है इस लिये आधुनिकता के प्रसंग में भारत के समक्ष जो कठिनाई है वह कठिनाई केवल भारत की ही नहीं समस्त संसार की समझी जानी चाहिए। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि आधुनिकता की सम्पूर्ण विजय के अनन्तर भारत भारत रहेगा या नहीं। मुख्य प्रश्न यही हो सकता

है कि आधुनिकता के आक्रमण से प्राचीन जगत् के इस विश्वास की रक्षा की जा सकती है या नहीं कि सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता, कुछ चीज़े मरने के बाद भी शेष रहती हैं, सब कुछ वहीं तक नहीं है जहां तक विज्ञान का औज़ार पहुंचता है, कुछ चीज़ें ऐसी भी हैं जो गोचर जगत् के परे और इन्द्रियों की पहुंच के पार हैं।

प्राचीन कल्पना से खलल नहीं नये मनुष्य की सृष्टि-संबंधी जो कल्पना है, वह प्राचीन जगत् की कल्पना से भले ही भिन्न हो, किंतु जहा तक मानव के कर्त्तव्य और सदाचार की बात है, प्राचीन जगत् की कल्पना उसमें कोई व्यवधान नहीं डालती। प्राचीन जगत् की कल्पना मनुष्य के कर्त्तव्य-भाव को कुंठित नहीं करती, उसके उल्लास को नहीं दवाती, न उसे यह सिखलाती है कि जो कुछ मिलने वाला है, वह तुम्हे ईश्वर से मिलेगा, अतएव, तुम हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहो। जो लोग हाथ पर हाथ धर कर बैठे हुए हैं, उनसे पूछिए कि क्या वे ईश्वर के भरोसे बैठे हुए हैं। उत्तर मिलेगा, नहीं, सिर्फ इसलिये कि हमारे पास साधन नहीं हैं, उद्यम की शक्ति नहीं है। अब उद्यम और साधन का नहीं होना भाग्य के भरोसे बैठे रहने का परिणाम है अथवा किन्हीं अन्य कारणों का, इसका निर्णय सरलता से नहीं किया जा सकता, प्राचीन विश्व निरुद्यमी लोगों का विश्व नहीं था। यदि वह निरुद्यमियों और भाग्य वादियों का संसार हुआ होता तो जिन लोगों ने उस समय महान् कार्य किए, उनका आविर्भाव ही नहीं होता। भाग्य के विरुद्ध पुरुषार्थ की महिमा मानव को आज कुछ आज ही ज्ञातनहीं हुई है। कर्ण के मुख से एक प्राचीन कवि ने कहलवाया था :—

दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम

आधुनिकता के जो औद्योगिक और सामाजिक पक्ष हैं, प्रवृत्तिमूलक और पुरुषार्थबोधक पक्ष हैं, उन्हें हम स्वीकार करेंगे। जहां तक बुद्धिवाद और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रश्न है, हम उनकी भी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। किन्तु इन बातों को स्वीकार करते समय हमें इसका भी ध्यान रखना है कि हम जो नया विश्व बनायें, वह प्राचीन और मध्यकालीन विश्व से सचमुच ही श्रेष्ठ हो– केवल सुख, सुविधा, स्वतंत्रता और भोग की दृष्टि से ही श्रेष्ठ नहीं हो, बल्कि, उसमें शांति और संतोष का भी प्राचुर्य हो।

मध्यकाल संतोषपूर्ण

मध्य-कालीन जगत में केवल दोष ही दोष न थे। वह गहन अंधकार के साथ उज्ज्वल प्रकाश का भी समय था। यह ठीक है कि उस समय मनुष्य अपने परिवेश को कम जानता था, मगर इसी कारण वह अपनी आलोचना भी थोड़ी ही करता था।

जब दुनिया अंधेरी थी, आसमान साफ था। जब दुनिया रोशनी से भर गयी, आसमान पर अंधियारी छा गयी पहले मनुष्य को सत्य वहां भी दिखाई देता था जहां सचमुच, उसका वास नहीं था। अब जो सत्य है, उस पर भी आदमी का विश्वास टिकता दिखाई नहीं देता है। मध्यकालीन युग तिमिरग्रस्तता का शिकार नहीं था, वह आनन्द व संतोष से प्रकाशित काल था जब मनुष्य चीज़ों में विश्वास करता था और प्रसन्नता के प्रकाश में जीता था। लंदन के घंटाघर की आवाज़ उस समय संसार भर के लोग भले ही न सुनते हों, लेकिन अपने पड़ोसियों के कराहने की आवाज उन्हें सुनायी देती थी। उस समय आज की अपेक्षा अधिक बहते थे और अधिक सहजता से बहते थे। आज काम तभी किए जाते हैं जब वे पेट के लिए जरूरी हो जाये, मगर उस समय के कारीगर काम करते समय आय की बात नहीं सोचते थे। और यह कितनी अच्छी बात थी कि उस समय कारीगर के बनाए सामान बेचे जाते थे, स्वयं कारीगर नहीं बिकता था। जब संसार रहस्य था, मनुष्यता में विनम्रता थी। जब से वह समस्या बन गया, मनुष्य उद्धत और अधीर हो गया है।

सब से बड़ा ढिंढोरा आधुनिकता इस बात का पीटती है कि बुद्धिवाद के तीखे औज़ार से उसने मनुष्य की सभी जंजीरें काट कर उसे सभी दासताओं से मुक्त कर दिया है जो दावा एक प्रकार से ठीक है। अफसोस की बात यह है कि मनुष्य को यही मालूम नहीं कि इस मुक्ति को लेकर वह क्या करे। बुद्धिवाद, टेकनालोजी और विज्ञान द्वारा सिद्ध मुक्ति उस गरुड़ की मुक्ति नहीं है जो डैने कलोलकर आकाश में उड़ता है, बलिक उस कुत्ते की मुक्ति है जो जंज़ीरों से छूट कर सड़क पर आ गया है और सड़क पर कुचले जाने के भय से इधर-उधर भाग रहा है। खुला कुत्ता जो चाहे कर सकता है। लेकिन उसे यह कौन बताए कि उसे कहां जाना चाहिए और चारों ओर के खतरों से अपनी रक्षा कैसी करनी चाहिए ? विज्ञान शक्ति देता है, यह बात सत्य है। किन्तु इस शक्ति का उपयोग मनुष्य किस चीज़ के लिये करे, इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान को मालूम नहीं है। मालूम होता तो आणविक शक्ति का उपयोग मनुष्य आत्मसंहार के लिये नहीं करता।

आधुनिकता का विरोध नहीं

आधुनिकता का हम विरोध नहीं, स्वागत करते हैं। हमारा ध्येय केवल यह है कि विज्ञान और टैकनालोजी से हमें जो शक्ति प्राप्त हुई है उसका उपयोग हम एक ऐसी दुनिया बनाने के लिये करें जो वैज्ञानिक और रहस्यवादी अधिक हुआ करते हैं। प्रत्येक युग में दोनों की संख्या बहुत थोड़ी रही है। आधुनिकता यदि मनुष्य को केवल शरीर मानती है तो भारत का

इस बात में उससे स्पष्ट विरोध है क्योंकि हम आत्मा और शरीर दोनों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और इसलिये हमारा मनसूबा है कि हम आधुनिक हो जाने पर भी भारतीय यानी कुछ-कुछ प्राचीन रहेंगे और इसलियें प्राचीन रहेंगे और कि आधुनिकता के साथ ज़हर की जो थोड़ी लपेट है उसे केवल प्राचीनता का कूपजल ही धो सकता है। आधुनिकता से मनुष्य का सुख तो बढ़ा है, लेकिन उसकी शांति घट गयी है; बल बुद्धि, और अहंकार तो बढ़ा है, मगर करुणा और विनम्रता घट गयी है। यह अभाव किसी न किसी रूप में धर्म के वापस आने से दूर होगा। इसलिये हम चाहते हैं कि आधुनिकता ने भौतिकी और ज्योतिष का जो रूखा सूखा ऊजड़ विश्व बसा रखा है, उसमें हम जहां-तहां रहस्य के भी कुछ मन्दिर खड़े कर दें।

[एक अभिभाषण के आधार पर]

(पृष्ठ १८ का शेष)

एवं आभ्यन्तर भयों से बचने के लिये आज हमें अपनी राजनीति में दण्ड के लिय उचित स्थान देना चाहिए ।

आज समय की पुकार है कि हम अपनी प्राचीन राजनीति के मुलमन्त्र दण्ड को अपनी राजनीति का अंग मान कर आगे बढ़ें तथा इसे दृढ़ एवं कठोर बना कर अपने समाजको सशक्त एवं समर्थ बनाएं।

भाव-भाषा के विकास में

सामान्य विधि का महत्त्व

हरिचन्द पाराशर

भाषा भावों की अनुगामिनी है । भाव विचारों के खेतों की फसल हैं। विचार सामाजिक सम्पर्क की भूमि के छोटे-छोटे पार्सल हैं ।

विचारों के खेत में जब सह-अस्तित्व का जल लगता है तो विधि का अंकुर फूटता है ।

मनुष्य मिल कर रहते हैं । उनके सम्बन्ध उलझते हैं, पेचीले हो जाते हैं, उन पेचों को सरल करने के लिये विधि कार्य करती है ; इसलिये यह सामाजिक सम्बन्धों की मां है ।

जो भाषा केवल कथा-कविता की दुनियां की बातें ही प्रकट करती है, उसे सम्पूर्ण और सम्पन्न भाषा नहीं कह सकते । कथा-कविता मानवीय मानस की एक हिलोर का शब्दचित्र है । मानवीय मानस अथाह है । उसकी अनेक धाराए समाज भूमि पर अनेक रूपों में प्रवाहित होती हैं। इसलिये भाषा को उन सब की अभिव्यक्ति के लिये विकासमान रहना होता है। भाषा को विकासमान रखने के लिये समर्थ साधनों में से एक साधन है सामान्य विधि (कामन लॉ) ।

भाषा के विकास की दो दिशाएं होती हैं, एक भावात्मक और दूसरी विचारात्मक। भावात्मक विकास भाषा को अलंकारों की ओर ले जाता है, और विचारात्मक प्रतीकों की ओर, पहले का चरम विकास कविता है, दूसरे का बीज-गणित (अलजेबरा) । कविता की भावना और अलजेबरे के तर्क का मिलाप विधि में होता है । विधि के प्रशासन में तर्क प्रधान होता है और उसके प्रयोग में भावना। विधि का उद्देश्य न्याय है, और न्याय की प्राप्ति का प्रयत्न मानवीय मानस का अनुसन्धान। इस अनुसन्धान से मानस की कई बारीकियों का पता चलता है, और वे बारीकियां शब्द मांगती हैं। यह मांग या तो पुराने शब्दों को नए अर्थ देकर पूरी की जाती है, या नए शब्द घड़ कर। ये दोनों तरीके भाषा को सम्पन्न करते हैं । इस तरह विधि भाषा की सहायता करती है।

सामान्य विधि व्यक्ति के रोज़मर्रा के काम आती है। सामान्य विधि में विधिक

अपकारों (लीगल राँग्ज़) के सामान्य असूलों का विश्लेषण किया जाता है। यह असूल व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति से सम्बन्धित अपकारों के विषय में होते हैं। व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति के माध्यम से सामाजिक सम्बन्धों का नियमन ही विधि है।

जो भाषा जितने अधिक सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है, वह उतनी अधिक समर्थ बनती है।

(क)

व्यक्ति के विरुद्ध अतिचार (ट्रेसपास) दो प्रकार से हो सकते हैं, एक व्यक्ति के शरीर के प्रति और दूसरे व्यक्ति के मान के प्रति।

(१) व्यक्ति के शरीर के प्रति अतिचार प्रमुख रूप से दो प्रकार के हैं, एक प्रहार (असौल्ट) और दूसरे संप्रहार (बैट्री)। प्रहार का अभिप्राय है किसी दूसरे व्यक्ति पर अविधिपूर्वक ढंग से चढ़ाई करना, अर्थात् वर्तमान क्षमता और आशय से किसी दूसरे व्यक्ति को शारीरिक चोट पहुंचाने का प्रयत्न करना। प्रहार में स्पर्श का होना आवश्यक नहीं है, वर्तमान क्षमता और आशय का होना ही पर्याप्त है। जब डराने वाले व्यक्ति का कोई संकेत डराए गये व्यक्ति के मन में यह भय पैदा कर दे कि उस पर आपराधिक बल का प्रयोग किया जाने वाला है, और साथ ही डराने वाले व्यक्ति के पास आपराधिक बल प्रयोग की वर्तमान क्षमता भी हो, और आशय भी, तब प्रहार का अपकार घटित हो जाता है। जब इस अपकार से स्पर्श भी हो जाए तो संप्रहार का अपकार बन जाता है। क्रोध और प्रतिशोध में किसी का कठोर स्पर्श ही संप्रहार है।

इन दो के अतिरिक्त एक तीसरी स्थिति अविधिपूर्ण-कारागार (फाल्स इम्प्रिजिन्मेंट) की भी हो सकती है। अविधिपूर्वक कारागार का अभिप्राय है किसी व्यक्ति की आज़ादी पर विधि-पूर्वक आधार के बिना थोड़े समय के लिये पूरी पाबन्दी लगाना। ऐसी पाबन्दी मुकम्मल होनी चाहिए, अर्थात् उस व्यक्ति की आज़ादी पर चारों दिशाओं से पाबन्दी लगने पर ही यह अपकार घटित होता है। कोई व्यक्ति यदि अपनी इच्छा से किसी कमरे में बैठा हो, और कोई दूसरा व्यक्ति आकर चारों ओर से दरवाज़े बन्द कर दे और इस तरह उसे बन्द कर दे, कि बन्द व्यक्ति बाहर न जा सके तो यह अविधिपूर्वक कारागार का अपकार होगा। अविधिपूर्ण कारागार एक सिविल अपकार है। इस में आपराधिक उत्तरदायित्व के तत्त्व नहीं होते। आपराधिक उत्तरदायित्व में दण्ड का निश्चय करते समय अपराधी के प्रयोजन को ध्यान में रखा जाता है। अन्य बातों के बराबर होने की स्थिति में अपराध के प्रयोजन के अनुपात दण्ड की मात्रा घटती बढ़ती है। दण्ड आपराधिक कार्य के बुरे परिणामों के अनुसार भी

टता बढ़ता है, तथा अपराधी के स्वभाव के अनुसार भी। यदि अपराधी अभ्यस्त है, तो उसे कड़ी सज़ा दी जाती है, अन्यथा कुछ कम। परन्तु सिविल अपकार में ध्यान दण्ड की ओर नहीं होता, बल्कि वादी की क्षति की ओर होता है। क्षतिपूर्ति ही केन्द्रीय-विन्दु होता है। उसके अनुसार मावज़ा दिलाया जाता है।

(२) मान को क्षति पहुंचाना मान-हानि है। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में दूसरों का अनुमान ही मान है। कोई व्यक्ति अपने बारे में क्या सोचता है और अपने को वह क्या समझता है, ये बातें उसके मान का निर्माण नहीं करतीं, इन बातों को उसका आत्मगौरव (सैल्फ-एस्टीम) कहा जा सकता है। उसका मान तो निश्चित रूपेण एक वस्तुस्थिति है, अर्थात् दूसरे व्यक्ति उसे कैसे समझते हैं, दूसरों का उसके बारे में अनुमान ही मान है।

विधिक दृष्टि से मानहानि का अपकार तभी घटित हुआ समझा जाता है जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में विधिपूर्वक तर्कसंगति के विना कोई झूठा एवं मानहानि वाला ब्यान प्रकाशित करे। प्रकाशित करने का अभिप्राय है उस सम्बन्धित व्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति तक वह बात पहुंचाना है। पहुंचाने की क्रिया मौखिक रूप से भी हो सकती है, और लिखित रूप से भी। इन्हीं क्रियाओं के अनुसार मानहानि दो प्रकार से घटित है : अपवचन (सलैण्डर) और अपलेख (लाइबल)। अपवचन अस्थायी समझा जाता है, और अपलेख अपेक्षाकृत अधिक स्थायी।

साधारणतया अपलेख केवल सिविल अपकार ही नहीं क्रिमिनल अपराध भी है। निम्नलिखित चार स्थितियों के सिवाय सामान्य विधि में अपवचन पर हरजाना पाने के लिये क्षति सिद्ध करनी पड़ती है :—

(१) किसी पर क्रिमिनल अपराध करने का आक्षेप लगाना;

(२) किसी पर ऐसे रोगों का आक्षेप लगाना जिससे दूसरे लोग उसके संसर्ग में आने से रुकें, यथा कुष्ट रोग, सिफलिस आदि;

(३) किसी पर यह आक्षेप लगाना कि वह अपने व्यवसाय में अयोग्य है; और

(४) किसी स्त्री पर यह आक्षेप लगाना कि वह साध्वी अथवा पति-व्रता नहीं है, अथवा किसी कंवारी लड़की पर यह आक्षेप लगाना कि उसका कंवारपन सुरक्षित नहीं है।

विधिक कार्यवाही के लिये सामान्य विधि के अनुसार इन चार स्थितियों के अपवचन भी अपलेख के समान हो जाते हैं, अर्थात् इन चार स्थितियों में क्षति को सिद्ध किये

बिना ही हर्जाना पाने के लिये सम्बन्धित व्यक्ति पात्र हो जाता है।

समूचे रूप में, अर्थात् अपवचन हो या अपलेख, मानहानि के घटक तत्त्व निम्नलिखित चार हैं :--

(१) बयान मान की हानि करने वाला हो,

(२) बयान एक वादी के प्रति हो,

(३) मान की हानि करने वाले व्यक्ति ने उस बायन को पूर्व-कथित अर्थों में प्रकाशित किया हो, और

(४) वह बयान झूठा हो।

कोई बयान मान की हानि करने वाला है या नहीं, इस बात का निर्णय करने के लिए आशय (मोटिव) देखने की आवश्यकता नहीं होती। समाज के सही विचार वाले व्यक्ति यदि किसी बयान को मानहानि वाला समझते हों, तो वह बयान मानहानि वाला होगा। सही विचार वाले व्यक्तियों का अभिप्राय युक्ति-युक्त व्यक्ति की धारणा का समकक्ष है । इस माप से न्यायधीश ही इस बात का निर्णय कर लेते हैं कि अमुक बयान मानहानि करने वाला है, या नहीं। इस प्रसंग में शब्दों का स्वाभाविक, स्पष्ट और मुख्य अर्थ ही लिया जाता है, परन्तु यदि बयान में वक्रोक्ति का प्रयोग हो तो परिस्थितियों के अनुसार अर्थ ग्रहण किया जाता है। विधिक दृष्टि से कथा घड़ने वालों की तरह ही कथा उठाने वाले भी दोषी होते हैं, इसलिये किसी समाचार पत्र में मानहानि के प्रकाशन पर मालिक, सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक सभी पर संयुक्त रूपेण अथवा अलग से दावा किया जा सकता है, परन्तु किसी अचेत उपकरण पर नहीं, यथा अखबार बेचने वाला।

मानहानि की कार्यवाही में सफाई की तीन बातें हैं :--

१--तर्क संगति,

२--उचित मतप्रकाश (फेयर कमैंट), और

३--विशेषाधिकार

तर्कसंगति का अभिप्राय यह है कि मानहानि करने वाला व्यक्ति सफाई में यह कह सकता है कि प्रकाशित की गई बात सच्ची है। बयान के प्रत्येक शब्द का सत्य सिद्ध करना आवश्यक नहीं, बयान को समुचे रूप में सारभूत सत्य सिद्ध कर देना ही पर्याप्त है, परन्तु बयान के सत्य होने में विश्वास मात्र काफ़ी नहीं।

उचित मतप्रकाश में यह बताना होगा कि प्रकाशित शब्द लोकहित की किसी बात से सम्बन्धित है। लोकहित की बातों में बातें आ सकती हैं; न्याय का प्रसाशन, लोक संस्थाओं का प्रबन्ध, अथवा एसी बातें जो उस व्यक्ति ने लोक (पब्लिक) के लिये प्रस्तुत की हों, जैसे पुस्तक, ड्रामा, नुमाइश आदि। दूसरी बात यह कि बयान में मतप्रकाश है, किसी तथ्य की रिपोर्ट

नहीं, इसमें शर्त यह है कि मत प्रकाश में तथ्यों का मिश्रण इस तरह से न किया गया हो कि पाठक को यह पता ही न लगने पाए कि तथ्य कौनसा है, और मत-प्रकाश कौनसा ? मत प्रकाश के उचित होने का अभिप्राय यह है कि वह ईमानदारी से किया गया हो, और हो भी संगत।

विशेषाधिकार में विधान सभा और लोक सभा आदि के भीतर कही गई बातें, न्यायिक कार्यवाही में न्यायधीश आदि द्वारा कही बातें और राज्य के मामलों से सम्बन्धित बयान शामिल हैं। इन तीन बातों में विशेषाधिकार निरपेक्ष है कुछ अन्य बातें हैं जिनमें विशेषाधिकार सशर्त होता है, उदाहरणतया किसी नौकर के सम्बन्ध में किसी नियोक्ता द्वारा की गई पूछताछ का पहले मालिक का उत्तर, विश्वसस्त सम्बन्धों में बिना पूछे कोई बात बताना, जैसे वकील द्वारा मुवक्कल को, या मात-पिता द्वारा अपने बच्चों को आदि, अपने हित के लिये मालिक का अपने नौकरों को उनके साथियों के सम्बन्ध में चेतावनी देना। सशर्त विशेषाधिकार में शर्त यह है कि कथन का कारण कोई द्वेषभाव न हो।

(ख)

सम्पत्ति के प्रति दोनों प्रकार के अपकार हो सकते हैं सिविल भी और क्रिमिनल भी। इस समय केवल सिविल अपकारों का उल्लेख करना ही उद्दिष्ट है। इस सम्बन्ध में उत्तरदायित्व, आशय, प्रमाद, अतिचार को समझना आवश्यक है।

(१) अपकार और अपकारकर्त्ता के मध्यवर्ती आवश्यकता के बन्ध को विधिक भाषा में उत्तरदायित्व कहा जाता है। यह वह चीज़ है जो अपना कर्त्तव्य निभाने में असफल व्यक्ति को भुगतनी होती है। यह व्यक्ति की वह अवस्था है जब उसने किसी अधिकार का भंग किया हो, अथवा कर्त्तव्य के विरुद्ध कार्य किया हो। यह स्थिति दो रूपों में घटित होती है; आशय और प्रमाद। आशय उस चेतन प्रयोजन का नाम है जिस से कोई कार्य किया जाता है। साशय कार्य से कार्य के परिणामों की इच्छा भी होती है और जानकारी भी। प्रमाद ऐसी चूक अथवा कार्य का नाम है जो युक्तियुक्त मनुष्य नहीं करता। प्रमाद मन की एक अवस्था है जब मनुष्य अपने आचार और उसके परिणाम के प्रति लापरवाही रखता है। प्रमाद दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक मन की लापरवाही वाली अवस्था के लिए, और दूसरे उस अवस्था से प्रसूत आचार के लिए। सामण्ड के मतानुसार मन की लापरवाही वाली अवस्था को ही प्रमाद कहना चाहिए, दूसरी अवस्था तो प्रामादिक आचार है। "प्रमाद" और "प्रामादिक आचार" में अन्तर है। प्रमाद

दो रूपों में प्रकट होता है, अनवधानता, और अविचारिता।

डाक्टर की ट्रीटमेंट में कमी के कारण रोगी का देहांत होना डाक्टर की अनवधानता है, और भीड़भरी सड़क पर टैक्सी का तेज़ चलाना ड्राइवर की अविचारिता है। प्रमाद में प्रमादी अपने प्रमाद के कारण घटित होने वाले परिणामों को जानता तो है, परन्तु उनकी वह इच्छा नहीं रखता। प्रमाद वाले अपकारों के लिये दण्ड इस लिये दिया जाता है कि प्रमादी ने क्षति को रोकने के लिये पर्याप्त इच्छा नहीं की होती। वास्तव में आशय और प्रमाद दोनों ही मन की विभिन अवस्थाएं हैं। एक में मन में परिणामों की इच्छा होती है और दूसर में ऐसी इच्छा का अभाव होता है।

क्लार्क और लिड्ंज़वेल ने प्रमाद के विधिक पक्ष का विश्लेषण करते हुए कहा है कि ऐसी सावधानी बरतने में चूकना ही प्रमाद है, जो उन परिस्थितियों में किसी युक्तियुक्त मनुष्य की विधिक कर्त्तव्य थी। इस मत में एक आपत्ति यह की जा सकती है कि सावधानी बरतने में चूक आशय और दुर्घटना के कारण भी हो सकती है, इसलिये चूक को प्रथम दृष्टि "प्रमाद" नहीं कहा जा सकता। उसे आशय और दुर्घटना से अलग करके देखना होता है। अत: अपकार-पूर्ण आशय से अलग करन के लिए प्रमाद को मन की स्थिति समझना ठीक है, और अपरिहार्य दुर्घटना से अलग करने के लिए उसे विधिक कर्त्तव्य की चूक कहना युक्तिसंगत है। विधि में कुछ अपकार "निरपेक्ष उत्तरदायितव" के भी होते हैं। एसी स्थिति में यह नहीं देखा जाता कि अपकार साशय है या प्रमादपूर्ण, अथवा दुर्घटनावश।

जिस व्यक्ति के पास कोई खतरनाक चीज़ें हों, उस व्यक्ति का कठोर कर्त्तव्य होता है कि वह उन खतरनाक चीज़ों से किसी का नुकसान न होने दे। सामान्य विधि का नियम यह है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी भूमि पर कोई खतरनाक चीज़ लाए और रखे वह चीज़ अगर वहां से बाहर चली जाए और किसी पड़ोसी को नुक्सान पहुचाये तो वह व्यक्ति उत्तरदायी होगा, भले ही उसने युक्तियुक्त सावधानी बरती हो। इस का स्पष्टीकरण इस प्रकार है, खतरनाक वस्तु बाहर से लाई गई हो, अर्थात् उस भूमि की अपनी उपज न हो, यदि वह खतरनाक चीज की प्रभुकार्य" (एक्ट आफ गॉड) के कारण बाहर चली जाए, तो भी यह सामान्य विधि का यह नियम लागू नहीं होगा। इसी तरह किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा उस खतरनाक चीज़ के बाहर ले जाए जाने पर भी उस चीज़ का मालिक उत्तरदायी नहीं होगा।

खतरनाक परिसरों के लिये काबिज़ व्यक्ति का उत्तरदायित्व उपर्युक्त से कुछ भिन्न है। सामान्य विधि का नियम यह है कि किसी इमारत या मानवीय वास के

काबिज़ का यह विधिक कर्त्तव्य है कि वह उस इमारत या मानवीय वास को सुरक्षित रखने के लिये युक्तियुक्त सावधानी बरतें। इमारत या मानवीय वास में विधिक प्रवेशी का यह विधिक अधिकार है कि उसे वहां युक्तियुक्त सुरक्षा मिले परन्तु यदि प्रवेशी अतिचारी हो, तो उसे यह अधिकार प्राप्त नहीं, उसके प्रति काबिज़ का इतना ही कर्त्तव्य है कि वह योजना बना कर उसके लिये कोई खतरा पैदा न करे, वर्तमान खतरे की चेतावनी देना काबिज़ का कर्त्तव्य नहीं है। भिक्षा लेने के लिये आया भिखारी यदि टूटी हुई सीढ़ियों पर चढ़ते चढ़ते गिर जाए तो वह काबिज़ से खराब सीढ़ियां रखने का हरजाना नहीं ले सकता।

(२) अतिचार (ट्रेसपास) दो प्रकार का होता है, एक अचल सम्पत्ति के प्रति और दूसरा चल सम्पत्ति के प्रति। अचल सम्पत्ति में अधिकांश भूमि और उसके साथ जड़ी और लगी वस्तुएँ शामिल हैं, जैसे वृक्ष और मकान आदि। भूमि पर अपकार-पूर्ण प्रवेश ही अतिचार है। यह प्रवेश तीन प्रकार से सम्भव है, भूमि पर वास्तविक अविधिक प्रवेश, भूमि पर अविधिक रूपेण रिहायश, और भूमि पर अविधिक रूपेण कोई चीज़ रख देना, जैसे किसी जमीन में या मकान में पत्थर रख देना या फैंक देना। अतिचार सिद्ध करने के लिये क्षति सिद्ध करना आवश्यक नहीं है; अतिचार प्रथम दृष्टि ही अविधिक और कार्यवाही योग्य है। वैयक्तिक सम्पत्ति पर प्रत्येक आक्रमण विधिक भाषा में अतिचार है, चाहे वह क्षति कारक हो या न हो, छोटा हो या बड़ा हो। परन्तु इतना अवश्य है कि अतिचार मूलतः कब्ज़े पर अपकार होता है, स्वामित्व का होना ज़रूरी नहीं। कब्ज़ा (पोज़ेशन) क्या है? इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। कब्ज़ा कसी सम्पत्ति का सर्वप्रथम हक़ है। कब्ज़े की रक्षा करना एक ढंग से व्यक्ति की रक्षा करना ही है। यदि लोग अपनी इच्छा से एक दूसरे का कब्ज़ा तोड़ने लग जाएं तो अराजकता फैल जाये, जनता के मन से कानून का आदर उठ जाए। विशिष्ट अनुतोष अधिनियम (स्पेसीफिक रीलीफ एक्ट), १९६३ की धारा ६ और ८ में क़ब्ज़े की रक्षा करने के उपबन्ध हैं। यदि किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के बिना अचल सम्पत्ति के क़ब्ज़े से बेदखल किया जाए, तो व्यक्ति उपर्युक्त अधिनियम की धारा ६ के अनुसार कब्ज़े की बहाली के लिये कार्यवाही कर सकता है। इस स्थिति में यह नहीं देखा जाता कि उस सम्पत्ति पर उसका हक़ बनता है, या नहीं। केवल विधिक क़ब्ज़े को विचाराधीन लाया जायेगा। इस लिये अतिचार के अपकार के लिये क़ब्ज़े का होना ही पर्याप्त समझा गया है।

चल सम्पत्ति के प्रति अतिचार भी

चीज़ों के कब्ज़े में व्यतिक्रम करता है। यह अतिचार निम्नलिखित रूपों में घटित होता है :—

"चीज़ों का क़ब्ज़ा लेकर, अथवा कोई ऐसा कार्य करके जो उन वस्तुओं के सम्बन्ध में क़ाबिज़ के हित को प्रत्यक्ष हानि पहुंचाने वाला हो, जैसे पशुओं को मारना, पीटना या उनका पीछा करना अथवा किसी कला-कार्य को

बदसूरत करके" [पोलक]

वस्तुओं के प्रति अतिचार के लिये 'कब्ज़ा' आवश्यक है अर्थात् जो व्यक्ति क़ाबिज़ नहीं था, वह अतिचार का दावा नहीं कर सकता परन्तु शर्त यह है कि नौकर के कब्ज़े की वस्तु को मालिक के क़ब्ज़े की वस्तु ही समझा जाता है। जिस व्यक्ति को कोई चीज़ कहीं पड़ी मिली हो, वह व्यक्ति भी चीज के सच्चे मालिक के सिवाय बाकी सभी के लिये उस चीज़ का विधिक क़ाबिज़ समझा जाता है, और वह व्यक्ति भी आतचारी के विरुद्ध दावा कर सकता है। अतिचार के अपकार के लिये अपकारपूर्ण आशय का होना भी आवश्यक नहीं है, किसी चीज़ को मालिक की इजाज़त के बिना सद्भावना से भी एक जगह से दूसरी जगह रख देना उस चीज़ के प्रति अतिचार कहलाता है।

इस अपकार को विधि में संपरिवर्तन (कन्वर्ज़न) भी कहते हैं। पराई चीज़ के साथ ऐसी व्यवहृति ही 'संपरिवर्तन' कहलाती है जो विधिक मालिक के अधिकारों के साथ असंगत हो। सच्चे मालिक की शक्तियों का अनधिकृत ग्रहण का विधिक नाम संपरिवर्तन है। इसमें अतिचार वाला अपकार भी शामिल रह सकता है। जब कोई व्यक्ति पराई चीज़ों के साथ ऐसी व्यवहृति करे जिससे सच्चा मालिक च्युत होता है और वह व्यक्ति मालिक वाले लाभ उन चीज़ों से उठाता है तो 'संपरिवर्तन' का अपकार घटित हुआ समझा जाता है। विधिक क्षेत्र में संपरिवर्तन की एक बहुत तकनीकी स्थिति है। वादी को यह सिद्ध करना होता है कि वह या तो काबिज़ था या उसे उस चीज के क़ब्ज़े का तुरत अधिकार था, प्रतिवादी ने उसके क़ब्ज़े को छीना है या स्वामित्व के अधिकार को विचलित किया है। प्रतिवादी "जसर्टाई" की दलील नहीं दे सकता, अर्थात् वह यह नहीं कह सकता कि चीज़ का सच्चा मालिक चीज़ का क़ाबिज़ नहीं है, इसलिये वह चीज़ क़ाबिज़ को नहीं लौटाएगा, जब तक कि प्रतिवादी के पास सच्चे मालिक का प्राधिकार न हो।

विधिक कष्टक (लीगल नूइसेंस) विधिक अतिचार से भिन्न है। किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति के उपयोग में

या सामान्य अधिकार के प्रयोग में अविधिक रूप से विचलित करना ही कष्टक है। यदि 'क' व्यक्ति की ज़मीन के वृक्ष की डाली 'ख' व्यक्ति के मकान की छत को तंग करती है, तो यह डाली 'ख' के लिये कष्टक होगी। इसी तरह 'क' व्यक्ति के घर का धुआं, शोर या बिजली 'ख' व्यक्ति के लिये कष्टक हो सकती है। जब किसी व्यक्ति को पता हो, या पता होने के साधन हों कि उसके कण्ट्रोल के अधीन के परिसर उसके पड़ौसी के परिसरों को क्षति पहुंचाने की सम्भावना रखते हैं, और वह क्षति की इस सम्भावना को रोकने का प्रयत्न नहीं करता, तो वह व्यक्ति 'कष्टक' के अपकार का दोषी माना जाता है। अतिचार तो प्रथम दृष्टि ही कार्यवाही योग्य होता है, परन्तु 'कष्टक' क्षति की सिद्धि पर ही कार्यवाही योग्य बनता है। कुछ सीमा तक कष्टक का अपकार 'सुखभोग' (ईज़मेंट) के अधिकार का प्रतिकूल है।

इसलिये 'सुखभोग' का उल्लेख भी आवश्यक है। 'सुखभोग' में दो अलग सम्पत्तियां होती हैं, एक अधिभावी (सर्वियेंट), और दूसरी अधिसेवी (सर्वियैंट)। अधिभावी का अभिप्राय है सुख का भोग करने वाली, और अधिसेवी का अर्थ है सुख का भोग देने वाली। यदि 'क' व्यक्ति की ज़मीन में से 'ख' व्यक्ति के घर को रास्ता जाता है, और उस रास्ते के अलावा कोई दूसरा रास्ता न हो, तो 'क' व्यक्ति को अपनी ज़मीन में से रास्ता मुफ्त देना पड़ेगा। यही 'ख' व्यक्ति का सुखभोग है; 'ख' अधिभावी है, और 'क' अधिसेवी। 'सुखभोग' अधिभावी सम्पत्ति के लाभार्थ होता है, इससे अधिसेवी स्वामी के हित में कोई अधिकार उत्पन्न नहीं होता और यह अधिकार एक अंश के रूप में होता है, अर्थात् अधिसेवी की सम्पत्ति का सारा अधिकार अधिभावी के नाम नहीं हो जाता है। यह अधिकार सम्पत्ति के साथ जाता है, अर्थात् यदि अधिभावी स्वामी अपनी सम्पत्ति को बेच दे, तो खरीदने वाला उस सुखभोग का अधिकारी होगा, जो सुखभोग पहला अधिभावी भुक्तता था।

सुखभोग का अधिकार एक अपूर्ण और अविकसित अधिकार है; अर्थात् यह अधिकार वास्तविक रूप में भोग की वस्तु है, अतः यह अभिग्रहीत अधिकार (एक्वायर्ड राइट) है। इस अधिकार का सम्बन्ध अचल सम्पत्ति के उचित प्रयोग से है, और अधिकांशतः यह अधिकार रास्ता, प्रकाश, हवा, सम्बल, पानी की नाली आदि आवश्यक बातों के लिए होता है। इस सुखभोग की बाधा कुछ सीमा तक 'कष्टक' कहलाता है।

अतिचार, सम्परिवर्तन, कष्टक और सुखभोग का सम्बन्ध सम्पत्ति से है। सम्पत्ति का अर्थ विस्तृत है। विशाल

अर्थों में सम्पत्ति में व्यक्ति का अपना जीवन और शरीर उसके दाम्पत्तिक सम्बन्ध, उसकी दौलत और उसकी आजीविका के साधन शामिल हैं। विधिक अर्थों में सम्पत्ति में स्वामित्व वाले अधिकार शामिल हैं वैयक्तिक अधिकार शामिल नहीं हैं। स्वामित्व के अधिकार दो प्रकार के होते हैं, दृश्यमान वस्तुओं के प्रति और अदृश्यमान चीज़ों के प्रति। दृश्यमान में अचल भूमि आदि और अदृश्यमान में कापीराइट, पेटेंट और कमर्शल गुडविल आदि शामिल हैं। 'सुखभोग' के अधिकार से उत्पन्न अधिसेविता और सुविधाभार आदि के लाभों को भी सम्पत्ति माना जाता है, उनके विचलन को सम्पत्ति का विचलन समझा जाता है।

व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति से सम्बन्धित अपकारों की चर्चा के पश्चात् 'व्यक्ति' की धारणा के विषय में कुछ कहना युक्तिसंगत होगा। विधिक प्रयोजनों के लिये व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं, नैसर्गिक और विधिक। नैसर्गिक व्यक्तियों में आम मनुष्य तथा गर्भस्थ बच्चे सम्मिलित हैं, और कुछ सीमा तक मृत व्यक्ति के शरीर को भी विधिक व्यक्ति माना जाता है। विधिक व्यक्ति वह होता है जिसे विधिक अधिकार और विधिक कर्तव्यों के गुण दिटे जा सकें। मृत व्यक्ति का भी यह विधिक अधिकार होता है कि उसके मृत शरीर का यथेष्ट अन्तिम संस्कार किया जाए, इसी तरह मृत व्यक्ति के प्रति अपलेख भी कुछ स्थितियों में दण्डनीय होता है। मृत व्यक्ति की वसीयत अन्य जीवित व्यक्तियों के अधिकारों को प्रभावित करती रहती है। जहां तक गर्भस्थ बच्चे का प्रश्न है, गर्भस्थ बच्चे का अधिकार है कि (जब वह गर्भ में है तो) उसकी जननी के गर्भ को क्षति न पहुंचाई जाए। सामान्य विधि में पिता की मृत्यु के पश्चात् पैदा हुए बच्चे को यह भी विधिक अधिकार है कि वह घातक दुर्घटना में हुई पिता की मृत्यु के दोषी व्यक्ति से मावज़े क्लेम कर सके। हिन्दु विधि में गर्भस्थ होने के समय से ही बच्चा अपने संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में अपने हिस्से का हक़दार हो जाता है। गर्भस्थ बच्चे को वसीयत का लाभ भी दिया जाता है। गर्भवती स्त्री का मृत्यु दण्ड तब तक के लिये स्थगित कर दिया जाता है जब तक कि वह बच्चे को जन्म न दे दे। यदि बच्चा जन्म के समय तो जीवित हो, परन्तु शीघ्र ही गर्भ में उसे पहुंची क्षति के कारण वह मर जाए, तो अप्रेशन आदि करते समय क्षति पहुंचाने वाले व्यक्ति पर कत्ल के अपराध का दोष लगाया जाता है परन्तु यदि वह गर्भ में ही मर जाए तो ऐसा दोष नहीं लगता।

'विधिक व्यक्ति' की धारणा के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त हैं, कल्पना

सिद्धान्त (फिक्शन थ्यूरी), यथार्थवादी सिद्धान्त और रिआयती सिद्धान्त। कल्पना सिद्धान्त का प्रवर्त्तन विधि शास्त्री सेविनी ने किया था, उसका विचार है कि ग्रुपों या संस्थाओं को व्यक्तित्व कोरी विधि कल्पना द्वारा ही दिया जाता है। इंगलिश विचारक सामण्ड ने भी इसी सिद्धान्त को अपनाया है। पोलक और ब्राऊन आदि विचारक यथार्थवादी सिद्धान्त को मानते हैं, उनका कहना है कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के अनुसार ग्रुप-मन ग्रुप के व्यक्तियों के समूह-मनों से भिन्न होता है। यह ग्रुप-मन ही ग्रुप और संस्थाओं को उनके सदस्यों से भिन्न और अलग व्यक्तित्व प्रदान करता है। विधि तो ग्रुप-मन के अस्तित्व को केवल स्वीकारती है। तीसरा सिद्धान्त यह है कि ग्रुपों या संस्थाओं को अधिराट रिआयत देकर ही विधिक व्यक्तित्व प्रदान करता है। इन तीनों सिद्धान्तों के समन्वय में ही वास्तविकता है।

विधिक व्यक्तित्व तीन प्रकार के हैं निगम (कार्पोरेशन), संस्था (इन्स्टीचूयूशन) और विधि या सम्पदा (फण्ड और इस्टेट) इनमें एस् निगम अधिक महत्त्वपूर्ण है, निगम तीन तरह से अस्तित्व में आती है, सक्षम अधिकारी को प्राथना-पत्र देकर, विधान सभा में अधिनियम बना कर, और चिरभोग (प्रैसक्रिप्शन) से। इसका समापन भी तीन प्रकार से होता है, न्यायिक कार्यवाही के परिणाम स्वरूप, चार्टर की ज़ब्ती पर, और अपने निगमीय विशेषाधिकारों को छोड़ कर। निगम की क्षमता भी इसके जनक दस्तावेज द्वारा सीमित होती है।

निगम अपने कर्मचारियों के टार्टों अपकारों के लिये उत्तरदायी होता है, इस लिये नहीं कि उसने अपने कर्मचारियों को अपकार करने के लिये प्राधिकृत किया बल्कि इस लिये कि उसने गलत और घटिया किस्म के कर्मचारी नियुक्त किए। आपराधिक अपकारों के लिये निगम को उत्तरदायी ठहराया जाता है, परन्तु ऐसी अवस्था में अधिकांश जुर्माना ही किया जाता है।

निगम का विशेष प्रयोजन तो वाणिज्यिक होता है, निगम में सदस्यों का उत्तरदायित्व उनके हिस्सों तक सीमित होता है, परन्तु फर्म में हिस्सेदार अन्तिम अवस्था तक उत्तरदायी होते हैं, उनकी असीमित ज़िम्मेदारी वाणिज्य विकास को पूरा उत्साह नहीं दे सकती। निगम-प्रणाली ट्रस्ट-प्रणाली से भी बढ़िया है क्योंकि इस में कार्यकुशलता अधिक जुटाई जा सकती है, और विधिक पैचीदगियां कम होती हैं। निगम एक विधिक उपकरण है जिससे आधुनिक समाज के कई उद्देश्य सिद्ध किए जाते हैं।

(ख)

राज काज में हिन्दी के प्रचलन की एक समस्या है इसका सुलझाव दो दिशाओं

से सम्भव है । एक तो यह कि विभिन्न अधिनियमों, नियमों और फ़ार्मों आदि का अनुवाद हिन्दी में सुलभ किया जाए, और दूसरा यह कि हिन्दी में स्वतंत्र विधिक साहित्य उत्पन्न किया जाए । विधिक साहित्य हिन्दी में पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उनमें से पंचायत और ब्लाक समिति स्तर के काम आनेवाले छोटे-छोटे पैम्फलेट तैयार किये जाएं जो कि सरल हिन्दी में प्रकाशित हों, ये पैम्फलेट पंचायत स्तर पर प्रौढ़ शिक्षा के रूप में लोगों को विधि का परिचय करवायेंगे । यह कार्यक्रम आजकल इसलिये अधिक ज़रूरी है क्योंकि द्रुतगामी विधान से प्राचीन व्यवहार (कस्टम) को बहुत हद तक बदल दिया है । श्रुति-स्मृति व्यवहार की शिक्षा ग्राम-पुरोहित अपने यजमानों को देते रहते थे, परन्तु इस नए विधान की शिक्षा राज को किसी अपनी संस्था के माध्यम से देनी होगी । इसके लिये ज़िला स्तर की **विधि-अधिकारी की संस्था** क़ायम करनी हितकारक होगी । यह संस्था प्राचीन पुरोहित की भांति आधुनिक विकासमान विधि को जनपदों में लोकप्रिय बनाएगी ।

छः बन्धु

सत्य माता पिता ज्ञानं, धर्मो भ्राता, स्वसा ।
शान्तिः पत्नी, क्षमा पुत्रः, षडे ते मम बांधवाः।।

सत्य मेरी माता है, ज्ञान पिता, धर्म भ्राता है, शांति पत्नी है और क्षमा पुत्र है--ये मेरे छः बन्न्धु हैं ।

--चाणक्य नीति

काश्मीर के महान् संतकवि कृष्णराज़दान और उनका काव्य

जवाहरलाल हण्डू

महाकवि कृष्णराज़दान काश्मीर के उन संत कवियों में से हैं, जिन्होंने भारतीय भक्ति-आन्दोलन के तज एवं प्रकाश से न सिर्फ अपनी रचनाओं द्वारा जनमन में भक्ति का संचार किया अपितु काश्मीर में भक्ति आन्दोलन-परम्परा की टूटी शृंखलाओं को पुनः जोड़ने तथा अपनी समन्वित दृष्टि द्वारा निर्गुण-सगुन की भयानक खाई पाटने से साहित्यिक परम्पराओं को एक नई दिशा प्रदान की। कृष्णराज़दान का जन्म २० नवम्बर १८५१ वनपोह (कुलगाम) के एक सम्पन्न घराने में हुआ था। उनके पिता श्री गणेशपंडितराज़दान, तत्कालीन काश्मीर नरेश महाराजा गुलाबसिंह के विशेष जागीरदारों में से थे। कृष्णराज़-दान की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा गांव के विद्वान पंडितों द्वारा हुई; जिन्होंने संस्कृत फ़ारसी एवं ज्योतिष-विद्या का आरम्भिक पाठ पढ़ा कर उनमें बचपन से ही साहित्यिक जागरूकता एवं धर्म के प्रति निष्ठा उत्पन्न की राज़दानसाहब का विवाह तत्कालीन कुप्रथा के अनुसार बहुत ही छोटी उम्र में सम्पन्न हुआ, और बीस वर्ष की आयु पूर्ण करने से पहले ही अकस्मात उनके पिता का निधन हुआ। परिणामतः घर-गृहस्थी तथा जागीरदारी का सारा भार उनके कोमल कन्धों पर आ गिरा। यही उनके जीवन का सब से भयानक मोड़ था; जहां एक ओर सांसारिक वैभव तथा एश्वर्य और दूसरी ओर कर्त्तव्य एवं साहित्य-निष्ठा का संघर्ष चलता रहा। संभवतः जीवन के इसी कठिन स्थल पर उनके समन्वित दृष्टिकोण का पहला सफल प्रयोग हुआ था। फलत कर्म से विमुख न होकर कर्त्तव्य, धर्म एवं साहित्य साधना में ही उन्होंने जीवन के संतुलन एवं सफलता को स्वीकार किया। वह स्वयं कहते हैं- "मेरे" कृष्णनाम की सार्थकता व्यवहार-कुशलता "एवं दुनियादारी में ही है।[1]"

---

१. "कष्णानाव व्योमुत चे़ दुनियादा र छुय।"
सारनीहुन्द हयु च्येति व्यवहार हुय॥

व्यावहारिक जीवन में उनका यह सम-न्वित दृष्टिकोण साहित्य-साधना एवं गार्हस्थ्य जीवन, दोनों का पथप्रदर्शन करता रहा। उन्होंने वेदान्त, दर्शन एवं नीति शास्त्र का अध्ययन किया और अपनी कला में निखार गूढ़ता एवं परिपक्कवता लाकर उसे चरमोत्कर्ष पर पहुंचाने में सफलता भी प्राप्त की।

कृष्णराज़दान की साहित्य-साधना का एक मात्र लक्ष्य अध्यात्म-प्रेम था। वह एक आध्यात्मवादी-भक्त-कलाकार थे। "मुक्ति" के लिये जहां वह "साधना" को श्रेय देते हैं, वहां "भक्ति" को इसका द्वारा समझते हैं। उनकी रचनाएं, एक प्रकार से, उनके पूर्ववर्ती तथा समकालीन फारसीशैली के इंगितों गर चलने वाले कलाकारों के लिये एक चुनौती थीं, एक विद्रोह था। सामान्यत: १९वीं शताब्दी के मध्य में ही काश्मीर पाश्चात्य सभ्यता के दुष्प्रभावों से ग्रस्त होने लगा था। सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्पराओं के खण्डन के अतिरिक्त राजनीतिक परि-स्थितियां भी अशान्त एवं निराशाप्रद थीं। काश्मीर बेचा गया था। अंग्रेज़ों ने इसे केवल ७५ लाख रुपये में नीलाम किया था। राज्य की भाषा फ़ारसी घोषित हो चुकी थी। साहित्य प्राचीन भारतीय परम्पराओं से विमुख होता जा रहा था। फ़ारसी भाषा के अतिरिक्त फ़ारसी शैली और परम्परा का आश्रय लेकर अधिकांश साहित्य सृजन होने लगा था। साहित्य मात्र शृंगार एवं कलाप्रदर्शन की वस्तु बनी थी। वस्तुत: जीवन के सभी पक्षों पर निराशा की अमिट छाप अंकित हो चुकी थी। ऐसी परिस्थि-तियों में कृष्णराज़दान ने भक्ति का आश्रय लेकर टूटी हुई परम्पराओं को जोड़ा और काश्मीरी साहित्य में पुन: नये प्राणों का संचार किया। उन्होंने जीवन भर काश्मीरी साहित्य को विदेशी प्रभावों से मुक्त रखने के प्रयत्न किये और अंतिम सांस तक साहित्य एवं धर्म के पुनरुत्थान में संलग्न रहे। ७६ वर्ष की आयु में अक्तूबर १९२७ में उनका देहान्त हुआ।

× × ×

कृष्णराज़दान के समग्र साहित्य पर सम्यक् दृष्टिपात करने से यह स्पष्टत: ज्ञात होता है कि वह मूलत: एक समन्वय-वादी साहित्यकार थे। उनके पास दोनों, सगुण एवं निर्गुण चिन्तन पद्धतियों की विशिष्ट परम्परायें थीं, परन्तु इनमें से किसी एक को साहित्य एवं आत्माभि-व्यक्ति के लिये प्रधान न मान कर, उन्होंने सूर एवं तुलसी की भांति दोनों के समन्वय में ही भक्ति एवं साहित्य-साधना की सफलता घोषित की। शिव तथा केशव उनके लिये एक हैं। उनकी उपासना

एक समान है ।१ वह दोनों को एक ही रूप में देखते हैं। उनके लिये शिव ही केशव है और केशव शिव, जैसे मक्खन का ही दूसरा नाम घी है ।२ यह सत्य है कि काश्मीर में शैवमत के अत्यधिक प्रचार के कारण सगुण भक्ति का उतना तीव्र प्रभाव नहीं रहा, जितना भारत के अन्य प्रदेशों में । अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र एवं अन्य दार्शनिकों एवं साहित्यकारों ने अपने कृत्यत्व द्वारा शैवमत को इतनी विशिष्टता एवं गौरव प्रदान किया कि इसकी जीवन्त परम्पराओं का सुविधानुकूल खण्डन करके वैष्णवभक्ति का प्रचार करना अत्यन्त कठिन था । यही कारण है कि आरम्भ में कृष्णराज़दान जैसे प्रबुद्ध कवि भी इन परम्पराओं का उल्लंघन न करके निर्गुण सम्प्रदाय से प्रभावित रहस्यमयी कविता में रमे थे । वस्तुतः शैवमत की सशक्तता और वैष्णव भक्ति के माधुर्य को कृष्णराज़दान के समन्वयबोध का प्रेरणास्रोत कहा जा सकता है ।

जिस प्रकार सूर का मन कृष्ण के लोकरंजक रूप में ही अधिक रमा था; ठीक उसी प्रकार कृष्णराज़दान कृष्ण के बाल्य-स्वरूप एवं विविध क्रीड़ा क्रियाओं पर मुग्ध थे । श्री कृष्ण के सम्बन्ध में उनकी सर्वोच्च कल्पना परमब्रह्म की है। वह ब्रह्म, अद्वैत, अज, निर्गुण, सनातन तथा अन्तर्यामी है। उसी में कवि का मन है, तन है ।३ उसी की प्रतीक्षा वह एक विरहणी गोपी के समान करते हैं । उसी के वंशीनाद से वह हर्षित हो उठता है।४ वही युग-स्वामी है, भोग उसके लिये केवल एक बहाना है ।५ वह निराकार है, परन्तु सारा त्रिभुवन उसी का रूप है। और इसी विश्वरूप में वह सर्वाकार रूप में भी प्रकट होता है ।६

कृष्णराज़दान की सगुण भक्ति दास्य एवं सखा भाव से ओत-प्रोत है। वह कबीर की भांति हठयोग के समर्थक न

१. "शिव तश्र कीशव कुतुय व्यय चोरूम ।"

२. "शिवय छु कीशव्य छु शिवय ।
थअन्य आस अदप्योस ग्यवय नाव ॥"

३. "मन गव हप्थमनमोहन नाथ ॥"

४. "मोरली शब्दाह असिति गव कनन ।
वनन छि राधाकृष्ण आव ॥"

५. "युगुक छु स्वामी भूगुक छु हीथ ।"

६. "निराकार सुन्द रूप त्रिभुवन गव ।
सर्वाकारनहोव विश्वयरूप ॥"

थे। कृष्ण के [illegible] रस और रास में ही उनके लिये परमब्रह्म से साक्षात्कार का सत्य निहित है। किन्तु सगुण का रस-रास पूर्ण वर्णन कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, मूलतः रहस्यव्यंजक ही होता है। अतः इस दृष्टि से कृष्णराज़दान की 'डललीला' रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'डललीला' में उनके "जीव", "जगत" तथा "ब्रह्म" सम्बन्धी रहस्यपूर्ण विचार स्वतः स्पष्ट हुए हैं। माया के बंधनों तथा जटिलताओं को वह अस्वीकार नहीं करते। परन्तु उससे दूर भागना कायरता है। जिस प्रकार कमल का पत्ता पानी में रह कर भी इससे निर्लेप है१ ठीक उसी प्रकार माया में रह कर ही माया से निर्लिप्त रहना कृष्ण-राज़दान के चिन्तन का सार है। वासना एवं लोभ के भय से कृष्णराज़दान अनभिज्ञ न थे। वासना उछलती मछली के समान है और लोभ भयंकर आंधी। इन दोनों के दमन में ही मुक्ति का मार्ग निहित है।२

महाकवि कृष्णराज़दान एक अनुभवी कलाकार थे। वह संसार की कटुता को विष की तरह पी चुके थे। वह संसार को एक असीम अथाह, न तरने वाला क्रूर महासागर मानते हैं। जो भड़कते शोलों और दहकते बारूद से भी अधिक क्रूर है। इससे केवल शिव ही मुक्ति दिला सकता है।३ वही सत् चित और आनन्द का अमृत पिला कर इस अंधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर कर सकता है।४

यहां इस बात का उल्लेख अनावश्यक न होगा के कृष्णराज़दान ने 'डललीला' में अपने दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिये डल (झील) के विभिन्न तत्त्वों को उपमा के रूप में ग्रहण किया है। जिसे यथार्थ में एक अत्यन्त प्रौढ़ एवं विशिष्ठ काव्य-प्रयोग कहा जा सकता है। 'डल-लीला' के कतिपय 'भजन' कवि की दोहरी अभिव्यक्ति-शैली के ज्वलंत तथा सजीव उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा

---

१. "सम्सारस मन्ज़ रोज़ निर्मल, वुछतह ख्यलवथरस लारिमाज़ल।
पअनिसय मंज़ आसिथ आव-आव ॥"

२. "वासनायि गाड़ लूभ वोटअ मो दाव।
फटनिकअ खोफ़अ गाल वासनायें वाव।।"

३. "ज़्यूठ सदराह छु क्रूठ सम्सार। छुसम बोठ न छुस तार।
अथमंज़ कोछि. क्येथ ये खार। ओहं कनि छुम दज़वुन नार।
पतअकनि शोरअ अम्भार। आरयीतनय शम्भू ॥"

४. "सत-चित-आनन्द अहत चावतम।
सतगोर हावतम घटिमन्ज़ गाश ॥"

सकते हैं। जिनमें दार्शनिक विचारों की अभिव्यंजना के साथ-साथ सूक्ष्म प्रकृति-चित्रण की कलात्मक शैली समानान्तर रूप में प्रवाहमान है। उदाहरण के लिये एक भजन में वह कहते हैं –"मैं ने इस संसार रूपी सर को पहचाना। यह इसी में उगे एक बें (कमल की डंडी) के समान है, जो भीतर से खोखला, मैला है परन्तु बाहर से सुन्दर एवं आकर्षक लगता है। अतः यहां विचलित अथवा पथ-भ्रष्ट न होकर अन्तरात्मा के कमलों (जो इसी सर की उपज हैं।) को सूंघना ही उच्चतर है।१" स्पष्ट है कि कवि प्रकृति के उन्हीं उपकरणों को उपमा के रूप में ग्रहण करते हैं जो सामान्यतः गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक विचारों की अभिव्यंजना करने में समर्थ हैं।

कृष्णराजदान के काव्य का सार कृष्ण-लीला है। संभवतः लीला सम्प्रदाय का कोई भी काश्मीरी कवि साहित्य की उन ऊंचाइयों को छू नहीं सका है, जिन्हें कृष्णराजदान ने कृष्ण के बाल्य एवं विविध क्रीड़ाओं का वर्णन करने से प्राप्त भी किया है। कृष्ण का गुणगान उनके जीवन का सार था। वह स्वयं रास खेलते थे और अपनें इष्टदेव के ध्यान में लीन सुधबुध खो बैठते और श्रोताओं को भी रस विभोर कर लेते। उनकी कई रचनाओं में कृष्ण का बाल्यवर्णन सूरसागर से भी अधिक सजीव एवं मर्मस्पर्शी हो उठा है। कभी वह जसुदा की भांति नटखट कन्हैया को अपने मन रूपी पालने में झुलाते हैं, और उसी के नाम एवं रूप पर निछावर होते हैं।२ कभी विरहिणी राधा की तरह व्याकुल होकर श्याम की प्रतीक्षा करते हैं।३ और कभी केशव के ध्यान में लीन नीजीतत्व भूल कर, उसकी क्रीड़ाओं में ही अपनी भक्ति को सफल समझते हैं।४

पंडित कृष्णराजदान कवि ही नहीं वरन् एक स्वस्थ दार्शनिक भी थे। उनका दर्शन आध्यात्मवाद की दृढ़ नीव पर अवलंबित है। उनके कृत्यत्व से सांस्कृतिक अंतः चेतना, समन्वय-दृष्टि, आशा एवं आस्था का अमर संदेश प्राप्त होता है। उनका व्यापक दृष्टिकोण ही उनकी महानता का परिचायक है। वह साम्प्रदायिकता की कृत्रिमता एवं संकुचितता से मुक्त थे। सभी धर्मों के प्रति उनकी दृष्टि सम्मान एवं आदर की रही है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में जहां शंकर के अद्वैतवाद व्यंजित हुआ है, वहां

१. "सर करूम यि संसार नदरूय द्राव। डलमहोश च्येतकी पम्पोश छाव॥"

२. "वालनावस ल्गायो बो। मन मंज़लिस मंज करय हो हो॥"

३. "वाल कृष्णनस छंस बो प्राराण। छाल्ह मारानय यीना॥"

४. "असनस तम्र गिन्दनस मंज़ मशित पानगव।
ध्यानगव स्यद। मनप्राण गवलीन॥"

वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद भी गुंफित हुआ है। जहां बौद्धधर्म का पुनर्जन्मवाद गुंफित हुआ है, वहां गीता का कर्मवाद भी मुखरित हुआ है। वस्तुतः वह समन्वयवादी दार्शनिक कलाकार थे कर्मवाद का प्रभाव उनकी रचनाओं पर विशेष रूप से देखा जा सकता है। उनके अनुसार मुक्ति संसार में चक्की की गति की भांति आने-जाने में ही सन्निहित है।१ कृष्णराज़दान की भक्ति निष्काम थी वह प्रखर समन्वयवादी कलाकार थे और सहज मार्ग के निर्माता भी।

महाकवि कृष्णराज़दान काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध थे। वह इस भूस्वर्ग को तीर्थराज कहते हैं।२ उनकी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य अत्यन्त सजीव एवं कलात्मकता से चित्रित हुआ है जिसे देख कर सहज ही उनके तीक्ष्ण सौन्दर्य बोध का परिचय मिलता है। उनकी पैनी दृष्टि विस्तृत जगत की रंगस्थली से असंख्य सुन्दर पदार्थ ढूंढ लेती है, किन्तु उनका सौन्दर्य मात्र कृष्ण के सम्बन्ध से सार्थक होता है। प्रकृति चाहे उपमान बन कर आये, चाहे चित्रों की पृष्ठभूमि के निर्माण में उसका उपयोग हो, उसका अवलोकन राज़दान साहब कृष्ण-प्रेम से रंजित दृष्टि द्वारा ही कर लेते हैं। प्रभात इसलिये सुन्दर है कि इस बेला में श्रीकृष्ण जागते हैं; प्रभात में विकसित होते हुए कमल श्री कृष्ण के अर्धोन्मीलित नेत्रों का सुखद स्मरण दिलाते हैं, कलरव करते हुए खगवृन्द कृष्ण की विरूदावली-सी गाते हुए जान पड़ते हैं। विकसित कमलों पर मंडराते, गुंजायमान भ्रमर, कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त उनका गुणगान करने वाले सेवकों–जैसे लगते हैं। जिस प्रकार अरुण उदय से अंधकार हरता है, उसी प्रकार कृष्ण के जागने से समस्त दुख दैन्य, द्वन्द्व भ्रम, मत्सर-मद दूर हो जाते हैं और चारों ओर आनन्द का प्रकाश फैल जाता है। कृष्णराज़दान के काव्य में प्रकृति के उग्र एवं रम्य दोनों रूपों के चित्रण से प्रकृति चित्रण का अद्वितीय सामञ्जस्य स्थापित हुआ है। उनकी रचनाओं में जहां कोयल की कूक है; पोशनूल की सुरीली तान है; मुस्कुराती, खिलती कलियों की मीठी चिकन है, वहां शेर का गर्जन भी है, क्रुद्ध समुद्र का रोर भी है और दावाग्नि धधकते वन का क्रन्दन भी है।

भाव और विषय के अनुकूल ही कृष्णराज़दान की भाषा एवं शैली भी समन्वय एवं सामन्जस्य का परिचय देती हैं। वर्ण्य-विषय के अनुकूल विविध शैली

१. "संसारस छुयुन अटअ अनवारे।
प्रालब्ध फल ज़न खारे मन्ज़ ॥"
२. "सारनी तीर्थनहुन्द फल छु कश्मीरस।"

के प्रयोग एवं सशक्त शब्दचयन से उन्होंने काश्मीरी भाषा को न केवल अनुप्राणित ही बल्कि गौरवान्वित भी किया है। आंचलिक शब्दावली का जितना अधिक प्रयोग कृष्णराज़दान ने सहर्ष अपनी रचनाओं में किया है, उतना संभवतः कोई भी काश्मीरी कवि नहीं कर पाया है। इतना ही नहीं उनके काव्य में संगीत की स्वर लहरी भी झंकृत हुई है। संभवतः इसी कारण काश्मीरी लोकगीतों में जितना प्रभाव कृष्णराज़दान के काव्य प्रयोगों का खोजा जा सकता है उतना किसी अन्य कवि का नहीं। उनकी रचनाओं में जहां संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में हुआ है, वहां वह फ़ारसी तथा उर्दू के शब्दों को यथोचित स्थान देने से झिझकते नहीं। पंडित कृष्णराज़दान का महत्व केवल कवि की हैसियत से नहीं वरन् एक कुशल भाषा-वैज्ञानिक एवं संगीत के रूप में भी है। वह निस्सन्देह बहुमुखी प्रतिभाशील कलाकार थे।

महाकवि कृष्णराज़दान की ३४७ 'भजन" एवं "लीलाएं" उपलब्ध हैं जिनकी तीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियां श्रीनगर में मौजूद हैं। खेद की बात है कि आजतक इस ग्रन्थ को पूर्ण रूप से प्रकाशित करके पाठकों के सामने नहीं लाया गया। कुछ वर्ष पूर्व महाकवि के भतीजे स्वर्गीय हरिहर कल्याण ने उनके कुछ भजन तथा लीलाएं, "शिव लगन" तथा "हरिहर कल्याण" शीर्षकों से प्रकाशित कराके एक सफल प्रयास किया था। परन्तु जब तक कृष्णराज़दान का समग्र साहित्य प्रकाश में नहीं आता, तब तक इस महान् कवि का मूल्यांकन करना कठिन ही नहीं असंभव भी है।

सफल जीवन

जहां आदर्श ज्वलंत रहे हृदय अडिग रहे, वहां असफलता नहीं हो सकती। सच्ची सफलता तो सिद्धांतों के त्याग में, अपने अधिकार को जाने देने में और अन्याय के वशीभूत होने में है। विरोधियों के किए हुए घावों की अपेक्षा अपने किए घावों को भरने में देर लगती है।

गीता में 'अर्जुन' के विशिष्ट नामों की सार्थकता

मदन लाल वर्मा

श्रीमद्भगवद्गीता सभी उपनिषदों,वेदों, पुराणों, स्मृतियों एवं शास्त्रों की सारभूत पावन धर्मपुस्तक मानी जाती है। इसकी सरल कोमल कान्त पदावली जिज्ञासु पाठक के लिये शीघ्र ही अर्थज्ञान कराने का सामर्थ्य रखती है। परन्तु इसका रहस्य आजीवन यत्न करने पर भी नहीं जाना जा सकता। इसका प्रतिपाद्य है–ज्ञानयोग तथा कर्मयोग।

ज्ञानयोग का तात्विक दृष्टि से भाव यह है कि उत्पन्न हुई सभी वस्तुएं नश्वर हैं, उनके लिये मानव को अहंकार नहीं करना चाहिए। कर्मयोग की सारग्राहिणी संक्षिप्त वार्ता यह है,कि सब कुछ भगवान् का समझ कर कर्मों का आचरण करना चाहिए। इन्हीं दो प्रमुख बातों का विस्तार से विवेचन गीता में श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में हुआ है।

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है। इसका प्रत्येक स्थल पर विशिष्ट प्रयोजन परिलक्षित होता है। सारी पुस्तक में 'अर्जुन उवाच,' में आए नामों को छोड़ कर श्लोकों में कम से कम एक सौ पचहत्तर (१७५) बार अर्जुन के नाम आए हैं। अध्यायों और श्लोकों के अनुसार इनका क्रम यह है :—

प्रथम अध्याय में नौ बार, श्लोक संख्या :—४, १४, १५, २०, २४, २५, २६, २७, ४७।

द्वितीय अध्याय में चौबीस बार, श्लोक संख्या :—२, ३, ३, ९, १४, १४, १५, १८,२१, २६, २८, ३०,३२, ३७, ३९, ४१, ४२, ४५, ४८, ४९, ५५, ६० ६८, ७२।

तृतीय अध्याय में दस बार, श्लोक संख्या :—३, ७, ९, १६, २२, २३, २५, २८, ४१, ४३।

चतुर्थ अध्याय में तेरह बार, श्लोक संख्या:—२, ५, ५, ७, ९, ११, ३१, ३३, ३३, ३५, ३७, ४१, ४२।

पंचम अध्याय में तीन बार, श्लोक संख्या :—३, ६, २२।

षष्ठ अध्याय में नौ बार, श्लोक संख्या २, १६, ३२, ३५, ३५, ४०, ४० ,४३, ४६।

सप्तम अध्याय में ग्यारह बार, श्लोक संख्या :—१, ५, ७, ८, १०, ११, १६, १६, २६, २७, २७।

अष्टम अध्याय में दस बार, श्लोक संख्या :—६, ८, १४, १६, १६, १९, २२, २३, २७, २७।

नवम अध्याय में दस बार, श्लोक संख्या :—३, ७, ९, १०, १३, १९, २३ २७, ३१, ३२।

दशम अध्याय में आठ बार, श्लोक संख्या :—१, १९, २०, ३२, ३७, ३९, ४०, ४२।

एकादश अध्याय में तेरह बार, श्लोक संख्या :—५, ६, ७, ९, १३, १४, ३३, ३५, ४७, ४८, ५०, ५४, ५४।

द्वादश अध्याय में दो बार, श्लोक संख्या :—७, ९।

त्रयोदश अध्याय में पांच बार, श्लोक संख्या :—१, २, २६, ३१, ३३।

चतुर्दश अध्याय में ग्यारह बार, श्लोक संख्या :—३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, १२, १३, २२।

पंचदश अध्याय में तीन बार, श्लोक-संख्या :—१९, २०, २०

षोडश अध्याय में छः बार, श्लोक संख्या :—३, ४, ५, ६, २०, २२।

सप्तदश अध्याय में चार बार, श्लोक संख्या :—३, १२, २६, २८।

अष्टादश अध्याय में चौबीस बार, श्लोक संख्या :—४, ६, ९, १३, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३४, ३६, ४१, ४८, ५०, ६०, ६१, ६२, ७२, ७२, ७४, ७६, ७८, ७८।

इन नामों में एक ही नाम का कई बार प्रयोग भी है। इसलिये इनमें आवृत्ति है; परन्तु पृथक्ता लिये हुए विभिन्न नामों की संख्या कुल तेईस (२३) है। ये तेईस नाम इस प्रकार हैं :—

अर्जुन, पाण्डव, धनञ्जय, कपिध्वज, गुडाकेश, पार्थ, कौन्तेय, परंतप, भारत, पुरुषर्षभ , महाबाहु, कुरुनन्दन, अनघ, भरतर्षभ, कुरुसत्तम, तात, कुरुश्रेष्ठ, सव्यसाची, किरीटी, कुरुप्रवीर, भरतश्रेष्ठ, भरतसत्तम, धनुर्धर ।

कुछ विशिष्ट नामों की व्युत्पत्ति और अर्थ श्री शंकराचार्य के अनुसार इस प्रकार है :—

तात :—'तनोति आत्मानं पुत्र रूपेण इति पिता तात उच्यते, पिता एवं पुत्र इति पुत्रः अपि तात उच्यते, शिष्य : अपि पुत्र उच्यते ।'

इसका अर्थ है—पिता पुत्र रूप से आत्मा का विस्तार करता है, अतः उसको तात कहते हैं तथा पिता ही पुत्र रूप से उत्पण्न होता है, अत : पुत्र को भी 'तात' कहते हैं। शिष्य भी पुत्र के तुल्य है, इसलिये उसको भी 'तात' कहते हैं ।"

सव्यसाची :— सव्येन वामेन अपि हस्तेन शराणां क्षेपात् सव्यसाची इति उच्यते अर्जुनः" अर्थात् बाएँ हाथ से भी वाण चलाने का अभ्यास होने के कारण अर्जुन 'सव्यसाची' कहलाता है ।

गुडाकेश :—'निद्राजित्' निद्रा को जीतने वाला ।

पार्थ :—'पृथापुत्रः' पृथा का पुत्र ।

कौन्तेय :–'कुन्तीपुत्रः' कुन्ती का पुत्र ।

परंतप :—'शत्रु-तापन' ।

अनघ: —'निष्पाप' ।

कुरुसत्तम: —'कुरु श्रेष्ठ' ।

उक्त नामों की सार्थकता प्रसंगानुकूल ग्राह्य है । इन नामों का प्रयोग 'गीता' में विशिष्ट स्थलों पर वैसे ही नहीं हुआ है, अपितु प्रत्येक स्थिति में उसका मुख्य हेतु प्रमाणित होता है ।

सर्वप्रथम 'तात' शब्द के प्रयोग को लीजिए । 'आत्म-संयम' योग नामक छठे अध्याय में योगभ्रष्ट पुरुष की गति के विषय और ध्यानयोगी की महिमा के प्रसंग पर अर्जुन ने कृष्ण से पूछा, कि 'भगवान् की प्राप्ति के पथ में मोहित हुआ आश्रय रहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की तरह दोनों ओर से (भगवत्प्राप्ति और सांसारिक भोगों से) भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है ? मेरे इस संशय को दूर कीजिए।"

इतनी बड़ी और गम्भीर बात का उत्तर भगवान् कृष्ण ने इन शब्दों में दिया :—

"न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति"

अर्थात् 'हे प्यारे ! कोई भी शुभ कर्म करने वाला अर्थात् भगवत् अर्थ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ।' इस बात को समझाने के लिये श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'तात' शब्द से सम्बोधित किया। यहाँ अर्जुन को पार्थ, कौन्तेय, गुडाकेश आदि अन्य नामों से भी सम्बोधित किया जा सकता था; परन्तु 'तात' शब्द में जो आत्मीयता और स्नेहभाव प्रकट होता है, वह अन्य शब्दों में नहीं अभिव्यक्त होता। बात भी ऐसी है जिसके समझाने के लिये अर्जुन को शिष्यत्व और पुत्रत्व का पद दिया जाना अनिवार्य प्रतीत होता है। यहां अर्जुन की वीरता अथवा साहस की आवश्यकता नहीं; अपितु बड़ों की उपदेशपूर्ण श्रद्धापूर्वक मान्यता को ग्रहण करने की आवश्यकता है । इसीलिये इस स्थल पर 'तात' का प्रयोग अतीव सार्थक है ।

'सव्यसाची' नाम की सार्थकता एकादश अध्याय के तेंतीसवें श्लोक में प्रकट होती है 'विश्वरूप दर्शन' योग नामक इस अध्याय में भगवान् कृष्ण ने अपने विश्वरूप का दर्शन कराकर अर्जुन से अपने प्रभाव का वर्णन किया है और उसे युद्ध के लिये प्रोत्साहित किया है। उत्साह वर्द्धन के इस प्रसंग में कृष्ण ने अर्जुन को

'सव्यसाची' कह कर पुकारा है और कहा है :—

"निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्"
अर्थात् 'तू केवल निमित्तमात्र बन जा !'

इस स्थल पर तात, अनघ, कौन्तेय आदि शब्दों का प्रयोग अनुकूल नहीं था। जिसे बाएं हाथ से भी बाण चलाने का अभ्यास होगा, वह युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के लिये केवल निमित्तमात्र ही बनेगा। इसका कारण यह है कि उसके संकेत–मात्र से शत्रु दल के पांव उखड़ जायेंगे। इतनी वीरता और पराक्रम की विशेषता के होते हुए भी भला कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो उसके सम्मुख टिक सकेगा। यदि उसका बायाँ हाथ भी तनिक सी गतिशीलता को प्राप्त करेगा, तो भी कार्यसिद्ध का लक्षण होगा। यही कारण है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'सव्यसाची' नाम से सम्बोधित करके उसकी विशिष्ट और छिपी शक्ति का स्मरण कराया तथा अप्रत्यक्ष रूप से उसके आत्मविश्वास की अभिव्यक्ति कराई। अतः यहां 'सव्यसाची' का प्रयोग सार्थक हुआ।

'गुडाकेश' शब्द के सार्थक प्रयोग का एक उदाहरण एकादश अध्याय के सातवें श्लोक में देखिये। इस अवतरण में भगवान् कृष्ण अपने 'विश्वरूप' का दर्शन अर्जुन को करा रहे हैं। जब वे अर्जुन को कहते हैं :—

"इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहगुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।"

अर्थात् 'अब तू मेरे इस शरीर में एक ही स्थान में स्थित चराचर सहित सारे जगत् को देख ले तथा और भी जो कुछ जय-पराजय आदि दृश्य जिनके लिये तू 'हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे' इस प्रकार शंका करता था, वह सब या अन्य जो कुछ यदि देखना चाहता हो, तो देख ले"–तो वहां अर्जुन को 'गुडाकेश' नाम से सम्बोधित किया गया है। जो निद्रालीन होगा, वह अपने चर्म चक्षुओं से क्या देख सकेगा ? वैसे भी निद्रालु संसारी जीव प्रत्यक्ष जगत् की किसी वस्तु को चेतनावेष्टित होकर नहीं देख सकता। 'देखले' क्रिया के लिये उन्मीलित दृगों की अनिवार्यता है। तभी तो 'निद्रा को जीतने वाले' अर्जुन के प्रति भगवान् की यह उक्ति है।

इस शब्द का वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि मोहनिद्रालीन व्यक्ति 'विराट् स्वरूप' के दर्शन कदापि नहीं कर सकता। इससे पूर्व दस अध्यायों में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन की मोहनिद्रा को पहिले दूर किया है, फिर अपनी विराट शक्ति का परिचय दिया है; अन्यथा अर्जुन में 'विश्वरूप' दर्शन का सामर्थ्य कहां था ? उक्त पंक्तियों में 'देखने' की जो चर्चा आई है, उसके लिय किसी ऐसे विशिष्ट संयमी, साहसी और जागरूक की आवश्यकता

है, जो निद्रा के वश में न होकर उसे जीत सके और ऐसा सामर्थ्यवान् अर्जुन ही था। तभी तो वह 'गुडाकेश' कहलाया। इस प्रकार 'गुडाकेश' की सार्थकता सिद्ध हुई ।

अब लीजिये 'परंतप' नाम का एक उदाहरण । अर्जुन की कायरता के विषय में श्री कृष्ण और अर्जुन का जो संवाद द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ के दस श्लोकों में चलता है, वहां भगवान् कृष्ण ने एक स्थान पर (तृतीय श्लोक में) कहा है:—

"क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।"

'हे पार्थ, कायरता मत ला, यह तुझमें शोभा नहीं पाती । हे **शत्रु-तापन** ! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को छोड़ कर युद्ध के लिये खड़ा हो ।'

इस स्थल पर "परंतप' शब्द की सार्थकता तो प्रकट होती ही है, उसके साथ-साथ 'पृथा का पुत्र' होने की विशेषता भी इसी बात में है, कि अर्जुन यदि 'पृथा' का पुत्र होकर कायरता ग्रहण करे, तो यह उसे बिल्कुल शोभा नहीं देता । 'निडर जननी का निडर पुत्र' ही होना उचित है।

'हृदय की दुर्बलता ' का परित्याग करने के लिये अर्जुन को शत्रुओं को 'तापित' करने की याद दिलाई गई है । वह वीर जो शत्रुओं को अपनी वीरता के द्वारा तापित कर सकता है, वह भला अपनी हृदय की दुर्बलता को प्रकट करेगा ? ऐसा नहीं होना चाहिए । इसीलिये तो कृष्णा ने 'अर्जुन को 'परंतप' नाम से सम्बोधित किया है यह है 'परंतप' की सार्थकता ।

'अनघ' शब्द का एक उदाहरण हमें तृतीय अध्याय के तृतीय श्लोक में मिलता है । ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग के अनुसार अनासक्त भाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरूपण करते हुए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को कहा :—

"लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।

'हे निष्पाप अर्जुन ! इस मनुष्य लोक में दो प्रकार की निष्ठास्थिति अर्थात् कर्त्तव्यतत्परता मेरे द्वारा पहले कही गई है । ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और योगियों की निष्काम कर्मयोग से ।'

इस गूढ़ स्थिति को समझने के लिये किसी निष्पाप अथवा शुद्ध पवित्रात्मा वाले व्यक्ति की आवश्यकता है पापकर्म में लिप्त रहने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क में ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग की साधना कभी स्थिर नहीं रह सकती। मन की शुद्धि इस गूढ़ तत्त्व को समझने की सब से पहली शर्त है। अर्जुन को यह बात समझाने के लिये श्रीकृष्ण ने 'निष्पाप' कह कर पुकारा। 'पुण्यात्मा' अर्जुन ने इस बात का रहस्य तभी तो जाना। 'अनघ'

नाम की सार्थकता और सोद्देश्यता इससे बढ़ कर और क्या हो सकती है ?

इस प्रकार अर्जुन के विभिन्न नामों की सार्थकता और सोद्देश्यता एवं प्रयोजनीयता को प्रमाणित करने के लिए अभी कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। परन्तु इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए, कि अन्य प्रसंगों पर आने वाले 'अर्जुन' के शेष नाम भी इसी प्रकार सार्थक, सोद्देश्य और साभिप्राय हैं।

जिस प्रकार सामान्य परिस्थिति में रहने वाले हम संसारी जीव पारस्परिक व्यवहार और स्वार्थ सिद्धि के लिये व्यक्तियों को प्रसंगानुकूल विशेष नामों से पुकारते हैं ; उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन के हृदयदौर्बल्य को दूर करने के लिये, साधुओं के परित्राण के लिये, दुष्कर्म, करने वालों के नाश के लिये और भूमिभार के हरण के लिये उसे विभिन्न नामों द्वारा सम्बोधित किया है। 'नाम' का महत्त्व सर्वविदित ही है । नामानुकूल आचरण की अपेक्षा सभी को इष्ट होती है। जब कोई भी भला व्यक्ति किसी के नाम का अनौचित्य नहीं देखना चाहता, तो फिर साक्षात् परब्रह्म सच्चिदानन्द भगवान् कृष्ण अपने भक्त के 'नाम' का अनौचित्य कैसे देख सकते थे। यही कारण है, कि उन्होंने अपने प्रिय जिज्ञासु भक्त को उपदेश देने के लिये विभिन्न विशिष्ट नामों की सार्थकता, सोद्देश्यता तथा साभिप्रायता परोक्षरूपेण प्रस्तुत की है।

● ● ●

अनासक्ति

अनासक्ति कार्य शक्तिप्रद है
क्योंकि अनासक्त कार्य
भगवान की भक्ति है ।

—महात्मा गांधी

सिक्ख-इतिहास का एक संस्कृत-ग्रन्थ--श्र्यङ्ककाव्यम्

सत्यव्रत 'तृषित'

अन्य भारतीय धर्मों की तुलना में सिक्ख-धर्म का प्रादुर्भाव बहुत अर्वाचीन युग में हुआ है। किन्तु अपने अल्पकालीन जीवन में अभी तक इस सम्प्रदाय ने भारत के राजनीतिक इतिहास में जो गौरवशाली योग दिया है, वह स्वयं एक रोचक तथा रोमाञ्चक अध्याय है। वस्तुतः सिक्खों का इतिहास अविचल देशभक्ति, अनुपम शौर्य तथा प्राणोत्सर्ग के स्वर्णाक्षरों से अंकित है। इस साहसी जाति के गौरवमय इतिहास की ओर संस्कृत के संवेदनशील साहित्यकार का आकृष्ट होना बहुत स्वाभाविक था। संस्कृत-साहित्यकार लोकमञ्च की सामयिक गतिविधियों तथा विचारधाराओं से कदापि पराङ्मुख अथवा उदासीन नहीं रहा है। उसने सदैव राष्ट्र की भावनाओं को वाणी प्रदान की है। पण्डित कृष्णकौर मिश्र का श्र्यङ्क काव्य ही एकमात्र ज्ञात कृति है, जिसमें सिक्ख-इतिहास का निबन्धन हुआ है। काव्य की रचना विक्रम सम्वत् १८५८ में हुई थी। (अष्टेष्वष्टैक-वर्षे भृगुशिव सहिते ज्येष्ठशुक्ले निशायाम्)। संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर विदेशी तथा भारतीय भाषाओं में अनेक उत्तम ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। किन्तु खेद है कि किसी भी इतिहास ग्रन्थ में ऐतिहासिक काव्यों के अन्तर्गत श्र्यङ्ककाव्य का उल्लेख नहीं हुआ है, यद्यपि यह सन् १९३५ में डी०ए०वी०कॉलेज, लाहौर के शोध विभाग से प्रकाशित हो चुका था। प्रस्तुत लेख में श्र्यङ्ककाव्य का विवरण दिया जा रहा है

श्र्यङ्क काव्य में सिक्ख-इतिहास के प्रारम्भिक दो शताब्दियों के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। दस गुरुओं के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण इसे ऐतिहासिक काव्य माना जा सकता है परन्तु कवि का वास्तविक उद्देश्य इतिहास लिखना नहीं प्रत्युत काव्य-रचना करना है। इतना अवश्य है कि अन्य तथा कथित इतिहास -काव्यों की तरह श्र्यङ्क-काव्य में इतिहास विकटबन्ध शली तथा दूरगामी कल्पनाओं के व्यूह में उलझ कर

नहीं रह गया है अपनी कृति को काव्य रूप देने के लिये पण्डित मिश्र ने इसमें नगर तथा ऋतु वर्णन आदि उन तत्त्वों का समावेश किया है, जिनका साहित्य-शास्त्र में काव्य के लिये विधान किया गया है। श्र्यङ्ककाव्य १६ सर्गों में विभक्त है। शास्त्रीय दृष्टि से इसे महाकाव्य कहना ही उचित होगा, यद्यपि समूचे काव्य में केवल २५७ पद्य हैं।

अन्य संस्कृत ग्रन्थों की भांति श्र्यङ्क-काव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है, जिसमें सिक्ख धर्म के दस गुरुओं की वन्दना की गई है। तदनन्तर अमृतसर के प्रख्यात अमृतसर सरोवर का विस्तृत वर्णन है, जो कहीं-कहीं सर्वथा पारम्परिक तथा काल्पनिक है। सरोवर का निर्माण चतुर्थ गुरु श्रीरामदास ने प्रारम्भ कराया, था—

पुण्यस्थान विशेषकारणतया श्रीरामदासेन यद्
ज्ञातं सन्निरमापि सेवक जनस्वान्तैकशुद्धि-प्रदम् ।
तीर्थं दर्शनतः पुमर्थमखिलं सेवानरूपं दद-
न्नाम्ना ख्यातिमिहामृतं सर इति प्रोत्फुल्ल-पुण्याम्बुजम् ॥ (१.२)

द्वितीय सर्ग में रामदासपुर (अमृतसर का पुराना नाम) की धार्मिक महत्ता तथा आर्थिक समृद्धि का यथार्थ चित्रण हुआ है। नगर की भौगोलिक स्थिति के निर्देश से काव्य में चारुता तथा निश्चितता का समावेश हो गया है अमृतसरोवर के अतिरिक्त शीतलामन्दिर अमृतसर का प्रमुख आकर्षण है —

श्रीनारायणकल्पितं मृतिजितो लिङ्गं शिवोपासिनां
हार्दान्धत्वहरं सुशीतलकरं शीतला मन्दिरम् !! (२.५)

अमृतसर प्रारम्भ से ही वाणिज्य का मुख्य केन्द्र रहा है, जहां देश के सुदूर भागों से व्यापारी व्यापार के लिये आते हैं। (आपूर्वोत्तरवारुणदिशं विक्रेतुकामा नराः । २–११) अपनी समृद्धि तथा रमणीयता से अमृतसर देवनगरी प्रतीत होता है। (नाकेऽपीदृशमेव देवरचितं कौतूहलं सौख्यदम्– २.७।) तृतीय सर्ग में होली के उत्सव का रोचक वर्णन है। होलिका के अवसर पर कान्ह अपनी ब्रजवासिनी सखियों के साथ रास रचाते हैं। (कृष्णेन व्रजभूषु गोपवनितायुक्तेन रासो महानारब्धः–३.२) समस्त गोप-वनिताएं रास में शामिल होने को अधीर हो उठती हैं। कोई पिता से आंख बचा कर और कोई सास से बहाना लगा कर रास में जा पहुंचती है तथा कृतकृत्य हो जाती है। (श्वश्र्वा सम्यङ् निषिद्धा सुतललन-नमिषेणैव याता वनान्तम्–३. १२.) ब्रज के नटखट युवक तथा अल्हड़ किशोरियां झांझ-मजीरों से होली का अभिनन्दन करती हैं तथा रंग और अबीर से पृथ्वी

आकाश को भर देते हैं

अन्योन्यास्येषु चूर्णैर्बहुसुभगतया मर्दयन्तो हमीरं ।
ढक्काभेरीमृदङ्गध्वनियुतनटनैर्नर्त्तनैर्लासयन्तः (३.१५.)

कृष्ण भी उनके हुड़दंग से नहीं बच पाते। उन्हें भी रंग से सराबोर कर दिया जाता है (व्रज स्त्रीकरगतजलयन्त्रादिभिः सिच्यमानम्–३.५.) चतुर्थ सर्ग में ग्रीष्मादि षड् ऋतुओं का वर्णन है जिस पर कालिदास के ऋतुसंहार तथा मेघदूत की छाया स्पष्ट दीख पड़ती है ।

प्रथम पांच सर्गों के काव्यात्मक अंश से निकल कर हम काव्य के इतिहास खण्ड में पदार्पण करते हैं। इस खण्ड में गुरुओं की आध्यात्मिक उपलब्धि, नेतृत्व काल तथा अन्य विशिष्ट गुणों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । इतिहास से इसकी पुष्टि होती है। इस खण्ड के प्रथम दो सर्गों में (६–७) दस गुरुओं के राज्यादि व्यवहार का निरूपण है। गुरु नानक शैशव से ही योगी की भांति विभूतिमान् परोक्ष-प्रिय तथा सांसारिक कृत्यों से विरक्त थे (६.२)। उनकी साधुवृत्ति से शंकित होकर पिता ने उनका विवाह कर दिया जिससे उन्हें दो पुत्र भी प्राप्त हुए। 'पित्रा व्यूढ़ इतो गृहाश्रमतः पुत्रद्वयं लब्धवान्, (६.५), किन्तु सांसारिक आकर्षण उन्हें बांध न सके । वे तत्परता से आध्यात्मिकता के पथ पर अग्रसर होते गये ।

इतिहास के अनुसार गुरु नानक को वास्तविक बोध उस समय हुआ जब वे सुल्तानपुर में अपनी बहन नानकी के पास रहकर नवाब की नौकरी करते थे । काव्य में इस महत्त्वपूर्ण घटना का कोई संकेत नहीं है । गुरु नानक ने १५३८ ई० तक सिक्ख पन्थ का संचालन किया ।

सिक्ख-इतिहास में द्वितीय गुरु श्री अंगद का महत्त्व यह है कि उन्होंने गुरुमुखी लिपि को व्यवस्थित रूप देकर उसे लोकप्रिय बनाया (भाषा बन्धनकारकस्तु भगवान् माहात्म्यसंसूचकः—६·८) । गुरुनानक के प्रिय शिष्य वाला ने काव्य में प्रथम गुरु के अनेक आश्चर्यजनक चमत्कारों का वर्णन किया है, जो उनकी महानता के सर्वथा अनुरूप हैं। (१०·५–१२)। सम्भवतः इन्हीं सूत्रों के आधार पर गुरुअंगद ने प्रथम गुरु के जीवन चरित का सम्पादन किया था। गुरु अंगद ने अपने मेधावी शिष्य अमर दास को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया । इतिहास बतलाता है कि अपने २२ वर्ष के शासन काल मे (द्वाविंशं शरदाम् १५५२–१५७४) गुरु अमरदास को हिन्दू मुसलमानों के अतिरिक्त गुरु अंगद के पुत्र दातू के विरोध से जूझना पड़ा। तदनन्तर गुरुपद तृतीय गुरु के जामाता रामदास को प्राप्त हुआ। गुरु रामदास ने अमृतसर नगर बसाया तथा वहाँ अमृतसरोवर का निर्माण प्रारम्भ किया था। इस पुनीत कार्य से उन्हें महान् यश प्राप्त हुआ

(सोऽयभाति महीतल पृथुयशाः श्रीराम-वत्सुन्दर: —६.१२) काव्य के अनुसार उनके नेतृत्व की अवधि सात वर्ष है। (१५७४–१५८१)ई०)।

सोऽयं तीर्थमिदं सुधासर इति प्रावर्त्तयद् भूतले
षड्वर्षैकदशाख यमासदिव साष्टैकं च राज्यं महत् ।।६.११.

गुरु रामदास ने अपने कनिष्ठ पुत्र अर्जुन को गुरु पद पर प्रतिष्ठित किया। गुरु अर्जुन के विषय में काव्य से कोई महत्त्वपूर्ण सूचना उपलब्ध नहीं होती। पञ्चम गुरु ने लगभग २५ वर्ष सिक्ख-पन्थ का सूत्र-संचालन किया। उनकी शहीदी का उल्लेख भी काव्य में नहीं हुआ है।

षष्ठ गुरु हरिगोविन्द का समय सिक्ख इतिहास में एक अभिनव युग का सूत्रपात करता है। काव्य में षष्ट गुरु के विवाह, पुत्रों तथा म्लेच्छपति (जहांगीर) के मन्त्री के आगमन का निर्देश हुआ है। (तत्पार्श्वे मन्त्रिजनो म्लेच्छपतरेकदा प्राप्तः –१२.१.) इतिहास से ज्ञात होता है कि गुरु हरिगोविन्द की शासनावधि सिक्ख इतिहास की संक्रान्ति-वेला थी, जिसमें सिक्ख-धर्म सैन्य-संगठन के रूप में प्रकट हुआ। हरिगोविन्द के पश्चात् उनके पौत्र हरिराय प्रतिष्ठित हुए। हरिराय के कनिष्ठ पुत्र तथा उत्तराधिकारी अष्टम गुरुहरिकृष्ण सिक्ख-इहिास में 'बालसन्त' अथवा 'बालगुरु' के नाम से प्रख्यात हैं। औरंगजेब का आदेश मिलने पर गुरु उससे मिलने दिल्ली गये। वहां आठ वर्ष की स्वल्पायु में शीतला से उनका देहान्त हो गया। (१३.१,१३.५.)। मृत्यु के समय उनके मुख से 'बाबा बकाला' ये दो शब्द निकले, जिनका अभिप्राय था कि 'अगले गुरु 'बाबा बकाला' में रहते हैं (...समुदित तेन बाबाबकाले । ग्रामे स्थायी भवत्सु प्रकटितमहिमः शीघ्र माविर्भविष्यन्-१३.४.) 'बाबा बकाला' में कई छद्मी गुरुत्व के दावेदार बने बैठे थे। (वयमिह गुरवोऽन्योन्यमीर्ष्यालवाढ्याः—१३.११)। अन्ततः निस्स्पृह तथा तपस्यारत तेग बहादुर को मान्यता प्राप्त हुई (आरूढ: परमास नं जननुतः पुष्पैश्च दिव्यैर्वृतः-१३.१६) गुरु तेग बहादुर समस्त आयु विधर्मियों से जूझते रहे तथा अन्त में, धर्म की रक्षा के लिये जिस ढंग से उन्होंने प्राणों की आहुति दी, वह विश्व-इतिहास का रोमहर्षक अध्याय है (म्लेच्छैर्म द्धर्महानिः क्रियत इति मया देहहानिस्तु कार्या—१४.६) नवम गुरु के वीर पुत्र गुरुगोविन्द सिंह ने अपने पिता के वध को प्रतिशोध तथा दुर्दान्त यवनों की बर्बरता का प्रतिरोध करने के लिये अपने सहधर्मियों में नव जागरण का संचार किया। दशम गुरु ने अपने अनुयायिओं को योद्धाओं के रूप में संगठित किया। उन्हें विश्वास था कि सिक्ख जपमाला के साथ तलवार भी पूर्ण कौशल

से धारण कर सकते हैं। ... उन्होंने मन्त्रसाधन करके विद्युद्वत् तेजस्वी चण्डी की खड्ग प्राप्त की (प्रादुर्भूतस्ततोऽसिः शतशतह्रदा तेजसाक्रान्तदृष्टि—८.५) तथा खालसा का प्रवर्तन किया

दुष्टम्लेच्छैर्विषण्णः प्रतिकृतिकृतयेऽनेक-
मन्युर्बभूव
क्रोधाग्नेर्विस्फुलिङ्गैः प्रतिदिशपतितैः
सर्ववर्णे समुत्थैः !
जातः श्रीखालसाख्यः स्वयमिव बहुधा
शक्तिसम्पन्नचेष्टः
शुम्भादीन् हन्तुकामा प्रकटयति यथा
कौशिकी कालिकाख्या ।। (७.६

इतिहास के अनुसार खालसा का जन्म सन् १६६६ में हुआ था। गुरुगोविन्द सिंह ने करीब ३३ वर्ष सिक्ख-पन्थ का संचालन किया (द्वात्रिंशद्वर्ष मासैकदशमित नृपत्वं चकारैकलील:—७.६.)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि श्रव्यककाव्य में सिक्ख गुरुओं का सर्वांगीण इतिहास नहीं है। अधिकांश गुरुओं की राजनीतिक गतिविधियों तथा अन्य उपलब्धियों को काव्य में पूर्णतया उपेक्षित कर दिया गया है तथा उनकी जीवन की रूपरेखा मात्र देकर सन्तोष कर लिया गया है। इस कोटि की रचना में यद्यपि वाग्विलास का न अवसर होता है, न अपेक्षा तथापि कवित्व की दृष्टि से काव्य सर्वथा गुणहीन नहीं है। परन्तु काव्य का वास्तविक महत्त्व यह कि समूचे संस्कृत-साहित्य में इस विषय की यही एकमात्र उपलब्ध रचना है ! □ □ □

विपत्ति

विपत्ति में भी जिस हृदय में सद्ज्ञान न हो वह एक ऐसा सूखा वृक्ष है जो पानी पाकर पनपता नहीं बल्कि सड़ जाता है।

—प्रेमचन्द

संस्कृत तथा वेदों की विदेशों में ध्वनि

डा० कृष्ण कान्त

संस्कृत तथा वेदों का विश्व भर की संस्कृतियों पर गम्भीर प्रभाव है। इनके प्रखर प्रकाश की किरणें इनमें अब भी मुखरित तथा विद्योतित हो रही हैं। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं कि भारत के उच्च कोटि के सांस्कृतिक और वैदिक ज्ञान की ज्योत्स्ना के आगे विश्व आज भी नतमस्तक तथा हतप्रभ है। अतएव विश्व के उच्चतम शिक्षा विशेषज्ञ भी यह स्वीकार करते हैं कि वैदिक साहित्य तथा संस्कृत साहित्य ही विश्व की समस्त सभ्यताओं की पूर्व-पीठिका है।

संस्कृत और वैदिक साहित्योपवन बहुविध साहित्यिक प्रसून-पूर–पूरित है। इस साहित्य वाटिका को रत्न प्रसू भारत-भू के उद्भट दर्शनिकों, महार्षियों एवं साहित्यिकों ने अपने अविरत तप:प्रताप से अलंकृत तथा संवर्धित किया। नि:संशय इस ईश्वरीय ज्ञान से भारत की महामहिम-मयी मिट्टी के कण-कण में वैदिक सभ्यता का आवास आभासित हुआ। सहस्रों अक्षुण्ण प्रवाह से बहने वालों —निर्झरों की झर-झर ध्वनि में उपनिषदों के उपदेश से दिग्-दिगन्तराल प्रतिध्वनित हो उठा। धीर समीर भी ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों तथ कल्सूत्रों की शिक्षा देती मालूम पड़ने लगी। वृक्ष-श्रेणियों वेदों के नियमों की ओर संकेत करने लगीं। गगन-चुम्बी पर्वत-पंक्तियां जीवन के कठिनतम रहस्यों के अनुभव कराती थीं। पणिामत: भारतीयों की आत्मा वैदिक संस्कृति से ओतप्रोत हो गई। वैदिक ज्ञान ही विश्व के कल्याण तथा दुर्वासना-वासित आत्माओं की शांति का मुख्य साधन था।

इस प्रकार के परम पुनीत ज्ञान के लिये समग्र संसार भारत से उऋण कदापि नहीं हो सकता। परन्तु जहां भारतीय मनस्वियों ने इस वाटिका का बीजा-रोपण किया वहां पाश्चात्य मर्मज्ञों ने भी इसको अपनी कुशग्र बुद्धि तथा गहन परिश्रम से सिंचित किया। वे भी संस्कृत तथा वेदाध्ययन के अपूर्व पाण्डित्य प्रदर्शन में अग्रणी हैं। भारतीय धर्म-मर्मज्ञों ने पथ-प्रदर्शन किया तथा विदेशियों ने अनुसरण किया। इस प्रकार विदेशों में भी वेदाध्ययन की अजस्त धारा प्रवाहित हुई। वहां भी संस्कृत का इतना प्रचार हुआ कि उद्भट विद्वानों की एक प्रलम्बित

'शृंखला बन गई। जैसा कि नीचे लिखे उद्धरण बता रहे हैं।

अबराहम रौगर

१६५१ ई: में अब्राहम रौगर ने ब्राह्मण साहित्य का प्रांजल एवं सूक्ष्मतम विश्लेषण कर, विदेशों में एक नया उदाहरण पैदा कर दिया। इन्होंने महाकवि भर्तृहरि की सूक्तियों को एक चतुर चित्रकार की भांति पुर्तगाली भाषा में अनूदित किया। संस्कृत अध्ययन के क्षेत्र में "चार्ल्स विलकिस" का नाम सर्वोतम हैं। इन्होने संस्कृत के विविध ग्रन्थों का प्रौढ़ सम्पादन तथा अनुवाद कर इस क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति का परिचय दिया। भगवद्गीता, हितोपदेश और महाभारत के कुछ भागों का अति सुकोमल तथा सजीले ढंग से अनुसवाद किया। बाद में इन्होंने एक संस्कृत व्याकरण भी लिखा जिसको कई ऊंचे अंग्रेज़ विद्वानों ने सुरुचिपूर्ण बताया। इनके अतिरिक्त "बारथोमियों" और "हेस्टिंगज़" ने भी संस्कृत तथा वेदाध्ययन में प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया।

बारथोमियो

बारथोमियों ने ३० वर्ष भारत में रह कर संस्कृत का गहन एवं मार्मिक अध्ययन किया। ये भारतीयता से इतने ओतप्रोत हुए कि वैदिक सिद्धान्तों से अनुप्राणित सांसारिक सुखों से विरक्त वन में निवास करने वाले ब्राह्मण की तरह प्रतीत होते थे। ब्राह्मण साहित्य, भारतीय भाषाओं तथा भारतीय धार्मिक विचारों की भावभरी भंगिमाएं पेशल भाषा में अंकित कीं। इन्होंने दो संस्कृत व्याकरण भी लिखे। "हेस्टिंग्ज़" महोदय ने भारतीय पण्डितों से "विवादार्णव सेतु" पुस्तक लिखवाई, इस का पहिले फारसी में तदनन्तर इंग्लिश में अनुवाद हुआ।

विलियम जोन्स

अब हमारा ध्यान सर्वोच्च क्रांतिकारी महादार्शनिक एवं साहित्यकार विलियम जोन्स की ओर आकृष्ट होता है। इन्होंने १७८४ में ""एशियाटिक सोसायट" (Asiatic Society) की स्थापना कर एक अविस्मरणीय अध्याय का स्वर्णिम पृष्ठ आरम्भ कर दिया। इस संस्था ने विदेशों से आने वाले विद्वानों के अध्ययन के लिये एक सुसज्जित तथा सुनियन्त्रित मञ्च का काम किया। सचमुच इस संस्था द्वारा वैदिक विचारों का अनन्त-अकूपार क्रांति की उर्मियों से उर्मिल हो उठा। यही एक ऐसा विद्वान है जिसने सर्वथम ग्रीक-लेटिन, जर्मन, कैल्टिक और फारसी का संस्कृत से सादृश्य दिखाया। भारत में अपने ११ वर्ष के निवास के अवसर में संस्कृत एवं वेदों संबंधी ग्रन्थों का प्राञ्जल तथा प्रशस्त रूप से अध्ययन और निष्पादन किया। १७८९ में कालिदास के 'शाकुंतल' का अनुवाद किया। १७९२ में

ऋतु-संहार", १७९४ में मनुस्मृति के अंग्रेज़ी अनुवाद किये।

हेनरी टामस

संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद क्षेत्र में "हेनरीटामस कालब्रूक" का अध्यवसाय भी किसी से न्यून नहीं। इन्होंने कुछ संस्कृत ग्रन्थों को समूल रूप से भी प्रकाशित करवाया। संस्कृत भाषा तथा साहित्य के वैज्ञानिकता की कसौटी पर भी परीक्षित किया।

अलैक्ज़ेन्डर हैमिल्टन

इन्होंने फ्रांस में संस्कृत का बीजारोपण कर एक शाश्वत परम्पा प्रचलित की। कई वर्ष भारत में रह कर अलौकिक पाण्डित्य प्राप्त किया। यह इंग्लैंड जाते समय फ्रांस में नैपोलियनं के दल द्वारा बन्दी बना लिये गये। इन्हें पैरिस में रखा गया, वहां कई फ्रांसीसी विद्वानों ने इनसे संस्कृत सीखी। इनमें "फ्रैडरि श्लेगेल" प्रमुख हैं। "श्लेगेल" ने १८०८ में—"On the Language and wisdom of the Indians" नामक पुस्तक प्रस्तुत की। इस पुस्तक द्वारा जर्मन में संस्कृत अध्ययन में निस्तन्द्रता की लहर दौड़ गई। इसी से प्रोत्साहित होकर—"फ्रेज बौप्प" ने संस्कृत पढ़ी और ग्रीक, लेटिन तथा पर्शियन से इसकी तुलना कर "तुलनात्मक भाषा-विज्ञान" (Comparative Philology) की आधार शिला रखी। इन्होंने रामायण और महाभारत के कुछ अंशों का जर्मन में अनुवाद भी किया। लेगेल के भाई "आंगस्ट" ने भगवद्गीता का लेटिन अनुवाद प्रकाशित करवाया था। इसी तरह जर्मन विद्वान् "रक्कर्ट" अनुवाद के क्षेत्र में बे-जोड़ था। इसने कुछ भारतीय महाकाव्यों और गीतिकाव्यों को जर्मन में अनूदित किया।

बर्नौफ

अठारहवीं शती तक यूरोपीय विद्वानों की प्रवृति अधिकतर संस्कृत (Classical Literature) की ओर प्रवाहित हुई। परन्तु इसके पश्चात् इन्होंने वेद और बौद्ध साहित्य में भी अबाध गति से प्रगति की। वेदाध्ययन की परिपाटी का अधिक श्रेय फ्रेंच विद्वान् "बर्नौफ" को है।

इन्होंने अपने कुछ शिष्यों को इकट्ठा कर वेदों के अध्ययन का एक केन्द्र संस्थापित किया, जिसमें बौद्धसाहित्य विषयक भी ग्रन्थ लिखे गये और जिनसे प्रेरित होकर बौद्ध साहित्य विषयक गवेषणाएं शुरू हुई। वेदाध्ययन में अद्वितीय विद्वान् "रूडाल्फ राथ" तथा "मैक्समूलर" इनके मुख्य शिष्य थे।

प्रो० रूडाल्फ राथ

जर्मन विद्वान् "रूडाल्फ राथ" वेदानुशीलन में अहर्निश जागरुक व्यक्तित्व के अधिपति थे। वैदिक गवेषणा के इतिहास में १८४६ का समय समुन्नत माना गया है। इस विद्वान् की अल्पीयसी किन्तु विषय

में महीयसी कृति "वेद का साहित्य तथा इतिहास" से वेद परिशीलन की क्रांति की ध्वजा को और अधिक बल मिला और वह विश्व गगन के हर कोने में विजयोल्लास से फहराने लगी। इससे विदेशों में वेदों के प्रति वास्तविक तथा गम्भीर प्रवृत्ति जागृत हुई। प्रो० राथ ने एक नये मार्ग का पथ प्रदर्शन किया। इनका उद्देश्य था कि वेद-मन्त्रों का वह अर्थ निर्धारित किया जाये जो वेदों के प्रणेता ऋषियों को अभीष्ट था। अतः "सायण" आदि भाष्यकारों की व्याख्या को अस्वीकार कर स्वतन्त्र रूप से इन्होंने अर्थ किये। इन्होंने "सेन्ट पीटर्स वर्ग संस्कृत-जर्मन महाकोष" का निर्माण किया जो इनकी ज्ञान-गरिमा, प्रतिभा तथा प्रयास का नितरां उद्घोषक है। इसमें प्रत्येक शब्द का अर्थ विकास-क्रम से दिया गया है। राथ महोदय के सह-पाठियों तथा शिष्यों की एक लम्बी परम्परा है जिसने वेद-विवेचन की एक तानका का जो वितताना, वह विश्व में सदा अमर रहेगा।

प्रो० मैक्समूलर

मैक्समूलर महोदय पाश्चात्य वेदज्ञों के शिरोमणियों में विक्रान्त व्यक्तित्व के प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने वेद-विषयक विविध ग्रन्थों की रचना कर उनके सिद्धान्तों को पश्चिमी देशों में भरपूर लोक प्रिय बनाया। प्रो० मैक्स में एक विशेषता यह थी कि इसने सहानुभूति पूर्वक भारतीयों के अन्तस्तल को स्पर्श कराने की कोशिश की। भारतीय आध्यात्मवाद, धर्म, दर्शन तथा संस्कृति को जितनी आत्मीयता तथा सामीप्य से इन्होंने अध्ययन किया उतना किसी और ने नहीं। इनका सब से महत्वपूर्ण कार्य ऋग्वेद के सायण भाष्य का विवेचनात्मक सम्पादन है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से विदेशों में–वेदाध्ययन की आधार शिला सुदृढ़ हो गयी। इनके लिखे ग्रन्थ सहृदयता, उदारता और सौम्यता के द्योतक हैं। वेदानुशीलन में ये यूरोप के सर्वोत्तम ख्याति प्राप्त व्यक्ति हैं।

अनुवाद परिपाटी

१८३८ में फ्रेडरिक रोज़न (Friedrich Rosen) ने ऋग्वेद के कुछ अंशका एक संस्करण छपवाया परन्तु अपनी मृत्यु से पूर्व वह इस काम को पूरा न कर सका। डा० वेबर ने वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद तथा वैदिक छन्दों का विस्तृत विवेचन किया। डा० विल्सन ने ऋग्वेद के सायण भाष्य का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। जर्मन विद्वान् ग्रासमान ने ऋग्वेद के पद्य (poetry) में अनुवाद कर अभूतपूर्व विद्वत्ता की साक्षी दी। इसी प्रकार महामना लुडविग ने ऋग्वेद का अनुवाद जर्मन भाषा में किया। सर्वशिरोमण "ग्रिफिथ" ने यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा का अनुवाद अंग्रेजी पद्य (poetry) में किया। डा० कीथ ने ऋग्वेद के दोनों

ब्राह्मण-ग्रन्थों का भूमिका सहित अनुवाद भेंट किया ।

ह्विटनी

ह्विटनी अमेरिका में संस्कृत पढ़ने वाला पहिला विद्वान् था । ये संस्कृत के विस्तृत साहित्य से इतने प्रभावित हुए कि जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान् डा० वेबर के अन्तेवासी रह कर संस्कृत का अमूल चूल ज्ञान प्राप्त किया । इन्होंने अथर्ववेद का अनुवाद भी किया। इनके शिश्य "लैनमैन' अल्पायु में ही संस्कृत की जिज्ञासा की पिपासा को शान्त करने जर्मन चले गये। थे । इनके जीवन का अधिकांश समय "हारबर्ड विश्वविद्यालय" में ही व्यतीत हुआ जहां इन्होंने विश्वविख्यात "प्राच्य ग्रन्थमाला" का सम्पादन किया । इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत सबसे पहिला ग्राच्थ भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म सम्बन्धी कथाओं विषयक था। वेद, उपनिषद्, गीत, दार्शनिक ग्रन्थ, न्याय, सांख्य, योत आदि का प्रकाशन इसी के अन्तर्गत हो चुका है ।

इमर्सन

विश्व विख्यात अमेरिकी दार्शनिक इमर्सन भारती संस्कृति की ओर इतने आसक्त हुए कि बाद में इन्हें अमेरिकी कहना ही वड़ी भारी भूल समझा जाने लगा। सबसे पहिले ये गीता के सम्पर्क में आये। अनन्तर उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा अन्य दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन में भी निस्तन्द्र रहे। भारतीय अध्यात्म वाद की परम्परा से अनुप्राणित अमेरिकी विद्वान् "थोरो" भी वेदाध्ययन में किसी से निम्न नहीं थे ।

वैदिक धर्म एवं पुराण विज्ञान पर प्रो० मैक्समूलर, मैकडोनल तथा जर्मन विद्वान् हैलिब्रांट ने अनेक ग्रन्थ लिखे। वैदिक इतिहस पर विन्टरनिज, डा० वेबर मैकडोनल तथा मैक्स ने अपनी-अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया । इनके अतिरिक्त श्री स्टीनवनसन, श्रोदर, महोदय, प्रो० व्ल्यूम फ़ील्ड, डा० गर्व प्रो० हाग, प्रो० लिण्डनर, डा० बर्नेल, डा० एर्टल , डा० कैलैण्ड आदि अनेकों पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों, श्रौत सूत्रों तथा प्रतिशाख्यों आदि भारतीय वेदों का कोई भी अंग ऐसा नहीं जो इनकी लेखनी से अछूता रहा हो ।

अब यह प्रबल रूप से प्रमाणित हो जाता है कि इन विदेशीय विद्वानों के अतुल प्रयास से विदेश भी भारतीय ज्ञानधारा की अजस्र धारा से अभिषिक्त होने लगे तथा विश्व का ऐसा कोई भाग नहीं जो इस पावन ज्ञान गरिमा से अस्पष्ट हो। भारतीय अध्यात्मवाद की दुन्दुभि विश्व के हर मंच पर प्रतिध्वनित हो रही थी। आज भी विश्व के विविध भागों में संस्थापित विधि केन्द्रों में उपनिषद् योग तथा वेदान्त सम्बन्धी उपदेश पीयूष से वातावरण तरंगित हो रहा है ।

एक और ज़िंदगी : मोहन राकेश

कृष्ण कुमार 'मदहोश'

युग नया है तो साहित्य के नयेपन की बात चलनी स्वाभाविक ही है। प्रत्येक विधा इस नयेपन की साक्षी है, इससे प्रभावित तो है ही। नई कविता को लेकर अथवा नई कहानी को लेकर व अन्य किसी विधा को लेकर जो प्रशंसात्मक अथवा निदात्मक धारणाएं इकबारगी अथवा विना गहन सूझ-बूझ के व्यक्त की जाती हैं, यदि उनके पचड़े में न भी पड़ा जाए तो भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पुरातन में सभी कुछ श्रेष्ठ नहीं रहा है ठीक इसी प्रकार नूतन में भी सभी तत्व विध्वंसात्मक नहीं हैं। नये को मात्र 'नया' समझ कर घृणा करने वाले की 'अंधी घृणा' से भला कौन समझदार सहानुभूति प्रकट करना चाहेगा ?

हां, साहित्य-क्षेत्र में 'नई कहानी' की बात भी बहुत जोर पकड़ चुकी है। यह 'नई कहानी' अपनी बड़ी बहिन 'पुरानी कहानी' से निश्चय ही बहुत भिन्न है। इसमें वस्तु और शिल्प (Matter and Technique) की दृष्टि से बहुत परिवर्तन घटित हुए हैं। इन परिवर्तनों ने कहानी की प्राचीन परिभाषाओं एवं लक्षणों को मात दे दी है। वस्तुतः आज की कहानी की कोई भी सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि यह आज के जीवन की तरह अस्थिर है, पल-पल में परिवर्तित होने वाली है, रंग-बिरंगी है। तो भी इसकी श्रेष्ठता सामंजस्य एवं समन्वय में है। इस बात को आज के मूर्धन्य कथाकार श्री मोहन राकेश ने अपने प्रसिद्ध कथा-संग्रह "एक और ज़िन्दगी" की भूमिका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है। इनके अनुसार "कहानी की बात किसी भी कोण से उठाई जा सकती है। कहानी का शिल्प एक कोण है, भाषा दूसरा, यथार्थ की अभिव्यक्ति तीसरा और सांकेतिकता चौथा। कोण और भी हैं और हर कोण से विचार कई भूमियों पर किया जा सकता है। परन्तु किसी भी एक उपलब्धि से कहानी कहानी नहीं बनती—कहानी की आंतरिक अन्विति का निर्माण इन सभी उपलब्धियों के सामंजस्य से होता है ।.....यदि शिल्प का चौखटा तैयार करके उसमें मैटर को फिट करने का प्रयत्न किया जाए तो उससे कुछ

भी हासिल नहीं होगा—क्योंकि रचना के नये समर्थ शिल्प का विकास केवल प्रयोग की चेतना से नही, नये मैटर के सामने पुराने शिल्प की असमर्थता के कारण होता है ।"

लेखक ने भूमिका में नई कहानी की सीमा और इसके विस्तार एवं क्षमता पर प्रकाश डाला है । यह भी बतलाया है कि 'नई कहानी' 'पुरानी कहानी' से किस अर्थ में भिन्न है और इसके प्रतिमान क्या हैं । राकेश जी ने कहानी की कसौटी भी बदल देने की बात कही है क्योंकि "यदि चरित्र की उदात्तता ही कहानी की कसौटी है तो गुंडों, जुआरियों, वेश्याओं, और घूसखोर अफसरों को लेकर लिखी गई संसार की सब कहानियां रद्दी हैं। चरित्र की श्रेष्ठता ही कहानी की श्रेष्ठता है तो संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियां आज से हजार साल पहले लिखी जा चुकी हैं।"

आजकल पत्र-पत्रिकाओं में आए दिन असंख्य कहानियां प्रकाशित होती हैं किन्तु फिर भी उनमें अधिकांश परम्परा वादी होती हैं क्योंकि कथाकार एक और तो प्राय: पुरातन के मोह से स्वयं को अलग नहीं कर पाते और दूसरे प्रयोग का साहस भी सदा कम लोगों को ही हुआ करता है। टालस्टाय, चेखोव गोर्की, शोलोखोव (रूसी), ओ. हेनरी, हैमिंग्वे, हाथार्न (अमरीकी) सार्त्र, ज़ोला मोपासां (फ्रेंच) लू-ह-सुन (चीनी), हार्डी, माम फॉरस्टर (अंग्रेज़) तथा प्रेमचन्द, प्रसाद यशपाल, रेणु, टैगोर, विमल मित्र गंगाधर गाडगिल, कृष्णचन्द, मंटो, राजेन्द्रसिंह बेदी, करतारसिंह दुग्गल, अमृता प्रीतम (भारतीय) आदि विख्यात कथाकारों ने कथा सम्बन्धी नये प्रयोग किये हैं। और अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार कहानी में नये संदर्भों की खोज की है। वास्तव में इन सभी महान् कथाकारों ने मानव-जीवन की विडबना को मौलिकता से समझने-समझाने की भरसक चेष्टा की है और इन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर कहानी को नई दिशाएं, नये मूल्य तथा नया जीवन-दर्शन दिया है। इस दर्शन की सार्थकता क्या है और कितनी है? ये दिशाएं भटकाने वाली तो नहीं हैं क्या ? ये मूल्य क्या कभी स्थायी बन पायेंगे ? ये कुछ प्रश्न हैं जिनका उत्तर किसी के पास नहीं, वह तो भविष्य के गर्भ में छिपा पड़ा है।

आज की हिन्दी-कहानी अर्थात् नई कहानी के स्वरूप विकास में मुंशी प्रेमचन्द का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सशक्त तथा सर्वांगीन है । कारण अनेक हैं किन्तु यदि एक ही पंक्ति में बात कहनी हो तो कहा जा सकता है कि वे मानवता के प्रति अगाध आस्था के कारण ही यह चमत्कार कर पाये । आज की 'अच्छी' कहानी का भी यही मूलमन्त्र है और इस 'आस्था' को खोकर कहानी, जो कि पहले ही कहानीपन से रहित होती जा रही है, अपनी आत्मा गंवा बैठेगी ।

पिछले दो दशकों से हिन्दी कहानी समस्त भारतीय कहानी के साथ कदम मिला कर और विदेशी प्रभाव को भी प्रचुर मात्रा में ग्रहण करती हुई, बहुत

आगे बढ़ी है। इसमें, कहना चाहिए कि, आमूल-चूल परिवर्तन हो गया है। नये-नये प्रयोग सामने आए हैं और दिन-प्रतिदिन आ रहे हैं। निस्संदेह इन में से अधिकांश तो स्पष्टतया और अधपचा अथवा अजीर्ण विदेशी प्रभाव लिये हुए हैं। भारतीयता को यों विदेशी प्रभाव में छिछले ढंग से रंगना कहां तक संगत एवं न्यायोचित है, यह तो वे ही जानें किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऐस लेख कों की पकड़ ढीली होती है और कहानी की ठीक पहचान न होने के कारण वे अपनी 'वस्तु' तथा 'शिल्प' में उचित समन्वय नहीं कर पात और भटक कर तृतीय श्रेणी के कथाकार बने रह जाते हैं।

किन्तु कुछेक प्रतिभावान् कथाकार भी आगे आए हैं जिन्होंने विदेशी कथा-कारों की कृतियों का सम्यक् अध्ययन किया है, उन्हें भली भांति पचाया है और फिर भारतीयता के अनुकूल दृष्टिकोण अपनाते हुए कथा-सृष्टि की है। रेणु, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, रमेश बक्षी, रजनी पनिकर तथा शिवानी आदि कुछ ऐसे ही कथाकार हैं जिन्होंने पिछले दस-पंद्रह वर्षों में ही कहानी की काया-पलट दी है और हिन्दी में 'नई कहानी' का रूप सजाने-सँवारने का अपने अपने ढंग से श्रम किया है। आज यदि हिन्दी-कहानी विश्व की कहानी में स्थान पा सकती है और गौरव की अधिकारिणी हो सकती है तो यह इन्हीं महानुभावों के परिश्रम का सुफल है। इन की लेखनी से नवलेखन को प्रेरणा मिलेगी, यह आशा की जा सकती है।

० ० ० ०

अपनी प्रयोग-बुद्धि द्वारा एवं वस्तु की आंतरिकता को ध्यान में रखते हुए मोहन राकेश ने भी, अपने समकालीन कथाकारों की भांति, कहानी में नये संदर्भोंकी खोज की है और कहना चाहिए कि व एक सफल अन्वेषी हैं। नितांत एवं एकांतिक मौलिकता व नवीनता का दावा आज का कोई भी साहित्यकार नहीं कर सकता क्योंकि पूर्णतया अलगाव (Isolation) की स्थिति तो आज जीवन के किसी क्षेत्र में भी संभव नहीं है। फिर साहित्य से तो ऐसी आशा ही दुराशा मात्र है जहां कि मानव मन ती गहराइयों की थाह पाने की चेष्टा की जाती है, जीवन के हास-रुदन को देखा-दिखाया जाता है। मानव मन तो सभी जगह एकसा ही है, चाहे कोई हृदय अमेरिका में धड़कता है अथवा रूस में व भारत में। यह समता ही विश्व-साहित्य को एक सूत्र में पिरोती है और उसे सम्पूर्ण मानवता की धरोहर बनाती है। मानव जीवन के किन्हीं विडम्बनामय पहलुओं को लेकर मोहन राकेश ने कहानियां लिखी हैं तथा उपन्यासों कीं रचना की है। हम यहां स्वयं को उनके कथा-संग्रह "एक और जिन्दगी" तक ही सीमित रखना चाहेंगे

ग्रौर देखेंगे कि लेखक ने नवीन हिन्दी-कथा-साहित्य किस किस रूप में मौलिक देन दी है।

प्रस्तुत संग्रह में लेखक की नौ कहानियां हैं। पसंद ग्रपनी ग्रपनी, ख्याल ग्रपना ग्रपना। मुझे 'मिस पाल' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी लगी है। ज़रा कम गंभीरता से कहा जाये तो कह सकते हैं कि जिस प्रकार राजेन्द्र यादव ने ग्रपने श्रेष्ठ उपन्यास-'उखड़े हुए लोग' में उखड़े हुए लोगों की बात कही है, ठीक उसी प्रकार मोहन राकेश ने कतिपय 'टूटे हुए लोगों' की बात कही है—ग्रपने उपन्यास "ग्रंधेरे बंद कमरे" में ग्रौर कुछेक कहानियों में भी। 'मिसपाल' भी एक टूटे व्यक्तित्व की कथा है। ग्रत्यधिक नैतिक सतर्कता (Moral-Consciousness) ने उसे ठीक उसी प्रकार हानि पहुंचा कर विकृत-सा कर दिया है जिस प्रकार कोई व्यक्ति कैमरे के सामने बार-बार 'कांस्शस' होकर ग्रपना चित्र खराब करवा बैठता है। वह जितना ग्रघिक सजग होती है उसी माता में उसका व्यक्तित्व टूक-टूक होता जाता है। बच्चे तक उसकी शकल को डरावनी समझ कर उससे दूर भागते हैं ग्रौर टॉफियों के लालच पर भी पास नहीं फटकते। कहानी की ग्रंतिम पंक्तियां हैं: "बस चली तो मिस पाल हाथ हिलाने लगी। दोनों खाली डिब्बे वह ग्रपने हाथों में लिए हुए थीं। मैंने भी एक बार उसकी तरफ हाथ हिलाया ग्रौर बस के मुड़ने तक हिलते हुए खाली डिब्बों को ही देखता रहा।" मिस पाल का व्यक्तित्व 'खाली डिब्बा' बन कर ही तो रह गया है। बस।

इस सब कहने का ग्रर्थ यह कदापि नहीं कि लेखक को इस व्यक्तित्व से सहानुभूति नहीं। वह मानवीय सहानुभूति तो उसे देता है किन्तु 'व्यक्ति' 'समाज' तो नहीं है। ग्रपने ग्राप मे 'व्यक्ति इकाई ही तो है। जिस समाज में मिस पाल रह रही है, वहा इस नैतिक सतर्कता का महत्व कितना ग्रौर किस प्रकार है—यही सांकेतिकता कहानी की जान है।

'एक ग्रौर ज़िंदगी' नामक कहानी, जिसे लेकर संग्रह का नामकरण हुग्रा है, भी पर्याप्त सशक्त बन पड़ी है। समस्या ग्राज के पारिवारिक जीवन से ग्रत्यन्त संबद्ध है। पत्नी ग्रार्थिक रूप में स्वतंत्र होकर ग्रपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास करना चाहती है। वह पति से टूट जाती है, ग्रलग रहती है ग्रौर संतान का भी मनमाने ढंग से पालन-पोषण करना चाहती है, किन्तु वह जगह जगह पर ग्राशंकित होती है, भयभीत होती है ग्रौर विडम्बना के समुद्र में गोते लगाती रहती है। इसी प्रकार पति की मानसिक स्थिति का भी चित्रण है जिसकी स्थिति एक घायल हो गय मग की सी है—जो न जीता है ग्रौर न जीवन को ठीक ढंग से

पुनः आरम्भ हो और सकता है। इन्हीं दोनों के दरमियान पिस रही 'एक और ज़िंदगी' (संतान की) का मार्मिक चित्रण लेखक ने बहुत ही हार्दिकता से किया है।

'हक हलाल' कहानी पहाड़ी लोगों के जीवन पर आधारित है। बतलाया गया है कि किस प्रकार धूर्त्तता व नपुंसकता मिल कर सौंदर्य, मासूमियत और यौवन को दोनों हाथों लूटा रहे हैं, तहस-नहस कर रहे हैं और यह सब कुछ बड़े ही 'धार्मिक' भावों की आड़ लेकर होता है। वास्तव में अभी भी नारी को 'वस्तु' ही समझा जाता है और लोलुप पुरुष उसे 'संपदा' समझ कर ही ग्रहण करता है—यही दिखाना लेखक का उद्देश्य है। (ख़ैर, सभ्य एवं शिक्षित लोगों की बात शायद और है !)

'सुहागिनें' शीर्षक देकर लिखी गई कहानी में दो नारी-चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन है। मनोरमा, जोकि एक मध्य-वर्गीय नारी है, स्कूल की मुख्याध्यापिका है और आर्थिकता जिसे सधवा होते हुए भी कुमारी अथवा विधवा का सा निराश्रित एवं एकाकी जीवन जीने पर बाधित कर देती है। इसके विपरीत है काशी नामक नौकरानी जो निस्संदेह निम्नवर्ग की है किन्तु फिर भी अपनी मालकिन मनोरमा से अधिक सुखी-संतुष्ट है। साधन-विहीन होकर भी वह मनो-ग्रंथियों में जकड़ी हुई नहीं ।

'गुनाहे बेलज्ज़त' कहानी में एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र अंकित किया गया है जिसकी अंतरात्मा अपराधिनी है और यह ग्रंथि (Guplt Comilex) उसे निरंतर सताती है। एक व्यभिचार से संबंधित कांड में जब पकड़-धकड़ शुरू होती है तो सुन्दर सिंह, जो कि स्वयं भी उस कांड का एक छोटा सा अंग रहा है, किस प्रकार घबराता और मान-प्रतिष्ठा के लिये छटपटाता है, यही दिखाना इस कहानी का उद्देश्य है। अंत में कुछ भी न होना और सुन्दर सिंह का निराश सा हो जाना भी एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है क्योंकि यह निराशा उस ग्रंथि (Guilt Complex) का एक अभिन्न अंग है।

'वारिस' एक करुणाजनक कहानी है जिसमें एक गरीब स्कूल मास्टर की मर्मांतक वेदना अंकित हुई है।

इस संग्रह की शेष तीन कहानियां कुछ कम महत्त्वपूर्ण ठहरती हैं। इन में लेखक ने 'इनर सेल्फ (Inner self) की बात उठाई है किन्तु विषय शुष्कता की सीमा तक पहुंच गया है और बात में वह ज़ोर नहीं आ पाया है जिसकी कि मोहन राकेश जैसे लेखक से आशा की जा सकती थी। ये कहानियां हैं :—'जीनियस,' 'बस स्टैंड की एक रात', 'आदमी और दीवार'।

कुल मिला कर कहा जा सकता है

(शेष पृष्ठ ७६ पर)

हरियाणवी—क्रिया

सोमदत्त बंसल

जनसाधारण के मानस में उद्वेलित होने वाली भाव-तरंगों, उनके मस्तिष्क में विचरण करने वाले विचारों तथा उनकी रीति-रिवाजों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उनकी बोली एक महत्त्वपूर्ण साधन है। या ऐसे कहा जा सकता है कि किसी प्रदेश की बोली में ही उस प्रदेश के जन साधारण की भावनाओं का समुद्र हिलोरे लेता है। उनका ज्ञान भंडार सुरक्षित रहता है तथा रीति रिवाजों का संचय होता है। किसी बोली में ही सम्बद्ध प्रदेश के जन साधारण की आत्मा के दर्शन होते हैं।

बोली की इकाई वाक्य को कहा जाता है वाक्य में कोई एक बात पूरी हो जाती है। वाक्य की रचना विभिन्न शब्दों से होती है। वैयाकरणों ने शब्दों के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण ,क्रिया आदि आठ भेद किए हैं। वैसे तो प्रत्येक शब्द-भेद का अपना अपना महत्त्व है परन्तु फिर भी यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि वाक्य में क्रिया का विशेष महत्त्व होता है। क्रिया के बिना कोई भी वाक्य पूर्ण नहीं होता। कई बार हम एक शब्द या अनेक शब्दों के ऐसे वाक्य देखते हैं जिनमें हमें क्रिया दिखाई नहीं देती। परन्तु वहां पर क्रिया प्रत्यक्ष रूप से न हो कर परोक्ष रूप से विद्यमान होती है। उदाहरण स्वरूप हरियाणवी बोली के इस वाक्य—"मोहन ! के तैं बाजार जावै सै", का उत्तर केवल "हां" से दे दिया जाता है। यहां पर "हाँ" के साथ "जाऊँसूँ" भी निहित है। इस क्रिया को वाक्य का चरण कहा जा सकता है। क्रिया के बिना वाक्य लड़खड़ा कर गिर पड़ता है।

आगे की पंक्तियों में इन पंक्तियों का लेखक हरियाणा प्रदेश की बोली हरियाणवी के क्रिया रूपों का कुछ परिचय देने का प्रयास करेगा।

धातु

धातु क्रिया का मूल रूप या आधार होती है। किसी क्रिया के विभिन्न रूपों में जो अंश सभी रूपों में विद्यमान हो उसे ही धातु कहा जाता है। उदाहरण स्वरूप 'भाजना' (भागना), 'भाजदा', 'भाज्या', 'भाजूं' 'भाजै' आदि रूपों मे 'भाज' (भाग) धातु है। कोषों आदि में क्रिया के इस मूल रूप या धातु के साथ 'ना' जुड़ा होता है। सुविधा के लिए इस लेख में भी 'ना' वाले रूपों को अपनाया जायगा। प्रयोग में लाते समय इन 'ना' वाले रूपों में से

'ना' निकाल दिया जाता है। हरियाणवी बोली में मूल तथा यौगिक दोनों प्रकार की धातुएं हैं।

मूल धातु—यह धातु किसी अन्य धातु या शब्द के आधार पर न होकर स्वयं अपने ही आधार पर बनी होती है। उदाहरण—आना, जाना, खाना, पीना आदि।

यौगिक धातु—यह धातु किसी अन्य धातु या शब्द के आधार पर बनती है। प्रेरणार्थक धातु नाम तथा धातु दोनों ही यौगिक धातु होती हैं।

प्रेरणार्थक धातु—हरियाणवी में इसकी रचना मानक हिन्दी के समान होती है। उदाहरण-स्वरूप 'नाटना' (इनकार करना) से प्रथम प्रेरणार्थक धातु 'नटाना' तथा द्वितीय प्रेरणार्थक धातु 'नटवाना'।

नाम धातु—मानक हिन्दी के समान ही 'हाथ' से 'हथियाना'। हरियाणवी बोली में नामधातु के प्रयोग का उदाहरण—"तन्नै बेरा कोना, वोह तो आपनी चिकनी चौपड़ी बातों से तेरा खेत हथिया लैगा।" (मानक हिन्दी में रूपान्तर—तुझे पता नहीं, वह अपनी चिकनी चुपड़ी बातों से तेरा खेत हथिया लेगा।)

अकर्मक, सकर्मक तथा उभयविध क्रिया

कुछ क्रियाओं का फल कर्ता पर ही पड़ता है। ऐसी क्रियाओं को किसी कर्म की अपेक्षा नहीं होती। कुछ अन्य क्रियाओं का फल कर्म पर पड़ता है। इसी आधार पर क्रियाओं को अकर्मक तथा सकर्मक दो वर्गों में बांटा जाता है। कुछ क्रियाएं ऐसी भी होती हैं जो अकर्मक तथा सकर्मक दोनों रूपों में प्रयुक्त हो सकती हैं। ऐसी क्रियाओं को उभयविध क्रियाएं कहते हैं। हरियाणवी बोली में भी मानक हिन्दी के समान ये तीनों प्रकार की क्रियाएं हैं।

अकर्मक क्रिया—बैठना, हंसना, चलना, मरना, कटना आदि।

सकर्मक क्रिया—देना, लेना, खाना, मारना, काटना आदि।

उभयविध क्रिया—भरना, खुजलाना आदि।

भरना अकर्मक के रूप में—

मटका भरै सै। (मटका भरता है।)

भरना सकर्मक के रूप में—

मैं मटका भरूँ सूँ। (मैं मटका भरता हूँ।)

खुजलाना अकर्मक के रूप में—

तेरा पैर खुजलावै सै। (तेरा पैर खुजलाता है।)

खुजलाना सकर्मक के रूप में—

तैं आपना पैर खुजलावै सै। (तू अपना पैर खुजलाता है।)

कृदन्त रूप

क्रिया के कृदन्त रूपों का प्रयोग अन्य शब्द-भेदों के समान होता है। उदाहरण स्वरूप—"दौड़दा बलद" (दौड़ता बैल)। यहां पर 'दौड़दा' कृदन्त रूप का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है। हरियाणवी बोली में प्रयुक्त होने वाले कृदन्तों के मुख्य प्रकार नीचे दिये जाते हैं :—

(१) **क्रियार्थक संज्ञा**—इस कृदन्त मे क्रिया का अर्थ बताने वाली संज्ञा होती है। मानक हिन्दी का जो 'ना' युक्त धातु का रूप कोषों और व्याकरणों में मिलता है, वह क्रियार्थक संज्ञा का रूप होता है। हरियाणवी म भी यह कृदन्त मानक हिन्दी के समान धातु के बाद 'ना' लगा कर बनाया जाता है। उदाहरणार्थ—भाज़ना (भागना) दौड़ना, हंसना, खाना पीना आदि।

मानक हिन्दी के समान हरियाणवी में भी संज्ञार्थ में प्रयुक्त होने पर इसका प्रयोग पुल्लिग एक वचन के रूप में किया जाता है। उदाहरणार्थ—"साच बोलना आच्छा सै" (सच बोलना अच्छा है)

कारक चिह्नों के साथ प्रयुक्त होने पर हरियाणवी में 'ना' के स्थान पर 'न' हो जाता है। इस दृष्टि से इसमें मानक हिन्दी में प्रयुक्त रूप से भिन्नता पाई जाती है। मानक हिन्दी में कारक चिह्नों के साथ प्रयुक्त होने पर 'ना' के स्थान पर 'ने' हो जाता है। उदाहरणार्थ—

हरियाणवी—**लड़न** में के राखा सै।
मानक हिन्दी—**लड़ने** में क्या रखा है।

कृदन्त का प्रयोग विशेषण के रूप में भी होता है। विशेषण रूप में प्रयुक्त होने पर हरियाणवी में इसका वचन तथा लिंग मानक हिन्दी के समान होता है।

उदाहरणार्थ—

हरियाणवी—बेरा ना के काम **होना** सै। के के काम **होने** सैं। के बात **होनी** सै।
मानक हिन्दी–पता नहीं क्या काम **होना** है। क्या क्या काम **होने** हैं। क्या बात **होनी** है।

(२) **वर्तमान कालिक कृदन्त**—इसका प्रयोग प्रायः विशेषण के रूप में होता है। मानक हिन्दी के सामान्य वर्तमान काल के रूप बनाने में भी इसको प्रयोग में लाया जाता है। हरियाणवी बोली में सामान्य वर्तमान काल के रूप बनाने के लिये इस कृदन्त के स्थान पर अनुज्ञा वाले रूप को प्रयोग में लाया जाता है। मानक हिन्दी में यह कृदन्त

धातु के पश्चात् 'ता' जोड़ कर बनाया जाता है। हरियाणवी में 'ता' के स्थान पर 'दा' जोड़ा जाता है।

उदाहरणार्थ—

हरियाणवी—चलदा, मारदा, दौड़दा, बैठदा आदि।

मानक हिन्दी—चलता, मारता, दौड़ता, बैठता आदि।

हरियाणवी में कई धातुओं के साथ 'दा' के स्थान पर 'न्दा' जोड़ कर यह कृदन्त बनाया जाता है। उदाहरणार्थ—

हरियाणवी—खान्दा, पीन्दा, जान्दा, रहन्दा आदि।

मानक हिन्दी—खाता, पीता, जाता, रहता आदि।

हरियाणवी में भी मानक हिन्दी के समान इस कृदन्त के रूप विशेषण की तरह विशेष्य के वचन लिंग के अनुसार बदलते हैं। उदाहरणार्थ—

हरियाणवी—चलदा बलद। चलदे बलद। चलदी गां।

मानक हिन्दी—चलता बैल। चलते बैल। चलती गाय।

हरियाणवी वर्तमान कालिक कृदन्त रूपों में मानक हिन्दी के वर्तमान कालिक कृदन्त रूपों से भिन्नता पाई जाती है। परन्तु हरियाणवी वर्तमान कालिक कृदन्त के रूप पंजाबी वर्तमान कालिक कृदन्त से मिलते हैं। इसी आधार पर कुछ लोग हरियाणवी को पंजाबी से प्रभावित मानने की भूल करते हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला, की 'सप्तसिन्धु' पत्रिका फरवरी, १९६५ के अंक में प्रकाशित डा० नानक चन्द शर्मा के "हरियाणवी पंजाबी और मेवाती" नामक लेख की निम्न पंक्तियां उध्दृत की जाती हैं :—

"......केवल यह देख कर कि हरियाणवी तथा पंजाबी में वर्तमान कालिक कृदन्त के रूप समान हैं, यदि कोई हरियाणवी को पंजाबी से प्रभावित मान बैठे, तो यह उसकी भूल होगी।"

(३) **भूत कालिक कृदन्त**—हरियाणवी में भूतकालिक कृदन्त बनाने के लिये मूल धातु और अन्तिम 'आ' बीच प्रायः 'य' का समावेश भी होता है। इस समबन्ध में श्री ई० जोसेफ Jatu Glossary (जाटू शब्दावली) में लिखते हैं :—

"In forming the past participle, there is interpolated, between the root and the final a' of the termination, a sound almost amounting to i' but not quite so distinct. It may be represented by y य"

"अर्थात् भूतकालिक कृदन्त बनाते हुए धातु और प्रत्यय 'आ' के बीच एक ध्वनि समाविष्ट होती है। यह ध्वनि लगभग 'ई' जैसी है परन्तु स्पष्ट रूप से वैसी नहीं है। इसे 'य' द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।"

उदाहरण:—

हरियाणवी—मार्या, दौड़्या, कर्या आदि ।

मानक हिन्दी— मारा, दौड़ा, किया आदि ।

(४) **कतृवाचक संज्ञा**—इस कृदन्त में क्रिया के आधार पर ऐसी संज्ञा बनती है जिससे कर्ता का भाव व्यक्त होता है। मानक हिन्दी में इस कृदन्त को बनाने के लिये धातु के साथ 'ने वाला' जोड़ा जाता है। हरियाणवी में मूल धातु के साथ 'न आला' जोड़ा जाता है । उदाहरणार्थ--

हरियाणवी—मारन आले से बचान आला तकड़ा सै ।

मानक हिन्दी—मारन वाले से बचाने वाला तकड़ा (शक्तिशाली) है ।

हरियाणवी में भविष्य कालिक कृदन्त के रूप में भी इसी कृदन्त का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ —

हरियाणवी	(मानक हिन्दी)	अंग्रेज़ी
करन आला	(करने वाला)	About to do
मरन आला	(मरने वाला)	About to die
वोह मरन आला सै।	(वह मरने वाला है।)	He is about to die

(५) पूर्वकालिक कृदन्त—मानक हिन्दी में यह कृदन्त बनाने के लिये धातु के पश्चात् 'कर' या 'कर के' जोड़ा जाता है। हरियाणवी में यह कृदन्त बनाने के लिये धातु के पश्चात् केवल 'के' जोड़ा जाता है । उदाहरणार्थ--

के हरियाणवी—मैं **खा के** आया सूं ।

मानक हिन्दी—मैं **खा कर (खाकर के)** आया हूँ ।

मानक हिन्दी में 'कर' धातु के पश्चात् केवल 'के' जोड़ कर यह कृदन्त बनाया जाता है, जैसे--मैं कर **के** आया हूँ ।

(६) तात्कालिक कृदन्त—इस कृदन्त रूप में तत्काल का भाव होता है। मानक हिन्दी में यह कृदन्त बनाने के लिए धातु के पश्चात् 'ते ही' जोड़ा जाता है। हरियाणवी में धातु के पश्चात् 'दे ही' या 'न्दे ही' जोड़ा जाता है। उदाहरणार्थ—

हरियणवी—वोह **डिगदे ही** मर गिया । चलदे ही । खान्दे ही ।

मानक हिन्दी—वह **गिरते ही** मर गया। चलते ही। खाते ही।

यदि वर्तमान कालिक कृदन्त के रूपों के भेद को ध्यान में रखा जाए तो हरियाणवी और मानक हिन्दी के तात्कालिक कृदन्त के रूप समान कहे जा सकते हैं।

(७) मध्य कालिक कृदन्त––इस कृदन्त में किसी क्रिया के 'मध्य में' का भाव होता है। यदि वर्तमान कालिक कृदन्त रूपों के भेद को ध्यान में रखा जाए तो तात्कालिक कृदन्त समान हरियाणवी और मानक हिन्दी के मध्यकालिक कृदन्त के रूप भी समान कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ––

हरियाणवी––जान्दे जान्दे हम लड़ पड़े। खान्दे खान्दे। चलदे चलदे।
मानक हिन्दी––जाते जाते हम लड़ पड़े। खाते खाते। चलते चलते।

विधि

विधि के व्यापार की रीति का बोध होता है। विधि के कुछ मुख्य रूप निम्न प्रकार हैं :––

(१) अनुज्ञा––इसका प्रयोग अनुमति, इच्छा,सम्भावना आदि के लिये होता है। अनुज्ञा के रूप बनाने के लिये धातु के साथ पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों लिगों में निम्न प्रत्यय जोड़े जाते हैं :––

मार धातु

	हरियाणवी	मानक हिन्दी
उत्तम पुरुष एकवचन	ऊँ––मारूँ	ऊँ––मारूँ
उत्तम पुरुष बहुवचन	आं, ऐं––मारां, मारैं	एं––मारें
मध्यम पुरुष एकवचन	ऐ––मारै	ए––मारे
मध्यम पुरुष बहुवचन	ओ––मारो	ओ––मारो
अन्य पुरुष एकवचन	ऐ––मारै	ए––मारे
अन्य पुरुष बहुवचन	ऐं––मारैं	एं––मारें

अनुमति, इच्छा, सम्भावना आदि के रूप में अनुज्ञा के प्रयोग के उदाहरण––

मैं भी साथ चालूं (मैं भी साथ चलूं)––अनुमति।

वोह भी साथ चालै तो अच्छा रह्वै (वह भी साथ चले तो अच्छा रहे) ––इच्छा।

कदे वोह म्हारे साथ न चालै (हो सकता है वह हमारे साथ न चले)–– सम्भावना।

हरियाणवी में सामान्य वर्तमान तथा सामान्य भविष्य काल के रूप भी अनुज्ञा रूपों के साथ सहायक क्रियाएं लगा कर बनाये जाते हैं। मानक हिन्दी में सामान्य भविष्य काल के

रूपों में तो अनुज्ञा रूपों का प्रयोग होता है परन्तु [illegible] वर्तमान निश्चय के रूपों में अनुज्ञा रूपों के स्थान पर वर्तमान कालिक कृदंत के साथ सहायक क्रियाएं लगाई जाती हैं ।

(२) **आज्ञा**—इसका प्रयोग केवल मध्यम पुरुष में होता है। इसमें भी अनुज्ञा के समान वचन भेद तो पाया जाता है परन्तु लिंग भेद नहीं पाया जाता। इसके रूप बनाने लिये धातु के साथ निम्न प्रत्यय जोड़े जाते हैं —

	हरियाणवी	**मानक हिन्दी**
एकवचन	—शून्य—मार	शून्य—मार
बहुवचन	—ओ—मारो	ओ—मारो

(३) **प्रार्थना**—प्रार्थना का प्रयोग भी केवल मध्यम पुरुष में होता है। हरियाणवी प्रार्थना के रूपों में भी वचन भेद होता है लिंग भेद नहीं। शिष्ट आज्ञा के लिये भी इसे प्रयोग में लाया जाता है। प्रार्थना के रूप बनाने के लिय धातु के साथ निम्न प्रत्यय जोड़े जाते हैं:—

	हरियाणवी	**मानक हिन्दी**
एकवचन	—इए—खाइए, जिए—पीजिए	आदर सूचक आप } खाइए, पीजिए
बहुवचन	—इयो—खाइयो, जियों—पीजियो	

उदाहरण स्वरूप—

एक लाड्डू मन्ने बी देइए रै (एक लड्डु मुझे भी दीजिए)।

एक लड्डू मन्न बी देइयो जी (एक लड्डु मुझे भी दीजिये)।

प्रार्थना और शिष्ट आज्ञा के अतिरिक्त इससे भविष्य काल के भाव का भी बोध होता है। उदाहरण स्वरूप—

उस नै ना छेड़िए, वोह लड़ पड़ेगा (उसे न छेड़िए, वह लड़ पड़ेगा)

मुख्य क्रिया तथा सहायक क्रिया

किसी क्रिया को विभिन्न रूपों में प्रयोग में लाते समय कभी तो उसी क्रिया से काम चल जाता है और कभी उसकी सहायता के लिये अन्य क्रिया या अन्य क्रियाओं को भी प्रयोग में लाया जाता है। उदाहरणस्वरूप—मैं चलूं। मैं चलूँ सूँ (मैं चलता हूँ।) मैं चल सकूँ सूँ (मैं चल सकता हूँ।) पहले वाक्य में 'चलना' एक ही क्रिया है। दूसरे वाक्य में 'चलना' और 'होना' दो क्रियाएं हैं। तीसरे वाक्य में 'चलना', 'सकना' और 'होना' तीन क्रियाएं हैं। इनमें 'चलना' मुख्य क्रिया है तथा 'सकना' और 'होना' सहायक क्रियाएं हैं। हरियाणवी में भी क्रियाओं के बहुत से रूप बनाने के लिये इन सहायक क्रियाओं की सहायता ली जाती है। मानक हिन्दी के समान हरियाणवी में भी 'सकना' और 'चूकना' क्रियाएं परतन्त्र

सहायक क्रियाएं हैं। 'चुकना' क्रिया के स्वतंत्र प्रयोग का एक उदाहरण कामता प्रसाद गुरु ने अपनी 'हिन्दी व्याकरण' नामक पुस्तक के पृष्ठ ३२१ (सातवां पुर्नमुद्रण) पर उद्धृत किया है—

"गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ।"

हरियाणवी में इस पंक्ति का रूपान्तर करना हो तो कुछ इस प्रकार होगा —

गान्दे गान्दे मुकै नहीं वोह भावें मैं ही मुक जाऊं।

यहां पर 'चुकना' के स्थान पर 'मुकना' हो गया है।

सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त होने पर क्रिया का मुख्य अर्थ समाप्त हो जाता है और उसका कुछ नया अर्थ निकलने लगता है। उदाहरण स्वरूप—

पड़ना—विवशता बोधक—

दारू खानी पड़ै सै (दवाई खानी पड़ती है)।

लगना—आरम्भ बोधक—

मैं काम करन लगूं सूँ (मैं काम करने लगता हूँ)।

देना—अनुमति बोधक—

मन्नें बी बोलन देगा के ना (मुझे भी बोलने देगा कि नहीं)।

पाना—अवकाश बोधक—

तैं इब अड़े से जान न पावैगी (तूं अब यहां से जाने न पावेगी)।

रहना—नित्यता बोधक—

वोह खेलदा रह्वै सै (वह खेलता रहता है)।

रहना—अपूर्णता बोधक—

वोह खेल रिहा सै (वह खेल रहा है)।

वोह खेल रिहा था (वह खेल रहा था)।

मानक हिन्दी के समान हरियाणवी में भी 'होना' क्रिया का सहायक क्रिया के रूप में बहुत प्रयोग होता है। इस सहायक क्रिया के विभिन्न रूप आगे दिए जाते हैं—

'होना' सहायक क्रिया

सामान्य वर्तमान काल (दोनों लिंगों में)

	हरियाणवी	**मानक हिन्दी**
उत्तम पुरुष एकवचन	सूँ	हूँ
उत्तम पुरुष बहुवचन	सां, सैं	हैं
मध्यम पुरुष एकवचन	सै	है

	हरियाणवी	मानक हिन्दी
मध्म पुरुष बहुवचन	सो	हो
अन्य पुरुष एकवचन	सै	है
अन्य पुरुष बहुवचन	सैं	हैं

सामान्य भूतकाल

	हरियाणवी		मानक हिन्दी	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
उत्तम पुरुष एकवचन	था	थी	था	थी
उत्तम पुरुष बहुवचन	थे	थी	थे	थीं
मध्यम पुरुष एकवचन	था	थी	था	थी
मध्यम पुरुष बहुवचन	थे	थी	थे	थीं
अन्य पुरुष एकवचन	था	थी	था	थी
अन्य पुरुष बहुवचन	थे	थी	थे	थीं

सामान्य भविष्य काल

	हरियाणवी		मानक हिन्दी	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
उत्तम पुरुष एकवचन	गा	गी	गा	गी
उत्तम पुरुष बहुवचन	गे	गी	गे	गी
मध्यम पुरुष एकवचन	गा	गी	गा	गी
मध्यम पुरुष बहुवचन	गे	गी	गे	गी
अन्य पुरुष एकवचन	गा	गी	गा	गी
अन्य पुरुष बहुवचन	गे	गी	गे	गी

पुरुष

मानक हिन्दी के समान हरियाणवी में भी उत्तम, मध्यम तथा अन्य तीन पुरुष हैं। इस पुरुष भेद के कारण मानक हिन्दी तथा हरियाणवी दोनों में ही क्रिया के रूप बदल जाते हैं; जैसे—

	हरिवाणवी	मानक हिन्दी
उत्तम पुरुष	हम जावां सां (या जावैं सैं)।	हम जाते हैं।
मध्यम पुरुष	तुम जाओ सो।	तुम जाते हो।
अन्य पुरुष	वे जावे सैं।	वे जाते हैं।

वचन

मानक हिन्दी के समान हरियाणवी में भी एकवचन तथा बहुवचन दो वचन हैं संस्कृत भाषा में पाया जाने वाला द्विवचन मानक हिन्दी तथा हरियाणवी दोनों में ही नहीं है। वचन भेद से भी मानक हिन्दी और हरियाणवी दोनों में ही क्रिया के रूप बदल जाते हैं। उदाहरणस्वरूप—

	हरियाणवी	मानक हिन्दी
एकवचन	मैं जाऊँ सूँ।	मैं जाता हूँ।
बहुवचन	हम जावां सां (या जावैं सैं)।	हम जाते हैं।

लिंग

मानक हिन्दी के समान ही हरियाणवी में भी पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग दो लिंग हैं। संस्कृत तथा अंग्रेज़ी में पाए जाने वाले नपुसकलिंग, जिसमें निर्जीव पदार्थ रखे जाते हैं, मानक हिन्दी तथा हरियाणवी दोनों में अभाव है। लिंग भेद के कारण भी मानक हिन्दी तथा हरियाणवी दोनों में ही क्रिया के रूप बदल जाते हैं। उदाहरणस्वरूप—

	हरियाणवी	मानक हिन्दी
पुल्लिग	वोह जावै था।	वह जाता था।
स्त्रीलिंग	वोह जावै थी।	वह जाती थी।
पुल्लिग	जे वोह आन्दा तो मारा जान्दा।	यदि वह आता तो मारा जाता।
स्त्रीलिंग	जे वोह आन्दी तो मारी जान्दी।	यदि वह आती तो मारी जाती।

लिंग-भेद की दृष्टि से सामान्य वर्तमान काल के रूपों में मानक हिन्दी और हरियाणवी में भिन्नता है। वर्तमान काल के रूपों में मानक हिन्दी में तो लिंग-भेद है परन्तु हरियाणवी में नहीं। उदाहरण स्वरूप—

	हरियाणवी	मानक हिन्दी
पुल्लिग	राम जावै सै।	राम जाता है।
स्त्रीलिंग	सीता जावै सै।	सीता जाती है।

इस विभिन्नता का कारण केवल यही है कि मानक हिन्दी में इस काल के रूप वर्तमान कालिक कृदन्त के रूपों की सहायता से बनाए जाते हैं जिनमें लिंग-भेद होता है और हरियाणवी में अनुज्ञ के रूपों की सहायता से जिन में लिंग भेद नहीं होता।

काल

कामता प्रसाद गुरु के शब्दों में "क्रिया के उस रूपान्तर को काल कहते हैं जिससे क्रिया के व्यापार का समय तथा उसकी पूर्ण वा अपूर्ण अवस्था का बोध होता है; ...."।

हरियाणवी में भी मानक हिन्दी के समान क्रिया के कालों के मुख्य तीन भेद होते हैं—वर्तमानकाल, भूतकाल तथा भविष्य काल। व्यापार की पूर्णता तथा अपूर्णता के आधार पर इ के आगे उपभेद भी हो सकते हैं। क्रिया के जिस रूप से पूर्णता तथा अपूर्णता का बोध न हो उसे सामान्य अवस्था, जिस रूप से पूर्णता का बोध हो उसे पूर्ण अवस्था तथा जिससे अपूर्णता का बोध हो उसे अपूर्ण अवस्था कहा जाता है। कामता प्रसाद गुरु ने अपने 'हिन्दी व्याकरण' में कालो के सात भेद बताए हैं। उन्होंने भविष्य काल में अपूर्णावस्था तथा पूर्णावस्था को नहीं माना। साथ ही यहां पर यह लिखना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि जिसे उन्होंने पूर्ण वर्तमानकाल कहा है उसका दूसरा प्रचलित नाम आसन्न भूत है। कामता प्रसाद गुरु के काल विभाजन को आधार मानते हुए और उन द्वारा रखे हुए नामों को अपनाते हुए हरियाणवी क्रिया के कालों के रूप दिये जाते हैं —

'आना' क्रिया के विभिन्न कालों के रूप

	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
सामान्य वर्तमान काल——	हरियाणवी——मैं आऊँ सूँ।	मैं आऊँ सूँ।
	मानक हिन्दी——मैं आता हूँ।	मैं आती हूँ।
अपूर्ण वर्तमान काल——	हरियाणवी——मैं आ रिहा सूँ।	मैं आ रिही सूँ।
	मानक हिन्दी——मैं आ रहा हूँ।	मैं आ रही हूँ।
पूर्ण वर्तमान काल——	हरियाणवी——मैं आया सूँ।	मैं आई सूँ।
	मानक हिन्दी——मैं आया हूँ।	मैं आई हूँ।
सामान्य भूत काल——	हरियाणवी——मैं आया।	मैं आई।
	मानक हिन्दी——मैं आया।	मैं आई।
अपूर्ण भूतकाल——	हरियाणवी——मैं आ रिहा था।	मैं आ रिही थी।
	मानक हिन्दी——मैं आ रहा था।	मैं आ रही थी।
पूर्ण भूतकाल——	हरियाणवी——मैं आया था।	मैं आई थी।
	मानक हिन्दी——मैं आया था।	मैं आई थी।
सामान्य भविष्य काल——	हरियाणवी——मैं आऊँगा।	मैं आऊँगी।
	मानक हिन्दी——मैं आऊँगा।	मैं आऊँगी।

ऊपर उत्तम पुरुष एक वचन के रूप दिये गए हैं। शेष पुरुषों और बहुवचन के रूप बनाने के लिए हरियाणवी में भी मानक हिन्दी के समान यथोचित परिवर्तन कर लिया जाता है। सामान्य वर्तमान काल के रूपों में ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि हरियाणवी में इनमें काल भेद नहीं होता। हरियाणवी में ये रूप अनुज्ञा के रूपों के साथ सहायक क्रिया

जोड़ कर बनाए जाते हैं। मानक हिन्दी में सामान्य वर्तमान काल के रूपों में लिंग भेद होता है। मानक हिन्दी में ये रूप वर्तमान कालिक कृदन्त के साथ सहायक क्रिया लगा कर बनाए जाते हैं। शेष सब कालों के रूप हरियाणवी में मानक हिन्दी के समान ही हैं।

वाच्य

अन्त में हरियाणवी क्रिया के वाच्य के सम्बन्ध में कुछ परिचय दिया जाता है। कामता प्रसाद गुरु के शब्दों में "वाच्य क्रिया के उस रूपान्तर को कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य में कर्ता के विषय में विधान किया गया है वा कर्म के विषय में अथवा केवल भाव के विषय में; जैसे 'स्त्री कपड़ा सीती है' (कर्ता), 'कपड़ा सिया जाता है' कर्म, यहां बैठा नहीं जाता (भाव)।"

हरियाणवी में भी मानक हिन्दी के समान कर्तृ वाच्य, कर्मवाच्य तथा भाव वाच्य तीन वाच्य हैं। हरियाणवी में अधिकतर कर्तृ वाच्य का ही प्रयोग होता है। कर्मवाच्य बनाने का ढंग हरियाणवी और मानक हिन्दी में समान है। दोनों में 'जाना' क्रिया के रूपों की सहायता से कर्म वाच्य बनाया जाता है हरियाणवी और मानक हिन्दी के कर्मवाच्य में केवल हरियाणवी और मानक हिन्दी के रूपों की विभिन्नता होती है। उदाहरण स्वरूप–

हरियाणवी कर्मवाच्य—मैं मार्या जाऊँ सूँ।
मानक हिन्दी कर्म वाच्य—मैं मारा जाता हूँ।

अंग्रेज़ी आदि कुछ भाषाओं में कर्मवाच्य का प्रयोग पर्याप्त होता है परन्तु हरियाणवी में कर्मवाच्य का प्रयोग कम ही होता है। इस कथन की पुष्टि के लिए श्री ई० जोसेफ की Jatu Glossary (जाटू शब्दावली) की निम्न पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं:—

"The best rule for the use of the passive is, to avoid it wherever possible, eg., instead of saying 'the tree was blown down by the wind, 'the Jat will either say 'the wind blew the tree down' more probably 'The tree fell down for the wind'. Ordinarily the passive is little used, except in such phrases as मैं मार्या गिया main marya giya.'

अर्थात् "कर्मवाच्य के प्रयोग का सब से अच्छा नियम यह है कि यथा सम्भव इससे बचा जाए अर्थात् (हरियाणा का) जाट 'हवा द्वारा वृक्ष गिराया गया' इस ढंग से कहने के स्थान पर वह इस ढंग से कहेगा कि 'हवा ने वृक्ष गिराया' और अधिकतर वह इस ढंग से कहेगा कि हवा से वृक्ष गिर पड़ा। 'मैं मार्या गिया' जैसे वाक्याशों के सिवाए साधारणतः कर्मवाच्य का प्रयोग बहुत कम होता है।"

कर्मवाच्य के समान भाववाच्य का हरियाणवी रूप भी मानक हिन्दी से मिलता जुलता है। अधिकतर विवशता आदि के प्रसंग में इस वाच्य को प्रयोग में लाया जाता है; जैसे—

हरियाणवी—ईब तो लाचार हो गिया सूँ। उठा बैठा बी नी जान्दा।

मानक हिन्दी—अब तो लाचार हो गया हूँ, उठा बैठा भी नहीं जाता।

वैसे कर्मवाच्य के समान ही भाववाच्य का भी प्रयोग हरियाणवी में कम ही होता है।

(पृष्ठ ६३ का शेष)

कि मोहन राकेश ने अपनी कहानियों द्वारा नवीन तथा मौलिक प्रयोग किये हैं। ये प्रयोग प्रभावशाली तथा सशक्त भी हैं। लेखक का विकास रुका नहीं है। सच तो यह है कि हिन्दी-कथा-साहित्य को राकेश जी से बहुत सी आशाएं हैं। यशपाल तथा अश्क के बाद मोहन राकेश का नाम ही पंजाब की ओर से हिन्दी-कथा साहित्य में अत्यधिक महत्त्व का अधिकारी है।

०००

सेवा में,

निदेशक,

हिन्दी विभाग, पंजाब

विषय :— सप्तसिन्धु तथा जन साहित्य ।

मान्य महोदय

मैंने आप द्वारा प्रकाशित जन-साहित्य विशेषांक "हरियाणा लोक-मानस" पढ़ा । जिसे पढ़ कर मन को अति आनन्द तथा सन्तोष हुआ । कितना इतिहास कितना साहित्य जिसके बारे में एक पंजाबी होकर भी अनजान था । लोक साहित्य की जानकारी से मन को बहुत शान्ति मिली । जिसके लिये आप तथा आपके हिन्दी विभाग का कृतज्ञ हूँ । आशा करता हूँ कि आप ऐसे विशेषांक भविष्य में भी उपलब्ध करवाते रहोंगे । यदि इसी बीच में आपकी पत्रिकायें "सप्तसिन्धु" तथा "जन–साहित्य" का कोई और विशेषांक निकला हो तो कृपा वी० पी० पी० से भेज दीजिये । या पत्र से जानकारी देना ताकि में मनिआर्डर से उसका मूल्य भेज कर मंगवा लूं ।

धन्यवाद सहित,

भवदीय,

हस्त:—राजेन्द्र पाल शुक्ल

जुलाई, १९६६ ५० पैसे

सप्त सिन्धु

(मासिक प्रकाशन)

वर्ष १३ अंक

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवा कर प्रकाशित किया गया ।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सन्तों के सप्त महाव्रत

डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

चिन्तन एवं अनुभूति मानव जीवन एवं समाज के दो पक्ष, दो स्तम्भ हैं। इनमें से एक का सम्बन्ध आध्यात्मिक उपलब्धियों और द्वितीय का सम्बन्ध सामाजिक जीवन की उपलब्धियों से है। संत साहित्य का सम्बन्ध इन दोनों से है। तात्पर्य यह है कि वह चिन्तन प्रधान भी है और अनुभूति प्रधान भी। संत साहित्य के महान् सागर में चिन्तन का अगाध जल भरा हुआ है और उसमें अनुभूति की उत्ताल उर्मियां दृष्टिगत होती हैं। सन्तों की अभिव्यक्ति का आधार है उनकी अनुभूति। यह अनुभूति बहुमुखी है। कभी वह समाज की अनुभूति है, कभी जीवन की, कभी दार्शनिक जगत् की, कभी ब्रह्मानुभूति। कबीर ने बहुत ही स्पष्टतया कहा है कि "तू कहता है कागद लेखी, मैं कहता हूँ आंखिन देखी।" अनुभूत तत्त्वों पर इन्होंने बड़ा बल दिया है। जीवन को निकट से देख कर, उसके सामान्य तथा असामान्य तत्वों की ओर इन्होंने जनता का ध्यान आकर्षित किया है। वे मानव जीवन के अत्यन्त सूक्ष्म पर्दालोक, दृष्टा तथा समीक्षक थे। उनकी दृष्टि में जीवन की कितनी महत्ता थी, कितनी उपयोगिता थी यह निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है :—

१. कबीर कहा गरबियो,
इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि,
खांखर भये पलास ॥१

२. जग जीवन ऐसा सुपने जैसा,
जीवन सुपनं समानं।
साचु का हम गांठ दीन्हीं,
छो डिपण निधानं ॥२

३. सुन्दर यों ही देखते,
औसर वीत्यों जाइ।
अंजुरी महि नीर ज्यों,
कित्ती बार ठहराइ ॥३

---

१. कबीर ग्रन्थावली, चितावणी के अंग : पृ० १
२. कबीर ग्रन्थावली, चितावणी के अंग :पृष्ठ
३. संतवानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १११

संतों की दृष्टि में जीवन निःसार है, यह क्षणभंगुर तथा नश्वर है। परमार्थ करता हुआ ब्रह्म के चरणों में तादात्म्य संप्राप्त कर लेना ही जीवन की परमगति, परम उपलब्धि तथा श्रेष्ठत्वता है। यही जीवन ऐसा समय है जब मानव मुक्ति या आवागमन के बंधन से छुटकारा संप्राप्त करने की चेष्ठा में अनुरक्त हो सकती है। अग्निपुराण में भी कहा गया है कि मानव जन्म के अभाव में जीव मुक्ति के लिये प्रयत्न नहीं कर सकता।१ हमारे देश, हमारे साहित्य और हमारी परम्पराएं जीवन को केवल अचेतन अवस्था का विरोधी मात्र हम मान लें।२ हमारे देश में जीवन सेवा, कर्त्तव्य, परमार्थ तथा उत्सर्ग का पर्याय रहा है। इसीलिये कबीर ने कहा है कि "मानुष सोई जानिये, जाहि विवेक विचार"।३ सुन्दरदास की दृष्टि में मानव जन्म दुर्लभ है।४। विनाश रहित अप्रमेय नित्यरूप जीवात्मा के समस्त शरीर नाशवान हैं।५ इस प्रकार के आसार, क्षणभंगुर संसार को मानव सत्य मान बैठता है, जीवन का ध्येय चरम लक्ष्य वह उपभोग मान लेता है। मानव के लिए दोनों ही मार्ग उन्मुक्त हैं। चाहे वह संयम से युक्त मार्ग को ग्रहण करले चाहे असंयम उपभोग तथा लौकिक आनन्दों की कष्ट-दायक शृंखला में अपने को बांध कर अपने को प्रसमता की स्थिति में समझ ले। संयम या व्रत मानव जीवन की

---

१. विमुक्ति हेतु कान्या तु नरयोनिः कृतात्मताम्
न मुज्जन्ति हि संसारे विभ्रान्त सनसोगताः ।।
जीवा मनुष्यतां गन्ये जन्म नामयुतैडरापि
तदी हकं दुर्लभं प्राप्य मुक्ति द्वारं विचेतसः ।।
(अग्नि पुराण सर्ग कथन नामाध्याय)

२. The Oxford Dictionary tells us that life is "The condition attribute of living or being alive, onemate existence, opposed to death. This definition atonce begs the question and argues in a circle Dr. Jhonson takes a more 18th Century attitude and says life is union and co-operation of Soul with body vitality, animation, opposed to incenimate State.
[Life:—Sir Aurthier E. Shipley.]

३. संत वानी संग्रह, भाग १ पृष्ठ ५२।

४. बेर बेर नहि पाइये सुन्दर मानुष देहः : वही, पृष्ठ १११

५. अन्तवन्त इमे देहा नित्य स्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनो उप्रमेयस्य तस्त्राधुध्यस्व भारत। गीता अध्याय २।१८।

उच्छृंखल धारा को धर्म, तथा नैतिकता के कूलों में निबद्ध करके उसे मर्यादित रूप प्रदान करते हैं। जीवन की सौम्यता, सुष्ठुता तथा सुव्यवस्था प्रदान करने के लिये सन्तों ने अनेक प्रकार के व्रतों या संयमों को धारण करने का उपदेश दिया है। ये व्रत जहां एक ओर धर्म के क्षेत्र में मानव मुक्ति तथा भक्ति दिलाने में सहायक हैं वहां दूसरी ओर सामाजिक जीवन में इनकी बड़ी महत्ता है। इन समस्त व्रतों से संयुक्त मानव निश्चय ही सामाजिक महापुरुष है। वह दूसरों के लिये न केवल आदर्श है, वरन् वह अपने व्यक्तित्व के माध्यम से ऐसे गुणों को विकीर्ण करता है, जो स्वतः दूसरे के जीवन का निर्माण करने में सहायक हो सकते हैं। संतों ने जिन सप्त महाव्रतों को आत्मसात करने का बारम्बार उपदेश दिया है, वे निम्नलिखित हैं :—

१. सत्य २. अहिंसा ३. ब्रह्मचर्य ४. अस्तेय ५. सन्तोष ६. धृति ७. दम।

अब हम इनमें से प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् विचार करते हुए, संतों के दृष्टिकोण का अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम सत्य को ही लीजिए।। सत्य ईश्वर का पर्याय है।'सत्य' जीवन की सब से बड़ी उपलब्धि है। जो कुछ जैसा देखा, सुना या किया जाय उसे उसी रूप में वाणी द्वारा व्यक्त करना 'सत्य' है। सत्य से श्रेष्ठ धर्म नहीं है, झूठ के समान पातक नहीं, सत्य से अधिक श्रेष्ठ कोई ज्ञान नहीं है। अतः सत्य का ही आचरण करना चाहिए।१ सत्य परिणाम में सुखदायी होता है। 'चाणक्य नीति' में कहा गया है कि संसार की समस्त भौतिक शक्तियां सत्य से ही संचालित हैं। सत्य से ही पृथ्वी स्थिर है, सत्य से ही सूर्य तप रहा है, सत्य में ही वायु बह रही है। सत्य से ही सब स्थिर है।२ सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं है। धर्म, तप, योग, परब्रह्म, यज्ञ जितना भी सर्वम कल्याण स्वरूप है, वह सब सत्य ही है।।३। मन वाणी तथा कर्म की एकता ही सत्य है। हिन्दी के संत कवियों ने सत्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा या लिखा है वह परम्परागत विचारधारा से

१. नहि सत्यात्परो धर्मो नान्ततात्पातक परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्।।

२. सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रवि:।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।

३. सत्यं धर्मस्त पोयोगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्त सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।

प्रभावित होते हुए भी चिंतन विषयक अपनी अभिनवता से सम्पन्न है। अपने समय की विषमता की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं कि बड़ी विचित्र तथा विषम स्थिति है। सत्य का कहीं सम्मान नहीं है, पर झूठ का आदर सर्वत्र है। सत्यवादी पर कोई विश्वास नहीं करता है और असत्य में सर्वदा अनुरक्त प्राणी पर सभी विश्वास कर लेते हैं। दूध, गोरस दर-दर बिकता है फिर भी कोई नहीं पूछता है और मदिरा का पान करने के लिये लोग मदिरालय तक दौड़ते हैं[१] अतः सत्य का परिपालन तथा अंगीकार करना दुष्कर कार्य है, सत्य ही तप है, सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही गुरु है[२] कबीर के समान दादू भी सत्य को ब्रह्म का रूप ही नहीं पर्याय मानते हैं[३] परन्तु संत दादू भी अपने युग की विषमता से दुःखी होकर कहते हैं कि झूठ ने सत्य का, दम्भ ने सत्य का, विष ने अमृत का स्थान ग्रहण कर लिया है। संसार ऐसा दीवाना है कि वह दुःख को सुख मान बैठा है, कितने दुःख की बात है[४] सत्य को प्रकाशित, विज्ञापित या अभिव्यक्त करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य को दीपक दिखाने से क्या लाभ हो[५] लेकिन साईं को सत्य तथा झूठों को भ्रम, दूई, द्वैत प्रिय है। किस पथ पर, कहां तक मानव चल सकेगा ? यह विचारणीय समस्या है[६] संत कवि गरीबदास के मत से सत्य ही ब्रह्म है, अतः समस्त जंजाल का परित्याग

---

१. साचे कोई न पतीजई, झूंठे जग पतियाय ।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय ।।
—संत वाणी संग्रह भाग, १, पृष्ठ ४६ ।

२. साच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदे साच है, ता हिरदे गुरु आप ।।वही, पृष्ठ ४६ ।

३. साचा नांव ऊलाह का, सोई सति करि जाणि ।
निहचल करि ले वनूगी, दादू सो परवाणि ।। वही, पृष्ठ ६४ ।

४. झूठा सांचा करि लिया, विष अमृत जाना ।
दुख कौं सुख सबको कहें, ऐसा जगत दिवाना ।।वही, पृष्ठ ६४

५. (क) जो तेरे घर सांच है तो कहि काठि जनाव ।
अन्तरजामि जानि है अंतरतम का भाव ।।कबीर, वही, पृष्ठ ४६
(ख) ऊपरि आलम सब करै, साधू जन घट माठि । (दादू, वही, पृष्ठ ६४)

६. हुई दरोग लोग कौं भावै, साई सांच पियारा ।
कौण पंथ हम चलै कहां धौं, साधो करौ विचार ।। वही, पृष्ठ ६४ ।

करके सत्य का परिपालन करना चाहिए [1] सत्यवादी ही संत है, वे ही सूरमा हैं, वे ही जूझ ने वाले अर्थात् माया से पूर्णतया संघर्ष कर सकने में समर्थ प्राणी है[2]

इन संतों की वानियों में सत्य के सम्बन्ध में जिस मत का प्रतिपादन हुआ है, वह धार्मिक जीवन तथा सामाजिक जीवन में समान रूप से उपयोगी, वांछित तथा महत्वपूर्ण है । सत्य का व्रत सबसे बड़ा तप है । सत्यवादी अनेक कष्टों का सामना करता है, विपत्तियों को झेलता है। सत्यवादिता ही जीवन की बड़ी शक्ति है। हमारे युग पुरुषों ने सदैव सत्य का समर्थन किया और अनेकानेक कष्टों का अनुभव करते हुए भी सत्य के पथ पर अग्रसर रहे हैं । सत्य, दम्भ, अनृत, असंगत तथा लोकाचार का बड़ा भारी प्रबल शत्रु है। सत्य के उदित होने पर, असत्य स्वतः अस्त हो जाता है, अन्तर्हित हो जाता है । सामाजिकता की दृष्टि से इसका और भी अधिक मूल्य है । इसीलिये संतों ने अपने सप्त महाव्रतों में सत्य को श्रेष्ठ स्थान दिया है ।

अहिंसा, संतों का द्वितीय महाव्रत है । संतों का अहिंसावाद बहुत अंशों में 'बौद्धदर्शन' से प्रभावित है और इस शताब्दी में उसमें महात्मा गांधी को 'अहिंसा दर्शन' स्थापित करने की प्रेरणा दी। अहिंसा आचार धर्म का विशिष्ट अंग है । मनसा वाचा कर्मणा निरपराध प्राणी को कष्ट देना हिंसा है और इसके विपरीत कर्म अहिंसा है । 'महाभारत' में इसी को **"संतां** धर्मः सनातनः" कहा गया है[3] तात्पर्य यह है कि मनसा, वाचा, कर्मणा किसी के प्रति द्रोह करना ही हिंसा है। 'महाभारत' में यह भी उल्लिखित है कि अहिंसा में रत पुरुष दीर्घायु, आरोग्य तथा सदैव सुखी रहता है[4] भगवान मनु ने तो यहां तक कहा है कि अहिंसा व्रत का परिपालक ही अनन्त सुख को सम्प्राप्त करता है[5] । मनु जी के

---

१. संत बाणी संग्रह भाग, १, पृष्ठ २०३, साखी : ३
२. वही वही, पृष्ठ २०३, साखी १०।
३. अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं सतां धर्मः सनातनः ।।महाभारत वनपर्व ।
४. अधृष्य सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सुखी ।
भवत्भक्षयन्मांसं दयावान् प्राणिनामिह ।।महाभारत अनुशासनपर्व ।
५. यो वन्धनवधक्लेश शान्प्राणिनां न चिकीर्षत ।
स सर्वस्याहितप्रेप्सुः सुखमत्यन्त मश्नुते ।।
यद्ध्यायाति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
देवान्योत्यलेन यो हिनस्ति न किंचन ।।मनुस्मृति अ० ५ ।

अनुसार अहिंसा में रत प्राणी को यह समझना चाहिए कि जैसा उसका सुख दु:ख है, वैसा ही अन्य का भी। प्राणीमात्र सुख से सुखी तथा दु:ख से दु:खी होते हैं अत: ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए कि जीवों को भयजन्य दु:ख हो[1] 'चाणक्य नीति' में अहिंसा रत को ही स्वयं सिद्ध कहा गया है[2] हिंसा में अनुरक्त प्राणी सदैव बध्य है "नाततायि-वधे दोषो" तथा "आततायिनामायातं हत्यादेवाविचार यन्"[3]

अब संत कवियों की अहिंसा भावना पर आइये। संतो ने अहिंसा विषयक अपने विचारों को 'मांस अहार को अंग', 'दया को अंग, आदि शीर्षकों के अन्तर्गत विषय है कबीर ने मांसहार करने वाले मानव को प्रत्यक्ष राक्षस माना है[4] मांस सभी एक समान है क्या गाय का क्या बकरी का सभी समान है। ऐसे प्राणी जो मांसाहार में प्रवृत्त हैं वे नरक की यातनाओं का उपभोग करते हैं[5] दादू कबीर की बात को और प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हुए कहा है "सब सूरति सुबहान की मुल्लां मुग्ध न मारि"[6] मानव अपने मन, विषयों तथा इन्द्रियों को नहीं मारता है, वह दूसरे जीवों की हत्या करता है। ऐसे प्राणी ब्रह्म तक कभी नहीं पहुंच सकते है[7] संत मलूक दास की अहिंसा भावना का प्रसार मानव तथा पशु जगत तक ही नहीं हुआ वरन् वे वनस्पति जगत को भी अपनी दया तथा अहिंसा भावना के प्रसार का क्षेत्र मानते हैं। मलूक दास की निम्न-लिखित पंक्तियों में अहिंसा भावना

---

१. अनुमन्ता बिशसिता निहन्ता क्रय विक्रयो ।
संस्कारता पोमहर्ता च काद कश्चेति घानक:।। मनुस्मृति अ० ५ ।

२. (क) प्राण यथात्मनो भीष्टा भूतानामचि वे तथा ।
आत्मो पम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भि: कृतात्मभि: ।।महाभारत अनुशासनपर्व
(ख) सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते, सर्पाणि दु:खस्य भृशं त्रसन्ते ।
तेषा भयोत्पादनजात खेद: कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्धधान ।।

३. यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु ।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनै: । चाणक्य नीति ।

४. मनुस्मृति : अ० ८, श्लोक ३५१ तथा ३५० ।

५. संतवानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६१ । १ ।

६. वही वही, ६१/११३।

७. वही वही, पृष्ठ ६५। ३।

साकार हो उठी है । वे कहते हैं "हरी दारि न तोड़िये, लागे, छुरा जान । दास मलूका यों कहें, अपना सा जिव जान"१ मलूकदास के इन शब्दों के अनंतर संतों की अहिंसा भावना के विषय में कुछ भी कहना शेष नहीं रह गया। कवि का भाव जगत या चिन्तन शैली कितनी समृद्ध है। संत धरनीदास ने धर्मार्थ हिंसा करने वालों पर बड़ा मधुर व्यंग्य करते हुए कहा है कि "मांस अहारी जीयरा सो पुनि कथै गियान । नांगी है घूंघट करै, धरनि देखि लजान" ।२

संत मलूकदास तथा धरनीदास, संतों की अहिंसा भावना का प्रतिनिधत्व करने के लिये पर्याप्त हैं । इन दोनों के साधना, जीवन तथा अहिंसा के सम्बन्ध में उपर्युक्त शब्दों में बड़ी सरलता के साथ, बड़ी गम्भीरता के साथ अहिंसा के महत्व और अनिवार्यता पर अपने विचारों को प्रकट कर दिया है। वह प्राणी धन्य है जो दूसरों के कष्टों तथा सुखों को अपना समझता है, जो दूसरों की विपत्तियों में सहायक होता है और वह महान्‌ात्मा पूजनीय है जो वनस्पति जगत मे भी उस ब्रह्म की स्थिति देखता है जो सबका नियंता है। इन प्रकाश स्तम्भों के महान् तथा उच्चादर्शों के साथ समस्त जगतज्ञान नत-मस्तक है ।

संतों का तृतीय महाव्रत है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है अष्ट विधि मैंथुन से वचने की विधि । ब्रह्मचर्य का सीधे तौर से सम्बन्ध है इन्द्रिय निग्रह' से । सच बात यह है कि अहिंसा का पालन ब्रह्मचर्य के बिना असम्भव है । ब्रह्मचर्य का पालन इसी प्रकार मनसा, वाचा कर्मणा होना चाहिए, यथा अहिंसा के पालन के हेतु हमें मन, वचन तथा कर्म की समन्वित शक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है। ब्रह्मचर्य मानसिक एवं शारीरिक शक्ति की समृद्धि तथा सम्पन्नता में सहायक होता है । ब्रह्म का अर्थ है ईश्वर या विद्या। ईश्वर या विद्या के हेतु जो आचरण किया जाता है उसका नाम है ब्रह्मचर्य या अब यह शब्द वीर्य रक्षा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वीर्य ही शरीर का सब से बड़ा ओज है । आयुर्वेद में कहा गया है कि इस तेज को नष्ट हो जाने पर शरीर नष्ट हो जाता है।३ वेद में उल्लिखत है कि ब्रह्मचर्य एवं तप के बल पर देवता लोग मृत्यु को भी जीत लेते हैं । "ब्रह्मचर्येण"

१. संतवानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १०४।२
२. संत वाणी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ११६।
३. ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम् ।
हृदयस्थापि व्यापि देहास्थिति निवन्धनम् ॥

तपसय् देवा मृत्युमुपान्यत" । योगसूत्रों में ऋषि पतंजलि ने लिखा है कि 'ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः"। "महाभारत" में वर्णित है कि "ब्रह्मचर्य परोधर्मः....."। ब्रह्मचर्य के हेतु इन्द्रिय निग्रह परमावश्यक है। कठोपनिषद् में इन्द्रिय निग्रह का उपदेश बड़ी रोचक शैली में सम्पादित हुआ है। कहा गया है, कि शरीर एक रथ है, जीवात्मा रथी है, दसों इन्द्रियां रथ का वहन करने वाले घोड़े हैं, मन घोड़ों की वागडोर है, विवेक सारथी है।।१। इन्द्रियों का संयम करने वाले को स्मरण रखना चाहिए कि कर्मेंद्रियों का संयम करके मन से अहर्निश विषयों में अनुरक्त रहने वाला पाखंडी है । अतः ब्रह्मचर्य के लिये मन का संयम आवश्यक है ।।२।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य में इन्द्रिय निग्रह तथा वीर्य रक्षा दोनों ही आवश्यक तत्त्व हैं । हिन्दी के संत कवियों ने इसी दृष्टि से ब्रह्मचर्य पर अपने उपदेश अंकित किये हैं । संतों ने भक्ति की साधना के लिये ब्रह्मचर्य को अनिवार्य माना है, जो कामी है, क्रोध में रत है , वह भक्ति की साधना क्या करेगा ।।३। काम के साथ नाम की साधना असम्भव है .। कहीं सूर्य और रात्रि का ऊर्धवम् एवं स्थान पर एकत्र हो सके हैं ? ।४। ब्रह्मचर्य से रहित पंडित भी मूर्ख के समान ही है। (५) मन एक ही है । उसे जहां चाहें अनुरक्त कर लीजिये चाहे काम में, चाहे भक्ति में। वह दोनों में समान रूप से नहीं अनुरक्त हो सकता है । (६) मन के संयम से ही ब्रह्मचर्य की सिद्धि होती है, तभी ब्रह्म की प्राप्ति होती

---

१. आत्मानं रथिनं बिद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धि तु साए विद्धिः मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानादुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।कठोपनिषद ।

२. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। श्रीमद्भागवद् गीता ।

३. संत वानी, संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५३।१ ।

४. संत वानी, संग्रह, भाग, १, पृष्ठ ५३।३

५. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ ५३।४।

६. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ ५५।४।

है।१ ब्रह्मचर्य से विमुख प्राणी का तन मन संतप्त रहता है । वह धर्म तथा शर्म से भी दूर हो जाता है और विभ्रम चित्त विचरण करता है ।२ कामी व्यक्ति का शरीर ही नहीं क्षीण होता काश इसकी मति या बुद्धि भी विनष्ट हो जाती । वह लोक मर्यादा के विरुद्ध आचरण करता हुआ, शील से रहित और अनीति पूर्वक जीवन यापन करता है।३ ब्रह्मचर्य के लिये मन के संयम पर सभी संतों ने अत्यन्त आग्रह प्रकट किया है। मन की जीत से ही जीत है, मन एक बार विषयों से पराजित हो जाए तो फिर इसके पतन का कोई अंत नहीं रहता ।

संतों के सप्त महाव्रत का चतुर्थ अंग है, 'अस्तेय'। 'अस्तेय' से तात्पर्य है कि बिना दूसरे की वस्तु का अपहरण किये हुए, धर्मानुसार स्वजीविका का अर्जन कर लेना । मनु जी ने धर्मपूर्वक जीविका अर्जन के दस साधन बताये हैं । ये इस प्रकार है अध्ययन अध्यापन, शिल्प, नौकरी, संस्था की सेवा, पशुपालन, व्यापार, कृषि, सन्तोष धारण करके जो मिले उसे स्वीकार करना, भिक्षार्जन, साहूकारा प्रवृत्ति ।४ ईशोपनिषद में कथित है कि सम्पूर्ण स्थावर जंगम ब्रह्म से व्याप्त है। अतः उसी का भय मानना चाहिए किसी दूसरे का धन अन्याय पूर्वक लेने की चेष्टा मत करो।५ महर्षि व्यास ने कहा है कि जो धन धर्म पूर्वक अर्जित होता है, वही सच्चा धन है, अधर्म से अर्जित धन धिक्कार है। धन अस्थिर है, पर धर्म स्थिर है। अतः धन के लिये धर्म नहीं छोड़ना चाहिए ।६ चाणक्य नीति में उल्लिखित है कि अनीति से अर्जित धन क्षय को शीघ्र प्राप्त होता है ।७ अस्तेय व्रतानुरक्त प्राणी सदैव अपनी आवश्यकताओं को कम करने में अनुरक्त रहेगा । अनेक प्रकार की बाह्य तथा आभ्यान्तरिक चोरियों में मानसिक चोरी

---

१. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ ९६।१/१०।
२. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १४९। १।
३. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १५९। २।
४. विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवन हेतवः ।
५. ईशावास्य मिदं सर्वं यकिंच जगत्यां जगत ।
तेन त्यक्तेन भुंजीया मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।ईशोपनिषद ।
६. यद्धैर्था धर्मेण ते सत्या ये धर्मेण धिगस्तु तान् ।
धर्मं वे शाश्वतं लोके न जाह्या द्धन काक्षया ।। (महाभारत, शान्ति पर्व)
७. अन्यायो पर्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्ते चैकादंशे वर्षे समूलं च विनश्यति ।।(चाणक्य नीति)

सर्वाधम है । लालच अस्तेय का प्रबल शत्रु है । अस्तेय व्रत का पालनकर्ता भविष्य में धनी होने की कल्पना भी नहीं करता । अतः अस्तेय सामाजिक जीवन में वरदान स्वरूप तो है ही, धार्मिक जीवन में भी उसकी बड़ी महत्ता है ।

अब आइए, देखें कि संत साहित्य में अस्तेय का कैसा स्वरूप प्रतिपादित हुआ है । संतों ने अस्तेय व्रत के प्रतिपादन के हेतु संसार की क्षण भंगुरता प्रदर्शित करते हुए, लालच, सादा रहन-सहन, माया, तृष्णा, व्यर्थाशा, दुविधा, पर की निःसारिता व्यक्त की है, जिसके कारण मानव उद्विग्न फिरता रहता है । 'हाड़ जरें ज्यों लाकड़ी, केस जरें ज्यों घास । सब जग जलता देखि करि भया कबीर उदास'१ जैसे क्षण-भंगुरता के आदर्शों की स्थापना करते हुए संतों ने यह भाव साकार करने की चेष्टा की कि मानव जिस सुख के पीछे व्याकुल फिरता है वह सुख नहीं है, स्थायी नहीं है, "झूठे सुख को सुख कहें, मानत हैं मन मोद"२ और इस जीवन के लिये मानव भीषण योजनाएं, छीना झपटी तथा लूटमार करता फिरता है "कबीर थोड़ा जीवना, मांडे बहुत मंडान" ३ । अतः कबीर ने स्पष्टतया कहा है कि अस्तेय व्रत का परिपालन करना सब से बड़ा सुख है । दूसरे को ठगना सुख नहीं हैं, सुख है, अपने को ठगना क्योंकि "कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय । आप ठगे सुख ऊपजे, और ठगे दुःख होय" ४ । इस संसार में बहु प्रसार, बहु धनार्जन, बहु यश लिप्सा ही दुःख का बड़ा कारण है ।५ इस लोभी मन की उर्मियां सागर की ऊर्मियों के सदृश अनन्त हैं । अतः मन के द्वारा दर्शित मार्ग का अनुगमन करना श्रेयस्कर नहीं है । ६ अस्तेय की उपेक्षा करने प्रत्येक प्राणी संचय में प्रवृत्त रहता है, वह सौ वर्ष की योजना बनाता है पर क्षणिक जीवन की निःसारिता का उसे परिज्ञान कभी नहीं होता है ।७ दया, धर्म, सत्य तथा सन्तोष में प्रवृत्त प्राणी अमर सुख का उपभोग

१. संत वानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ८।१।
२. संत वानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९।३।
३. संत वानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९।१४।
४. संत वानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ११।३०।
५. संत वानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५५।३।
६. संत वानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५५।६।
७. संत वानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५७।८

करता है, शेष जीवन क्षणिक है, उसके लिये अनावश्यक संघर्ष प्रिय नहीं है।८ संतों ने अनावश्यक संग्रह की आलोचना करते हुए बारम्बार संसार की नश्वरता का भाव व्यक्त किया है। जो संसार इतना नश्वर है जो जीवन इतना क्षणिक है, उसके लिये इतनी योजना तथा संकलन की आवश्यकता ही नहीं है। जहां यह भाव प्रबल हो जाता है वहां फिर अस्तेय का महत्व् स्वतः प्रतिभासित हो जाता है।

संतों की सप्तमहाव्रत शृंखला की पंचम कड़ी है संतोष। सन्तोष मानव मात्र के जीवन का श्रेय एवं प्रेम सन्तोष से कौन परिचित नहीं होगा। सूक्तिकारों ने कहा है कि "सन्तोष एक पुरुषस्य परं निधाकम्" ।९ सन्तोषी मानव का मन सदा सुखमय बना रहता है १० और सत्य यह है वही दरिद्र है जिसकी तृष्णाओं का स्वरूप अत्यंत विशाल है, जिसका मन ही सन्तुष्ट है, वह कभी भी दरिद्र नहीं कहा जायगा ११। संतोष के सम्बन्ध में इस संक्षिप्त विवेचन के अनन्तर आइये अब संतों की संतोष विषयक विचारधारा का अध्ययन करें। हिन्दी के संत कवियों ने सन्तोष को जीवन के लिये आवश्यक तथा वरदान माना है। सन्तोष के समक्ष गोधन, गजधन, बाजधन, रत्नधन सब हीन है। उनका कोई महत्व नहीं है।१२ शील, सन्तोष, विवेक आदि ब्रह्म प्राप्ति में सहायक तत्त्व हैं। ये जीवन के अंधकार से अभिशप्त पक्षों को जाज्वल्यमान करते हैं।१३ संसार में सज्जन या साधु वही है जो सन्तोष वृत्ति से सम्पन्न हैं। जिसमें सन्तोष का अभाव है वह कभी

---

८. संत वानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९८।५।
९. सर्पाः पिबन्ति पवनं नच दुर्वलस्ते
शुष्कैर्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
कन्दैः भलैर्मुनिवराः क्षपयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानं ॥
१०. अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वतः सुखमयाः दिशाः ॥
११. सहि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला ।
मनसि च परितुष्टे कोर्थवान्को दद्रिः ॥
१२. संत वानी संग्रह भाग . . पृष्ठ ५९।३।
१३. वही वही वही पृष्ठ १९१।१।

भी निश्चित नहीं हो पाता है।१४ वही सच्चा शहंशाह है जिसके मन में सन्तोष विद्यमान है।१५ सन्तों ने सन्तोष को सामाजिक जीवन के लिये नितांत आवश्यक माना है। वह व्यक्ति कभी सुखी रह ही नहीं सकता जो सन्तोष जैसी प्रवृत्ति से अपरिचित है।

"धृति" सन्तो षष्ट महाव्रत है। "धृति" से तात्पर्य है "धैर्य"। यह धर्म का प्रथम लक्षण है। भगवान् कृष्ण ने "गीता" में तीन प्रकार की धृति का उपदेश देते हुए उसके लक्षण इस प्रकार बताए हैं: "धृत्या यथा धारयते मनः प्राणेन्द्रिय-क्रिया। योगेना व्याभिचारिव्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी"१६। धैर्य से विहीन प्राणी विघ्नों से विचलित हो जाते हैं। धैर्य शाली व्यक्ति का सबसे बड़ा बल है 'धर्म'। भतृहरि ने सत्य ही कहा है कि "न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।" धैर्यशाली प्राणी के लिये कर्तव्य प्रमुख होता है। वह सुख दुःख को समान समझता है।१७ महाभारत में धैर्यशाली व्यक्ति को हिमालय पर्वत की उपमा दी गई है१८ यथा सागर अपनी मर्यादा का परित्याग नहीं करता है। इसी धृति से विभूषित मानव कभी भी अपनी मर्यादा की सीमा का परित्याग करता है। वह सभी परिस्थितियों में समान चित्त रहता है। १९

धृति या धैर्य सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में समान रूप से आवश्यक है। धैर्य के अभाव में सामाजिक जीवन में मानव आलोचना, निन्दा का पात्र बनता

---

१४. संत वानी संग्रह भाग . . पृष्ठ ५१।१।

१५. संत वाणी संग्रह भाग १, पृष्ठ ५१।२

१६. श्रीमद्भागवत गीता अध्याय १८।

१७. देहिनो स्मिन् यथा देहै कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
यं हिन व्यथयन्त्यैतं पुरुषं पुरुषंभ।
समदुःख सुखं धीरं सो भृतत्वाय कल्पते ॥ श्रीमद्भगवत गीता।

१८. न पंडितः क्रुध्यति नाभिपद्यते न चाप संसीदति न प्रहृष्यति।
न चापि कृच्छ्व्यसनेषु शोचते स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥
॥महाभारत, शान्तिपर्व॥

१९. यमर्थसिद्धिः परमा न हर्षयंत्तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं निषेवते यः स धुरन्धरो नरः।
॥महाभारत, शान्तिपर्व॥

है और धार्मिक जीवन में वह असफलता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पाता है। साधनात्मक जीवन में धैर्य की बड़ी अनिवार्यता है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को कितनी सरल भाषा सहज शैली तथा सुबोध अप्रस्तुत योजना के माध्यम से कबीर ने व्यक्त कर दिया है। कबीर ने सत्य ही कहा है :

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछ् होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय ॥१।

मानव को धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। चाहे लाख वार उसका विरोध हो पर उसके लिये कर्तव्य मार्ग में संलग्न रहना श्रेयस्कर है २ धैर्य के बिना न ज्ञान की उपलब्धि होती है न भक्ति की साधना सम्भावित है समस्त योग समस्त साधना धैर्य के अभाव में निःसार है ॥३। संत दूलन दास ने सार रूप में अपने विचारों को प्रकट करते हुए कहा है "दूलन धीरज खंभ कहां' जिकिरी बडेरा लाइ। सुरत डोरी पोढ़ि करि, पांच पचीस भुलाई" ४

हठयोगः या अष्टांगयोग की साधना में धैर्य की बड़ी आवश्यकता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा की सीमाओं को अधिकार-पूर्वक पार करता हुआ मानव या साधक ही समाधि की अमर, अभीष्ट तथा अनन्त भूमिका में पदार्पण करता है। इनमें से एक की उपेक्षा कर, अधैर्य पूर्वक साधक यदि अन्य स्थिति की साधना में अनुरक्त हो जाय तो वह अपने प्रदाएं, अपनी साधना में कभी सफल नहीं हो सकता। संत मलूकदास ने सत्य ही कहा है "धीरज हिरदे मां धारो सन्तो। धीरे धीरे सूरज उगवै, धीरे धीरे अस्तम पावै" ।५। यहां पर संत साहित्य से 'धृति' के विषय में केवल अत्यन्त महत्वपूर्ण पंक्तियां उद्धृत की गई हैं। संत साहित्य में पग पग पर जीवन में इस प्रवृत्ति को धारण करने का उपदेश दिया गया है।

संतों का 'सप्तम' महाव्रत है 'दम'। मन को इन्द्रियों के वशीभूत न होने देना ही 'दम' है। इन्द्रियों का अधिनायक है 'मन'। वे मन का पूर्णतया अनुगमन करती हैं। मन का दमन न करने से इन्द्रियां विषयों में अनुरक्त रहती हैं। गीता में भगवान् ने कहा है कि इन्द्रियां विषयों की ओर दौड़ती हैं, और इस परिस्थिति में मन भी इन्द्रियों का साथ देता है। इस

---

१. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ ५१।१।
२. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ ५१।२।
३. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १३७।१।
४. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १३७।२।
५. शब्द संग्रह पद २०

प्रकार वह मानव की बुद्धि को नाश कर देता है, यथा हवा नौका को पानी में डुबो देती है । "इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनो नु विधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि " ।।६। पर चंचल मन जिधर जिधर जाये, उधर उधर से इसे खींच कर अपने वश में करना चाहिए ।।७। जो सदैव मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता है, शांत रहता है वह दुःख का अनुभव नहीं करता ।।८। विषयों की इच्छा भोग से शांत नहीं होती है, अपितु बढ़ती है, यथा अग्नि में घी डालने से आग प्रज्वलित होती है। अतः विवेकपूर्वक मन का दमन करने से इन्द्रियां स्वतः शांत हो जाती हैं ।।९। महाभारत में कहा गया है कि मन का दमन करने से तेज बढ़ता है। मनोदमन का गुण मानव में परम पवित्र तथा उत्तम है। मानव तेजस्वी होता है, पाप नष्ट होते हैं और मानव ब्रह्माकार होता है ।।१०।

मन दम से सम्बन्धित इन उक्तियों को पढ़ जाने के बाद अब संत साहित्य पर्यावलोकन कीजिये । संतों की साखियों में मन की कटु आलोचना, भर्त्सना, मन के कुकृत्यों पर ग्लानि, पश्चाताप, तथा दमित करने के लिये बारम्बार निश्चयपूर्ण उक्तियां उपलब्ध होती हैं । यह मन मानव का प्रबल शत्रु है । जो इसका दमन कर लेता है, वही प्रसन्न रहता है, वही सुखी रहता है । कबीर ने बारम्बार संकल्प किया है कि "मन को मारूँ पटकि के, टूक टूक होइ जाय । विष की क्यारी बोई के, लुनता क्यों पछिताय" ।।११। क्योंकि "जेती लहर समुद्र की तेती मन की दौर । सहजे हीरा नीपजै, जो मन आवै ठौर " ।।१२। यह "मन पंछी तब लगि

---

६. गीता अध्याय ।२।

७. यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत् ।।गीता अध्याय ।६।

८. दन्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति ।
न च तपयति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ।। महाभारत.. वनपर्व ।

९. न जातु कामः कामानामुपभोगने शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवा भिवर्धते ।। मनुस्मृति अ० २ ।

१०. दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दममुत्तमम् ।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ।।महाभारत ।।

११. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ ५५।३।

१२. वही भाग १, पृष्ठ ५५।६।

उडै, विषय वासना [illegible] ? [illegible] की झपट में जब लगि आयो नाहि" ।।१३। अत: "मन मनसा को मारि करि नन्हा करिके पीस' ।।१४। यह मन अज्ञेय है, यह बड़े से बड़े राक्षस से भी बड़ा है ।।१५। बड़ी साधना करने के बाद भी निश्चित मत हो कि मन भर गया। समस्त विदेहों को खा जाने वाले मन पर क्या विश्वास। १६ सन्तों ने कहा है कि मन सब शक्तियों से प्रबल है, पर यह दमन करने योग्य है, और साधकों ने इसका दमन किया है।

'दम' सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के लिये अत्यन्तावश्यक है। सामाजिक जीवन में इसके दमन से मानव अनेक विपत्तियों अनावश्यक संग्रह तथा विपत्तियों से बच जाता है और साधानात्मक जीवन में इसकी महत्ता क्यों है ? इसका उल्लेख संतों के साहित्य में बारम्बार मिलता है।

ये हैं संतों के सप्त महाव्रत। इन सब का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। ये सब अन्योन्याश्रित हैं। इतना ही नहीं, साधना के विशाल प्रांगण में इन सबकी उपयोगिता है, सबकी महत्ता है। कोई शारीरिक साधना में सहायक है, कोई मानसिक साधना में। सामाजिक जीवन में ये सभी व्रत वरदान स्वरूप हैं। सभी मानवता के विकास, समाज के अभ्युत्थान सह अस्तित्व के लिये उपयोगी तथा आदर्शों के प्रसार एवं प्रचार तथा शक्ति प्रदान करने में सहायक होते हैं।

संतों के इन सप्त महाव्रतों की उपयोगिता कभी क्षीण नहीं होगी। मानव के लिये इनका मूल्य कभी कम नहीं पड़ेगा। सृष्टि की सर्वोत्तम रचना होने के बावजूद भी मानव हमेशा से अपूर्ण रहा है, रहेगा। उसे पूर्ण मनुष्यत्व, उसे मानव का सच्चा स्वरूप प्रदान करने में ये महाव्रत सहायक होंगे। इनके आधार पर विकसित मानव जीवन समाज के लिये युग के लिये कल्याणकारी होगा तथा मानव जाति के लिये, जो प्रतिकर, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा की ज्वाला में प्रदग्ध है, कल्याणकारी होगा।

---

१३. संत वानी संग्रह भाग १, पृष्ठ ५६।१२।
१४. वही भाग १, पृष्ठ ५६।१४।
१५. वही भाग १, पृष्ठ १०४।१।
१६. वही भाग १, पृष्ठ १०४। २

जायसीं की अवधी में 'कीन्ह' और कीन्हेसि क्रियाएँ

डा० अम्बा प्रसाद 'सुमन'

संस्कृत भाषा में तिङन्त और कृदन्त क्रियाओं का प्रयोग होता है। तिङन्त क्रियाओं पर लिंग का प्रभाव नहीं पड़ता। वे वाक्य में एक रूप ही रखती हैं, चाहे कर्ता पुल्लिग में हो, चाहे स्त्रीलिंग में।

(१) बालकः पुस्तकं **पठति**।

(२) बालिका पुस्तकं **पठति**।

उक्त दोनों वाक्यों में **पठति** क्रिया तिङन्त है। प्रथम वाक्य का कर्ता '**बालकः**' पुल्लिग है, तब भी क्रिया **पठति** है और द्वितीय वाक्य का कर्ता **बालिका** है, तब भी क्रिया 'पठति' है। उक्त दोनों वाक्यों की क्रियाओं को हम कर्तृ वाच्य की क्रियाएं भी कह सकते हैं।

किन्तु कर्मवाच्य की क्रिया लिंग-वचन में कर्म के अनुसार होती है और कृदन्त की कहाती है। यदि कर्म पुलिंग है तो क्रिया भी पुंलिंग होगी ––

वृक्षः नरेण **दृष्टाः**।

यदि कर्म स्त्रीलिंग में होगा तो क्रिया भी स्त्रीलिंग में होगी––

लता नरेण **दृष्टा**।

यदि कर्म नपुंसक लिंग में होगा तो क्रिया भी नपुंसक लिंग में होगी––

पत्रं नरेण दृष्टम्।

उक्त वाक्यों में 'दृष्टः', 'दृष्टा' और 'दृष्टं' क्रियाएं कृदन्त की हैं तथा कर्मवाच्य की हैं। अतः लिंग-वचन में वे कर्म 'वृक्षः', 'लता' और 'पत्रं' के अनुसार हैं। यद्यपि 'वृक्षः', 'लता' और 'पत्रं' प्रथमा विभक्ति में हैं, किंतु वाक्य में वे कर्ता नहीं कर्म हैं। देखने वाला 'नर' है जो 'तृतीया विभक्ति में है, वस्तुतः वही कर्ता है'। कृदन्त की क्रियाएं प्रायः कर्मवाच्य में होती हैं।

भाववाच्य की क्रिया न कर्ता के अनुसार बदलती है और न कर्म के अनुसार। वह तो नित्य एक रूप रहती है। जैसे––

(१) बालकेन **उपविष्टम्**।

(२) बालिकया **उपविष्टम्**।

उक्त दोनों वाक्यों में क्रिया 'उपविष्टम्' एक ही है। भाववाच्य की क्रिया संस्कृत में नपुंसक लिंग एकवचन में रहती है।

साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में भी उपर्युक्त रूपों को परखना चाहिए ।

(१) बालक पुस्तक **पढ़ता** है ।

(२) बालिका पुस्तक **पढ़ती** है ।

हिन्दी में **पढ़ता, पढ़ती** तिङन्त रूपिणी नहीं हैं । हाँ ब्रजभाषा में तो तिङन्त रूप में आती हैं --

(१) छोरा पोथी **पढ़ै** ।

(२) छोरी पोथी **पढ़ै** ।

सकर्मक क्रिया के भूतकाल में कृदन्त प्रयोग मिलता है, तब कर्मवाच्य में क्रिया आती है--

(१) बालक नें ग्रन्थ **पढ़ा** ।

(२) बालक ने पुस्तक **पढ़ी** ।

ब्रजभाषा में भी इसी प्रकार होगा--

(१) छोरा ने ग्रन्थ **पढ़्यौ** ।

(२) छोरा नें पोथी **पढ़ी** ।

उक्त वाक्यों की सकर्मक क्रियाएं कर्म के लिंग-वचनानुसार हैं । ये कृदन्त की हैं और कर्मवाच्य में हैं ।

जब क्रिया न कर्ता के अनुसार लिंग बदलती है और न कर्म के अनुसार, तब वह भाववाच्य की कहाती है--

(१) बालक ने ग्रन्थ को **पढ़ा** ।

(२) बालिका ने पुस्तक **को पढ़ा** ।

(३) बालक से नहीं **चला जाता** ।

(४) बालिका से नहीं **चला जाता** ।

उपर्युक्त वाक्यों में **पढ़ा** और **चला जाता** पर लिंग का प्रभाव नहीं है । अतः ये भाववाच्य की क्रियाएं हैं । ध्यान दीजिये 'पढ़ा' सकर्मक है और **चला जाता** अकर्मक है ।

दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि 'बालक ने ग्रन्थ **पढ़ा**' की 'पढ़ा' क्रिया कर्मवाच्य की है; किन्तु 'बालक ने ग्रन्थ को **पढ़ा**' की **पढ़ा** क्रिया भाववाच्य की है । **कीन्ह** के प्रयोग में हमें उक्त तथ्य को दृष्टिपथ में अवश्य रखना चाहिए ।

साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में जिस प्रकार कर्मवाच्य की क्रिया कर्म के लिंग-वचन के अनुसार बदलती है, उसी प्रकार तुलसी के 'रामचरितमानस' में 'करना' की धातु का परिवर्तन मिलता है

साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में 'करना' की धातु के परिवर्तन पर पहले ध्यान दीजिये--

(१) लड़के ने विवाह **किया** ।

(२) लड़के ने विवाह **किये** ।

(३) लड़की ने शादी **की** ।

(४) लड़की ने शादियां **कीं** ।

उक्त चारों वाक्यों की क्रियाएं लिंग-वचन में अपने अपने कर्म के अनुसार हैं ।

वाक्य संख्या	कर्म	क्रिया
१.	विवाह (पुं०, एक वचन)	किया (पुं०, एकवचन)
२.	विवाह (पुं०, बहुवचन)	किये (पुं०, बहुवचन)

वाक्य संख्या	कर्म	क्रिया
३.	शादी (स्त्री०, एकवचन)	की (स्त्री०, एकवचन)
४.	शादियां (स्त्री०, बहुवचन)	कीं (स्त्री०, बहुवचन)

ये उपर्युक्त चारों वाक्य कर्मवाच्य की क्रिया रखते हैं। क्रियाओं के रूप-- **किया, किये, कीं** और **कीं**--क्रमशः अपने अपने कर्म-विवाह, विवाह, शादी और शादियां--के अनुसार हैं।

यदि हम उक्त वाक्यों को भाववाच्य में प्रयुक्त करें तो निम्नांकित प्रयोग बनेंगे:-

(१) लड़के ने विवाह को **किया**।
(२) लड़के ने विहाहों को **किया**।
(३) लड़की ने शादी को **किया**।
(४) लड़की ने शादियों को **किया**।

इन उपर्युक्त चारों वाक्यों में क्रिया का एक ही रूप है और वह है '**क्रिया**'। कर्ता या कर्म किसी भी लिंग-वचन में हों, क्रिया सदैव एक रूप रहती है। यही भाव वाच्य की क्रिया का मुख्य गुण है। वह सदा स्वतंत्र है और एक रूपिणी है अर्थात् कर्ता या कर्म का अंकुश नहीं मानती।

'करना' क्रिया की धातु कर है। इसी √कर् के रूप √कि और √की भी हैं। आधुनिक भाषिकी की शब्दावली में हम यों भी कह सकते हैं कि √कर् एक मर्षिम (Morpheme) है और √कि एवं √की उसके संमर्ष (Allomorph) हैं। संस्कृत भाषा की 'गमिष्यति' क्रिया में धातु √गम् है, किन्तु 'गच्छति' में √गम् धातु के स्थान पर √गच्छ् धातु है। इसी लिये पाणिनि कहते हैं कि √गम् धातु का √गच्छ् आदेश हो जाता है। आजकी भाषिकी की शब्दावली में हम यों भी कह सकते हैं कि √गम् मर्ष का √गच्छ् संमर्ष है। वस्तुतः एक ही मर्ष को दो संमर्ष (Allomorph) हैं-- (१) गम् (२) गच्छ्। इसी प्रकार एक ही मर्ष के तीन संमर्ष हैं --(१) कर् (२) कि (३) की। अर्थात् 'करना' के विभिन्न रूपों में हमें तीन धातुएं मिल सकती हैं --

(१) मैंने काम ठीक तरह **कराया**।
(२) मैंने काम ठीक तरह **किया**।
(३) मैंने मज़दूरी ठीक तरह **की**।

'धातु' की परिभाषा क्या है ? धातु वास्तव में वह बीज तत्त्व है जो क्रिया के सभी रूपों में वर्तमान रहता है। किन्तु कभी-कभी वह बीज तत्त्व कुछ रूपों में अपना चोला बदल भी लेता है। देखिए, √कर् बीज तत्त्व ने √कि और √की के रूप में चोला बदल भी लिया है। इसे ही अमेरिकन भाषा तत्त्वज्ञों की शब्दावली में संमर्ष (संपद) (Allomorph) और पाणिनि की शब्दावलि में 'आदेश' कहते हैं।

साहित्यिक खड़ी बोली में जहां 'क्रिया' का प्रयोग होता है वहां तुलसी की अवधी में '**कीन्हा**' का प्रयोग मिलेगा। इसी प्रकार साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में जहां '**की**' का प्रयोग मिलेगा वहां तुलसी की अवधी में '**कीन्ही**' का प्रयोग होगा।

हम साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में भूतकालीन कर्मवाच्य की 'करना' क्रिया का प्रयोग एक वाक्य के अंतर्गत इस प्रकार कर सकते हैं --

"राम ने पट को हृदय से लगा कर अत्यन्त शोक **किया**।"

तुलसी की अवधी में उक्त वाक्य को इस प्रकार लिखा जा सकता है--

"रामु पट डर लाइ अति सोच कीन्हा।"

अब तुलसी के ही शब्दों में क्रिया के प्रयोग को देखिए --

"माँगा रामु तुरत तेहिं दीन्हा।
पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥"

--(डा० माताप्रसाद गुप्त-संपादित, श्री रामचरित मानस किष्कि०, ५।३)[1]

उक्त अर्द्धाली में '**कीन्हा**' क्रिया कर्मवाच्य की है। इसका कर्ता 'रामु' और कर्म 'सोच' है जो पुलिंग-एकवचन है। अतः क्रिया भी पुंलिग-एकवचन में ही प्रयुक्त हुई है।

जब कर्म 'सोच' है तो क्रिया '**कीन्हा**' है। लेकिन जब कर्म 'चिन्ता' होगा तो तुलसी क्या लिखेंगे? नियम तो यही कहता है कि कर्मवाच्य की क्रिया लिंग-वचन में कर्म के अनुसार आती है। जब कर्म '**चिन्ता**' होगा तो क्रिया '**चिंता**' के लिंग वचन के अनुसार ही आनी चाहिए चूंकि '**चिन्ता**' स्त्रीलिंग है और एकवचन में है, अतः क्रिया भी स्त्रीलिंग तथा एकवचन में ही आनी चाहिए। इसी नियम की परख तुलसी के निम्नांकित चरण में करनी चाहिए।

"रघुपति अनुजहि आवत देखि।
बाहिज चिन्ता कीन्हि[2] बिसेषी॥"

--(श्री राचरित मानस, अर०३०।१)

साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में भी हम लिंग-भेद के साथ उक्त वाक्यों को इस प्रकार लिखेंगे --

(१) राम ने शोक **किया**।
(२) राम ने चिन्ता **की**।

इन दोनों वाक्यों को बहुवचन में बदलें तो इस प्रकार लिखेंगे --

(१) राम ने बहुत काम **किये**।
(२) राम ने बहुत चिन्ताएँ **कीं**।

स्पष्ट है कि '**किये**' और '**कीं**' का प्रयोग पुलिंग-बहुवचन '**काम**' और स्त्रीलिंग-बहुवचन '**चिन्ताएं**' के कारण है। अर्थात् कर्म के लिंग-वचन के अनुसार क्रिया प्रयुक्त है। अतः उक्त वाक्य भूत

१. पहली संख्या दोहे की और दूसरी चौपाई की संख्या की सूचक है।
२. छन्द के निर्वाह के कारण 'कीन्हीं' के अंतिम 'ईकार' को 'इकार कर दिया गया है।

कालीन कर्मवाच्य की क्रियाओं के साथ हैं ।

साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी में **'किये'** क्रिया भूतकाल में है और पुलिंग-बहुवचन की है। कर्म के लिंग.वचन के अनुसार है अत: कर्मवाच्य की भी है। इसी आधार पर तुलसी की अवधि में बहुवचन में **'कीन्हे'** प्रयोग मिलना चाहिए ।

खोज करने पर 'रामचरितमानस' में वैसा प्रयोग मिला । जब रामचंद्र जी वन-गमन के पूर्व अपनी माता कौशल्या के पास विदा लेने जाते हैं, तब उनके द्वारा प्रणाम किये जाने पर माता कौशल्या उन्हें आशीर्वाद देकर हृदय से लगाती हैं और उन पर भूषण तथा वस्त्र निछावर करती हैं। उसे महात्मा तुलसीदास अपनी शब्दावली में इस प्रकार लिखते हैं --

"दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे ।
भूषन बसन निछावरि कीन्हे ।।"

-(श्री रामचरितमानस, अयो० ५२।१)

"कौशल्या ने राम पर भूषण -वस्त्र निछावर **किये** ।" वाक्य की क्रिया **'किये'** और तुलसी की **'कीन्हे'** एक ही हैं । ये कर्मवाच्य क्रियाएं हैं और पुंलिग बहुवचन में हैं ।

सारांश यह है कि जहां कर्म पुंलिग-बहुवचन होगा, वहां तुलसी **'कीन्हे'** का प्रयोग करेंगे ।

निम्नांकित प्रयोगों पर भी ध्यान देकर हम अपने निष्कर्ष को आंक सकते हैं--

(१) **"चरन कमल सिरु नाइ कपि ।**
गवनु राम पहिं कीन्ह ।।"

--(श्रीरामचरितमानस, सुंदर, २७।०)

निष्कर्ष

कर्म क्रिया

गवनु (पुंलिग, एकवचन)

कीन्ह (पुंलिग, एकवचन)

(२) **"तब सुग्रीवहि आयेसु दीन्हा ।**
मृतक कर्म विधिवत् सब कीन्हा ।।"

-(श्री रामचरितमानस, किष्कि. ११।४)

निष्कर्ष

कर्म क्रिया

मृतक-कर्म (पुं० एक वचन)

कीन्हा (पुंलिग एकवचन)

(३) **"नाथ दसानन येह गति कीन्ही ।**
तेहिं खल जनकसुता हरि लीन्ही ।।"

--(श्रीरामचरितमानस, अर० ३१।१)

निष्कर्ष

कर्म क्रिया

गति (स्त्री० एकवचन)

कीन्ही (स्त्री०, एकवचन)

(४) **"बिरह बिकल बलहीन मोहि,**
जानेसि निपट अकेल ।
सहित बिपिन मधुकर खग,
मदन कीन्हि बगमेल ।।"

(श्री रामचरित मानस, अर, ३७।०)

निष्कर्ष--

कर्म	क्रिया
अगमेल (स्त्री०, एकवचन)	
	कीन्हि (स्त्री० एकवचन)

(५) **"कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा।
लछिमन राम चरित सब भाषा ।।"**
-(श्रीरामचरितमानस, किष्कि. ५।१)

निष्कर्ष --

कर्म	क्रिया
प्रीति (स्त्री०, एकवचन)	
	कीन्हि (स्त्री० एकवचन)

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट है कि जहां कर्म पुलिंग एकवचन है, वहां तुलसी ने '**कीन्ह**' या '**कीन्हा**' का प्रयोग किया है और जहां कर्म स्त्रीलिंग-एकवचन है वहां '**कीन्हि**' या '**कीन्ही**' क्रिया का प्रयोग किया है। अतः हम इन प्रयोगों को भूतकालीन कर्मवाच्य के प्रयोग कह सकते हैं। ये कृदन्त क्रियायें हैं।

अब देखना यह है कि कर्म के पुलिंग-एकवचन तथा स्त्रीलिंग-एकवचन रहने पर जायसी उक्त क्रिया को किस रूप में प्रयुक्त करते हैं ?

(१) "जेइँ जिउ दीन्ह **कीन्ह** संसारू
--(डा. माताप्रसाद गुप्त, संपादित, पदुमा १।१)

निष्कर्ष-

कर्म	क्रिया
संसारु (पुं. एकवचन)	कीन्ह (पुं० एकवचन)

(२) **"जेइ अवतरि उन्ह कहँ नहिं चीन्हा।
तेइ यह जनम अंबिरथा कीन्हा ।।"**
(अखरावट, २०।४)

निष्कर्ष--

कर्म	क्रिया
जनम (पुं.एकवचन	कीन्हा (पुं.एकवचन)

(३) **"जौं जग सिद्धि गुसाईं कीन्हा।"**
--(पदुमा २१२।४)

निष्कर्ष --

कर्म	क्रिया
सिद्धि (स्त्रीलिंग, एकवचन)	
	कीन्हा (पुंलिंग, एकवचन)

(४) **"ना नगरी काया विधि कीन्हा।"**
--(अखरावट, १६।१)

निष्कर्ष--

कर्म	क्रिया
काया (स्त्री०, एकवचन)	
	कीन्हा (पुं० एकवचन)

उद्धरण संख्या ३ और ४ में कर्म स्त्रीलिंग एवं एकवचन है, किन्तु क्रिया पुलिंग एकवचन में प्रयुक्त हुई है। स्पष्ट है कि क्रिया का लिंग वचन कर्म के अनुसार नहीं है। कर्म चाहे पुलिंग में हो और चाहे स्त्रीलिंग में, क्रिया का प्रयोग सर्वत्र पुलिंग एकवचन में ही है। यह बात भाववाच्य की क्रिया में पायी जाती है। जैसे--

(१) लड़के ने विवाह को **किया**।
(२) लड़की ने शादी को **किया**।

उसी प्रकार भाववाच्य के प्रयोगों के साथ जायसी '**दीन्ह**', लीन्ह' आदि।

क्रियाओं को भी 'कीन्ह' की भांति ही लिखते हैं।

"दीन्ह असीस मुहम्मद,
करहु जुगहि जुग राज ।"
—(पदुमा० १३।०)

० ० ० ०

"गौरें साथ लीन्ह सब साथी ।"
—(पदुमा० ६३०।६)

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जायसी की अवधी में '**कीन्ह**' या '**कीन्हा**' का प्रयोग भाववाच्य की भूतकालीन क्रिया के रूप में है, जबकि तुलसी की अवधी में उसका प्रयोग कर्मवाच्य की भूतकालीन क्रिया के रूप में हुआ है।

अब हम जायसी की अवधी के '**कीन्हेसि**' प्रयोग पर विचार-विमर्श करेंगे।

हम प्रारम्भ में कह चुके हैं कि कर्तवाच्य में तिङन्त क्रियाएं कर्ता के अनुसार वचन तो रखती हैं, किंतु लिंग नहीं रखतीं। कर्ता चाहे पुंलिंग में हो और चाहे स्त्रीलिंग में क्रिया दोनों दशाओं में एक ही रहती है, जैसे संस्कृत में 'पठति' और व्रजभाषा में 'पढ़ै'।

कर्ता		तिङन्त क्रिया
संस्कृत—बालकः (पुं०)	..	पठति
संस्कृत—बालिका (स्त्री०)	..	पठति
व्रज—छोरा (पुं०)	..	पढ़ै
व्रज—छोरी (स्त्री०)	..	पढ़ै
अवधी—बेटा (पुं०)	.	पढ़इ
अवधी—बिटिया (स्त्री०)	..	पढ़इ

यहां संस्कृत के भूतकालीन तिङन्त प्रयोगों पर भी ध्यान देना चाहिए—

(१) बालकः अपठत् (= बालक पढ़ा)।
(२) बालिका अपठत् (= बालिका पढ़ी)।

प्रथम वाक्य में कर्ता 'बालकः' पुंलिंग है और क्रिया 'अपठत्' है। द्वितीय वाक्य में कर्ता 'बालिका' स्त्रीलिंग है, फिर भी क्रिया वही है। यही तिङन्त क्रिया का लक्षण है।

अब जायसी की अवधी में '**कीन्हेसि**' के प्रयोग को परखना चाहिए :—

(१) **"कीन्हेसि धरती सरग पतारु ।"**
(पदुमा० १।३)

(२) **"कीन्हेसि मगर मंछ बड़ु बरना।"**
(पदुमा० २।२)

(३) **"कीन्हेसि सँपति बिपति पुनि घनी।"**
(पदुमा० ३।७)

(४) **"कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा ।"**
(पदुमा० ११।१)

तिङन्त की क्रिया न कर्ता के लिंग से प्रभावित होती है और न कर्म के लिंग से।

कर्ता में लिंग-परिवर्तन, किन्तु क्रिया वही—

(१) **बालकः** लतां **अपश्यत्** ।
(२) **बालिका** लतां **अपश्यत्** ।

कर्म में लिंग-परिवर्तन, किन्तु क्रिया वही—

(१) बालिका **वृक्षं अपश्यत्** ।
(२) बालिका **लतां अपश्यत्** ।

क्रिया सर्वत्र '**अपश्यत्**' ही है। कर्ता या कर्म के लिंग-परिवर्तन से क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी प्रकार

जायसी के 'कीन्हेसि' की स्थिति है । यह कर्तृवाच्य में भूतकालीन क्रिया का तिङन्त प्रयोग है । संस्कृत में जिस प्रकार 'अकरोत्' एक रूप रहती है, वही स्थिति 'कीन्हेसि' की है । जायसी की अवधी में यह भूतकालीन तिङन्त क्रिया है ।

'कीन्ह' भाववाच्य की क्रिया है तो 'कीन्हेसि' कर्तृवाच्य की क्रिया है । परन्तु काल की दृष्टि से दोनों भूतकालीन प्रयोग हैं । संस्कृत में जिस प्रकार 'कृतम' और 'अकरोत्' की स्थिति है, ठीक उसी प्रकार जायसी की अवधि में 'कीन्ह' और कीन्हेसि' की स्थिति है । जायसी ने उसी पद्धति पर 'दीन्ह', 'लीन्ह', 'दीन्हेसि' और 'लीन्हेसि' आदि का भी प्रयोग किया है ।

स्वतन्त्र, सदाचारी और प्रसन्न

जब तक सब सवतन्त्र न हों, पूर्ण स्वतंत्र कोई नहीं हो सकता, जब तक सब सदाचारी न हों, पूर्ण सदाचारी कोई नहीं हो सकता; जब तक सब प्रसन्न न हों पूर्ण प्रसन्न कोई नहीं हो सकता ।

—हर्बर्ट स्पेन्सर

भारत में भावनात्मक एकता के प्रयासों की परम्परा में तुलसी का स्थान

०

साधुराम शारदा

मतभेद होना स्वाभाविक है किन्तु मतभेदों में भी एकता स्थापित करना ही सभ्यता का चिह्न है। एकता स्थापित करने के कई साधन होते हैं, किन्तु सर्वोत्तम साधन अहिंसा और प्रेम का है। कई प्रकार के मतभेदों के कारण समाज का कई ग्रुपों, जातियों या सम्प्रदायों में बटना तो स्वाभाविक है किन्तु महानता उस व्यक्ति की है जो अलग-अलग जन समुदायों में एकता पैदा करे। यही संस्कृति का चिह्न है। जन समुदायों में एकता स्थापित करना यदि ईश्वरीय या दैवी कार्य है तो समुदायों में घृणा और भेद को स्थापित करना आसुरीय तथा विध्वंसात्मक कार्य है। जब भी एकता के स्थापित करने के लिये संघटनात्मक प्रयास प्रारम्भ हो तो विघटनात्मक प्रवृत्ति को निश्चय ही पराजित होना पड़ता है। ईसा को यदि सफलता मिली तो इसी लिये कि उन्होंने यहूदियों की भेद नीति के विरुद्ध आवाज उठाई। मुहम्मद साहब अरब में इसलाम स्थापित करने में इसी लिये सफल हुए कि उन्होंने शताब्दियों से परस्पर लड़ते आ रहे कबीलों के भेदों को दूर करके एकता स्थापित करने का प्रयास किया। विभिन्नता में एकता स्थापित करना तो भारत की सभ्यता की एक विशेषता है। जो भी महान साधक आता है परस्पर प्रेम के आधार पर एकता का प्रचार करता है। वेदों में असंख्य ऋषियों, और मुनियों द्वारा अनुभूत और दृष्ट सत्य संकलित है किन्तु उनमें भी एकता के सूत्र का संकेत करते हुए लिखा गया है कि एक ही सत्य को अनेकों विद्वानों ने अपने-अपने शब्दों में व्यक्त किया है असंख्य ऋषियों और मुनियों की अनुभूतियों को एक ही सूत्र में बांधने वाले ये श्लोक सब से अधिक जाज्वल्यमान हैं :—**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** ।अथ, ६।१०। २८।
सुपर्ण विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं

बहुधा कल्पयन्ति । ऋग्वेद १०।११४/५

भारत का पौराणिक साहित्य भी भावनात्मक एकता का एक बहुत बड़ा सफल प्रयास है। वैष्णवों, शैवों, शाक्तों आदि अनेकों ही सम्प्रदायों में विभक्त भारत समाज को भक्ति के स्रोत इन पौराणिक ग्रंथों में इस प्रकार संघटित किया गया है कि परस्पर धार्मिक मामलों पर एक दूसरे का सिर फोड़ने वाले वैष्णव क्या और शैव क्या, शाक्त क्या है और सौर्य क्या; सभी प्रकार के लोगों को पौराणिक ग्रंथों में प्रेम और एकता का ऐसा सरोवर मिला कि सभी उसमें स्नान करके द्वेष मुक्त हो गए । वे एक ही गोष्ठी में प्रभु का अनेकों नामों से भजन करने लगे ।

भारत की संस्कृति ने हून शक सिथियन गुर्जर आदि अनेकों ही जातियों को अपने समाज में सम्मिलित कर लिया है ।

विदेशी धर्मियों के साथ भी एकता करने में भारत के साधक चूके नहीं हैं । उत्तरी भारत के नामदेव, राममानन्द, कबीर, नानक आदि साधकों और नेताओं का सन्देश हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य भेद भित्ती को निरर्थक बताता है । उनके प्रयत्नों से दोनों सम्प्रदायों के मध्य काफ़ी सीमा तक कटुता घटी है ।

भावात्मक एकता स्थापित करने के प्रयास सदा ही होते आए हैं । भारतीय समाज में भावनात्मक एकता स्थापित करने में गोस्वामी तुलसीदास का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है । उस समय भी विघटनामक तत्त्व भारत समाज को दुर्बल कर रहे थे । वैष्णवों और शैवों, योगियों और भक्तों फकीरों और गृहस्थियों, निर्गुनियों और सगुनियों, संस्कृत प्रेमियों और लोक भाषा के समर्थकों आदि के मध्य कई प्रकार के वैमनस्य चल रहे थे । किन्तु परस्पर विरोधी तत्त्वों को जिस अनुपम और सफल ढंग से भारतीय संस्कृति एक करती आ रही है अन्यत्र दुर्लभ है। जिस सुन्दर ढंग से और सफलता पूर्वक तुलसी ने अपने इस कार्य को निभाया है, उस दृष्टि से तुलसी अद्वितीय हैं ।

यहां यह बात महत्त्व है कि उन्होंने ऐसे संघटनात्मक कार्य को करने के लिये न तो तलवार का सहारा लिया और न छिद्रान्वेषणी आलोचक की तरह परस्पर विरोधियों की कटु आलोचना ही की है, न राजनीतिक की तरह ऐसी नीति अपनाई है कि सभी मत वालों की प्रशंसा करते रहे और सब को ठीक कहते रहे हैं । न सारग्राही नीति अपनाई है कि जिससे सभी प्रसन्न हों और अपनी-अपनी नीति का प्रतिनिधित्व उस में देख लें । आश्चर्य-जनक बात यह है कि उन्होंने स्वयं एक विचार का प्रति निधित्व किया है और अपने विरोधी विचार-धारा को प्रेम से जीता है । अपने संघटनात्मक और एकता के कार्य में अपनी मान्यता पर अडिग रहे हैं । अपनी नीति में किसी प्रकार के

समझौता वाद से काम नहीं लिया । क्योंकि सार ग्राही नीति स्थायी सत्य की नीति नहीं होती वह तो एक गुलदस्ते की तरह है जो जल्दी मुरझा जाता है, या फिर उस चोगे की तरह है जिसमें कोई मखमल का टुकड़ा लगा हो तो कोई मलमल का, एक बाजू यदि सूती कपड़े का है तो दूसरा ऊनी कपड़े का, कुछ हिस्सा जामुनी रंग का है और कुछ गुलाबी रंग का ।

वे तो अपनी सत्य बात को मधुर भाषा में और युक्तियुक्त करके कहते हैं, विरोधी मत का कटुआलोचना से खण्डन नहीं किया । भारत की संस्कृति का प्रचार इसी ढंग से हुआ है और इसी विशेषता के कारण अनेकों संस्कृतियों का इसमें सामञ्जस्य हुआ है ।

हिन्दू धर्म का प्रचार भारत से बाहर इन्डोनेशिया, हिन्द चीनी आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों में हुआ । बुद्ध धर्म का प्रचार लंका, बरमा, तिब्बत, चीन, जापान, मंगोलिया, मध्य एशिया में पश्चिम में मिश्र तक हुआ । किन्तु इसके प्रचार के लिये एक बूंद तक रक्त नहीं बहाया गया । प्रचारकों की कटु आलोचना के कारण यहूदियों की छोटी सी संख्या दो हज़ार वर्षों से अलग चली आ रही है । यहूदी और ईसाई प्रचारकों द्वारा अरब संस्कृति की कटुआलोचना की ही प्रतिक्रिया थी कि अरब के मुहम्मद साहब की ओर से ऐसा आयोजन किया गया कि वहां से तो क्या, अनेकों देशों से ईसाईयत और यहूदियत को भागना पड़ा ।

ईसाई प्रचारकों की इसी कटु आलोचना का परिणाम था कि उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के धार्मिक नेताओं ने ईसाई धर्म के प्रचार के विरूद्ध संघठन किए और अपने धर्मों में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके उसके प्रचार को रोक दिया ।

तुलसी की महानता इसमें है कि उन्होंने अपनी बात मनवाई है और प्रेम से मनवाई है । यह उन के ग्रंथ रामचरित मानस का प्रताप है कि आज रामचरित मानस को राम-भक्त वैष्णव भी उस श्रद्धा से पढ़ते हैं और शैव भी; उसे गृहस्थी भी पढ़ते हैं और साधु सन्त भी; निर्गुण ज्ञानी भी और सगुणी भी दोनों उसके आगे नत मस्तक हैं; संस्कृत के विद्वान भी उस पर उतनी ही आस्था रखते हैं, जितनी हिन्दी प्रेमी । एकता के प्रयास में वे किस शैली से काम लेते हैं नीचे के कुछ प्रसंगों से स्पष्ट हो जायगा ।

शैव मत और वैष्णव मत के परस्पर भेद में वे वैष्णव धारा को अधिक उपयुक्त समझते हैं । किन्तु उन्होंने वैष्णव स्वरूप की आराधना की स्थापना करते हुए शिव साधना की कटु आलोचना नहीं की है। उस पक्ष को पूरी तरह प्रेम का स्थान दिया है। विष्णु अवतार 'राम' शिव से प्रेम रखते हैं और शिव राम की आराधना करते

है। उत्तर काण्ड में शिव कहते हैं कि श्री रामचन्द्र जी मुझे बहुत ही प्रिय है।

छमासील जे पर उपकारी।
ते हिया मोहि प्रिय जथा खरारि।।

क्षमा शील और परोपकारी व्यक्ति मुझे उसी प्रकार प्यारे हैं जिस प्रकार खर के शत्रु श्री रामचन्द्र जी। बाल काण्ड में भारद्वाज जी याज्ञवल्क्य मुनि से यही कहते हैं कि शिव जी महाराज दया करके राम नाम का उपदेश देते हैं।

सो पि राम महिमा मुनि राया।
शिव उपदेसु करत करि दाया।।

आगे शिव जी मुनिवर अगस्त्य जी से राम कथा विस्तार से सुनते हैं। और शिव जी ऋषि को सुन्दर हरि भक्ति का रहस्य पात्र जान कर बताते हैं।

राम कथा मुनि बर्ज बखानी।
सुनी महेस परम सुख मानी।।
रिषि पुछी हरि भगति सुहाई।
कही संभु अधिकारी पाई।।

लंका काण्ड में उधर राम भी शिवजी की पूजा करते हैं और कहते हैं कि शिवजी के समान मुझे कोई प्रिय नहीं है।

शिव समान प्रिय मोहि न दूजा।।

जो शिव से द्रोह रखता है और मेरा भक्त कहलाता है वह मनुष्य स्वप्न में भी मुझे नहीं पाता। शंकर जी से विमुख होकर जो मेरी भक्ति चाहता है, वह नरकगामी मूर्ख और अल्प बुद्धि है।

शिव द्रोही मम भगत कहावा।
सो नर सपने हूँ मोहि न पावा।।
संकर विमुख भगति चह मोरी।
सो नारकी मूढ़ मति थोरी।।

श्री राम आगे कहते हैं जिनको शंकर जी प्रिय हैं, परन्तु जो मेरे द्रोही हैं, एवं जो शिवजी के द्रोही हैं और मेरे दास बनना चाहते हैं, वे मनुष्य कल्प भर घोर नरक में निवास करते हैं।

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास
ते नर करहि कलप भरि, घोर नरक महुं बास

इस प्रसंग में यह बात स्पष्ट करने की है कि शिव योगियों के आराध्य हैं और जीव और मन के प्रतीक हैं। योग में माना गया है कि जीव या मन से ही दुनिया पैदा होती है और मन में ही समा जाती है। मन ही ब्रह्म है, शिव है, परमात्मा है। इतना ही जान लेने से मुक्ति हो जाती है। और माया को जीत कर या मार कर साधक मन के वास्तविक स्वरूप को पा लेता है और मुक्त हो जाता है।

किन्तु वैष्णव धर्म के अनुसार जीव उस माया के अधीन है जो सर्व व्यापक ब्रह्म के अधीन है। वह राम की दासी तो है किन्तु जगत की जननी है। एक जीव जगत जननी को जीतने या कैद करने के सामर्थ्य नहीं है। रावण उसी जगत जननी प्रभु की शक्ति सीता माता को कैद करने का दु:साहस करता है। तुलसी का विचार है कि माया को जीतना या कैद करना

प्रभु की लीला की इच्छा को चुनौती देना है। प्रभु की इच्छा का विरोध करना है। मानव में इसकी सामर्थ्य नहीं है। लंका काण्ड में शुक दूत भी रावण को यही परामर्श देता है कि श्रीराम जी से वैर त्याग दीजिए।

नाथ राम सन तजहू विरोधा।

विभीषण मन्दोदरी कुम्भकरण सभी रावण को यही परामर्श देते हैं कि सीता तो जगत-जननी है; इसे कैद करने के तू सामर्थ्य नहीं है। तेरा सर्वनाश हो जाएगा जगत-जननी सीता जी तो पूज्य है अतः माया को मारने का दुस्साहस करने वाले का प्रभु स्वयं नाश करते हैं। माया के द्वारा प्रभु अपनी लीला रचते हैं। क्या मानव प्रभु की लीला को रोक सकता है? शैव योगी तो माया को मारने का दावा करते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार का नाश करके सृष्टि के संहार का दावा करते हैं, और तभी शिव को उपास्य मानते हैं क्योंकि शिव ही संसार का संहार करते हैं। किन्तु शिव सारी सृष्टि का संहार करने के लिये नहीं हैं, वे तो उसी का संहार करते हैं जो सृष्टि के संचालन में रुकावट बने। सारी सृष्टि का वे क्यों संहार करें? इसी लिये राम कहते हैं कि रक्षा और संहार दोनों आवश्यक हैं।

राम की भक्ति के बिन 'शिव प्रेम' असम्भव है और शिव प्रेम के बिना राम भक्ति मूर्खता है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ये पांचों ही माया के योद्धा हैं जो सृष्टि को चलाते भी हैं और संहार भी करते हैं। इनकी रक्षा की भी आवश्यकता है और संहार की भी। यदि काम नहीं होगा तो सृष्टि नहीं होगी। यदि लोभ नहीं होगा तो उन्नति नहीं होगी, यदि मोह नहीं होगा तो अपनी वस्तु की रक्षा की भावना नहीं होगी, अहंकार नहीं होगा तो कर्म की प्रेरणा नहीं होगी। यदि क्रोध नहीं होगा तो सत्य और मर्यादा की रक्षा नहीं होगी। माया के ये सभी योद्धा सृष्टि को चलाते हैं।

माया का यह Positive पक्ष है जिससे कोई स्वस्थ व्यक्ति नहीं बच सकता। माया के इस स्वरूप तक इसकी पूजा करनी ही पड़ती है। माया के प्रभाव से मुक्त संसार में गुण, दोष, झूठ, सत्य कुछ नहीं है। क्योंकि सभी कुछ प्रभु की इच्छा है। माया के प्रभाव के कारण ही व्यक्ति छोटे या बड़े हित के कारण अच्छा और बुरा, गुण और दोष, सत्य और झूठ देखता है। माया के कारण ही मनुष्य पाप और झूठ को प्रभु की इच्छा मानने से इन्कारी है और उसके विरुद्ध खड़ा होता है और पाप से लड़ता है। पाप के विरुद्ध लड़ाने वाली माया से सांसारिक व्यक्ति तो क्या फ़क़ीर भी मुक्त नहीं हो सकता जैसा कि लोमश ऋषि के प्रसंग में सिद्ध हुआ है।

अतः माया को जीतने की इच्छा पाप है--किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि संसार को शान्तिपूर्वक चलाने के स्थान पर अपनी सीमा से लांघ कर विध्वंसात्मक हो जाएं तो व्यक्ति उनका विरोध करता है। और जो अपनी सीमा या मर्यादा को लांघता है उसी का नाश करने के लिये माया ने क्रोध की रचना की है ।

अतः तुलसी माया को, उसके काम-क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार तत्त्वों को उसी सीमा तक पूज्य मानते हैं जिस सीमा तक वे संसार को सुखी बनाने में सहायक होते हैं। यही उनकी मर्यादा है ।

अतः तुलसी को अकेले राम अर्थात् निर्गुण राम की पूजा के विरोध में मर्यादा पुरुषोत्तम सगुण राम अर्थात् माया शक्ति सीता सहित राम की भक्ति ही प्रिय है । बिना माया को माने राम की पूजा या प्राप्ति नहीं हो सकती है।

तुलसी दास ने शिव और सगुण राम दोनों की स्थापना इसी रूप में की है। कि माया के कारण प्रतीत होने वाले पाप का संहार करो यही शिव की पूजा है और सृष्टि को चलाने वाले सत्य की रक्षा और पालना करो यही राम की पूजा है । शिव वैयक्तिक जीव या मन के प्रतीक है। उसकी आराधना से निजी अर्थात् स्वार्थ परायण काम, क्रोध आदि का हनन होता है किन्तु राम व्यापक ब्रह्म है। अतः व्यापक हित के लिये सत्य की पालना करनी है । 'शिव' व्यक्ति का अस्तित्व है तो राम व्यापक ब्रह्म है । जीवन में दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। राम शिव से इसी प्रकार प्रेम करते हैं जिस प्रकार प्रभु जीव से प्रेम करते हैं, अपने भक्तों से प्रेम करते हैं और शिव राम से उसी प्रकार प्रेम करते हैं जिस प्रकार भक्त जीव प्रभु से प्रेम करता है। शिव और राम में वही सम्बन्ध है जो जीव और ब्रह्म का है, भला इनमें से किसी का भी अखण्डन हो सकता है? तुलसीदास ने शैवों और वैष्णवों में इसी प्रकार भावनात्मक एकता स्थापित की है । एकता स्थापित करते हुए उन्होंने सचमुच ही अपने वैष्णव पक्ष को स्थापित किया है और शैवों के दावे को भी झुठलाया नहीं । उसको उन्हीं के दावे के अनुसार स्थान दिया है ; उसे छोटा नहीं किया ।

शिव भक्ति या राम भक्ति में से कौन सी साधना अधिक सुखद और लाभदायिक है तुलसी विभीषण के राम की शरण आने पर स्पष्ट कहते हैं --

जो संपति शिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ
सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ।

शिव जी ने जो सम्पत्ति रावण को दसों सिरों की बलि देने पर दी थी, वही सम्पत्ति श्री रघुनाथ जी ने विभीषण को बहुत सकुचाते हुए दी ।

इसी प्रकार निर्गुणियों और सगुणियों के संघर्ष में उनका अपना दृष्टिकोण सगुणियों के हक में है निर्गुणियों का दावा था कि "माया" को जीत कर जीवन मुक्त हुआ जा सकता है। अतः वे माया को बीच में छोड़ कर सीधे अद्वैत या निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने को ही मुक्ति का साधन बताते हैं। किन्तु तुलसी का विचार है कि जब तक आदमी इस शरीर की कैद में है वह माया से मुक्त नहीं हो सकता, वह अद्वैत या निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति नहीं कर सकता।

अपना विचार बताने के लिये उन्होंने न तो अपने विरोधियों की तरह, दूसरों को अंधा या मूर्ख ही कहा है और न निर्गुण या अद्वैत ब्रह्म की ज्ञान की प्राप्ति का सीधे रूप से खण्डन किया है अपितु वे ऐसे कहते हैं, जैसे दूसरे के मन को दुख न लगे। वे कहते हैं :

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहि मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन सगुनि दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा॥

इस प्रकार पहले वे निर्गुण और सगुण ब्रह्म की एकता बहुत मधुर ढंग से स्थापित करते हैं कि निर्गुण ब्रह्म ही भक्तों की पुकार पर भक्तों के प्रेम से सगुण हो जाते हैं।

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुण सो होई॥

जो ब्रह्म निर्गुण है जिसका कोई रूप नहीं है जो जन्म रहित है वही भक्तों के प्रेम के वश सगुण हो जाते हैं। किन्तु इन दोनों रूपों में समानता बताने के बाद भी वे अपनी अधिमानता जब बताते हैं तो भी दूसरे रूप का खण्डन नहीं करते अपितु दूसरों को वो कहते हैं कि जो ब्रह्म को अजन्मा, अद्वैत, केवल अनुभव से ही जाना जाने वाला कह कर ध्यान करते हैं वे ऐसा कहा करें, और जाना करें, हम तो हे प्रभु आपका सगुण यश ही गाते हैं और यही मांगते हैं कि मन, वचन और कर्म से विकारों को त्याग कर आपके चरणों में ही प्रेम करें।

जो ब्रह्म अजम द्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं
ते कहहु जानहुं नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं
करुणा यत्न प्रभु सदगुनाकर देव यह वर मांगही।
मन वचन कर्म विकार तजि तव चरण, हम अनुरागहिं।

अन्ततः वे अद्वैत ब्रह्म की अनुभूति को बिल्कुल ही असम्भव और अव्यवहार्य बताते समय एक छोटा सा उदाहरण प्रसंगवश कह जाते हैं। जो स्वाभाविक है युक्ति युक्त है। विरोधी अपने आप बात को पकड़ लेता है। कथा इस प्रकार है

काग भुषण्डी अपने [illegible] जन्म की कथा गरुड़ को सुनाते हैं

सुमेरू पर्वत के शिखर पर बड़ के छाया में लोमश मुनि बैठे थे । उन्हें देख कर मैंने उनके चरणों में सिर नवाया और अत्यन्त दीन वचन कहे । कृपालु मुनि ने आदर के साथ पूछा—'हे ब्राह्मण आप किस कार्य से यहां आये हैं ?' तब मैंने कहा—हे कृपा निधि, आप सर्वज्ञ हैं और सुजान हैं, मुझे सगुण ब्रह्म की अराधना कहिए । तब मनीश्वर ने श्री रघुनाथ जी के गुणों की कुछ कथाएं आदर सहित कहीं । फिर वे ब्रह्म ज्ञान परायण निज्ञान वान मुनि मुझे परम अधिकारी जान कर ब्रह्म का उपदेश करने लगे कि वह अजन्मा है, अद्वैत है, निर्गुण है, अन्तर्यामी है, अनीह है, अनामा है, अरूपा है, अनुभव से जानने योग्य है, अखण्ड है, उपमा रहित है, मन और इन्द्रियों से परे है, अमल और अविनाशी है, निर्विकार है, सीमा रहित और सुख की राशि है। इस प्रकार अनेक वचनों से मुनि ने मुझे समझाया । पर निर्गुण मत मेरे हृदय में नहीं बैठा । मैंने फिर मुनि के चरणों में सिर निवा कर कहा 'हे मुनीश्वर मुझे सगुण ब्रह्म की उपासना कहिए । मेरा मन राम भक्ति रूपी जल में मछली हो रहा है । आप दया करके मुझे वही उपदेश कहिए जिससे श्री रघुनाथ जी को मैं अपनी आंखों से देख सकूं । नेत्र भर कर श्री अयोध्या नाथ को देख कर तब [illegible] निर्गुण का उपदेश सुनूंगा ।' मुनि ने फिर अनुपम कथा कह कर सगुण मत का खण्डन करके निर्गुण का निरूपण किया । तब मैं निर्गुण मत को हटा कर बहुत हठ करके सगुन मत का निरूपण करने लगा । मैंने उत्तर प्रत्युत्तर किया। इससे मुनि के शरीर में क्रोध के चिह्न उत्पन्न हो गये । मुनि बार-बार क्रोध सहित ज्ञान का निरूपण करने लगे । तब मैं बैठा-बैठा अपने मन में अनेकों प्रकार के अनुमान करने लगा कि बिना द्वैत बुद्धि के क्रोध कैसा और बिना अज्ञान के क्या द्वैतवृद्धि हो सकती है ।

क्रोध की द्वैत बुद्धि बिन, द्वैत कि बिनु अग्यान ।
माया वस परि छिन्न जड़ जीव कि ईस समान ।।

निर्गुण या अद्वैतवादी यदि एक मुनि और त्यागी को भी क्रोध आता है तो सांसारिक मनुष्य इस क्रोध को कैसे जीत सकते हैं । और क्रोध बिना द्वैत के कैसे आ सकता है । यदि एक त्यागी को भी विरोधी में एक कर्त्ता का ज्ञान नहीं हो सकता तो गृहस्थी को एक कर्त्ता का ज्ञान कैसे हो सकता है । गृहस्थी विरोधी या शत्रु में एक कर्त्ता को कैसे पहचान सकता है । इस शरीर में रहता हुआ आदमी माया को नहीं जीत सकता । वह निर्गुण और अद्वैत को प्राप्त नहीं कर सकता ।

बहुत अपमान करने पर ज्ञानी के भी हृदय में क्रोध उत्पन्न हो जाता है ।

सुनु प्रभु बहुत अवग्या किए।
उपज क्रोध ग्यानिह के हिए ।।
अति संघरषन जो कर कोई ।
अनल प्रगट चन्दन ते होई ।।

सारस्य में तुलसी यह कहना चाहते हैं कि निर्गुण या अद्वैत ब्रह्म की बातें करने के लिये ही है और आसान है किन्तु व्यवहार में साधक भगवान की माया से मुक्त नहीं होता और बिना माने भगवान के सगुण स्वरूप का ही आश्रय लेता है। इसी प्रकार भक्ति का जो आनन्द भगवान के सगुण स्वरूप की लीलाओं में आता है वे निर्गुण ब्रह्म की बातों के करने से नहीं आता। वे कहते हैं कि निर्गुण समझने में सरल किन्तु अव्यवहार या साधना में असाध्य है। किन्तु सगुण भगवान समझने में कठिन है किन्तु भक्ति का आनन्द तो उसी में है, और व्यवहार में भी उसी को ही मानना पड़ता है ।

निर्गुण रूप सुलभ अति,
सगुन जान नहिं कोई
सुगम अगम नाना चरित
सुनि मुनि मन होई ।

अन्यच्च:

तुलसी को गृहस्थ जीवन की निन्दा और खण्डन श्रेयस्कर प्रतीत नहीं होता। वे ऐसी विचारधारा को हानिकारक समझते हैं जो पारिवारिक या सामाजिक जीवन की आस्था को तोड़ कर उसमें अव्यवस्था उत्पन्न करे । जैसे कि कबीर आदि निर्गुणी सन्त कर रहे थे कि सांसारिक सभी सम्बन्धी स्वार्थपूर्ण है और इसे त्याग दो । उदाहरणार्थ कबीर कहते हैं-

का कउ मात पिता को काको
कवन पुरुष की जोई,
घट फूटे कोई बात न पूछे
काढो काढो होई ।

उस प्रकार सभी निर्गुण भक्त सांसारिक सम्बन्धों की निन्दा करते हैं। तुलसी को यह सुन कर बड़ा दुख होता है किन्तु तुलसी इतने धैर्यवान हैं कि यह सब सुन कर किसी को अन्धा या काना नहीं कहने लग पड़ते । वे केवल अपने ही विचार को भावनात्मक ढंग से ही कहते हैं, यथा :—

जिन मात पिता की सेव किये,
तिन और का नाम लिए न लिये ।
प्रातः काल उठ के रघुनाथा
मात पिता गुरू नावें माथा ।

ज्ञान और भक्ति—ज्ञान की अपेक्षा भक्ति के पथ का समर्थन बड़े मधुर हृदयग्राही और बोधगम्य उदाहरण से स्थापित करते हैं जिससे विपक्षी के मन को जरा भी दुख न हो, कहते हैं कि भक्ति और ज्ञान दोनों समान हैं :

भगतिहि ग्यानहि नहि कुछ भेदा
उभय हरहि भव संभव खेदा

कि भक्ति और ज्ञान में कुछ भेद नहीं है, दोनों ही संसार उत्पन्न क्लेशों को हर लेते हैं ।

आगे वे एक मधुर अद्‌भुत और काव्यात्मक ढंग से ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता को स्थापित करते हैं वे कहते हैं कि—

ग्यान बिराग जोग बिग्याना ।
ए सब पुरुष सुनहु हरि जाना ।।
पुरुष प्रताप सबल सभ भान्ति ।
अबला अबल सहज बढ़ जाती ।।

ज्ञान योग वैराग्य विज्ञान तो पुरुष है और प्रबल है । माया अबला है, जड़ जाती की है । किन्तु आगे कहते हैं कि वैराग्यवस और धीर पुरुष ही स्त्री को त्याग सकते हैं न कि कामी पुरुष और जो श्री रघुबीर के चरणों से विमुख है । वे तो ज्ञान के भण्डार मुनि भी मृग नयनी के चन्द्रमुख को देख कर विवश हो जाते हैं । साक्षात भगवान विष्णु की माया ही स्त्री रूप से प्रकट है । किन्तु आगे कहते हैं कि वेद पुराण और सन्तों के अनुसार यह अनुपम नीति है कि एक स्त्री के रूप पर दूसरी स्त्री मोहत नहीं होती ।

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ
नारि वर्ग जानह सब कोऊ
मुनि रघुबीर भगवित पिआरी
माया खल नर्तकी विचारी ।

माया और भक्ति दोनों स्त्री वर्ग की हैं । ज्ञान पुरुष होने से माया रूपी स्त्री को नहीं जीत सकता । स्त्री माया को स्त्री भगति ही जीत सकती है । और प्रभु को तो माया से अधिक भक्ति प्यारी है । एक दृष्टांत और देते हैं कि एक बाप के कई पुत्र है। कोई ज्ञान वान है, कोई पराक्रमी है, वीर है । कोई धनाढ्य है । एक कुछ भी नहीं जानता किन्तु बाप की सेवा करता है । पिता को इस सेवक पुत्र से ही सब से अधिक प्यार है, पिता को बाकी पुत्रों के ज्ञान, धन या पराक्रम से कोई सरोकार नहीं । यह है तुलसीदास का ढंग जिससे वे अपने विरोधी की कटु आलोचना करके वैरी नहीं बनाते, अपितु उसके सभी दावों को मान कर उसका आदर करके अपनी बात दलील से पेश करते हैं ।

तुलसी ने अपनी सभी बातें प्रेम से मनवाई हैं । जब विरोधी को भी पूरा मान मिल जाए, तो निश्चित ही विरोधी विरोधी नहीं रहता । उसका विरोध समाप्त हो जाता है । भारत की भावनात्मक एकता की दिशा में समय समय पर अनेकों प्रयास हुए हैं । सभी प्रयासों के पीछे यह भावना रही है कि दूसरे को दबाने या काटने की कोशिश नहीं की जाए उसे बराबर जीने की स्वतन्त्रपूर्ण अधिकार दिया जाए । इस सफलता के पीछे भारत की वह संस्कृति है जिसका आधार 'सहनशीलता' है । जो लोग भारत की इस विशेषता के जानकार नहीं हैं—वे इसे भारत की दुर्बलता समझते हैं; किन्तु जो इस विशेषता को समझते हैं वे मानते हैं कि यह भारत की संस्कृति की दुर्बलता नहीं, बहुत बड़ी शक्ति है । केवल इस विशेषता को जानने की ज़रूरत है ।

यहां यह बात भी स्पष्ट करने की है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे के आगे घुटने टेक दिये जाएं। उनका विचार है कि स्वयं आक्रमण नहीं करना चाहिए किन्तु आक्रमण होने पर पूरी तरह रक्षा की जानी चाहिए। तुलसी जहां अपनी बात प्रेम से कहते हैं, प्रेम से समझाते हैं, दूसरों के दोष का संकेत भी नहीं करते, वहां वे अपने पर होने वाले अपमानात्मक आक्रमण का उत्तर ठीग ढंग से देना अवश्य समझते हैं। वे कहते हैं कि यदि कोई तुम्हारे श्रद्धा पात्र के लिये अपमानजनक शब्द कहे तो उसकी जिह्वा खेंच लो, यदि, जिह्वा खेंचने में असमर्थ हो तो वहां से उठ जाओ। क्योंकि अन्यथा इससे झूठ को शक्ति मिलती है, और अपनी आभा उत्साह और शक्ति का ह्रास होता है।'

आज के युग में महात्मा गांधी की नीति भी भारत की पराचीन संस्कृति के अनुसार है। और इसी नीति के अनुसार वे विभिन्न जातियों, धर्मों और संस्कृतियों के सम्प्रदायों को आदर देते रहे हैं, और उनके अनुयायी सभी को समान आदर दे रहे हैं। यदि भारत के अतिरिक्त कोई और देश होता तो उस देश का बहुमत अल्पमतों को कुचलने या समाप्त करने का प्रयास करता जैसा इंगलैंड में कैथोलिकस और प्रोटैसटेंटस सत्तारूढ़ होने पर अपने विरोधियों को जिन्दा जिलाते रहे हैं। या फिर जैसे पाकिस्तान में हुआ है। किन्तु भारत वर्ष की धरती है जहां दूसरे के विचार को समान अधिकार और स्वतंत्रता प्राप्त होती है, तभी विभिन्न वर्ग वैर विरोध छोड़ कर एक हो जाते हैं।

सूर्य और समय

***सूर्य के विदा होने पर यदि आंसू बहाओगे तो तुम नक्षत्रों को भी न देख पाओगे।**

***समय की कोर पर जीवन को ऐसे ही झूलने दो जैसे पत्ते की किनारी पर ओस।**

—रवीन्द्र नाथ ठाकुर

भारतीय किसान और उपन्यासकार प्रेमचन्द

डा० शशिभूषण सिंहल

भारत खेतिहर देश है। आज यहां किसान की नई भूमिका को समझने, तैयार करने के प्रसंग में भारतीय किसान की गत आर्थिक दशा का परिचय प्राप्त करना रुचिकर एवं उपयोगी है। गत कालीन किसान को हृदय की पूरी सहानुभूति देकर उसका मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने वाले साहित्यकारों में प्रेमचन्द अग्रणी हैं। मुंशी प्रेमचन्द बचपन से लमही गांव के किसान-जीवन की गोद में पले थे। बाद में शहरों में रहकर भी उन्हें सहज संस्कार-वश गांव, किसान, खेत-खलिहान के प्रति गहन आत्मीयता का अनुभव होता रहा। उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य में पीड़ित, त्रस्त किसान की आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक स्थिति का गंभीर अध्ययन और सूक्ष्म चित्रण किया था। प्रेमचन्द के किसान का पूर्व इतिहास भी चिर अराजकता एवं उपेक्षा का साक्षी था। अंग्रेजों से पूर्व शताब्दियों से भारतीय शासन-व्यवस्था विशृंखल और अस्थिर थी। शासक आते और जाते रहे, निरीह किसान मदोन्मत्त शासकों और आक्रमकों के पैरों तले रौंदा जाता रहा। लूट-पाट, अग्निकांड और विध्वंस उसके लिये आये-दिन की बात थी। ऐसी स्थिति में किसान जीता था क्योंकि वह मर नहीं पाता था और खेती करता था क्योंकि उसे करने के लिये अन्य कुछ नहीं था।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में किसान का जो स्वरूप उभर कर आता है, वह इस प्रकार है। राजा अंग्रेज़ थे और उनका प्रतिनिधि किसानों का अन्नदाता मालिक बना जमींदार। खेतों में मर-खप कर पैदा किया हुआ अन्न उन्हें भेंट कर बचे-खुचे से अधपेट जीनेवाला किसान हो गया उनकी रिआया! जमींदार के कारिंदे, पटवारी, पुलिस तथा अन्य अधिकारी बिचौलिये बन गये। ये सब अनेक हाथ-पैरों से किसान का शोषण कर अपना उल्लू सीधा करने लगे। किसान का तिल-तिल कर रक्त चूसने वाली जोंक जैसी एक अन्य शक्ति का उदय हुआ जिसे हम महाजन के नाम से जानते हैं।

महाजन किसान के जीवन-नाटक का सूत्रधार था। फसल तैयार होने पर किसान को अनेक लोगों की बाकी चुकानी होती थी। उसे अपना अन्न तत्काल गिरे

हुए बाजार भाव पर महाजनों के हाथ बेचना पड़ता था। महाजन लोग खरीदे हुए अन्न को कुछ काल बाद अधिक दाम पर बेच कर लाभ उठाते थे। किसान की आय कम होती थी और देनदारी अधिक। प्राय: देवी आपत्तियों के शिकार होनेत था अपनी साधनहीनता के कारण उसे समय-समय पर महाजन की शरण लेनी पड़ती थी। जब सब कुछ करने पर भी वह कर्ज़ लेने को विवश था, दुराशावश उसने निजी ख़र्चे भी ऊल-जलूल ढंग से बढ़ा लिये। महाजन किसान को चक्रवृद्धि व्याज की दर पर खुशी-खुशी ऋण देकर उसे अपने चंगुल में ले लेता था। महाजन को किसान से मूल वापिस लेने की चिन्ता न थी किन्तु ब्याज उसे प्राणप्रिय था। वह ब्याज वसूल करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देता था और किसान को नया कर्जा देने की घात में भी लगा रहता था। महाजनी दलदल में एक बार पैर रख देने पर किसान निकल नहीं पाता था। वह न ब्याज चुका पाता था और न मूल ही भुगता सकता था। इस प्रकार वह अपना इह-लोक और "पर-लोक" दोनों गंवा बैठता था।

प्रेमचन्द की सुप्रसिद्ध कहानी "ढाई सेर गेहूँ" में शंकर नामक किसान घर पर एक साधु के पाहुने रूप में विराजने पर उसके भोजन के लिये गेहूँ जुटाता है वह स्वयं गेहूँ नहीं खाता और न घर पर कुछ गेहूँ रखने की उसमें सामर्थ्य है। अत: अपने पुरोहित महाजन से इस कार्य के लिये ढाई सेर गेहूँ उधार लेता है। प्रात: साधु महाराज आशीर्वाद देकर सिधारे किन्तु कुछ वर्षों बाद शंकर को पता लगा कि पंडित जी से उधार लिये ढाई सेर गेहूँ के व्याज ने सुरसा की भांति मुंह फैला कर मात्रा में मनों का रूप धारण कर लिया है। निरीह शंकर धर्म-संकट में पड़ गया, पंडित जी का ऋण न चुका कर वह अपना "परलोक" नष्ट कैसे करे। फलस्वरूप द्रौपदी के चीर जैसे लम्बे कर्ज़े को यथासाध्य चुकाते-चुकाते वह थक कर नाममात्र की मज़दूरी पर पुरोहित का आजीवन हलवाहा बन जाता है। उसके मरते समय कर्ज़ पहले से बढ़ा ही है कुछ घटा नहीं। वह अपने पुत्र को महाजन की आजन्म दासता में सौंपकर सदा के लिये आंखें मूंद लेता है।

किसान शोषकों के चक्र में चारों ओर से बुरी तरह घिरा होने पर भी नीच नहीं है। वह अपनी बुद्धि के अनुसार चालाकी, चौकसी और खुशामद करने में कसर नहीं लगाता किन्तु प्रकृति का चिर सहचर होने के कारण हृदय से निश्छल है। प्रेमचन्द 'गोदान' में लिखते हैं "कि उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है। वृक्षों पर फल लगते हैं, उन्हें जनता खाती है; खेती में अनाज होता है, वह संसार के काम आता है,

गाय के थन में दूध होता है, वह खुद पीने नहीं जाती दूसरे ही पीते हैं, मेघों से वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी संगति में कुत्सित स्वार्थ के लिये कहां स्थान हो सकता है !"

प्रेमचन्द ने अपने आरंभिक उपन्यास 'वरदान' में किसान जीवन की सूक्ष्म झांकी दी है। युवती विरजन कुछ दिनों के लिये देहात में रहती है और वहां से अपने पति कमलाचरण को सात विस्तृत पत्र लिखती है। लोक-जीवन के अध्ययन की दृष्टि से ये पत्र पठनीय एवं मननीय हैं। किसानों की विपन्न जीवन-दशा के विषय में वह लिखती है। साथ ही, बताती है कि किस प्रकार गांव भर अज्ञान और भयवश भूत-प्रेतों संबंधी कपोल-कल्पनाओं से ग्रस्त है। वहां पग-पग पर गड्ढों में चुड़ैलें वास करती हैं और पीपलों पर भूतों के डेरे हैं। कैसे होली के अवसर पर लोगों की दमित, कुंठित वासनाएं उच्छृंखलता में परिणत हो जाती है, प्लेग-चेचक की महामारी फूटने पर किसान किस प्रकार देवी की पूजा कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं और किस तरह किसानों को बर्बर मुग़लिए (क़ाबुली) कुछ रुपये ऋण देकर उन पर ज़ुल्म ढाते हैं, ये चित्र बड़े स्पष्ट हैं। फिर भी किसान परिश्रम से मुंह नहीं मोड़ते। पुरुषों की बात तो जाने दें स्त्रियां भी घर-गृहस्थी संभालने के साथ प्रातः दस-दस, बारह-बारह के गोल में अनाज काटने जाती हैं। उनके हाथों में हंसिया, कन्धों पर गठिया बांधने की रस्सी और सिर पर भुने हुए मटर की छबड़ी रहती है। ये इस समय जाती हैं, कहीं बारह बजे लौटेंगी, आपस में गाती चुहल करती हुईं।

देहातों में सरकारी अधिकारी कार्तिक का आरम्भ होते ही अपने दल-बल सहित शहरों से दौरा करने आ पहुँचते हैं। उनका लक्ष्य गांवों की वास्तविक स्थिति का अध्ययन और सेवा-कार्य होना चाहिए किन्तु वे विदेशी शासन की छत्रछाया में किसानों पर ज़ुल्म ढाते हैं और मनमानी स्वार्थपूर्ति करते हैं। प्रेमचन्द इन पर व्यंग्य करते हैं कि अधिकारी वर्ग और उनके कर्मचारी विरहिणी की भांति इस सुख-काल के दिन गिना करते हैं। शहरों में तो उनकी दाल नहीं गलती, या गलती है तो बहुत कम ! वहां प्रत्येक वस्तु के लिये उन्हें जेब में हाथ डालना पड़ता हैं, किन्तु देहातों में जेब की जगह उनका हाथ अपने सोटे पर होता है या किसी दीन किसान की गरदन पर ! वे जितना खा सकते हैं, खाते हैं, बार-बार खाते हैं, और जो नहीं खा सकते, वह घर भेजते हैं।

युवक मायाशंकर (प्रेमाश्रम) किसानों की वास्तविक दशा का परिचय प्राप्त करने के लिये गांवों में घूमता है। किसानों के

खाने, पहनने और रहने की स्थिति का चित्र बड़ा मार्मिक है :—

"......चारों तरफ़ तबाही छाई हुई थी। ऐसा विरला ही कोई घर था जिसमें धातु के बरतन दिखाई देते हों। कितने घरों में लोहे के तवे तकन थे। मिट्टी के बरतनों को छोड़ कर झोंपड़े में और कुछ दिखाई न देता था। न ओढ़ना, न बिछौना, यहां तक कि बहुत से घरों में खाटें तक न थीं और वह घर ही क्या थे। एक-एक, दो-दो छोटी कोठरियां थीं। एक मनुष्य के लिये, एक पशुओं के लिये। उसी एक कोठरी में खाना, सोना, बैठना—सब कुछ होता था। बस्तियां इतनी घनी थीं कि गांव में खुली हुई जगह दिखाई ही नहीं देती थी। किसी के द्वार पर सहन नहीं, हवा और प्रकाश का शहरों की घनी बस्तियों में भी इतना अभाव न होगा। जो किसान बहुत सम्पन्न समझे जाते थे उनके बदन पर साबित कपड़े न थे, उन्हें भी एक जून चबेना पर ही काटना पड़ता था। वह भी ऋण के बोझ से दबे हुए थे।"

'गोदान' में युवा गोबर किसान-जीवन की विपन्नता से भागकर शहर में शरन लेता है। नागरिक गोबर बहिन रूपा के विवाह के अवसर पर गांव आता है। तो उसकी नई दृष्टि में गांव का पुराना बीभत्स साक्षात् हो उठता है—

"ऐसा एक आदमी भी नहीं जिसकी रोनी सूरत न हो, मानो उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही हो। चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे; इसलिये कि पिसना और घुटना उनकी तक़दीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है, न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गए हों और सारी हरियाली मुरझा गई हो।.....उनकी सारी चेतनाएं शिथिल हो गई हैं। द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है मगर उनकी नाक में न गन्ध है, न आंखों में ज्योति। सरेशाम द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं मगर किसी को ग़म नहीं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आ जाता है वह खा लेते हैं, उसी तरह जैसे इंजिन कोयला लेता है।... उनसे धेले-धेले के लिये बेईमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिये लाठियां चलवा लो। पतन की वह इन्तहा है, जब आदमी शर्म और इज्ज़त को भी भूल जाता है।"

किसानों के जीवन में पतन की इस 'इन्तहा' को देख कर मालती (गोदान) जैसी सहृदय नारी पर जो प्रतिक्रिया हुई है वह कुछ प्रश्नों के रूप में उठ खड़ी होती है। इन प्रश्नों का विश्लेषण और उत्तर ही तत्कालीन किसानों की दुर्दशा का हल है। मालती का जी जलता था कि ये लोग

अच्छा भोजन क्यों नहीं [illegible] ? [illegible] ग्रामीणों पर क्रोध आ जाता था । क्या तुम्हारा जन्म इसीलिये हुआ है कि तुम मर-मरकर कमाओ और जो कुछ पैदा हो, उसे खा न सको ? जहां दो-चार बैलों के लिये भोजन है, एक दो गाय-भैंसों के लिये चारा नहीं है ? क्यों ये लोग भोजन को जीवन की मुख्य वस्तु न समझ कर उस केवल प्राणरक्षा की वस्तु समझते हैं ? क्यों सरकार से नहीं कहते कि नाम-मात्र के व्याज पर रुपये देकर उन्हें सूदखोर महाजनों के पंजे से बचाये ? मालती ने जिस किसी से पूछा, यही मालूम हुआ कि उसकी कमाई का बड़ा भाग महाजनों का कर्ज़ चुकाने में ख़र्च हो जाता है। बटवारे का मरज़ भी बढ़ता जाता था। आपस में इतना वैमनस्य था कि शायद ही कोई दो भाई एक साथ रहते हों। उनकी इस दुर्दशा का कारण बहुत कुछ उनकी संकीर्णता और स्वार्थपरता थी ।

प्रेमचन्द ने वरदान, प्रेमाश्रम, कायाकल्प तथा कर्मभूमि उपन्यासों में किसी न किसी रूप में किसान-जीवन का विशद चित्रण किया है किन्तु 'गोदान' में पहली बार उन्होंने भारतीय किसान को एक व्यक्ति के रूप में निकट से देखा है। होरी का व्यक्तित्व प्रेमचन्द की कोई मौलिक सृष्टि नहीं है, वह उनकी किसान जीवन की सतत अध्ययन-साधना का मार्मिक प्रतिफल है। होरी अपनी सहज स्वाभाविकता के कारण अमर रहेगा। वह जमींदार, महाजन और पंचों के अत्याचारों में निरन्तर पिसते आने के कारण घोर भाग्यवादी बन गया है । उसका मत है, जब दूसरों के पांवों के तले अपनी गरदन दबी हुई है तो उन पांवों को सहलाने में ही कुशल है । बड़े लोगों ने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये हैं उनका आनन्द भोग रहे हैं । उसने कुछ नहीं संचा तो भोगे क्या ? होरी को संस्कारवश अपनी और अपने परिवार की मर्यादा का मिथ्याभिमान है । 'मरजाद' के प्रश्न पर बड़े लोगों की अपेक्षा वह कहीं अधिक जागरूक है । इसके लिये कष्ट उठा सकता है, रुपया फेंक सकता है । बिरादरी के नेता भले ही धूर्त और नीच हों किन्तु उसका अमिट विश्वास है कि बिरादरी ही तारेगी तो तरेंगे । वास्तव में, होरी के भाग्यवाद के अन्तर्गत आत्मसंतोष, मर्यादा-प्रेम, सहनशीलता और अनुशासनप्रियता की भावना सामाजिक दृष्टि से सराहनीय है। किन्तु जिस समाज में उसे निर्वाह करना है वहां ये गुण उसकी जड़ता के द्योतक और प्राणों के संकट बन गये हैं । इस बाहरी विपत्ति और आन्तरिक दुर्बलता के दुष्चक्र में पड़ कर होरी जीविका और शांति ही नहीं खोता वरन् अन्तिम अवलम्ब अपनी 'मर्यादा' और 'धर्म' से भी हाथ धो बैठता है । प्रेमचन्द अन्त में उसकी

मर्मभेदी अन्तर्व्यथा को इन तीक्ष्ण शब्दों में व्यक्त करते हैं ।

"......वह चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है, भाइयो, में दया का पात्र हूँ, मैंने नहीं जाना, जेठ की लू कैसी होती है और माघ की वर्षा कैसी होती है ? इस देह को चीर कर देखो, इसमें कितना प्राण रह गया है, कितना ज़ख्मों से चूर, कितना ठोकरों से कुचला हुआ । उससे पूछो, कभी तूने विश्राम के दर्शन किये, कभी तू छाँह में बैठा । उस पर यह अपमान ! और वह अब भी जीता है, कायर, लोभी, अधम। उसका सारा विश्वास जो अगाध होकर स्थूल और अन्धा हो गया था, मानो टूक-टूक उड़ गया है ।"

प्रेमचन्द के युग में देश गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय, स्वदेशी आन्दोलनों में संलग्न था । भारत की रीढ़ किसान जनता की जीवन-विडंबना की ओर लोगों का विशेष ध्यान न था । प्रेमचन्द गोदान द्वारा बताना चाहते थे कि देश का प्राण, किसान जर्जर होकर कैसे शनैः शनैः टूट रहा है और राष्ट्र को राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ आर्थिक स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिये भी सन्नद्ध होना चाहिए ।

कर्मभूमि उपन्यास में नायक अमरकांत हरिद्वार के पास के एक पहाड़ी गांव को कार्य-क्षेत्र बनाता है । निर्धन किसान अपनी दुर्दशा का हाल निरंकुश महन्त जमींदार तक पहुंचा कर भी उसके मौखिक सहानुभूति के अतिरिक्त कुछ अर्जित नहीं कर पाते । किसान लगान न देने का आंदोलन छेड़ते हैं । ज़मींदार की सहायता के लिये अंग्रेज़ सरकार के दमन का पंजा कस उठता है । गांव में गोली चलती है, अग्नि-काण्ड होते हैं, गिरफ्तारियां होती हैं । यहां किसानों की मात्र आर्थिक समस्या को लेकर इतने बड़े आन्दोलन का चित्रण हुआ है । इस आन्दोलन का पूर्वरूप हमें 'प्रेमाश्रम' में देखने को मिलता है जहां स्वार्थी, निर्मम ज़मींदार ज्ञानशंकर किसानों पर मनमाना स्वत्व जताने के लिये गांव के गांव पर जुल्मों की झड़ी लगा देता है । उत्तर में किसान —स्वयं पैरों पर खड़ा होकर क्या गांव, क्या खेत और क्या अदालत, सभी स्थलों पर लड़ कर विजयी होता है ।

प्रेमाश्रम में प्रेमचन्द की शुभकामनाओं ने नये ज़मींदार मायाशंकर का हृदय-परिवर्तन कर ज़मींदारी के बंधन से किसानों को मुक्ति दिला दी है । मायाशंकर का विश्वास है कि जो व्यक्ति ज़मीन पर मेहनत कर अन्न उपजाता है वही इसका मालिक है । मायाशंकर की घोषणा है कि भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है इसलिये उसे कर लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष रूप में ले या कोई इससे कम आपत्तिजनक

व्यवस्था करे। उपन्यास के अन्त में रचयिता ने अपने स्वप्न लोक की झांकी दी है जहां शोषण-मुक्त किसान मनुष्य की भांति जीते हैं। उनमें जागृति है, उल्लास है, आत्मविश्वास है। प्रेमचन्द का यह स्वप्न आलोचकों को मात्र काल्पनिक जँचा और उन्हें स्वीकार न हुआ। सौभाग्य है, भारत की स्वतंत्रता के बाद प्रेमचन्द की कल्पना बहुत कुछ साकार हो गई है। किन्तु नवयुग में भी किसान और कृषि के मार्ग में विशेष गतिरोध है। यह गतिरोध किसानों की अशिक्षा, भूमि वितरण की अव्यवस्था, आर्थिक सहायता की कमी और सब मिला कर किसान जीवन के प्रति भारतीयों के पिछड़े दृष्टिकोण की देन है।

आज भी भारतीय नागरिक में शहरी सुख की कामना सर्वोपरि है। खेती का पेशा लोगों की दृष्टि में किसी सीमा तक अनुपयोगी, पिछड़ा हुआ और घटिया बना हुआ है। अब आवश्यकता है कि गांव का जीवन सरल, सुविधाजनक हो, खेती के साधन आधुनिक हों और जीवन-मूल्यों की दृष्टि से श्रम-शारीरिक श्रम-के महत्त्व एवं महिमा को स्वीकार किया जाए। गर्मी-सर्दी में, पसीने ठिठुरन और गीले में कठोर परिश्रम कर देश के पेट भरने वाले किसान की देन नेता के भाषण जज के फैसले, वकील की बहस, अध्यापक के व्याख्यान और बाबू की लिखा-पढ़ी से बढ़ कर नहीं तो किसी प्रकार हीन भी नहीं है, यह सामाजिक चेतना जागृत होने पर ही लोगों को किसानों का, गांवों का, जीवन आकृष्ट करेगा और तभी खाद्य-स्थिति में देश आत्म-निर्भर हो पाएगा।

०००

मूर्खों के पास युक्तियां नहीं होतीं, युक्तियों का उत्तर वह हठ से देते हैं।

—प्रेमचन्द

कवि 'नवीन' की शब्द-योजना

डॉ० कृष्ण 'भावुक'

कुछ आलोचक श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को छायावादी-रहस्यवादी की संज्ञा से अलंकृत करते हैं और दूसरे समीक्षक उन्हें 'राष्ट्रीय-सांस्कृतिक' काव्य-धारा का प्रतिनिधि कवि घोषित करते हैं। सच तो यह है कि यह अग्नि-दीक्षित कवि जहां छायावाद और रहस्यवाद में भौतिक और आध्यात्मिक प्रेम का सामंजस्य विधान करता है वहां 'राजनीति' के हुल्लड़-हुड़दंग में कूद कर 'राष्ट्रीय-सांस्कृतिक' धारा की विजय-पताका भी थाम लेता है। आज यह स्पष्ट हो चुका है 'नवीन' जी ने स्वयं चाहे अपने कवि रूप के प्रति अपेक्षा का प्रदर्शन किया था किन्तु काल-देवता ने 'राजनीतिज्ञ' से अधिक उनके अलमस्त और राजनीति त्रस्त कवि रूप का ही जयगान किया है। आज तो यह वैश्वानरपायी कवि कोटि-कोटि जनता के हृदय-सिंहासन पर शोभायमान है।

'क्वासि' कविता-संग्रह की भूमिका में नवीन जी ने साहित्य-स्रष्टा के लिये जिन गुणों का होना आवश्यक बताया था उनमें 'कला-सौष्ठव' और शब्द-सामर्थ्य' का भी उल्लेख है।[1] अन्यत्र कवि ने आशंका प्रकट की थी कि —'कला की दृष्टि से पाठक को मेरे गीतों में दोष मिल सकते हैं।'[2] किन्तु कवि का कला-पक्ष भी सशक्त है।

इस शोध-पत्र में हम कवि के 'शब्द सामर्थ्य' को कसौटी पर परखने का यत्किंचित प्रयास कर रहे हैं। उनकी कविताओं में जो संज्ञा, विशेषण, क्रिया, सर्वनाम, लिंग, वचन, उपसर्ग, संधि, समास, शब्द विकार, नव शब्द, प्रिय शब्द

---

१. क्वासि, प्रथम संस्करण सन् १९५२–५३, भूमिका 'क्वासि की यह टेर मेरी', पृष्ठ १९

२. रश्मि–रेखा, प्रथम संस्करण सन् १९५१, भूमिका 'पराचः कामाननुयन्ति बालाः' पृष्ठ ३

ग्रौर ध्वन्यात्मक शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनका विस्तारपूर्वक विवेचन इस प्रकार है --

संज्ञा--श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की भाषा पर व्रज भाषा की छाप देखी जा सकती है। उनके द्वारा प्रयुक्त ग्रधिकांश संज्ञाएं या तो व्रजभाषा की हैं या ग्रन्य लोक-भाषाग्रों की। कतिपय ग्रभिनव शब्द प्रयोग भी उपलब्ध हो जाते हैं। कुछ उल्लेखनीय संज्ञाएं इस प्रकार हैं :--

ग्रन्तरतर,१ ग्रडिगपना,२ ग्रलियों,३ ग्रांगनियां,४ उसक,५ कँकराहट,६ गमता,७ चढ़ा ऊपरी,८ छिनगी,९ जनमी,१० दरियां,११ थरियां,१२ दावी,१३ नवनी,१४ निर्गुणपन,१५ पंखियां,१६ परखैया,१७

---

१. हम विषपायी जनम के, राजेश्वर मानव, १२९--'ग्रपने वश ग्रपना ग्रंतरतर'
२. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ७९--'निज हिय में ग्रडिगपना पर्वत का'
३. हम विषपायी जनम के, प्रज्वलित वह्नि, २४६--'धरता है दीवे ग्रलियों में'
४. रश्मि-रेखा, रुनझुन, ६७--'झुनक रही मेरी ग्रांगनियां'
५. हम विषपायी जनम के, विनिपात, २०९--'जग को तुम दिखलाने दो नीति धर्म की उसक'
६. हम विषपायी जनम के, किरकिरी, ३२१--'कंकराहट है, ग्रकुलाहट है'
७. हम विषपायी जनम के, विनिपात, २०५--'किंतु हृदय में इसके चिर प्रकाश-गमता है'
८. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ५०--'देख कर जग में चढ़ा-ऊपरी इतनी'
९. रश्मि-रेखा, तरुवर ग्राज हुए ग्रनुरागी, ९७--'सूखी शाखा,, सूखी छिनगी,
१०. हम विषपायी जनम के, दुराव, २७--'तुम्हारे विश्वासी जनमी तुम को नहीं बताते,
११. हम विषपायी जनम के, मनोरथ, ३४३--'चिड़ियां चहकीं डरियां डरियां'
१२. हम विषपायी जनम के, मनोरथ, ३४३--'नव ग्रार्ति करूँ थरियां थरियां'
१३. प्राणार्पण, ग्रथ श्री प्रथम ग्राहुति, १०--'तुम थे चिर सत्पंथ के दावी'
१४. हम विषपायी जनम के, मृत्तिका की गुड़ियों के गीत, ५८५--'हार है तुम्हारी चिर संगिनी ग्ररे नवनी'
१५. हम विषपायी जनम के, एकाकीपन, ११--'मुझ को कैसे धीरज दे निर्गुणपन' ?
१६. रश्मि-रेखा, जागो मेरे प्राण -परीते, ३४--'नव कलियां खोल रही हैं पंखियां'
१७. हम विषपायी जनम के, वसंत, ३०८--'यां पत्थर के परखैया उलझे हीरक हारों में'

मल्लरियां,१ रनियां,२ रोने,३ लरियां,४ और हिंस ६।

अन्तरात्मा या मन के पर्यायवाची के रूप में 'अन्तरतर' शब्द का अधिक प्रयोग नही है । 'अलिंदों' (सं० अलिंद– अर्थ–घर के द्वार के सामने का चबूतरा या चौतरा–पुं०) के अर्थ में 'अलियों' भी नया प्रयोग ही जान पड़ता है । हिन्दी में 'करकराहट'६ तो प्रचलित है ही, कदाचित् उसी के समतोल पर 'कंकराहट' भी घड़ लिया गया है । ठीक इसी प्रकार 'मल्लिका' (सं० तत् शब्द–अर्थ, वेले की जाति का एक सफेद फूल) के समानान्तर 'मल्लरियां बना लिया गया है । 'रनियां' तो 'रानी' शब्द का ही लाड़-भरा विकारग्रस्त रूप जान पड़ता है । इसी तरह 'हिंस' वस्तुतः 'हिंस्र' का ही शब्द-विकार है ।

इन शब्दों के अतिरिक्त 'दावी' उर्दू-फ़ारसी की देन है । 'निर्गुणपन' शब्द तत्सम और तद्भव शब्दों की ही बेमेल खिचड़ी है । शेष शब्द-प्रयोग ब्रजभाषा तथा अन्य उपभाषाओं से सम्बन्ध रखते हैं ।

कुछ और शब्द भी हैं यथा इच्छा-द्रुम,७ चन्द्रकार,८ सन्निष्ठों९ और सूर्यकार१० । इनमें 'इच्छाद्रुम' कल्पवृक्ष के पर्यायवाची शब्द के रूप में ही माना जायगा । ठीक इसी भांति कलाकार, मूर्तिकार, संगीतकार, आदि की कोटि में ही चन्द्रकार और सूर्यकार का नव प्रवेश है ।.

संज्ञा-विकार :––संज्ञाओं को नवीन जी ने अनेक स्थलों पर विकृत शब्दों रूपों में

१. हम विषपायी जनम के, संस्मरण नोदना, ३११––'वे अधर–स्फुट मल्लरियां'
२. हम विषपायी जनम के, दीपमाला, २७७––'भोली नहीं रनियां '
३. हम विषपायी जनम के, बयालीसवें वर्षांत में, ४––'रोने रोये हैं कई कई'
४. हम बिषपायी जनम के, मनोरथ, ३४३––'गूंज उठीं लरियां लरियां'
५. प्राणार्पण , चतुर्थ आहुति, ३९––'करता मुकाबिला है घोर हिंस कृत्य का'
६. हम विषपायी जनम के, एकाधिपत्य, ३७०––''कौन करकराहट भर लाये तुम नयनों की तसली में'
७. रश्मि–रेखा, तुम मम मंदार-सुमन, २९––'मम अपूर्ण चाहों के तुम ही हो इच्छा-द्रुम'
८. हम विषपायी जनम के , आज क्रान्ति का शंख बज रहा, ४८३––'हम चन्द्रकार'
९. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी' ७२––'सन्निष्ठों का प्राण विसर्जन'
१०. हम विषपायी जनम के, आज क्रांति का शंख बज रहा, ४८३––'हम सूर्यकार'

प्रस्तुत किया है । उदाहरण इस प्रकार है--

अनहिंसा१ (अहिंसा), अनिर्वार्यता२ (अनिवार्यता), अरचा३ (अर्चा), अलाप४ (आलाप), अहनिशि५ (अहर्निश), आश६ (आशा), आह्वाहन७ (आह्वान या आवाहन), इन्दर८ (इन्द्र), उजेला९ (उजाला), कलिल१० (कल्लोल), किंकिणि११ (किंकिणी), कीकड़१२ (कीकर), कुंझटिका१३ (कुज्झटिका), केसों१४ (केशों), ग्रीव१५ (ग्रीवा) चख१६ (चक्षु),

---

१. प्राणार्पण , तृतीय आहुति, २४--'अनहिंसा के भव्य भवन का प्रथम स्तंभ '
२. विनोबा-स्तवन, अहो मंत्रद्रष्टा, हे ऋषिवर, १०--'ध्वान्त की अनिर्वार्यता दूर हुई'
३. हम विषपायी जनम के, वह बांकी झांकी, ३५२--'मन में जिसकी करती हैं अब तक अरचा'
४. हम विषपायी जनम के, प्यार बना मेरा अभिशाप, ६०३--'इस आकुल का विकल अलाप'
५. रश्मि-रेखा, कुहु की बात, ५४--'गगन का वक्ष है अहनिशि उजागर'
६. विनोबा-स्तवन, अहो मंत्रद्रष्टा हे ऋषिवर, ७-'जीवन की आश करो '
७. हम विषपायी जनम के, गरजे मेरे सागर पहाड़, ४१२--'यह निर्वाणाह्वाहन दुर्वह'
८. क्वासि, डोले वालो, ४७--' हम कह आई हैं इन्दर से'
९. हम विषपायी जनम के, भाई आज बजी शहनाई, ६२२--'पंथ में छिटका अलख अजेला'
१०. हम विषपायी जनम के, मृत्यु-बंध, ६१८--'जीवन कलिल भरी सरिता है'
११. हम विषपायी जनम के, आये नूपुर के स्वन झनझन, १८६--'है अनुगुंजित किंकिणि शिंजन'
१२. हम विषपायी जनम के, यों शूल युक्त, ३५--'पग-थली में जो कांटा कीकड़ का'
१३. हम विषपायी जनम के, क्या ?, ३१२--'कुंझटिका का क्यों छाया उच्छ्वास ?'
१४. रश्मि-रेखा, मेरा मन, ३५--'कभी सघन केसों पर'
१५. रश्मि-रेखा, स्मरण --कंटक, २०--'ग्रीव में वह तव मृदु भुज-माल'
१६. हम विषपायी जनम के, जीवन प्रवाह, १६९--'मैंने डाले जन यात्रा-पथ पर अपने चख'

चित१ (चित्त), जतन२ (यत्न), जागृति३ (जाग्रति) जीह४ (जिह्वा), तमासा५ (तमाशा), ताग६ (तागा), दिहली ७ (देहली), धुनि ८ (ध्वनि) पींजरे९ (पिंजरे), पीड़१० (पीड़ा), पीतम११ (प्रियतम), फैनों १२ (फेनों), बिथा१३ (व्यथा), भगवत्१४ (भगवद) मरुथल१५ (मरुस्थल)। माथ१६ (माथा), मारग१७ (मार्ग), मेघा१८ (मेघ), रजधानी१९ (राजधानी),

---

१. रश्मि–रेखा, संध्या-वंदन, १३६––'व्यथित-मथित-चित लगन लगाए'
२. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ६२––"बड़े जतन से कान लगाए'
३. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ६८––'हो नव जागृति–नर्तन'
४. रश्मि–रेखा, ठरक बहो मेरे रस–निर्झर, ४२––'शुष्क कंठ रसहीन जीह'
५. रश्मि-रेखा, मरुथल का मृग, १०६––'पर हूँ जग के लिये तमासा'
६. रश्मि–रेखा, प्रियतम तव अंग-राग, १०––'मानों संवेदन है स्मरण–सुमन-माल ताग'
७. हम विषपायी जनम के, स्मरण-विहँगम, ५६१––'धूल भरी धूमिल दिहली पर'
८. रश्मि–रेखा, प्राण तुम्हारी हंसी लजीली, ३––'मिली तुम्हारी हास धुनि में'
९. हम विषपायी जनम के, पिंजर–मुक्ति–युक्ति, ३१––'बंदी कीर पींजरे में अपने'
१०. हम विषपायी जनम के, स्वागत,२५७––'मिल जाऊंगा होकर के गत पीड़'
११. हम विषपायी जनम के, दोलाचल वृत्ति,४३––'पीतम तुझे सदेह मिला था'
१२. हम विषपायी जनम के, किरकिरी, ३२१––'जड़ हृदय-सिंधु के फैनों से'
१३. रश्मि––रेखा, पावस–पीड़ा, ५८––'पावस–बिथा हुई है दूर'
१४. हम विषपायी जनम के, अरी धधक उठ, ५३८––रण-प्रागण भगवत् गीता है'
१५. क्वासि, मरुथल का मृग, १०६––'मैं तो हूँ मरुथल का मृग'
१६. हम विषपायी जनम के, प्रिय वल दो, १६––'रहे अपने कंधों पर जब अपना यह माथ'
१७. हम विषपायी जनम के, तुम हो ?, १०७––'इसका मारग टेढ़ा मेढ़ा है'
१८. रश्मि–रेखा, वर्षा लोके, ७––'आज वही मेघा आए हैं'
१९. प्राणार्पण, तृतीय आहुति, २६––'शहर गये रजधानी उजड़ी'

राती१ (रात), रेलमपेल२ (रेलपेल), लजवंती३ (लाजवंती), संधाति४ (संध्या-आरती), सनेह५ (स्नेह), सामां६ (समां), सिंदुर७ (सिंदूर), सिरजन८ (सृजन)।

इनमें से अधिकांश संज्ञा-विकार या तो संस्कृत तत्सम शब्दों के तद्भव रूप हैं या बोलचाल की भाषा से संबंध रखते हैं। शेष शब्द-प्रयोगों में अनहिंसा, अनिवार्यता, अहनिशि, आह्वाहन, भगवत् जैसे शब्द आते हैं जो जानबूझकर विकृत रूपों में प्रस्तुत किये गए हैं।

विशेषण :—संज्ञाओं की भांति विशेषणों के क्षेत्र में भी कवि ने विचित्र शब्द प्रयोग किये हैं। इन विशेषणों में कुछ तो प्रचलित भी हो गये हैं शेष की स्थिति अनिश्चित सी है। मिले जुले सब विशेषण इस प्रकार हैं —

अलसाने९, उकठ१०, घोरमय,११ चुभीली१२, झुटपुटी१३

---

१. हम विषपायी जनम के, मेरे स्मरण दीप की बाती, ५४८—'जब कि बने मेरे दिन राती'

२. हम विषपायी जनम के, कस्त्वं? कोऽहं?, १४५—'देखी हैं रेलमपेल कई'

३. रश्मि-रेखा, जोगी, ४७—'ओ लजवंती ले लो'

४. हम विषपायी जनम के, संध्या आरती, ६०९—'करता हूँ संधाति सजन की'

५. रश्मि-रेखा, सजल नेह घन भीर रहे, ४४—'नव सनेह रस भीने भीने'

६. हम विषपायी जनम के, बिंदिया, ३९२—'सामां इन प्राणों की फांसी का'

७. हम विषपायी जनम के, विंदिया, ३९२—'यह बिंदी है सिंदुर की'

८. प्राणार्पण, प्रस्तावना, २—'कर सकूंगा शीघ्र शीघ्र ऐसों का सिरजन'

९. हम विषपायी जनम के' बसंत, ३३६—'आकुल हैं अलसाने बैना'

१०. प्राणार्पण, तृतीय आहुति, २९—'उकठ काठ की हांडी चढ़ न सकेगी, बारंबार'

११. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ८३—'वह है इक ललकार घोरमय'

१२. हम विषपायी जनम के, वेणी, ३६९—'बांधो चोटी बड़ी चुभीली'

१३. हम विषपायी जनम के, हंसिनी उड़ी अकास, २३२—'भई झुटपुटी सांझ'

निराशी१, पिनाकी२, पिरीते३, प्रेमल४, बौराना५, बासंती६, विश्रम७, शंकरी८, स्वप्निल९, और हुरिहारे१०।

इनमें घोरमय और निराशी जैसे विशेषण नवीन ही माने जायेंगे।

विशेषण-विकार:—जहां तक विशेषणों को स्वयं विकृत करने या पहले से विकृत चले आ रहे शब्द-रूपों को ग्रहण करने का प्रश्न है ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। ये शब्द द्रष्टव्य हैं—

अजान११ (अज्ञान), अनित१२ (अनित्य), अनुग्रहीत१३ (अनुगृहीत), आरत१४ (आर्त्त), उज्वल१५ (उज्ज्वल),

---

१. हम विषपायी जनम के, क्या ?, ३१३—'आज निराशी निर्मम सा हो गया अहं'
२. हम विषपायी जनम के, सतत प्रवासी, २१७—'तुम प्रलयंकर शंभू पिनाकी'
३. रश्मि-रेखा, आज है होली का त्यौहार, २६—'मेरे प्राण पिरीते मंजुल'
४. रश्मि-रेखा, सजल नेंह घन भीर रहे, ४५—'प्रेमल स्रोत अटट चलें'
५. क्वासि, दिग्-भ्रम, ७१—'खोज रहा है अकुलाया बौराना'
६. हम विषपायी जनम के, बसंत बहार, ३१४—'हम बासंती सतत सनातन'
७. हम विषपायी जनम के, १९३०वें वर्ष की समाप्ति पर, ४२८—'विश्रम अवकाश मनाने को'
८. हम विषपायी जनम के, सिर्जन की ललकारें मेरी, ८३—'वह है एक शंकरी हल चल'
९. हम बिषपायी जनम के, ओ सदियों में आने वाले, ४५०—'इन सकरुण स्वप्निल नयनों में'
१०. हम विषपायी जनम के, फागुन २६०—'अरे हुरिहारे फागुन मास'
११. हम विषपायी जनम के, निज ललाट की रेख, २६—'घोला जीवन-रस में अजान में'
१२. रश्मि-रेखा, कमला नेहरू की स्मृति में, ९८—'इस अनित जग में'....
१३. हम विषपायी जनम के, कार्य-कारण-शून्यता, १६०—'तर्कवाद है सदा तुम्हारा अनुग्रहीत'
१४. प्राणार्पण, तृतीय आहुति, ३०—'आरत नर-नारी बच्चों की'
१५. हम विषपायी जनम के, मेरे अतीत की ज्योति-लहर, ५०१—'ओ मेरे उज्वल विगत काल'

उत्फुल्लित१ (उत्फुल्ल) उन्नस२ (उन्नीस), उनीस,३ (उन्नीस), कंकरीले४ (कटीले) क्रांतिकार५ (क्रांतिकारी) गहर६ (गहरा) झिलमिलती७ (झिलमिलाती), निरगुन८ (निर्गुण), पियासी९ (प्यासी), पूरन१० (पूर्ण), प्रफुल्लित११ (प्रफुल्ल), फिज़ूल१२ (फजूल), बिगाने१३ (बेगाने), बिचारा१४ (बेचारा) बिचारी१५ (बेचारी) बिसुध१६ (बेसुध) बिहाल१७ (बेहाल) बेताले१८ (बेताल) मधुरी१९ (मधुर) मुरझी२० (मुरझाई) मुरझे२१ (मुरझाये) राजनैतिक२२ (राजनीतिक लजवन्ती२३ (लाजवन्ती) ।

---

१. क्वासि, मान छोड़ो, ६४––'आज उत्फुल्लित निशा है'
२. प्राणार्पण, द्वितीय आहुति, १२––'था उन्निस सौ इकतीस'
३. प्राणार्पण, द्वितीयि आहुति, १६––'आया उनीस सौ तीस वर्ष'
४. क्वासि, मनुहार, ७६––'कंकरीले नयन करकते हैं'
५. हम विषपायी जनम के, विद्रोही, ४८५––'लरजेंगे क्या हम क्रांतिकार ?'
६. हम विषपायी जनम के, स्मरण-विहंगम, ५६१––'चिर अतृप्ति का गहर महार्णव'
७. रश्मि–रेखा, इकतारा, ७४––'कुछ झिलमिलती, कुछ कुछ गहरी'
८. रश्मि–रेखा, रुनझुन, ६८––'आंगन आई बन निरगुन'
९. रश्मि–रेखा, क्या है तव नयनों के पुट में, ८०––'देखी अपनी लगन पियासी'
१०. रश्मि–रेखा, वह सुप्त अश्रुत राग, ७२––'तड़पन हुई है सजनि पूरन काम'
११. हम विषपायी जनम के, प्यास, २५५––'गीतकर्ता में बने तुम मन प्रफुल्लित गान'
१२. प्राणार्पण, द्वितीय आहुति, १७––'सब फ़िज़ूल का खेल हुआ'
१३. रश्मि–रेखा, मान छोड़ो, ६५––'आज अपने ही बिगाने'
१४. रश्मि–रेखा, पाती, १०४––'तब अभिव्यंजन कौन बिचारा ?'
१५. रश्मि–रेखा, मान कैसा ? १४६, 'तड़पती है यह बिचारी'
१६. रश्मि–रेखा, ओ प्रवासी, ५७––'तुम बने क्यों बिसुध बेकल? '
१७. रश्मि–रेखा, डोले वालो, ४७––'मन का हाल बिहाल रे'
१८. हम विषपायी जनम के, भैरव नटनागर, ४२१––'हो गये देव बहुत कुछ हम बेताले'
१९. रश्मि–रेखा, प्रथम प्यार का चुम्बन, ४९––'मैं हूँ मधुरी स्मृतियों का अवलम्बन'
२०. हम विषपायी जनम के, सैनिक बोल, २२५––'क्यों मुरझी है तेरी आशा'?
२१. रश्मि–रेखा, मान कैसा ?, ५००––'खिल उठेंगे निपट मुरझे गान मेरे –"
२२. प्राणार्पण, द्वितीय आहुति, १३––'यह निपट राजनैतिक उफ़ान'
२३. रश्मि–रेखा, मेरे परिपंथी, ११४––'आज व्यर्थ हुई टेर मेरी लजवन्ती'

इन विशेषणों में अजान, अनित, आरत, निरगुन, पूरन आदि शब्द तो संस्कृत तत्सम शब्दों के तद्भव रूप हैं किन्तु अनुग्रहीत, उज्वल, उत्फुल्लित, उनीस, प्रफुल्लित आदि शब्द जानबूझ कर विकृत किये गए हैं अथवा इन अशुद्ध शब्द-रूपों का प्रयोग अज्ञानतावश ही हुआ है।

विशेषण-विपर्यय:—नवीन की कविताओं में विशेषण-विपर्यय के उदाहरण भी मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये 'आसावरी' राग का तो विशेषण बन सकता है, 'प्रिया' का नहीं।१ ठीक इसी प्रकार 'प्रवाही' शब्द 'उपकरणों' संज्ञा के विशेषण के रूप में लिखा गया है।२ इसी तरह 'भौंराले'३ केशों का तो विशेषण हो सकता है किंतु कवि ने इसे 'अलिगण' संज्ञा के साथ भी टांक दिया है। 'पीड़ा' संज्ञा का विशेषण 'विदेशिनी'४ भी दिया हुआ है। ये सब उदाहरण लक्षणा शब्द-शक्ति के अन्तर्गत भी स्वीकार किये जा सकते हैं किंतु ये विशेषण-विपर्यय के निदर्शन भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

क्रिया :—संज्ञाओं और विशेषणों की भांति क्रियाएं भी हिन्दी की उपभाषाओं की ही अधिक हैं। इन में ब्रजभाषा की क्रियाओं का बाहुल्य है। मिली जुली क्रियाएं इस प्रकार हैं —

अनुकूली५, अनुकूलो६, अनुमानते७, अनुलेखीं८, आराधूं९, आराधूंगा१०,

---

१. क्वासि, कलिका इक बबूल पर फूली, १५—'इसकी आसावरी प्रिया का'
२. क्वासि, कब मिलेंगे ध्रुवचरण वे, २—'हैं बहाये जा रहे इसको प्रवाही उपकरण'
३. रश्मि रेखा, हिंडोला, ६३—'अलिगण मंडराते हैं काले भौंराले '
४. हम विषपायी जनम के, यह रहस्य-उद्घाटन–रत–जन, ९४—'यह विदेशिनी पीड़ा'
५. क्वासि, कलिका इक बबूल पर फूली, १४—'मधु ऋतु इस पर कब अनूकूली'
६. रश्मि–रेखा, तुम चिरकाल हंसो फूलो, १०२—'मुझ पर सतत अनुकूलो'
७. रश्मि–रेखा, तुम इसे पहचानते हो ?, १०५—'इसे क्या खेल ही अनुमानते हो?'
८. हम विषपायी जनम के, सूना सब संसार हुआ है, १२०—'ताल तलैयां भी अनुलेखीं'
९. हम विषपायी जनम के, प्रज्वलित वह्नि, २४६--'किसको आराधूं ? चलूं कहां ?'
१०. हम विषपायी जनम के, आकुल की उपासना, २७७—'चितचोर को दुलरा कर आराधूंगा'

उट्ठा,[१] उट्ठी,[२] उट्ठे,[३] कट-कटाती,[४] झरियां,[५] डौंक,[६] तूर्णित,[७] देख[८] (दिखाई के अर्थ में), पेख,[९] पेखा,[१०] पेखो,[११] प्रकटाने,[१२] प्रकटित,[१३] प्रकटी[१४] प्रकटो,*[१] प्रगटी,[२] फनफन,[३] बतियाओ,[४] भ्रमे,[५] मेटे,[६] लाँच,[७] लेख,[८] सुलसा,[९] सृजित,[१०] और हहरने[११] ।

क्रिया-विकार :—कहीं कहीं कवि क्रियाओं को भी विकृत रूपों में प्रस्तुत किया है । यह भी कहा जा सकता है कि ये क्रियाएं पहले से ही विकार-ग्रस्त रूपों में प्रचलित हो चुकी थीं । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

काज[१२] (काजिय) चक्खोगे[१३] (चखोगे) ठिटकी [१४] (ठिठकी) डुल[१५] (डोल) नमित[१६] (नत) निखराएं[१७] (बिखराएं) बरबराओ[१८] (बड़बड़ाओ) भुलने[१९] (भूलने) रैंग[२०] (रेंग) लिक्खूं[२१] (लिखूं) सँजा[२२] (सजा) सजे[२३] (सजाएं)।

इन क्रियाओं में 'चक्खोगे' और 'लिक्खूं' जैसे क्रिया-प्रयोग तो बोलचाल की दृष्टि से शुद्ध भी माने जा सकते हैं किंतु 'ठिटकी', 'निखराएं' और 'भुलने' के स्थान पर ठिठकी, बिखराएं, और 'भूलने' लिखना ही अधिक उचित जान पड़ता है ।

इनके अतिरिक्त कुछ और क्रिया

---

१. क्वासि, लिख विरह के गान, ४—'मचल उट्ठा आज है'
२. क्वासि, मेरे मधुमय स्वप्न रंगीले, १६—'यों ही कभी कांप उठी है'
३. रश्मि—रेखा तुम इसे पहचनाते हो, १०५—'बोल उठे लो निर्बल'
४. रश्मि—रेखा, माघ-मेघ, १०९—'तड़ित् विद्युत्-छटा कटकटाती चली'
५. हम विषपायी जनम के, बसंत, ३३३—'नीरस पत्रावलियां झरियां'
६. विनोबा-स्तवन, जग चुकी है वर्तिका, १६—'डौंक उठी जब शतघ्नी'
७. हम विषपायी जनम के , द्वन्द्व-समुच्चय, २१—'शम्पाओं के घोषों से तूर्णित हूँ'
८. हम विषपायी जनम के, भ्रमजाल, ३८६—'पाप मुझे तो कहीं न पड़ता देख'
९. क्वासि, प्रिय मम मन आज श्रांत, ९३—'पेख पेख हूँ अवाक्'
१०. क्वासि, मेरे स्मरण-दीप की वाती, ४०—'उन्मन तुम को चढ़ते पेखा है'
११. विनोबा-स्तवन, अहो मंत्रद्रष्टा हे ऋषिवर, ९—'यह नव क्रीड़ा तो पेखो'
१२. हम विषपायी जनम के, विनिपात, २०५—'निज वैभव प्रकटाने को ही'
१३. हम विषपायी जनम के, मरघट—घाट, ६२८—'सरिता ने प्रकटित की कलकल'
१४. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ४२—'प्रकटी थी चिर आश उस भयहारी में'

*१. हम विषपायी जनम के, निवेदन, २९४---'चन्द्रावली ललित प्रकटो'

२. रश्मि-रेखा, रुनझुन, ६९---'मेरे शिशु में प्रगटी मानवता'

३. हम विषपायी जनम के, नरक के कीड़े, ५२०---'करते नारी पर फनफन हैं'

४. हम विषपायी जनम के, प्रश्नोत्तर, २७०---'धीरे धीरे बतियाम्रो मत'

५. विनोबा-स्तवन, ग्रहो मंत्रद्रष्टा हे ऋषिवर, ४---'वे ही चरण पोरबंदर से निकल भ्रमे'

६. हम विषपायी जनम के, प्रिय बोल दो, १६---'ग्रौ' मेरे यह संघर्ष'

७. क्वासि, चेतन--वीणा, ११---'इतिहास-कथा सकल सृष्टि लांच उठी'

८. हम विषपायी जनम के, घुन, २५९---'निष्ठुर तू अपने को लेख'

९. हम विषपायी जनम के, ग्राकुल की उपासना, २७६---'ग्रग्नि नव जीवन-तरु-सुलसा देवे'

१०. हम विषपायी जनम के, ग्राज क्रांति का शंख बज रहा, ४८२---'हो गई सृजित संगीत कला'

११. क्वासि, मान छोड़ो, ६५---'हहरने लगता है हृदय यह'

१२. हम विषपायी जनम के, मेरे ग्रम्बर में....., ५९२---'किसका कीजे विश्वास?'

१३. क्वासि, दिन पर दिन बीत चले, ३१---'ग्रब क्या चक्खोगे ग्रौरों की हाला'

१४. हम विषपायी जनम के, कुण्डल, ३५०---'ग्रा कर क्यों प्रखर दुपहरी ठिटकी'

१५. रश्मि-रेखा, वह सुप्त ग्रश्रुत राग, ७१---'मनुहार नौका डुल रही प्राचीन'

१६. क्वासि, मेरे ग्रांगन खंजन ग्राए, ८९---'चिंतन-भार--नमित पलकों में'

१७. हम विषपायी जनम के, तुम्हारे सामने, ३९९:--'झोंके निखराएं कुछ फूल'

१८. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ५७---'व्यर्थ बरबराम्रो मत'

१९. हम विषपायी जनम के, नरक के कीड़े, 'पराजय को यों भुलने का मत मौका दो'

२०. हम विषपायी जनम के, ग्रो सदियों में ग्राने वाले, ४५२---'रेंग रहे थे जोकि पेट के बल'

२१. हम विषपायी जनम के, पत्र, ३५९---'क्या क्या लिक्खूं छोटी पाती में'

२२. हम विषपायी जनम के, दीपमाला, २७७---'ग्राज सँजा दो धीरे धीरे दीप-ग्रवलियों...'

२३. हम विषपायी जनम के, मस्त रहो, ४५६---'नव उत्सव का सजा सजें'

प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं--यथा उठे हैं,१ जान सके हैं,२ झलके हैं,३ दीख पड़े हैं,४ और 'सुने हैं'५। इसी प्रकार 'जाने हैं'६ और 'पूछे हैं' ७ भी ऐसे ही क्रिया-प्रयोग हैं। ठीक इसी भांति खोजू हूं '८ जानू हूँ९ ढूंढू हूँ १०, दीख पड़ूं, ११ पूछूं हूँ १२ और 'सोचूं हूँ' १३ आदि क्रियायें भी हिंदी की उपभाषाओं में प्रचलित हैं। इन्हीं प्रयोगों में कुछ और उदाहरण देखें--कोसो हो १४ घबराओ हो, १५ घूमो हो,१६ जानो हो,१७झांको हो,१८देखे हो,१९देखो

---

१. हम विषपायी जनम के, घुन, २५८--'रह रह टीस उठे हे छिन छिन'
२. हम विषपायी जनम के, ओ सदियों में आने वाले, ४५१--'तू ही जान सके है'
३. हम विषपायी जनम के, विनिपात, २०८--'नर में झलके है नारीपन का अंश सदा'
४. रश्मि-रेखा, डोले वालो, ४७--'अभी दूर तक दीख पड़े हैं'
५. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें, ५९--'कौन तुम्हारी आह सुने है'?
६. क्वासि, हम नूतन पिय पाए, १३--'हम जाने हैं'
७. हम विषपायी जनम के, आमे नूपुर के स्वन...., १८४--'सब पूछे हैं झन झन क्या है ?'
८. हम विषपायी जनम के, पार्थिव, ३२३--'मैं खोजू हूँ कहीं यहीं'
९. प्राणार्पण, अथ श्री प्रथम आहुति, ५--''मैं इतना जानू हूँ'
१०. हम विषपायी जनम के, कस्त्वं ? कोऽहं?, १४८--'जिसको ढूंढू हूँ वह क्या है ?'
११. हम विषपायी जनम के, विस्मरण-खेल, ५७३--'मैं याचक सा दीख पड़ूं हूँ'
१२. हम विषपायी जनम के, सूना सब संसार हुआ है, १२०--'देख भ्रमित नभ पूछू हूँ'
१३. क्वासि, अभिशाप, ६१--'आज सोचू हूँ'
१४. हम विषपायी जनम के, यौवन-मदिरा, २८२--'मादकता को कोसो हो'
१५. हम विषपायी जनम के, विषपान, ४५७--'इस से क्यों घबराओ हो ?'
१६. हम विषपायी जनम के, एकाधिपत्य, ३७०--'तौक गले में डाले तुम घूमो हो'
१७. रश्मि-रेखा, वर्षा लोके, ५--'उन घड़ियों में तुम जानो हो'
१८. क्वासि, मेरे स्मरण-दीप की बाती, ४०--'झांको हो मन-वातायन में'
१९. हम विषपायी जनम के, खोज, ३९८--'ठिठक ठिठक क्या देखे हो'

हो,१ पूछो हो,२ बोलो हो,३ मारो हो,४ याद करो हो,५ सकुचाओ हो,६ और सोचो हो७। इन सब में 'जानूं हूँ' कवि को सर्वाधिक पसंद है। कुछ उदाहरण देखें --

१. मैं जानूं हूँ मेरे प्रिय के८
२. मैं ही जानूं हूँ कैसा है ?९
३. इतना मैं जानूं हूँ१०
४. प्रिय, मैं जानूं हूँ११

सर्वनाम :--सर्वनामों के क्षेत्र में भी कवि ने विशिष्ट प्रयोगों का आश्रय लिया है। उदाहरणतया इनने,१२ उनने,१३ किनने१४ और जिनने १५ आदि शब्द प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं। इनके शुद्ध रूप क्रमशः इस प्रकार होने चाहिएं-- इन्होंने, उन्होंने, किन्होंने और जिन्होंने। इन सर्वनामों में भी 'जिनने' कवि को सब से अधिक प्रिय है। कुछ अन्य उदाहरण देखें --

१. जिनने बिगाड़ी मेरी सामाजिक एकता१६

---

१. हम विषपायी जनम के, बयालीसवें वर्षान्त में, ३--'क्या देखो हो इनमें'
२. रश्मि-रेखा, कह लेने दो, १६--'मुझसे पूछो हो मैं क्या हूँ ?'
३. हम विषपायी जनम के, पत्र-व्यवहार, २७२--'सब जग से बोलो हो'
४. हम विषपायी जनम के, सो जाने दो, २६४--'तब तक क्यों मारो हो स्मृति-बाण?'
५. हम विषपायी जनम के, एकाधिपत्य, ३७०--'तुम याद करो हो इनको'
६. हम विषपायी जनम के, विषपान, ४५७--'क्यों मन में सकुचाओ हो ?'
७. हम विषपायी जनम के, प्रिय मैं आज भरी झारी सी ५८१--'तुम शायद सोचो हो मन में'
८. क्वासि, मेरे आंगन खंजन आए, ८९
९. रश्मि-रेखा, भीग रही है मेरी रात, ७९
१०. रश्मि-रेखा, मेरे परिपंथी, ११५
११. हम विषपायी जनम के, नास्तिक का आधार, १०४
१२. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ४४--'इन ने तो सिद्ध किया ईशावतरण को
१३. प्राणार्पण, तृतीय आहुति, २४--'उनने कब उन्नति की'
१४. हम विषपायी जनम के, सतत प्रवासी, २१५--'किन ने तुम्हें संदेस पठायौ'
१५. हम विषपायी जनम के, यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन, १०१--'जिन ने दिया ज्ञान-भंडार'
१६. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ३७

२. जिन ने मिटाये मेरे सब वैसीज शर्म के१
३. जिनने स्वधर्म हित२
४. जिनने एक सपना देखा था३
५. जिनने मचवाया आपस में झगड़ा४

लिंग :—नवीन जी ने लिंगों के प्रयोग में भी रुचि-स्वातंत्र्य का ही परिचय दिया है । उदाहरणतया उनकी कविताओं में खान,५ थाह,६ देह७, और हाट८ जैसे शब्दों पुल्लिग, में ही प्रयुक्त किये गए हैं जबकि हिन्दी में ये स्त्रीलिंग माने जाते हैं । 'देह' शब्द अवश्य संस्कृत में नपुंसक-लिंग एवं पुल्लिग दोनों रूपों में पाया जाता है । कहीं कहीं 'पहेला'९ जैसे नए पुल्लिग भी दुबके बैठे हैं ।

इसी प्रकार जो शब्द हिन्दी में पुल्लिग माने जाते हैं कवि ने उन्हें स्त्रीलिंगों के रूप में लिखा है-- यथा अतिरेक१० कुंज११, घूंट,१२ जाल,१३ फाग, बरसें,१५

---

१. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ३७
२. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ४४
३. प्राणार्पण,द्वितीय आहुति, १२
४. प्राणार्पण , द्वितीय आहुति, १३
५. हम विषपायी जनम के, ओ तुम मेरे प्यारे जवान, ५०९—'मधु स्वप्नों के तुम सुरस खान'
६. हम विषपायी जनम के, बोल अरे दो पग के प्राणी, ८५—'भावार्णव का थाह कहो तो'
७. हम विषपायी जनम के, ओ सदियों में आने वाले, ४४६—'जिन ने अपना देह दान कर'
८. हम विषपायी जनम के, जनम के ढुलमुल, ३८१—'उजड़ चला है प्रेम-प्राण का हाट '
९. हम विषपायी जनम के, तुम हो ?, १०८—'तुम तो एक पहेला हो'
१०. हम विषपायी जनम के, घुन, २५८—'रुदन वेदना की है यह अतिरेक'
११. हम विषपायी जनम के, शिखर पर, ४२६—'यह जीवन की कुंज'
१२. हम विषपायी जनम के, विप्लव गायन, ४२९—'वह खून की घुंट हो जाये,
१३. हम विषपायी जनम के, १९३० वें वर्ष की समाप्ति पर, ४२७—'पूर्ण भूत की सूघड़ जाल में'
१४. हम विषपायी जनम के, विद्रोही, ४८२—'खेली प्राणों की रक्त फाग'
१५. हम विषपायी जनम के, हम परित्याग के आदी हैं, ५७७—'बरसों पर बरसें बीत गईं '

मृदंग[१], रव[२], रुझान[३], और हठ[४]।

अभिनव पुल्लिगों की भांति कवि ने कतिपय स्त्रीलिंग रूपों का भी निर्माण किया है। खगी[५], नारायणी[६], और फंदी[७] ऐसे ही शब्द-प्रयोग हैं। 'खगी' तो पूर्ववर्ती कवियों (विशेषत: पंत) द्वारा भी व्यवहृत हो चुका है किंतु नारायणी और फंदी का प्रचार नहीं है।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विवादास्पद शब्द भी हैं। 'चर्चा' शब्द संस्कृत तत्सम शब्द भी है और उर्दू भाषा का भी बहुचर्चित शब्द है। संस्कृत और हिंदी में यह शब्द स्त्रीलिंग है और उर्दू में पुल्लिग[८] किन्तु नवीन जी ने इसे स्त्रीलिंग में ही लिखा है।[९] ठीक इसी प्रकार 'भावी' शब्द संस्कृत में पुल्लिग है किंतु हिन्दी में स्त्रीलिंग। कवि ने हिन्दी की परम्परा ही निभाई है।[१०]

वचन :—वचनों के क्षेत्र में भी कवि प्रयोगशील रहा है। उदाहरणस्वरूप यदि वाक्य में किसी शब्द का बहुवचन में प्रयोग होना चाहिए तो वहां 'एकवचन' से ही काम चला लिया गया है। इन्द्रिय[११], घंटी[१२], पागधारी[१३], बूंद[१४], बेटी[१५],

१. हम विषपायी जनम के, क्या है यह अंधकार, ६१६—'मृत्यु मृदंग बाजी'
२. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ६१—'मैं क्यों सुनूं उपेक्षा कीरव'
३. हमविषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ६१—'है नर की रुझान युग युग से'
४. रश्मि—रेखा, मान कैसा ?, ४६—देख कर यह हठ तुम्हारी'
५. क्वासि, गान—निरत मम मन-खग, ११७—'खगी विरह बन आया क्या'
६. हम विषपायी जनम के, वृकोदरी ज्वाला, २६—'नारी के हिय में नारायणी'
७. रश्मि—रेखा; मेरे परिपंथी, ११७—'डाल गले में फंदी'
८. अच्छी हिंदी, रामचंद्र वर्म्मा, १०सवां संस्करण, २४७—'वह कत्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होता'
९. हम विषपायी जनम के, नहीं, नहीं, ३७८—'क्या ही चरचा नयी चली'
१०. हम विषपायी जनम के, सुनो सुनो ओ सोने वालो, ४६०—'अपनी भावी बांच उठी'
११. हम विषपायी जनम के, कस्त्वं? कोऽहं ?, १३८—'इन दस इंद्रिय के बंधन से'
१२. रश्मि—रेखा, मेरे प्रियतम, मेरे मंगल, ८३—'गायों की घंटी की टुनटुन'
१३. हम विषपायी जनम के, कस्त्वं? कोऽहं?' १३६—'कई पगधारी की बारी आई'
१४. हम विशपायी जनम के, प्रज्वलित वह्नि, २४५—'उससे निकली ये बूंद चार'
१५. हम पिपायी जनम के, पथ-निरीक्षण , ४१८—'ये दोनों बड़े बाप की बेटी हैं'

और लाठी१ सरीखे शब्द देखे जा सकते हैं। ये शब्द क्रमान्वय से इन्द्रियां, घंटियां पगधारियों, बूंदें, बेटियां, और लाठियां होने चाहिए थे । इस प्रकार का वचन--स्वातंत्र्य बहुत कम कवियों में मिलेगा ।

व्याकरण के नियमों के अनुसार 'अनेकों' बहुवचन शब्द सर्वनाम के रूप में तो प्रयुक्त हो सकता है, विशेषण के रूप में नहीं । "विशेषण की भांति प्रयुक्त होने पर 'अनेक' का 'अनेकों' नहीं बनता, किन्तु सर्वनाम के रूप में अनेकों' ही बनता है ।" उदाहरण :--- अनेकों ने भोजन किया है'२

किंतु नवीन जी ने 'अनेकों' शब्द विशेषण के रूप में भी अनेक स्थलों पर प्रयुक्त किया है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं:---

१. जहां हैं अनेकों हिंदु३

२. युग अनेकों हो चुके हैं४

३. समिधाओं सी हुई अनेकों आकांक्षाएं क्षार५

४. पंख अनेकों गतियुत६...इत्यादि ।

सर्वनाम 'अन्य! का बहुवचन 'अन्यों भी कवि ने अनेक स्थलों पर लिखा है। कुछ उदाहरण देखिए :

१. बहुत सरल है करना अन्यों का तिरस्कार७

२. अन्यों का चीर-हरण है तो सीधा व्यापार८

३. लखे हैं तूने अन्यों के स्तर-निपात९

४. अन्यों की निन्दा के पहले कर उसे स्मरण १० .... इत्यादि

एक स्थल पर कवि ने 'शिखर' शब्द का न केवल स्त्रीलिंग के रूप में प्रयोग किया है अपितु उसका बहुवचन भी बना डाला है।११ 'कहीं कहीं कवि 'यह'एकवचन के अर्थ में 'ये' शब्द भी लिखता है जोकि नियम-विरुद्ध है ।१२

---

१. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ५०---'भाले तने, लाठी उठीं'
२. अच्छी हिन्दी कैसे लिखें, डॉ० भगीरथ मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६१
३. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ४०
४. क्वासि, मैं तो सजन आ रही थी, ८४
५. रश्मि--रेखा, प्राण तुम मेरे हृदय दुलार, १९
६. विनोबा-स्तवन, उड़ान, १४
७. हम विषपायी जनम के, मेरे मन, २०
८. संग्रह वही, कविता वही, पृष्ठ वही ।
९. संग्रह वही, कविता वही, पृष्ठ वही ।
१०. संग्रह वही, कविता वही, पृष्ठ वही ।
११. हम विषपायी जनम के, कस्त्वं ? कोऽहं?' १५३---'पर्वत शिखरें कंप जायें ये'
१२. (क) हम विषपायी जनम के, धरती के पूत, १८१---'चिर परिचिता पहाड़ी ये'
(ख) संग्रह वही, कविता वही, पृष्ठ वही---चोटी निरी उघाड़ी ये'

विशेष रूप से प्रिय हैं । इनके उदाहरणों से कवि की शब्द-रुचियों का अनुमान लगाया जा सकता है । 'स' उपसर्ग वाले शब्द इस प्रकार हैं-- सकरुण, सक्षण, सगुण सचर, सचराचर, सजल, सजातीय, सदेही, सनिकेतन, सबल, सभय, समल, समोद, सलज, सलाज, सविकार, सवेग, सायास, साश्रय, सेंद्रियता और सोल्लास ।

'सु' उपसर्ग वाले शब्द ये हैं :--

'सुग्रंकित, सुकृत, सुकेशी, सुगृही, सुचरण, सुजान, सुदूर, सुनयन, सुपरस, सुपरिधि, सुपुरातन, सुभृकुटी, सुमनुहार, सुमनोरथ, सुमन्त्र, सुमहेष्वास, सुमुखि, सुरति, सुरस, सुलक्ष्य, सुवास, सुविगत, सुसंचित, सुसंभव, सुसंस्कृत, सुसज्जित, सुसफलता, सुसामयिक, सुस्थान, सुस्थिर, सुस्पंदन, सुस्वन और सुस्वर ।

इन उपसर्गों में भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य उपसर्ग ये हैं :--

सनिकेतन,१ सेंद्रियता,२ सुग्रंकित,३ सुविगत,४ सुसंभव,५ और सुसामयिक।६

निषेधात्मक उपसर्गों में 'अ', 'अन', और 'निर्' उपसर्गों के साथ साथ 'बे' उपसर्ग विद्यमान है ।

'अ' उपसर्ग जोड़ अर बनने वाले कई शब्द कवि ने लिखे हैं यथा--

अऋतु,७ अकथ,८ अकुशल, ९ अगुणता १० अचलित,११ अजान,१२ अथोर,१३

१. हम विषपायी जनम के, कैसे निशि के सपने, ६१४--'सनिकेतन को गृह की सुध आयी'
२. रश्मि-रेखा, प्रियतम तव अंग-राग, ११--'अपनी सेंद्रियता क्या मनुज सकेगा न त्याग?'
३. क्वासि, कमला नेहरू की स्मृति में, ९९--'अश्म रेखा सी सुग्रंकित'
४. रश्मि-रेखा, रुनझुनझुन, ६९--'सुविगत वर्तमान मधुरस भावी को'
५. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ५५--'यह कैसे हो सका सुसंभव'
६. बिनोवा-स्तवन, ५--'वह सुसामयिक उत्प्लव है'
७. हम विषपायी जनम के, घन-गर्जन-क्षण, ५५०--'आज ऋतु के घन भी'
८. क्वासि , दूभर सा करता है.... ३८--'और अकथ भूल'
९. हम विषपायी जनम के, यों शूल युक्त...., ३४--'तू अकुशल है या है तू पटु'
१०. क्वासि, मैं तो सजनी आ ही रही थी, ८५--'अगुणता से नित्य'
११. हम विषपायी जनम के, एकाकीपन, १०--'पर मम स्नेह-साधना अचलित'
१२. क्वासि, विस्मृत तान, ५९--'तू आ जा छिड़ जा री अजान'
१३. रश्मि-रेखा, अरी मानस की मदिर हिलोर, ५२--'छलका' दे वेदना अथोर'

अधीमी[१], अपरस्पर[२], अबद्ध[३], अबोले[४] अभीति[५], अमन[६], अमानव[७], अमाप[८], अरसीले[९], अलखित[१०], अव्यभिचार[११], असंलग्नता[१२] ।

ठीक इसी प्रकार 'अन' उपसर्ग वाले शब्द ये हैं :—

अनगढ़, अनगिनत, अनगिनती[१३], अनजाने, अनपावन[१४], अनपेक्षा, अनबोले[१५], अनमिल, अनमोल, अनश्रुत[१६], अनहिंसा[१७], अनाहूत, अनिंगित[१८], अनुच्छिष्टा और अनुर्वर ।

जिन शब्दों के पूर्व 'निर्' उपसर्ग लगा है वे देखिए :—

निरलस, निरवधि, निरवलम्ब, निराहार, निराहृत[१९], निरिंद्रिय[२०], निर्जला, निर्देह, निर्बंध, निर्भय, निर्भ्रांति[२१], निर्लज्जा, निर्विण्ण[२२], और निर्वैर ।

---

१. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ४२—'जो आयेगी अधीमी नित्य'

२. हम विषपायी जनम के, झांक सकें आरपार, ६२६—'प्राणशरण अपरस्पर अवलम्बन'

३. हम विषपायी जनम के, कस्त्वं ? कोऽहं ?, १४४—'अपनी अबद्ध परिभाषा से'

४. क्वासि, ओ प्रवाही, ५७—'प्राणवंशी के अबोले बोल '

५. प्राणार्पण , चतुर्थ आहुति, ३२—'उनकी अभीति देख सहमा कराल काल'

६. हम विषपायी जनम के, यों शूल-युक्त...., 'मन मेरा अमन, हृदय रीता, रीता

७. हम विषपायी जनम के, विचलित विश्वास, ६०६—"मैं अमानव सा हुआ हूँ"

८. हम विषपायी जनम के, निज ललाट की रेख, २४—'जिसका क्षेत्र अमाप,'

९. क्वासि, ओ मेरे मधुमय स्वप्न रंगीले, १७—'कुछ पाहन अरसीले'

१०. क्वासि, प्रिय मम मन आज श्रांत, ९४—'तव अलखित राज-भवन'

११ क्वासि, अभिशाप, ६१—'क्यों न अव्यभिचार की चिर रीति'

१२. हम विषपायी जनम के, क्या मैं कर सकता हूँ ?' १४—'असंलग्नता की मेरे लिए'

१३. क्वासि, दिन पर दिन बीत चले, ३१—'अनगिनती दिन पर दिन बीत चले'

१४. हम विषपायी जनम के, गरल पियो तुम, ४१७ ('मानव-हिय अनपावन पाहन होता है'

१५. रश्मि रेखा, हिंडोला, ६३'—तुम चढ़ जाओ झूले पे अनबोले'

१६. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ४३—'नवल संदेश अनश्रुत और....'

१७. प्राणार्पण , तृतीय आहुति, २४· · 'अनहिंसा के भव्य भवन'

१८. क्वासि, कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे, २- -'तुम इसे कर दो अनिंगित'

१९. रश्मि-रेखा, माघ-मेघ, १०९—'निराहृत अतिथि से आ गए री'

२०. रश्मि-रेखा, हम नूतन पिय पाए, १३—'परम निरिंद्रिय हमरे ये मेहमाना'

२१. क्वासि, दूभर सा कटता है....., ३८—'हिय में निर्भ्रांति....'

२२. क्वासि, प्रिय मम मन आज श्रांत, ९३—'मैं अति निर्विण्ण चरण'

'बे' उर्दू उपसर्ग वाले शब्द भी हैं—— बेकल, बेढंगे, बेढव, बेताब, बेतार, बेतुक, बेतेल, बेभरम,१ बेमन,२ बेमाप, बेमेल और बेहाल ।

संधि:——नवीन जी ने भी अन्य कवियों पद-बंधों पर अनुधावन करते हुए दीर्घ स्वर संधियों का सर्वाधिक संख्या में प्रयोग किया है——उदाहरण देखें ——

अनाद्यवन्त, किरणांगुलियों, किरणासव, क्रान्त्यादोलन, क्षणानन्द, मंदादर, संकेताक्षर, और स्वत्वाधिकार ।

कुछ गुण स्वर संधियां ये हैं ——' 'अपूर्णोत्क्रमण, आत्मोत्पादन, गगनोन्मुख, गमनोन्मुख, जनोद्यम, बलिदानोत्कंठा, रत्नोपजटित, लीलोत्सुक, लेखनोत्सुकता, सम्मिलनोत्सुकता, स्नेहोदक, और स्वेदोदक ।

कतिपय उल्लेखनीय व्यंजन-संधियां इस प्रकार हैं——

उच्छोषण, जगज्जन, जगड्वाल, जगन्नायक, मदनुष्ठानों, मृण्मय, विद्युद्वेग, सदसत्, सदानन्द, और सद्विचार ।

इनमें 'जगड्वाल' और 'मृण्मय' संधियां विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं । संस्कृत में 'मृन्मय' संधि——रूप ही अधिक प्रचलित है, 'मृण्मय' नहीं ।

विसर्ग संधियों में विशेष संधियां देखें ——

अधश्चोर्ध्व, तपोज्वलित, तेजोमय, जनर्लोक, ज्योतिर्मय, तपर्लोक, तपोराज, बहिस्साधनावलम्बित, मनोराज्य, महर्लोक इत्यादि ।

इनमें 'जनर्लोक'३ और 'तपर्लोक,४ उभय सन्धियों पर आपत्ति की जा सकती है क्योंकि ये संधि–नियमों के विरुद्ध हैं । इनके अतिरिक्त कहीं कहीं कवि 'स्वर-संधि' संभव होते हुए भी नहीं करता यथा :

गतआश, ५ श्वासउच्छ्वास,६ सुअंकित,७ सुआसन८ और हतआश ९ ।

---

१. प्राणार्पण , अथश्री प्रथम आहुति, ६——'बे भरम सड़क पर जाता है'
२. रश्मि–रेखा, हम अनिकेतन, १२९——'हम क्यों बनें व्यर्थ में बेमन'
३. हम विषपायी जनम के,......(क) विनिपात, १९९——'जनर्लोक के गगनांगन में'... (ख) 'जनर्लोक ही कहलाया है'
४. हम विषपायी जनम के, विनिपात, १९८——(क) तपर्लोक में आ टकराया (ख) ऐसे तपर्लोक से भी तो (ग) 'मानों तपर्लोक में ज्योतित' ।
५. हम विषपायी जनम के, किमिदम्, ३९१——'मनोरथ एक साथ गत आश हुए'
६. प्राणार्पण, चतुर्थ आहुति, ४२——'श्वास उच्छ्वास से उड़ाएगा'
७. हम विषपायी जनम के, कमला नेहरू की स्मृति में, ४९८–'अश्म रेखा सी सुअंकित'
८. हम विषपायी जनम के, प्रज्वलित वह्नि, २४५——'पोंछता सुआसन फूल फूल'
९. हम विषपायी जनम के, ओ तुम हो काल के भी काल' ५१२——'क्यों बनो हत आश तुम'

दीर्घ स्वरसंधियां न बनाने का एक कारण तो हिन्दी भाषा में 'ऽ' चिह्न का अभाव है किन्तु शेष संधियां मिला कर न लिखने का कोई कारण नहीं है।

समास :—कवि नवीन को दो प्रकार के समासों में विशेष रुचि है—

कर्मधारय और सम्बन्ध तत्पुरुष समास । कुछ उदाहरणों से उनकी समास सम्बन्धी रुचियों पर प्रकाश पड़ेगा —

कर्मधारय समास इस प्रकार है:—

उद्यम-मंदिर, उपकरण-नीप, कलम-कुलहाड़े, काल-नभ, काल-मेघ, जनोद्यम-रथ, जीवन-नद, जीवन-निर्झर, जीवन-यवनिका, तर्क-रवि, दृग-झारी, नयन-कमल, नयन-खिड़कियां, प्रयत्न-तीर, फणीन्द्र-रज्जू, भक्ति-फूल, भाव-विहग, भोग-पाश, मन-अंबर, मन-गगन, मन-नभ, मन-प्रांगण, मन-मंदिर, मन-मोती, मन-वातायन, मन-सर,[1] मन्दर-मेरुदण्ड, मेरु-मथानी, यौवन, सूर्य, रति-चकोर, लगन-घन, लोचन-शशि, विस्मृति-तृण, श्वास-विजन, संदेश-दिवा कर, संस्कृति-सूर्य संस्मरण-फूल, संस्मृति-सौरभ, समय-नद, समय, नदी, स्मर-फुहियां, स्मरण अंबर,[2] स्मरण-कंटक, स्मरण-गगन, स्मरण-ग्रीव स्मरण-द्वीप, स्मरण-द्विज, स्मरण-पिटारी, स्वरण-विहंगम, स्मृति-प्रसून, स्मृति-रथ और स्वर-प्रसून।

सम्बन्ध तत्पुरुष समास देखें :—

अकाल-क्रीड़ा, अग्निचिता, अग्नि-पारावार, अनल-गान, अनल-घेरा, अनल-फाग,[3] अनल-राग, इतिहास-कथा, कर-अंगुलियां, क्षितिज-रेखा, गायन-धार, धन-दामिनी, चिंतन-रंग, जग-ग्रीवा, जीवन-रण, झींगुर-नूपुर, तप-प्रसाद, दर्शन ओझलता, दीप-संपुट, नट-कछनी, नभ-धाराएं, नयन-तारे, नेह-रंग, नेह-शृंखला, पग-रेखाएं, पथ-कणों, पराजय-गीत, पावक-क्यारियां, प्राण-दान, बलिदान-तान, भूख-ज्वाला, मन्थ-दण्ड,[4] माघ-मेघों, मानव-तन, मिलन-वरदान, मुक्ता-कण, युग-धर्म, रति-रस,[5] रथ-अश्व, रथ चालक, विष-विलास, व्योम-पथ, सिंगार-मंजूषा, और सिद्धांत-कथन।

विविध प्रकार के समासों में अमृत-साधना, उपल-हृदय, कल-कीर,[6] गति-

१. रश्मि–रेखा, नयन-स्मरण—अंबर में, ८—'विलसे मम मन-सर में'
२. रश्मि–रेखा, नयन-स्मरण–अंबर में, ८
३. रश्मि–रेखा, प्राण तुम मेरे हृदय दुलार, १८—'खेला हूँ मैं जो अनल-फाग'
४. रश्मि–रेखा, हमारी क्या होली क्या फाग ? ८५—'काल खण्ड ये मंथ-दण्ड'
५. रश्मि–रेखा, नयन-स्मरण—अंबर में, ९—'तव रति-रस पागी यह'
६. हम विषपायी जनम के, पराजय गीत, ४२३–'रटते रटते मेरा मनुआ कल-कीर हुआ'

पग,१ छेदन-समर्थ,२ नेह-पाती, मानस-बसेरा, रैन्-बसेरा, लपट-झंकार, शब्द-मूढ़३ और स्वागत-गायन गिनाए जा सकते हैं।

शब्द-विकार:—संज्ञा, विशेषण, क्रिया और सर्वनाम का अध्ययन करते समय हमने कुछ तत्सम्बन्धी शब्द-विकारों की ओर भी ध्यान दिलाया था किन्तु कुछ उनके अतिरिक्त और शब्द-विकार भी अवशिष्ट रह जाते हैं जो इस प्रकार हैं:—

आदन्तु४ (आद्यन्त), उधरी५ (उधर ही), जदपि६ (यद्यपि), तुह्मीं७ (तुम्हीं), नागीच८ (नजदीक), यदपि९ (यद्यपि), यां१० (यहां), वां ११ (वहां) सरबस१२ (सर्वस्व), स्वत्वाधिकार१३ (स्वत्व) और हमीं१४ (हम ही)।

इनमें उधरी, तुह्मीं, और हमीं तो बोलचाल की भाषा के शब्द-रूप हैं। 'यां' और 'वां' उर्दू भाषा का प्रभाव सूचित करता है।

अंग्रेज़ी भाषा की शब्द-योजना से प्रेरित होकर भी कवि ने कई स्थलों पर

---

१. हम विषपायी जनम के, आये नूपुर के स्वर....१८५—'अपंगा को दे गति-पग वे'
२. हम विषपायी जनम के, यों शूल-युक्त...., ३६—'छेदन समर्थ अनगिनत शूल
३. हम विषपायी जनम के, आये नूपुर के स्वर..., १८४—'हम शब्द-मूढ़ क्या बतलायें
४. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें, मेरी, ५७—'है आदन्त शस्त्र-सज्जित जग'
५. हम विषपायी जनम के, प्रणय-लय, २८९ 'चलो उधरी को जहां लय है प्रणय का'
६. रश्मि-रेखा, आज है होली का त्यौहार, २६--'जदपि रमे हो मम शोणित के कण कण में'
७. हम विषपायी जनम के, कार्यकारण, शून्यता, १६०—'तुम्हीं कह रहे हो'
८. क्वासि, इकतारा, ७३—'प्रिय के वातायन के नगीच'
९. विनोबा स्तवन, महाप्राण के स्वन, २०—'यदपि है तपकृश इसकी काया'
१०. प्राणोर्पण, तृतीय आहुति २८—'पर यां कुशल क्षेम ही क्या'
११. क्वासि, डोले वालो, ४७—''पर वां द्वैत विचार रे'
१२. हम विषपायी जनम के, नौका-निर्वाण, ४१-- 'तुम पे सब सरबस वारूँ'
१३. वस्तुतः 'स्वत्त्व' में ही 'अधिकार' की भावना निहित रहती है।
१४. प्राणोर्पण, चतुर्थ आहुति, ४०--'हमीं से देखो कहता है'

'यह' और 'वह' सर्वनामों को 'य'१ और 'व'२ लिखा है। कहीं कहीं तो 'ये' को भी 'य' लिखा है जिससे वचन के सम्बन्ध में भ्रांति उपस्थित होने की संभावना रहती है।

शब्द-लोप :—नवीन जी ने शब्द-लोपी वाक्य-विन्यास में अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित की है विशेषत: विभक्तियां अनेक स्थलों पर लुप्त जान पड़ती हैं। का, के, ने, में, और से आदि विभक्तियों के लोप के कुछ उदाहरण देखें —

१. नाटक (का) परदा आन गिरा४
२. उस सिहरते नीम (के) नीचे५
३. विजितसांझ के झुटपुटे (के) समय६
४. हम (ने) नूतन पिय पाये७
५. ऐसी ध्वनि पड़ रही कान (में) यह८
६. सोच रही है यों अपने मन (में)९
७. ध्वनि सुनी कान (में), स्मृति जाग उठी१०
८. घटनाएं देखीं हैं इन आंखों (से) भर भर११

कहीं कहीं कारकों के अशुद्ध प्रयोग भी मिलते हैं—

१. कैसे विजय करे वसुधा की१२ ('को' की बजाय)
२. रवि-शशि की ('के' की बजाय) चांदी के नूपुर १३

---

१. हम विषपायी जनम के,....(क) कविता मनोरथ, ३४३--'किस ग्रीव में हार य, डाल'
(ख) कविता नाविक, ३७६-- विकराल सी य' कगार है....इत्यादि
२. हम विषपायी जनम के, प्यासा, ४०१- - "व' कह रहा है कि इसमें क्या है ?"
३. हम विषपायी जनम के, प्यासा, ४००- - "य' सुर्ख़ डोरे पड़े हुए हैं"
४. हम विषपायी जनम के, छेड़ो न, २८७
५. रश्मि- रेखा, मिल गये जीवन-डगर में, १३४
६. हम विषपायी जनम के, पराजयगीत,४२४
७. क्वासि, हम नूतन पिय पाए, १२
८. रश्मि- रेखा, मेरे प्रियतम मेरे मंगल, ८३
९. हम विषपायी जनम के, यह रहस्य- उद्घाटन- रत- जन, १०१
१०. हम विषपायी जनम के, आये नूपुर के स्वन झन झन झन, १८८
११. हम विषपायी जनम के, छोटे की स्मृति में, ३२९
१२. हम विषपायी जनम के, राजेश्वर मानव, १२८
१३. हम विषपायी जनम के, आये नूपुर के स्वन झनझन, १८८

नव-शब्द :—अब तक जिन शब्द-प्रयोगों का उल्लेख हो चुका है उनसे इतर शब्द भी मिल जाते हैं यथा :—

ऊड़गड़ों,१ अनीनिका,२ उपमानव३ ऊबासांसी४

ऐल,५ किलकिल,६ खमंडल,७ गाहे८ चुनमुन,९ पाड़१० पूजार्ति११ फुट्र-फैयल,१२ बिरात,१३ रात्रि-पर्यटन-बंधन-आला,१४ लवण-चोर१५ और हूहू १६ ।

इनमें 'अड़गड़ों' जेलों का पारिभाषिक शब्द है। संस्कृत में 'अनीकिनी' शब्द सेना के अर्थ में प्रचलित है कदाचित् कवि ने उसी आशय के लिये 'अनीनिका' नव शब्द का व्यवहार किया है । पंत ने भी 'उपनर' शब्द का प्रयोग किया था । कदाचित् 'उपमानव' भी उसी श्रेणी का आविष्कार है । झगड़े से भिन्न अर्थ में 'किलकिल' शब्द का यहां जो प्रयोग हुआ है वह भी नया ही है। 'गगन' के अर्थ में

---

१. हम विषपायी जनम के, एक वार तो देख, ४६१, 'बैरक और अड़गड़ों से'
२. हम विषपायी जनम के, यह है द्वापर,....१९१–'अनीनिका चढ़ आई है शंख नाद कर'
३. हम विषपायी जनम के, मानव की क्या अंतिम...., १७२- - 'मानव को उपमानव सा लख '
४. हम विषपायी जनम के, जीवन-प्रवाह , १६५—'प्रश्नों की ऊबा-सांसी में'
५. हम विषपायी जनम के, बसंत बहार, ३१४—'गलबहियां सी ऐल विहंसती'
६. हम विषपायी जनम के, तुम हो?' १०९—'इस पंकिल थल की किलकिल में'
७. क्वासि, अगणित तव दीपमाला, ४१—'भूमिमंडल औ' खमंडल थिरकते हैं'
८. हम विषपायी जनम के, विनिपात, २०८—'एक व्यक्ति में होते नारी-नर गाहे-गाहे
९. रश्मि–रेखा, रुनझुनझुन, ६८—'किलकता मेरा छोटा सा चुनमुन'
१०. हम विषपायी जनम के, विनिपात, २०३—'सदियों के ये पाड़-पड़ौसी'
११. हम विषपायी जनम के, प्रज्वलित वह्नि, २४६—'पूजार्ति दीप की वत्ती में'
१२. हम विषपायी जनम के, हम अलख निरंजन...., ४३३—'हम रहे फुट्र फैयल यां पर'
१३. हम विषपायी जनम के, नौका—निर्वाण , ४०—'यह रात विरात हुई है'
१४. प्राणार्पण, तृतीय आहुति, २२–'रात्रि-पर्यटन, बंधन-आज्ञा लागू होती है सब पर'
१५. प्राणार्पण, द्वितीय आहुति, १२—'उस लवण-चोर की लीलाएं अपना'
१६. हम विषपायी जनम के, व्यवहारवादिता, ७—'जीवन इक हू-हू चिड़िया है'

'खमंडल' शब्द का भी अधिक प्रचलन नहीं है । 'चुनमुन' बोलचाल का लाड़-भरा शब्द है ।'पास पड़ौसी' शब्द ही अधिक प्रचलित है, 'पाड़-पड़ौसी' नहीं । इसी प्रकार 'पूजा' शुद्ध संस्कृत तत्सम है जिसमें 'आरती' हिन्दी शब्द मिला कर 'पूजार्ति' बनाया गया है । हिन्दी में 'झुंड' से अलग रहने वाले जानवर या 'हतभाग्य व्यक्ति' के लिये 'फुट्टैल' शब्द विद्यमान है । कदाचित् 'फुट्टफैचल' से भी कवि ने दूसरा अर्थ ही प्रकट करना चाहा है ।

अंग्रेज़ी शब्द 'कर्फ्यू आर्डर' के लिए समासयुक्त दीर्घ शब्द 'रात्रि-पर्यटन-बंधन-आज्ञा', स्वयंमेव कवि की ही निर्मिति है । ठीक इसी प्रकार कवि ने नमक, सत्याग्रही गांधी के निमित्त 'लवण चोर' शब्द गढ़ा है । कदाचित् यह शब्द 'कृष्ण' के पर्याय-वाची 'माखनचोर' के तौल पर ही बनाया गया है ।

प्रिय शब्द :—नवीन जी की कविताओं में जिन शब्दों की पुनरावृत्तियां होती रही हैं उनसे कवि की प्रिय शब्दा-वली का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । कुछ शब्द इस प्रकार हैं:—

अन्तरतर,[1] अंतवन्त, अजान, अजिर, अथोर,[2] अनन्तता, अनिंगित,[3] अनि-केतन,[4] अनेकों, अपिहित, अमल, अमाप,

---

१. हम विषपायी जनम के, (क) कविता, नौका-निर्वाण, ३६—'अन्तरतर का अंधियारा' (ख) दोलाचल वृत्ति, ४२—'उट्ठी थी तब अंतरतर में' (ग) बोल अरे दो पग के प्राणी, पृष्ठ ८५ जो मथ देती है अंतरतर (घ) राजेश्वर मानव, १२७—'माला वह निज अंतरतर से'....इत्यादि

२. (क) हम विषपायी जनम के, नैया, २२५—'तड़पे विज्जु अथोर' (ख) रश्मि-रेखा, अरी मानस की....., ५२—'छलका दे वेदना अथोर '।

३. हम विषपायी जनम के, (क) कविता, सिरजन की ललकारें मेरी, ५८—'हिय में है विश्वास अनिंगित (ख) कविता 'आज क्रांति का शंख बज रहा, ४७७ 'अनिंगिता नूतन लौ जगे' (ग) ओ तुम मेरे प्यारे जवान, ५१०—'तुम सदा अनिंगित सावधान'....इत्यादि

४. रश्मि–रेखा,....(क) कविता, साजन लेंगे जोग री, ६०—'चौमासे में अनिकेतन भी' (ख) कविता, हम अनिकेतन, १२८—(ग) संग्रह क्वासि, भावी की चिन्तनीय ५३—'आज बना है मानव निरवलम्ब अनिकेतन......इत्यादि ।

अमित, अमिय,१ अवश, अहनिशि२, अहरह, उड्डीयन, उपमानव३, औघड़ दानी४, कर्तव्य, किमि,५ कुंझटिका६, गैल, चंग, जगड्वाल,७ जगन्मोक्ष, झारी, टल्ला,८ टुक,९ टूक, दूजा१०, दूजी, दूजे,११

---

१. संग्रह रश्मि–रेखा––(क) कविता, ढरक बहो मेरे रस–निर्झर–४२––'अपनी मधुर अमित्र धरा से' (ख) प्रियतम तव अंग–राग,११––'इन नासा रंध्रों में उमड़ी है अमिय सनी' ......इत्यादि
२. हम विषपायी जनम के––(क) कविता ४०२,––'क्यों चलता हूँ अहनिशि में?' (ख) कविता, नरक के कीड़े, ५२०––'कामुकता की गाथा ही अहनिशि कहते हैं'....इत्यादि
३. हम विषपायी जनम के, (क) कविता 'आज क्रांति का शंख बज रहा, ४६९––'मानव के उपमानवपन के (ख) मानव की क्या अंतिम गतिविधि, १७२––मानव को उपमानव-सा लख (ग) गरल पियो तुम, ४१७––'मानव हो तो फिर उपमानव '
४. हम विषपायी जनम के, (क) गरल पियो तुम ४१५––जीवन के औघड़ दानी आज (ख) भैरव नटनागर, ४२१––'गतिदाता तू औघड़दानी'....इत्यादि
५. (क) रश्मि-रेखा, मम मन पंछी अकुलाया, ४१––'भाव ये किमि तव सेवा रस चाखें'
   (ख) विनोवा-स्तवन, अहो, मंत्रद्रष्टा हे ऋषिवर, ६––'अव्यभिचार भाव किमि प्रकटे?'....आदि
६. हम विषपायी जनम के, (क) क्या, ३१२–'कुंझटिका का क्यों छाया उच्छ्वास ?' (ख) काँव काँव, ३२६––'विरति कुंझटिका उठी यह'.....इत्यादि
७. (क) हम विषपायी जनम के, कस्त्वं ? कोऽहं ?, १३८––'या स्वयंभूत है जगड्वाल ' (ख) संग्रह वही, मानव की क्या अंतिम गतिविधि, १७१––'यह चेतना जगड्वाल में'.....इत्यादि
८. (क) हम विषपायी जनम के, (क) कविता 'प्यास', २५१––अंतस्तल में भी लगता है इक टल्ला-सा (ख) श्रांत, २९०––'इक टल्ले से ही हो जाए जीवन कल्याण ' (ग) बसंत, ३०८––'छिन छिन टल्ला देदे के '
९. प्राणार्पण , (क) अथश्री प्रथम आहुति, ६––'जिनका टुक स्मरण मात्र करके' इत्यादि (ख) हम विषपायी जनम के, प्रश्नोत्तर, २७०––'टुक सो लेने दो'
१०. हम विषपायी जनम के, (क) सिरजन की ललकारें मेरी, ७५––'तो दूजा है देवत्व दिवाकर (ख) तन-मन से तुमको प्यार किया, ४३२––'आज मरे कल दूजा दिन' इत्यादि ।
११. प्राणार्पण , चतुर्थ आहुति, ४७––'एक छोर से लेकर दूजे तक ' (ख) हम विषपायी जनम के, तुम हो ? '११२—दूजे स्वयंभूत तुम हो—' इत्यादि ।

दूना, दूभर, नभ-गंग, १ नैक, २ मन्वन्तर,७, ... पग-थली, पांजनियां, पिरीत,३ प्रकेत, लपझप, लरज, लौं, बराचिता, विद्युन्मणि, प्राणार्पण,४ फाग५ विचारा, विथा, मधवा,६ विरथ,९ विलग, वैश्वानर,१० शतशत,

---

१. हम विषपायी जनम के––(क) कविता 'निज ललाट की रेख, २३––'तो कांपी नभ-गंग' (ख) दोलाचल वृत्ति, ४२––नभगंगा सी यह याचना-धार बही'

२. हम विषपायी जनम के, (क) निज ललाट की रेख २२––'बांच न पाये नैक' (ख) कविता 'यह है द्वापर,....१९१, आओ बैठो नैक बजाओ मुरली'....इत्यादि...

३. हम विषपायी जनम के....(क) व्यवहारवादिता, ७––'कहां तुम्हारे प्राण-पिरीते?' (ख) मेरे प्राणाधिक, २२३––'पै न ठहरे तुम प्राण-पिरीते'

४. (क) क्वासि, प्रिय मैं आज भरीझारी सी, २६––'प्राणार्पण में नहीं सुहाती' (ख) हम विषपायी जनम के, नैशयाम कल्पमान, १८––'भरे हुए प्राणार्पण निज नयनों में.....इत्यादि

५. (क) रश्मि-रेखा, वह सुप्त अश्रुत राग, ७०––'भर भर खिलाड़ी नैन खेलें फाग' (ख) हम विषपायी जनम के, प्रिय बल दो, १६––'वां भी मचती है घृणि रक्त की फाग'....

६. हम विषपायी जनम के, (क) विषपान, ४५७––'मधु चक्खा, मधवा भी ढाला' (ख) प्यासा, ४०१––'फ़िज़ूल मधवा क्यूं बह रहा है ?'

७. (क) रश्मि–रेखा, ढरक बहो मेरे रस–निर्झर, ४२––मन्वन्तर से अंतरतर में होता है' (ख) क्वासि, मेरे आंगन खंजन आए, ८९–'मन्वन्तर विलीन होते हैं,

८. (क) रश्मि–रेखा, फागुन में सावन,-२३––'यह ऋतु रार मचाई मेरे मन में' (ख) क्वासि, प्रिय जीवन नद अपार, ७––'यह तरुण मरण भीति रार–इत्यादि

९. (क) प्राणार्पण , चतुर्थ आहुति, ४३–चरणों पर चढ़ निःसाधन औ' विरथ' (ख) हम विषपायी जनम के, सतत प्रवासी, २१६ 'लखि कै तुम्हें विरथ बिनु वाहन'

१०. हम विषपायी जनम के (क) गहन तमिस्रा की परिरवा, ४९६––'ओ वैश्वानर के जेता' (ख) कैसा मरण -संदेसा आया, ६१७, 'जीवन का खण्ड वैश्वानर,.... इत्यादि

श्वासोच्छ्वास, षण्ढ,१ सुश्लथ, सुस्मरण, संस्मृति,२ सनेह, समुद, सलोने, सलोनी सुपुरातन, सुरस, सेंद्रियता, ३ हहर और हहराता ।

ध्वन्यात्मक शब्द :—श्री सुमित्रानंदन पंत की भांति नवीन जी की कविताओं में भी ध्वन्यात्मक शब्दों का बाहुल्य है । इस संगीतात्मक कोण से देखने पर दोनों कवि बराबर स्थान के अधिकारी ठहरते हैं ।

जब हम अस्त्र-शस्त्र-औजारों एवं वाद्य यंत्रों की ध्वनिया खोजने निकलते हैं तो हमें कवि नवीन की कविताओं में गोलों के लिये 'सनसन'४ तोपों के लिये 'धायं धायँ'५ और बाणों के लिये 'सरसर'६ शब्द मिलते हैं । वहां घंटे 'घनन घन'७ और घड़ियाल 'घन घन' ८ शब्द करते हुए घनघनाते हैं । घंटियां 'टुन टुन'९ करती हुई टुनटुनाती हैं और डमरू 'डिम डिम' १० करते हुए डगडगाते हैं ।

इसी प्रकार जब हम आभूषणों की श्रुति-मधुर झंकार का अनुसरण करते हैं तो हमें कंकण और नूपुर अपनी 'खनखन झन झन११' से आकृष्ट करते हैं ।

---

१. हम विषपायी जनम के, नरक के कीड़े, ५२१—'ये षण्ढ समझते हैं....ये षण्ढ नरक के कीड़े हैं'
२. (क) रश्मि-रेखा, हमारी क्या होती क्या फाग ? ८४—'सुख की संस्मृति आएगी' (ख) हम विषपायी जनम के, तुम हो' १११—'कैसी ये संस्मृतियां हैं ?'
३. (क) क्वासि, हम नूतन पिय पाए, १३—अपनी सेंद्रियता को सार्थक ? (ख) रश्मि-रेखा प्रियतम वन अंग-राग, ११—'अपनी सेंद्रियता क्या मनुज ....?' —इत्यादि
४. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ४९—'गोले बरसे सनसन करते'
५. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ४९—'तोपें धायँ धायँ करतीं हैं'
६. रश्मि—रेखा, ढरक बहो मेरे रस—निर्झर, ४३—'जब हो इन बाणों की सर सर'
७. हम विषपायी जनम के, जीवन-प्रवाह, १६६—'नवल जागरण घण्ट घनन घन'
८. हम विषपायी जनम के, घड़ियाल बजाने वाले, ३५६—'घनघन करते चले जा रहे हैं'
९. रश्मि-रेखा, मेरे प्रियतम मेरे मंगल, ८३—'गायों की घंटी की टुनटुन'
१०. हम विषपायी जनम के, गरल यो तुम, ४१६—'बजा डिम-डिम-डिम डमरू'
११. (क) क्वासि, तुम सत्—चित्-अवतार रे—८२,'कंगनन की खन खन' (ख) रश्मि—रेखा, विहंस उठो प्रियराम तुम, १२०—'नूपुर की झनझन से भरदो'

'झन झन'१तो जंजीरों की भी [illegible] है । पांजनियों की कर्णमधुर ध्वनियां तो कवि को बहुत ही लुभावनी लगती हैं यथा ख़न खन, गुन गुन, छुन छुन, रुनझुन, हुनुन झुनुन२ इत्यादि ।

जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियों की बोलियों को भी कवि ने रिकार्ड किया हुआ है । उदाहरणस्वरूप सभी पक्षियों की सामान्य ध्वनियां इस प्रकार हैं:--

किर्-किर्-किर् चिवँ-चिवँ चिवँ३ और चैं चुक चुक ४ ।

विशेष पक्षियों में काक की 'काँव काँव'५ तोतों की टुं इँ यँ टुं इँ यँ, टें-टें, ठेऊँ-ठेऊँ टियां,६ कोयलिया की 'कुहू कुहू'७ चिड़ियों की 'चहचह''८ भृंग, मधुकरी, मधुपों की गुनगुन,९ वानरों की 'किच किच' १० और सियारों का 'हुआ हुआ११ शब्द देखते ही बनता है । इनके अति-

---

१. क्वासि, फागुन, ६७--'छाई जंज़ीरों की झन झन '

२. (क) रश्मि-रेखा, रुन झुन झुन, ६७--'पांजनियों की खनखन से'
(ख) रश्मि-रेखा, आई यह अरुणा सुकुमारी, १--'रुनझुन गुन-गुन भ्रमरी पांजनियां गुंजारी'

३. क्वासि, गान-निरत मम मन-खग, ११६--'किर किर किर' चिवँ चिवँ बोल रहे शैल -विहग'

४. रश्मि-रेखा, ठिठुरे हैं विकल प्राण, १२६--'चैं चुक चुक चुक करतो यह कांपी खग वृन्द भीर'

५. हम विषपायी जनम के, काँव काँव, ३२६—'काँव काँव करो न कागा''

६. (क) रश्मि-रेखा, ठिठुरे हैं विकल प्राण, १२६--'टुंइँयँ टुंइँयँ बोल रहे '
(ख) हम विषपायी जनम के, पिंजर-मुक्ति-युक्ति, ३१—'व्यर्थ करो मत टेंटें'
(ग) संग्रह वही, कविता वही ३०--'शुक जी ठेउँ ठेउँ टियां लगे करने'

७. रश्मि-रेखा, फिर गूंजे नव स्वर प्रिय, ४६—'कुहूकुहू कुहक उठी कोयलिया'

८. हम विषपायी जनम के, ओ हिरनों की आंखों वाली, ५७३--'चह चह करता चला'

९. हम विषपायी जनम के, सुन्दर, ११८--'केवल मधुपों की ही गुनगुन'

१०. विनोबा-स्तवन, महाप्राण के स्वन, २१--'वह किच किच कर नर-वानर'

११. हम विषपायी जनम के, बुझ चली, ३२४--'ये हुआ हुआ कर उठे सियार'

रिक्त फरफर, सन सन और सर सर१ पक्षियों के ही पंखों की फड़फड़ाहट है।

परिवहन के साधनों में बैलगाड़ी 'ढचर ढचर- खड़-भड़-गड़-बड़ भड़'२ करती चलती है और वायुयान 'घर्घर घर्घर'३ करते हुए घरघराते हैं।

प्रकृति के विविध पदार्थों में अग्नि 'धू धू'४ करती धधकती है या 'धक-धक भक भक' ५ करती भभकती है। अंगारे भी 'धक धक'६ करते हुए ही दहकते हैं। इनके सिवा लपटें 'लपलप'७ करती हुई लपलपाती हैं। तारे भी 'लपलप'८ करते हैं और बाती भी। इनके अतिरिक्त नद का जल-प्रवाह भी 'हहर हहर हर' ९ शब्द करता हुआ हहराता है।

बादलों की ध्वनियां कवि को बहुत प्रिय हैं। मेघदूत 'घहर घहर'१० शब्द करते हुए उमड़ते घुमड़ते हैं और 'झरझर'११ करते हुए बरस पड़ते हैं। जलवर्षण

१. (क) रश्मि-रेखा, मम मन पंछी अकुलाया, ४०--'पंख व्यंजन सम फर-फर'
(ख) क्वासि, उड्डीयमान, ३०--"डैनों की सन सन में'
(ग) विनोबा-स्तवन, उड़ान, १३--'जिसके पंखों की सर-सर'

२. हम विषपायी जनम के, तुम हो ?, ११४--'टूटी गाड़ी ढचर ढचर– खड़-भड़-गड़-बड़ भड़-भड़'

३. हम विषपायी जनम के, सिरजन की ललकारें मेरी, ४६--'घर्घर घर्घर वायुयान मिस गुर्राती '

४. प्राणार्पण , प्रस्तावना, २--'धू धू करती और बलखाती'

५ (क) हम विषपायी जनम के, धधक उठो अब ओ वैश्वानर, १८०--'धक धक धधक उठी ज्वालाएं'
(ख) संग्रह वही, कविता वही, १७६--'उमड़ी ज्वाल लाल भक-भक कर'

६. प्राणार्पण , प्रस्तावना, २--'दहक उठे अंगारे धक धक'

७. प्राणार्पण , प्रस्तावना, २--'लपटों की जिह्वाएं लपकीं लप लप करतीं'

८. (क) रश्मि-रेखा, भीग रही है मेरी रात, ७६--'तारों की यह लपझप पाँत'
(ख) रश्मि-रेखा, मेरे स्वागत-दीप की बाती, ३६-'यह लपलप बाती अकुलाती'

९. हम विषपायी जनम के, जीवन-प्रवाह, १६२--'हहर-हहर-हर यह जीवन-नद'

१०. प्राणार्पण, द्वितीय आहुति, १७--'उमड़े दल-बादल घहर घहर'

११. हम विषपायी जनम के, करुणा-घन, ३६--'झर-झर-झर बरसे करुणा-घन'

की और भी आवाज़ें कवि ने मानों टेप-रिकार्ड सी कर रखी हैं यथा 'रिम झिम रिम'१ और 'रिमि रिमि झिमि'।२ बूंदें 'टप-टिपिर-टिपिर'३ करती हुई टपकती हैं। 'टप टप'४ अश्रुओं की भी ध्वनि है। मेघ वर्षण के लिये कवि ने 'झरर झरर झर५' से मानों झड़ी ही लगा दी है।

इन के अतिरिक्त 'नवीन' की कविताओं में लहरें और सरिताएं 'कलकल'६ करती हुई कल्लोलित होती हैं। समीरण सनन,७ सनसन,८ और सरसर९ करता बहता है। 'सर सर'१० तो तृण तरुओं की भी सरसराहट है। 'खरखर'११ और 'मर्मर',१२ पत्तों की ही चरमराहट है। सूनेपन और सन्नाटे को 'सांयँ सायँ'१३ का शब्द गहरा रहा है।

अन्य विविध पदार्थों में 'अरर१४' किवाड़ों के खुलने और बन्द होने का स्वर और 'लर चर चूं-धूं'१५ कोल्हु के चलने का का शब्द है। 'चू चरर-चरर,१६ घानी का भी शब्द है। ठीक इसी प्रकार पनघट पर

---

१. हम विषपायी जनम के, बोल अरे दो पग के प्राणी, ८७—'रिम झिम रिम मधु रस वर्षण'
२. हम विषपायी जनम के, सतत प्रवासी, २१७—'रिमि रिमि झिमि तव करूंगा बरसी'
३. रश्मि–रेखा, फिर गूंजे नव स्वर प्रिय, ४५—'बूंदें टप् टिपिर-टिपिर टपकीं'
४. रश्मि–रेखा, माघ-मेघ, ११०—'टपक टप टप चले विटप के अश्रु–कण'
५. हम विषपायी जनम के, उमँगे सावन के धाराधर, ५५६—'झरर झरर झर उमँगे'
६. रश्मि–रेखा, सजल नेह-घन–भीर रहे, ४५—'सुरधुनी आए कल कल ध्वनि करती'
७. रश्मि–रेखा, आई यह अरुणा सुकुमारी, १—'विचरा सनन समीरण'
८. रश्मि–रेखा, प्राण तुम्हारी हंसी लजीली, ४—'अनिल यह बहा झूमता सन सन'
९. रश्मि–रेखा, ओ मेरे मधुराधर, १३—'सर-सर-सर- सर करता नाच उठा मधु समीर'
१०. हम विषपायी जनम के, करुणा-घन, ३६—'सर-सर सिहर तृण-तरु तन'
११. हम विषपायी जनम के, बसंत, ३३३—'खर खर मर्मर कर नीरस पत्रावलियां'
१२. रश्मि–रेखा, क्यों उलझ मन ?, ११३—'फिर होगा द्रुम दल का मर्मर'
१३. प्राणार्पण, तृतीय आहुति, २२—'सायँ सायँ करती हैं सड़कें'
१४. क्वासि, प्रिय मम मन आज श्रांत, ९४—'आवृत दिक् काल–अरर'
१५. हम विषपायी जनम के, संशय–दैन्य, २२१—'चर-चर-चूं-चूं करि रह्यो जीवन कोल्हू दीन'
१६. हम विषपायी जनम के, मृत्तिका की गुड़ियों के गीत, ५८६—'वेदना की चूं-चरर घानी में'

गागरें 'खन खन' १ करती हुई खनखनाती हैं। चक्की का 'धर्म्मर'२ शब्द भी अविरत गूंजता जाता है। डंडा और बेड़ी 'घन-घन'३ करते हुए झनझनाती हैं।

इनके अतिरिक्त शरीर के अंग-उपांगों में दाढ़ें 'किट किट'४ करतीं किटकिटाती हैं। 'धम् धम्'५ पदों की ही धमक है और 'ता-थई-ता-थई'६ नृत्य की ही तालमय ध्वनि है। इसी प्रकार 'हा-हा, हू-हू'७ निशिचरों का भयोत्पादक और लोमहर्षक स्वर है।

---

१. (क) हम विषपायी जनम के, तुम्हारा पनघट, २६६—'गागरियों की खन खन सुन कर'
(ख) क्वासि, फागुन, ६७—'यहां कहां पनघट की खनखन?'
२. क्वासि, फागुन, ६६—'प्रतिदिन चक्की के धर्म्मर में'
३. क्वासि, फागुन, ६७—'डंडा बेड़ी की यह घन घन'
४. प्राणार्पण, अथश्री प्रथम आहुति, ११—'दाढ़ें किट्किट कर उठती हैं'
५. हम विषपायी जनम के, कस्त्वं ! कोऽहं ?, १५४—'पद-निक्षेपों की धम् धम् से'
६. हम विषपायी जनम के, आये नूपुर के स्वन झन झन, १८५—'ता -थई, ता थई कर [नाच उठे'
७. प्राणार्पण, तृतीय आहुति, २१—'निशिचर शृंगाल सम करते थे हा-हा, हू,हू'
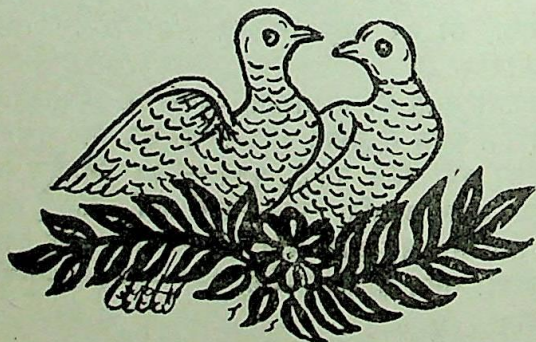
संत कवि चन्ददास

डा० मुरारि लाल शर्मा 'सुरस'

अद्यावधि विद्वानों की मान्यता रही है कि कृष्ण काव्य व्रजभाषा में ही लिखा गया है, अवधी में नहीं। इसीलिये विद्वानों ने पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' ग्रंथ को कृष्णचरित का प्रथम प्रबंध काव्य माना है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। नई खोजों से जो साहित्य प्रकाश में आया है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि अवधी में कृष्ण काव्य को प्रबंध कथा के रूप में सब से पहले लालचदास ने (सं० १५८५) में प्रस्तुत किया१ और उसके बाद भी कई ऐसे समर्थ कवि हुए जिन्होंने कृष्ण की कथा को विविध छंदों तथा शैलियों में प्रबंध कथा के रूप में प्रस्तुत किया। इससे विद्वानों की इस धारणा का खण्डन हो जाता है कि कृष्ण-काव्य प्रबंध काव्य या महाकाव्य के रूप में नहीं लिखा गया२ और जो लिखा गया है वह १९ वीं और २०वीं शती म ही लिखा गया ३ अवधी प्रदेश में लिखित कृष्ण काव्य का अनुशीलन करने से एक बात और स्पष्ट होती है कि इन कवियों ने व्रज तथा अवधी दोनों भाषाओं में कृष्ण काव्य की रचना की। साथ ही एक विशेषता यह भी दिखाई देती है कि अवधी के इन कृष्ण भक्त कवियों ने व्रज प्रदेश के सम्प्रदायानुमोदित सिद्धान्तों के आधार पर अपनी कविताएं नहीं लिखीं (केवल माधवीदासी और लक्षदास इसके अपवाद हैं) किन्तु कृष्ण काव्य का वर्ण्य विषय भागवत के अनुवाद के रूप में मिलता है (उसे हम अविकल अनुवाद नहीं कह सकते)। अवधी के इन कृष्ण भक्त कवियों की परम्परा का विकास बिल्कुल ही स्वतंत्र रूप से हुआ है। निम्नलिखित पंक्तियों में हम इसी परम्परा के एक श्रेष्ठ भक्त कवि चंददास के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत करेंगे।

---

१. अवधी में कृष्ण काव्य के प्रणेता—कवि लालचदास, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १४ अंक ३, पृष्ठ १८।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, २००९ वि०, पृष्ठ १९४।

३. अवधी और उसका साहित्य—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृष्ठ ८९।

जीवन परिचय :— चंददास एक प्रतिभा सम्पन्न संत एवं भक्त कवि थे जो फतेहपुर (हसवा) जनपद में रहते थे। इनके सम्बन्ध में सबसे पुरानी सूचना नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट (१९२०-२२) में मिलती है जिसमें यह कहा गया है कि वे जाति के खत्री थे और सराफ़े (लेन-देन) का काम करते थे। अपनी दुकान से किसी साधु को दान देने के अपराध में वे दण्डित किये गये। इस पर चंददास जी स्वयं साधु हो गये। वे १७५० ई० (१८०२ वि०) के लगभग विद्यमान थे और यावज्जीवन अपनी कुटिया में ही रहे। अंत में उन्होंने वहीं समाधि ले ली।१ 'तवारीख हसवा' में चंददास के समाधि लेने आदि का यह विवरण दिया गया है —'इस नामवर मौसूफ ने इस कुटी में वाक़अ आठ जीउल हिज ११८४ हिजरी मुताबिक यक्कुम अप्रैल, १७७१, ई० मुताबिक बैसाख वदी २ सिक्त १८२८ दिन दो सम्बा को समाध यानी वफ़ात पाई। चबूतरा समाध का अन्दर कुटी मौजूद है, उस पर चढ़ाव सीरीनी और पूजा हुआ करता है।' २

चन्द्रदास के जन्मस्थान के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें देहली के पास पंजाब की ओर का निवासी कहते हैं, कुछ लोग उन्हें फतेहपुर-हसवा का ही निवासी मानते हैं और अपने कथन की पुष्टि में तर्क भी देते हैं।३ वस्तुतः ये पुष्ट तर्क नहीं है क्योंकि 'राम विनोद' ग्रंथ में कवि चंददास ने स्पष्ट रूप से हंसपुरी (हसवा) को अपना धाम चुनने की बात कही है—

गंगा यमुना मध्य में हंसध्वज को ग्राम।
हंसपुरी शुभ नाम तेहि तहां कियेउ निज धाम।।'

कवि की एक अन्य रचना 'कृष्ण-विनोद' में भी इसी ओर संकेत किया गया है।

"राम विनोद" में कवि ने अपना वंश परिचय दिया है। चंददास की रचनाओं तथा अन्य सूत्रों से पता चलता है कि उन्होंने (चंददास) क्षीर पान करके कायाकल्प किया था।४

रचनाएँ :—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट में चंददास जी के भक्त विहार, कृष्ण विनोद और राम रहस्य के बारे में सूचना दी गई है। कृष्ण विनोद

१. खोज रिपोर्ट (१९२०–२२), पृष्ठ ५१–५२ तथा १८२–८७।
२. तवारीख हसवा—लीथो में मुद्रित।
३. व्रजभारती—वर्ष १५ अंक २ सं० २०१४ वि० पृष्ठ २८।
४. सरस्वती-सितम्बर, १९५५ में 'संतकवि चंददास, शीर्षक लेख में हस्तलिखित प्रतियों से उद्धृत, पृष्ठ १८२।

का ही दूसरा नाम, 'भाषा भागवत' बताया गया है।१ कैप्टन शूरवीर सिंह ने उद्योग से चंददास जी के निवास ग्राम हसवा में खोज कराने पर और भी ग्रंथ उपलब्ध हुए जिनकी सूचना विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकाली गई ।२ इनमें उपलब्ध ग्रंथों की संख्या १४ बताई गई किन्तु ग्रंथों के नाम गिनाने में वह पूरी नहीं बैठती । डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने व्रज भारती में 'संत कवि चंददास' शीर्षक लेख में कवि-रचित १० ग्रन्थ बताए ।३

(१) राम विनोद, (२) कृष्ण विनोद, (३) यदुवीर सुयश (भागवत दशम स्कंध), (४) भगवत गीता ज्ञान, (५) शिव-सारंगाध्यावली, (६) विष्णु सहस्र-नाम, (७) भाषा प्रबंध पंचांग, (८) काव्य कौमुदी, (९) साखी, (१०) रागमाला ।

इस सूची में 'भगत विहार' का नाम नहीं गिनाया गया है । इन पंक्तियों के लेखक ने हसवा जाकर इन ग्रंथों को स्वयं देखा तो ज्ञात हुआ कि 'काव्य कौमुदी' नाम की कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई है। कैप्टन शूरवीर सिंह ने चंददास रचित पदों के संग्रह को ही 'काव्य कौमुदी' नाम दे दिया है । इसी लिये इस नाम का एक ग्रंथ उपलब्ध होने की भ्रान्ति हुई । मैंने कैप्टन साहब से भी इस सम्बन्ध में बातचीत की तो उन्होंने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया ।

संत कवि चंददास की एक रचना "श्रृंगार सागर" शीर्षक लेख में डा० शिवगोपाल मिश्र ने चंददास रचित ग्रंथों की संख्या तो १० ही बताई किन्तु व्रजभारती में बताये गये नामों में उन्होंने संशोधन (करके भूल सुधार) किया ।४ चंददास रचित ग्रंथों के वर्ण्य विषय का हम संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करेंगे ।

राम विनोद:—तुलसी के रामचरित मानस की पद्धति पर यह १७८ पृष्ठों का ग्रंथ है जिसे कवि ने सं० १८०४ में लिखा। ग्रन्थारम्भ में चंददास जी के शिष्य तथा हनुमान जी के उपासक बेनी कवि ने गणेश जी तथा गुरु चरणों की वंदना की है और राम के भक्त वत्सल और भक्त-उद्धार करने वाले रूप को स्मरण किया गया है । उसके बाद चंददास के आश्रम वर्णन शीर्षक के अंतर्गत चंददास के निवासस्थान तथा विषय भोग को त्याग कर योग का मार्ग ग्रहण करने की बात कही गई है ।

१. खोज रिपोर्ट—(१९२०–२२), पृष्ठ ५१, संख्या २६ ।
२. पंचदूत, वर्ष ५ तथा ६ के अंक, सरस्वती-सितम्बर, १९५५, इलाहाबाद यूनी-वर्सिटी मैगजीन—दिसम्बर १९५६, भारतीय साहित्य, १९५६ ।
३. व्रज भारती, भाद्रपद सं० २०१४ वि०, पृष्ठ २९ ।
४. सम्मेलन पत्रिका, भाग ४६, संख्या ३, पृष्ठ ७० ।

फिर 'रामविनोद माहात्म्य' कहकर 'राम विनोद' की मुख्यकथा लिखी गई है। ग्रंथ के अंत में चंददास ने 'रामविनोद' के पाठ का माहत्म्य, आत्मपरिचय, तथा ग्रंथ का रचना काल सं० १८०४ वि० दिया है । यह प्रतिलिपि सं० १८६४ की है । इसके प्रतिलिपिकार बेनी कवि ने आत्मपरिचय तथा प्रतिलिप करने का कारण आदि का संक्षिप्त विवरण दिया है । 'राम विनोद' ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति कैथीलिपि में तथा एक प्रति नागरी लिपि में मैंने पं० महावीर शर्मा, लिपिक नगर पालिका, फतेहपुर-हसवा के पास देखी है ।

कृष्ण विनोद :—यह ग्रंथ ९० अध्यायों में पूरा हुआ है । कैथी लिपि में लिखित 'कृष्ण विनोद' की एक खण्डित प्रति मिलती है जिसमें १८० पृष्ठ हैं । ग्रंथ के अंत में दी गई पुष्पिका में 'श्रीमद्-भागवत दशम स्कंध चंददास कृत भाषा प्रबंध समाप्त शुभमस्तु ।...... मिती आषाढ़ बदी सप्तमी संवत् १८०७ साके सालिवाहने स्थान हसवा दस्तखत चंददास के दिया गया है । इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं —(१) कवि ने इस ग्रंथ के दोनों नाम रखे हैं, (२) यह प्रतिलिपि सं० १८०७ में स्वयं चन्ददास ने लिखी थी ।

ग्रंथारम्भ में ग्रंथ की रीति बता कर स्तुति की गई है । देवकी विवाह से लेकर कंस वध तक की सारी कथा का विस्तार से वर्णन किया गया है । उसके बाद गुरु-पुत्र-प्रदान, नंद-उद्धव-संवाद, उद्धव ज्ञान वर्णन, अक्रूर, पांडव गृह गमन, शिखिर प्रवेश, जरासंध युद्ध कालयवन वध, बलभद्र- रेवती विवाह, रुक्मिणी संदेश, रुक्मिणी हरण और विवाह, जाम्बवन्ती और सत्यभामा से विवाह, शम्बरवध, प्रद्युम्न,-विवाह, नरकासुर, व्रज नाभ, सकुम आदि का वध, अनिरुद्ध बंधन, हर-हरि-संग्राम, उषा विवाह आदि के प्रसंग, जरासंध और शिशुपालवध , दुर्योधन मान भंग, बलदेव की तीर्थयात्रा, सुदामा, दारिद्र भंजन, रुक्मिणी-द्रौपदी संवाद, कुरुक्षेत्र यात्रा, देवकी के ६ पुत्रों को पुनः प्राप्त करना, वेदस्तुति, दिग्विजय वर्णन एवं स्तुति ।

श्री भागवत महापुराण --'कृष्ण-विनोद' की उपर्युक्त प्रति के अतिरिक्त श्री भागवत महापुराण, नाम की कैथी लिपि में लिखी हुई एक खण्डित प्रति और मिलती है जिसके प्रारम्भ में पृष्ठ संख्या १६ और अंत में पृष्ठ संख्या २८६ दी गई है । इसमें भी श्रीमद्भागवतानुसार कृष्ण-कथा का वर्णन है। उपलब्ध प्रति में एकादश स्कंध तक की कथा मिलती है ।

श्री भागवत गीता--यह श्रीमद्-भगवद्गीता का भाषानुवाद है । प्रारंभ में हनुमान जी तथा कृष्ण के ब्रह्म रूप की स्तुति की गई है । इसके बाद गीता के १८ अध्यायों का भाषानुवाद प्रस्तुत किया

गया है । अंत में चंददास के निवास-स्थान की स्थिति, उनके संयम, नियम, त्याग एवं दुग्धकल्प आदि का संकेत किया गया है। यह ग्रंथ संवत् १८०६ में लिखा गया। यह पूरी प्रति है जिसमें १२६ पृष्ठ हैं। यह नागरी लिपि में है।

शिव सारंगी--'श्री भागवत गीता' और 'शिवसारंगी' की प्रतियां एक ही गुटके में सिली हुई हैं। ग्रंथारम्भ में प्रतिलिपिकार बेनी कवि ने हनुमान, राम और श्याम को स्मरण करके 'शिव-सारंगीध्यावली' लिखने का संकेत किया है और तन-मन का शोध करने के लिये विविध उपाय बताये गये हैं। योग साधना तथा मुक्ति के चारों रूपों का वर्णन करके शरीर की निर्मलता तथा माया से निवृत्ति के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। कवि ने यह ग्रंथ सं० १८११ में लिखा। नागरी लिपि में लिखित इस प्रति में ६६ पृष्ठ हैं।

भगत विहार--इस ग्रंथ की ४ प्रतिलिपियों के बारे में सूचना मिलती है--(१) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट में १ (२) हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय प्रयाग में, २ (३) बेनी कवि द्वारा प्रति लिपित प्रति जो अब डा० रामकुमार वर्मा के पास है, ३ (४) एक खण्डित प्रति जिसमें १०० पृष्ठ हैं। ४ 'भगत बिहार' में चंददास ने लगभग २०० भक्तों के विषय में लिखा है। इस ग्रंथ में भक्तों के चरित पृथक् -पृथक् अनुराग (अध्याय) में दिये गए हैं। अंत में कवि ने आत्म परिचय दिया है तथा ग्रंथ का रचनाकाल सं० १८०७ लिखा है। सम्मेलन संग्रहालय वाली प्रति में किसी ने बैंगनी रंग की स्याही से संशोधन किये हैं जिसमें सारदा, संकर, कैलास, सरीर आदि के दन्त्य, 'स' के स्थान पर 'तालव्य 'श' कर दिया है। इसी प्रकार 'कंकन' को 'कंकण तथा 'बिसुन' को 'विष्णु' आदि लिख कर शब्दों को शुद्ध रूप देने का भी यत्न किया है।

विष्णु सहस्रनाम और भाषा प्रबंध पंचांग---छोटे-छोटे १७ पृष्ठों में इनकी एक ही प्रतिलिपि प्राप्त हुई है।'विष्णुसहस्रनाम' में लक्षदास की 'मंजुमुक्तावली' की भांति विष्णु को विविध नामों से याद किया गया है। भाषा प्रबंध पंचांग में शंकर जी के अंगों का वर्णन है।

पदावली---जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, चंददास जी के पदों के संग्रह को 'काव्य कौमुदी' नाम दे दिया गया किन्तु वस्तुतः कवि रचित 'काव्य-कौमुदी' नाम की कोई रचना प्राप्त नहीं

१ खोज रिपोर्ट १९२०–२२, पृष्ठ ५१ तथा १८२।
२ सम्मेलन संग्रहालय, वेष्टन सं० १३१३, पोथी संख्या १९९२।
३ व ४ ब्रजभारती, वर्ष १५, अंक ४, पृष्ठ ४।

हुई है। 'पदावली' नाम से चंददास की रचनाओं का संकलन अभी हाल में डा० विद्याधर अग्निहोत्री ने किया है, यह सूचना डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने दी है। १ यह प्रकाशित संकलन अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है। हमने तो पदावली के पद या तो पंचदूत में प्रकाशित हुए देखे हैं या हस्तलिखित प्रतियों में, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि कवि ने विभिन्न राग-रागनियों में ये पद लिखे हैं जिनमें सीताराम तथा राधा कृष्ण की शोभा के मनोरम चित्र हैं। इनके अतिरिक्त जीवन की असारता, रामनाम की महिमा, जीवनोद्धार के उपाय, आत्मनिवेदन, दैन्य आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। भक्ति भावना में शुद्ध सात्विक भक्ति की मंदाकिनी प्रवाहित की गई है। २ दास्य और सखी भाव से लिखे गये पदों में कवि की विनयशीलता उच्चकोटि की है। चंददास जी रचित इस प्रकार के पदों की संख्या ९८० है जो कवि-प्रतिभा के परिचायक हैं।

साखी--कबीर की साखियों की भांति ही चंददास जी के २०० दोहे मिलते हैं जिनमें राम नाम की महत्ता, निर्गुण-सगुण का अंतर काबा-कैलास का भेद, राम रहीम में अभेद भाव, जय-माला छापा-तिलक आदि बाह्य प्रदर्शनों की निर्थकता, घट-घट में राम का दर्शन, समाज के पाखंडियों को डाट फटकार आदि से सम्बन्धित बातें कही गई हैं ।३

रागमाला--चंददास जी की समस्त रचनाएं भक्ति भाव से ओतप्रोत हैं। संभवतः इसीलिये संगीत विषयक इस ग्रंथ में, कवि ने, तत्त्व निरूपण की चर्चा को प्रधानता दी है, रागों के स्वरूप को नहीं। 'रागमाला' में १३० पद मिलते हैं ।४

श्रृंगार सागर--५ 'श्रृंगारसागर' का रचनाकाल श्रावण मास की द्वितीया संवत् १८०९ है। ग्रंथारम्भ में कवि ने लिखा है कि भगत विहार, राम विनोद और कृष्ण विनोद लिख लेने पर मित्रों की इच्छानसार उन्होंने काव्य रस में 'राधारमण' विलास' की रचना 'श्रृंगार सागर' नाम से की है। इस ग्रंथ में १२ उल्लास (अध्याय) है। यह ग्रंथ जयदेव के गीत–गोविन्द' की परम्परा का अनुकरण करता हुआ राधा कृष्ण के परकीय-स्वकीया स्वरूपों की बानगी प्रस्तुत करता है। अंत में गंधर्व विवाह हो जाने पर स्वकीया राधा की कृष्ण के

---

१. सम्मेलन पत्रिका, भाग ४६, संख्या ३, पृष्ठ ६९।

२-३-४. इनसे सम्बन्धित कविताओं के उद्धरण पंचदूत फतेहपुर के वर्ष ५ तथा ६ के बिभिन्न अंकों में दिये गये हैं।

५. सम्मेलन पत्रिका, भाग ४६, संख्या ३, पृष्ठ ७० से ७५ तक।

साथ रति-केलि तथा हास-विलास का विधि ऋतुओं में वर्णन किया गया है । अन्य ग्रन्थों की भांति इस रचना में भी चंददास जी ने सगुणोपासना से समाधि लगाने और योग साधने को ही सिद्धि प्राप्ति का प्रमुख मार्ग वताया है ।

चंददास की प्रतिभा तथा अन्य कवियों का प्रभाव––मध्य युग को भक्ति की जिस परम्परा का मार्ग दर्शन सूर, तुलसी और मीरां ने किया था चंददास जी ने उसे अपनी कविताओं मे ग्रहण करके एक नये भावलोक की सृष्टि की । एक ओर तो वेभक्त कवियों की भांति सगुणोपासना से प्रभावित दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर निर्गुण संत कबीर की प्रतिभा के प्रभाव से भी अछूते नहीं हैं । चंददास की रचनाओं में राम और कृष्ण दोनों में अभेद मान कर उनकी लीलाओं का भावुकतापूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। सूरदास ने 'कृष्ण चरित' और तुलसी दास ने 'रामचरित' को आधार मान कर मुख्यतः रचनाएं कीं । इन कवियों ने राम और कृष्ण के चरित का भी वैविध्य से वर्णन किया किन्तु फिर भी उनके इष्टदेव का एक स्वरूप, निश्चित था , सूर कृष्ण भक्त कवि थे और तुलसी राम भक्त । चंददास ने एक कदम आगे बढ़ कर राम और कृष्ण तथा सीता और राधा में अभेद भाव मान कर उनकी लीलाओं का ऐसे भाव प्रवण शब्दों में चित्रित किया है कि [illegible] मयूर नाचने लगता है । चंददास के पदों में सूर, तुलसी, लक्षदास और मीरां की भांति गेयता, माधुर्य तथा प्रसाद गुण मिलता है । उन्होंने छोटे-छोटे पदों में समय-समय पर मन में उठे हुए 'भक्ति-भावों' को लिपिबद्ध किया है ।

छंद, रस, अलंकार––चंददास जी की रचनाओं में दोहा, चौपाई, चौपई, गीतिका, सवैया, कवित्त, छंद, छप्पय और पद आदि विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है । पदों के लिखने में कवि की एक विशिष्ट पद्धति रही है । जिन पदों में सीता और राधा की शोभा का वर्णन किया गया है, वे तो पर्याप्त बड़े हैं । शेष सभी पद प्रायः ४ या ६ पंक्तियों के हैं । इन पदों की टेक की तुक अन्य पंक्तियों से नहीं मिलती । पहली पंक्ति के अंतिम शब्द या शब्दों की प्रत्येक पंक्ति के साथ जोड़ कर गाने से पद में एक नई आभा आ जाती है और माधुर्य बढ़ जाता है ।

'नींद मोहनी तज के प्रात हरि ।
शिशु जन संघ चले कानन को अंग अनंगहि
सज के (प्रात हरि)
गुंज माल उर लाल रत्न मणि पीत पटा
धन भज के (प्रात हरि)
मोर पक्ष धृत शीश मंजुली मनोभान छवि
छज के (प्रात हिर)' –आदि

इस पद में कोष्ठक में लिखे हुए शब्द को पंक्ति के साथ जोड़ देने से

पद लालित्य तथा गेयता में अपूर्व सुन्दरता की वृद्धि हो जाती है।

चंददास की कविताओं में प्रायः शृंगार और शान्त रस का प्रयोग हुआ है। राधा कृष्ण और राम सीता को शोभा तथा लीलाओं का वर्णन शृंगार रस (संयोग और विप्रलंभ) में किया गया है। शान्तरस में विनय के पद लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में अन्य रसों का प्रयोग भी परम्परा पालन के रूप में किया गया है।

कवि चंददास की कविता में इतना प्रवाह और स्वाभाविकता है कि उसे अलंकारों की आवश्यकता नहीं है फिर भी ढूंढने पर उसमें विविध अलंकारों का प्रयोग मिलता है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रम और अपह्नुति अलंकारों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है।

भाषा--चंददास जी की समस्त रचनाओं में व्रज और अवधि का मिश्रित रूप मिलता है किन्तु पद व्रजभाषा में लिखे गये हैं। कवि ने एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है तो दूसरी ओर अरबी-फारसी के शब्दों को भी स्थान दिया गया है। चंददास जी की भाषा में सरलता, और प्रसाद गुण प्रचुर मात्रा में दिखाई देते हैं। उनकी कविता में उपमा और उत्प्रेक्षताओं की झड़ी लग जाने पर भी पद का निर्वाह बड़ी कुशलता से किया गया है। उन्होंने कबीर की भांति उलटबासियां भी लिखी हैं। चंददास जी को अपने शब्द चयन तथा उसके समुचित प्रयोग पर पूरा विश्वास था। इसके बारे में स्वयं कवि का कहना है --

'अक्षर भ्रष्ट न भ्रष्ट पद मात्रा भ्रष्ट न होय।
चन्द गिरा अनभय जहां तहां नहीं भय होय।'

चंददास जी रचित ग्रंथों की हस्त-लिखित प्रतियां प्रायः कैथी लिपि में मिलती हैं, इस कारण शुद्ध पाठ में कठिनाई होती है।

जिज्ञासु शोधार्थियों को इस कवि का विशेष अध्ययन करके हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए इससे अवधी और व्रजभाषा कृष्ण काव्य की विभिन्न विचार-धाराओं का रूप तथा तद्गत विशेषताओं का दिग्दर्शन भली प्रकार हो सकेगा।

पौराणिक लेख

सृष्टि का उद्भव और विकास

रामप्रसाद गैरोला

श्रुति के मर्मज्ञों ने संसार की उत्पत्ति, भूतों का परिमाण समुद्र, पर्वत आदि की उत्पत्ति, पृथिवी का अधिष्ठान, सूर्य आदि का आधार, देवताओं के वंश, मनु, मन्वन्तर, चार युग, कल्प, कल्पों के विभाग, प्रजय का रूप, प्रत्येक युग के धर्म, चरित्र आदि के वर्णन में कई ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। इन मर्मज्ञों ने विष्णु को ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण और कार्यरूप ठहराया है। विष्णु प्रकृति से परे, जन्म, वृद्धि, परिमाण, क्षय, नाश आदि विकारों से हीन; नित्य, अजन्मा, अक्षय, अव्यय, एकरस और हेय अभाव के कारण निर्मल है। विष्णु का पहला रूप-पुरुष, दूसरा रूप-प्रकृति और तीसरा महदादि रूप बताया है। प्रधान पुरुष व्यक्त और काल– ये संसार के उद्भव, विकास और संहार के कारण कहे हैं। अव्यक्त कारणों को सदसद्रूप और नित्य मानते हैं। अव्यक्त क्षयरहित, अप्रमेय, अजर, निश्चल, शब्द स्पर्शादि-शून्य और रूपादि रहित है। सृष्टि के उद्भव से पहले की (पूर्व-प्रलय की) स्थिति के बारे में विष्णु पुराण के दूसरे अध्याय का निम्नांकित श्लोक यों संकेत करता है—

नाहो न रात्रिर्न नभोन भूमिर्नासीत्तमो-
ज्योतिरभूच्च नान्यत् ।
श्रोत्रादि बुद्धयानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं
ब्रह्मपुमांस्तदासीत् ।२३।
(विष्णु-पुराण)

प्रलय काल में न दिन था, न रात्रि थी, न आकाश था न पृथिवी थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था, और न इनके अतिरिक्त कुछ और ही था। बस! श्रोत्रादि इन्द्रियों और बुद्धि आदि का ही अविषय एक प्रधान ब्रह्म-पुरुष ही था। विष्णु के ब्रह्म-रूप द्वारा ही सृष्टि की रचना एवं प्रलय किया जाता है। विष्णु के प्रधान और पुरुष; संयुक्त और वियुक्त रूपों की ही विद्यमानता है। इस रूपान्तर को ही प्रलय कहते हैं। पूर्व-प्रलय काल में प्रपञ्च की स्थिति प्रकृति में मानी गई है। इसलिये इस प्रपंच को प्राकृत प्रलय भी कहते हैं। ब्रह्मा-रूप विष्णु ने विभिन्न स्थितियां

धारण की हैं। इसलिये विभिन्न तरीकों से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय भी प्रवाह रूप से होते रहते हैं।

प्रलय काल में प्रकृति साम्यावस्था में स्थित हो जाती है। पुरुष-प्रकृति से पृथक् हो जाता है। फिर कालक्रम प्रवृत्त होता है। काल के प्रवृत्त हो जाने पर विष्णु विकारी प्रधान और अविकारी प्रधान पुरुष में प्रविष्ट होकर दोनों रूपों को क्षोभित करते हैं। जैसे–क्रियाशील न होने पर भी गन्ध अपनी सन्निधिमात्र से मन को क्षुभित कर देता है, वैसे ही परब्रह्म भी अपनी सन्निधिमात्र से प्रधान और पुरुष को प्रेरित करता है। विष्णु समष्टि-व्यष्टिरूप, ब्राह्मादि जीव रूप एवं महत्तत्त्वरूप से स्थित है।

गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान जब विष्णु के क्षेत्रज्ञरूप से अधिष्ठित हुआ तो महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई ! उत्पन्न हुए महान् को प्रधान-तत्त्व ने आवृत किया; महत्तत्त्व सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का है। जो कि महत्तत्त्व प्रधान तत्त्व से सब ओर से व्याप्त है। महत्तत्त्व से ही वैकारिक (सात्त्विक) तेजस (राजस) और भूतादिरूप तामस तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ। जो भूत और इन्द्रिय आदि का कारण है प्रधान महत्तत्त्व से व्याप्त है। महत्तत्त्व अहंकार से व्याप्त है। भूतादि नामक तामस अहंकार से विकृत होकर शब्द-तन्मात्रा और शब्द गुण वाले आकाश की रचना करता है। आकाश के विकृत होने पर स्पर्शतन्मात्रा की उत्पत्ति हुई। जिससे वायु का जन्म हुआ। वायु का गुण स्पर्श माना जाता है। वायु के विकृत होने पर रूप-तन्मात्रा की सृष्टि हुई। रूप तन्मात्रा-युक्त वायु से तेज उत्पन्न हुआ। तेज ने विकृत होकर रस तन्मात्रा की रचना की। रस तन्मात्रा से रसगुणवाला जल उत्पन्न हुआ; जल को रूप तन्मात्रामय तेज ने आवृत किया। रस तन्मात्रा वाले जलने गन्धतन्मात्रा की सृष्टि की, जिससे पृथिवी उत्पन्न हुई जिसका गुण गन्ध माना जाता है। आकाशादि भूतों में तन्मात्रा होती है। इनके गुण शब्दादि हैं। इसलिये इन्हें तन्मात्रा (गुण रूप) कहा जाता है। तन्मात्राओं में विशेष भाव न होने से अविशेष की संज्ञा मिली है। इस प्रकार भूत तन्मात्रा सर्ग की उत्पत्ति तामस अहंकार से मानी जाती है। तैजस एवं राजस अहंकार से इन्द्रियों का जन्म हुआ है।

तैजस एवं राजस अहंकार और उनके अधिष्ठाता दश देवता वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहंकार भी इन्द्रियों के प्रबल सहयोगी हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के अधिष्ठाता दश देवता और ग्यारहवां मन वैकारिक (सात्त्विक) हैं। विशेष विवरण निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है।

शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि वै द्विज ।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक् च मैत्रेय पञ्चमी ॥४८॥
विसर्गशिल्पगत्यक्ति कर्म तेषां च कथ्यते ।
आकाशवायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा ॥४९॥
शब्दादिभिर्गुणै ब्रह्मसंयुक्तान्युत्तरोत्तरैः ।
शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृता : ॥५०॥

(विष्णु पुराण, अध्याय २)

त्वक्, चक्षु, नासिका, जिह्वा, और श्रोत्र—ये बुद्धि के सहयोग से शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाली पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं । पायु (गुदा) उपस्थ (लिंग), हस्त, पाद और वाक्—ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं । इनके कर्म—त्याग, शिल्प, गति और वचन कहे हैं । आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पांचों भूत क्रमश: शब्द—स्पर्शादि पांच गुणों से युक्त एवं शान्त, घोर और मूढ़ होते हैं । अत: इन्हें विशेष भी कहते हैं । क्योंकि परस्पर मिलने से सभी भूत-शान्त, घोर और मूढ़ प्रतीत होते हैं, पृथक्-पृथक् तो पृथ्वी और जल शान्त हैं, तेज और वायु घोर हैं तथा आकाश मूढ़ है ।

भूतों में विभिन्न शक्तियां भी हैं। अत: वे परस्पर मिले बिना संसार की रचना नहीं कर सके । इसलिये एक दूसरे के आश्रय पर रहने वाले और एक ही संघात की उत्पत्ति के लक्ष्य वाले महत्तत्व से लेकर विशेष पर्यन्त प्रकृति के इन सभी विकारों ने पुरुष से अधिष्ठित होने का कारण परस्पर मिल कर सर्वथा एक होकर प्रधान-तत्त्व के अनुग्रह से अण्ड की उत्पत्ति की । जल के बुलबुले के समान क्रमश: भूतों से बढ़ा हुआ गोलाकार और जल पर स्थित महान् अण्ड ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) रूप विष्णु का अति उत्तम रूप प्राकृत आधार हुआ । जिसमें विष्णु स्वयं विराजमान हुए। उनका सुमेरु उल्व (गर्भ को ढंकने वाली झिल्ली), अन्य पर्वत जरायु (गर्भाशय) तथा समुद्र गर्भाशयस्थ रस था । उस अण्ड में—पर्वत, समुद्र, ग्रहगण, सम्पूर्ण लोक, देव, असुर और मनुष्य आदि विविध प्राणिवर्ग प्रकट हुए । वह अण्ड पूर्व-पूर्व की अपेक्षा दश-दश गुण अधिक जल, अग्नि, वायु, आकाश और भूतादि अहंकार से आवृत है । भूतादि अहंकार से घिरा हुआ है । जो नारियल के भीतरी बीज के समान है। यह सात प्राकृत आवरणों से घिरा हुआ है ।

इस लिये यही स्पष्ट होता है कि विष्णु का ब्रह्मा रूप ही रजोगुण के आश्रय से संसार की रचना करता है । विष्णु स्रष्टा होकर अपनी ही सृष्टि करते हैं। पालक होकर अपना ही पालन करते हैं और स्वयं ही संहारक (शिव) तथा उपसंहृत (लीन) होते हैं । पांचों भूत, दशों इन्द्रियां और अन्त:करण वाला जितना जगत् है, वह सभी पुरुष रूप माना

जाता है। वरेण्य विष्णु ही रचने वाले हैं! वे ही रचे जाते हैं। वे ही पालते हैं, वे ही संहृत होते हैं।

लोक पितामह ब्रह्मा सदाचार से ही उत्पन्न हुए, फिर उन्होंने जिस ढंग से सृष्टि की रचना की वह तो अतुलनीय है ही किन्तु उनके रचनाकाल के बारे में आश्चर्यान्वित होने वाले संस्मरण भी अनोखे ही हैं। यहां ब्रह्मा जी की आयु निर्धारण के साथ-थ ही समस्त चराचर की आयु का परिमाण इस ढंग से आरम्भ होता है —

निजेन तस्य मानेन आयुर्वर्षशतं स्मृतम्
तत्पराख्यं तदर्द्धं च परार्द्धमभिधीयते ।।५।।
(विष्णु पुराण, अध्याय ३)

ब्रह्मा जी के अपने परिमाण से उनकी आयु कुल सौ वर्ष की कही गई है। जिसका नाम पर है। पर के आधे समय को परार्द्ध कहा जाता है। ब्रह्मा जी की आयु का परिमाण मिलने से पृथिवी, पर्वत, समुद्र और चराचर जीवों की आयु भी ज्ञात हो जाती है। इन परिमाणों का संकेत नीचे दिया गया है —

मनुष्य आदि चराचर की आयु का परिमाण

पन्द्रह निमेष को एक काष्ठा कहते हैं। तीस काष्ठा की एक कला होती है। तीस कला का एक महूर्त्त होता है। तीस महूर्त्त का मनुष्य का एक दिन और रात्रि होती है। तीस दिन-रात का एक मास। छः महीनों का एक अयन होता है। दो अयनों (दक्षिणायण और उत्तरायण) का एक वर्ष होता है।

देवताओं की आयु का परिमाण

मनुष्य का एक अयन देवताओं का एक दिन होता है! दूसरा अयन देवताओं की एक रात्रि होती है। देवताओं के बारह हजार वर्षों का एक चतुर्युग होता है। कुछ और स्पष्टीकरण के लिये प्रत्येक युग के आगे और पीछे प्रत्येक युग के परिमाण की सन्ध्याएं और सन्ध्यांश होते हैं। इसके बीच के काल को ही सत्ययुगादि कहा जाता है। इस गणना के अनुसार प्रत्येक युग का सही परिमाण मिल जाताहै।

युगादि की आयु का परिमाण

चार हजार दिव्यवर्षों का सत्ययुग।
तीन हजार दिव्य वर्षों का त्रेतायुग।
दो हजार दिव्य वर्षों का द्वापारयुग।
एक हजार दिव्य वर्षों का कलियुग।

ब्रह्मा जी की आयु का परिमाण

एक हज़ार चतुर्युग का ब्रह्मा जी का एक दिन होता है। ब्रह्मा जी के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। इकहत्तर चतुर्युग

से कुछ अधिक[1] काल का एक मन्वन्तर होता है । एक मन्वन्तर में ग्राठ लाख बावन हजार दिव्य वर्ष होते हैं । मानवी गणना के ग्रनुसार एक मन्वन्तर में तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हज़ार वर्ष होते हैं । इसका चौदह गुना ब्रह्मा जी का एक दिन होता है । जिसके ग्रनन्तर नैमित्तिक नाम का ब्राह्म प्रलय होता है । ग्रभी तक ब्रह्मा जी का पाद्म नाभ का ही परार्द्ध हुग्रा है । ब्रह्मा जी का बाराह नाम का यह पहला कल्प भी ग्रभी तक चल रहा है ।

चराचर एवं ब्रह्मा जी की ग्रायु निर्धारण के पश्चात् सर्ग के ग्रादि में ब्रह्मा जी ने पृथिवी, ग्राकाश, ग्रौर जल ग्रादि में रहने वाले देव, पितृगण, दानव, मनुष्य, तिर्यक् ग्रौर वृक्षादि को गुण, स्वभाव ग्रौर रूप के ग्राधार पर बांटा ग्रौर इनकी रचना ग्रारम्भ की ।

सर्ग के ग्रादि में ग्रसावधानी के कारण तमोगुणी सृष्टि का ग्राविर्भाव बताया गया ! इसलिये पहले-पहल, ग्रज्ञान, मोह, भोगेच्छा, क्रोध ग्रौर ग्रभिनिवेष पंचपर्वा नामक पांच प्रकार की ग्रविद्या उत्पन्न हुई । उसके ध्यान करने पर ज्ञानशून्य बाहर भीतर से तमोमय ग्रौर जड़, नगादि (वृक्ष-गुल्म-लता-वीरुत्-तृण) रूप पांच प्रकार का सर्ग हुग्रा । बाराह जी द्वारा स्थापित होने के कारण नगादि को मुख्य कहा गया है । इसलिये सर्ग का नाम भी मुख्य सर्ग ही रखा गया । किन्तु इस सर्ग का रूप त्याग कर ब्रह्मा जी ने तुरन्त दूसरा रूप धारण किया ग्रौर पुरुषार्थ की ग्रसाधिका देख कर मुख्य सर्ग की तरह ही तिर्यक् स्रोत-सृष्टि भी रचानी ग्रारम्भ की । यह सर्ग वायु के समान तिरछा चलने वाला है इसलिये यह तिर्यक्स्रोत कहलाता है । इसके ग्राकार पशु-पक्षि ग्रादि प्रसिद्ध हैं । यह प्रायः विवेकरहित मार्ग का ही ग्रनुकरण करते हैं ; इस सृष्टि के सर्ग को ग्रट्ठाईस वधों से युक्त माना जाता है । इन ग्रट्ठाईस वधों के विषय में सांख्य कारिका में यों वर्णन किया गया है —

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्ति-
रुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टि सिद्धीनाम् ।
ग्राध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकाल
भाग्याख्याः ।

---

1. इकहत्तर चतुर्युग के हिसाब से चौदह मन्वन्तरों में ९९४ चतुर्युग होते हैं । ग्रौर ब्रह्मा जी के एक दिन में एक हज़ार चतुर्युग होते हैं । ग्रतः छः चतुर्युग बाकी बचे । छः चतुर्युग का चौदहवां भाग कुछ कम पांच हजार एक सौ तीन दिव्य वर्ष होता है। इस प्रकार एक मन्वन्तर में इकहत्तर चतुर्युग के ग्रतिरिक्त इतने दिव्य वर्ष ग्रधिक होते हैं ।

बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव
तुष्टयोऽभिमताः ।।
ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः
सुहृत्प्राप्तिः ।
दानञ्च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽकुंश-
स्त्रिविधा ।।

(सांख्यकारिका, ४६–५१ श्लोक)

ग्यारह इन्द्रियवध और तुष्टि तथा सिद्धि के विपर्यय से सत्रह बुद्धि-वध—ये कुल अट्ठाईस वध अशक्ति कहलाते हैं। प्रकृति उपादान काल और भाग्य नामक चार आध्यात्मिक और पांचों ज्ञानेन्द्रियों के बाह्य विषयों के निवृत्त हो जाने से पांच बाह्य—इस प्रकार कुल नौ तुष्टियां हैं, तथा ऊहा, शब्द, अध्ययन (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) तीन दुःख विघात, सुहृत्प्राप्ति और दान—ये आठ सिद्धियां हैं । य (इन्द्रियाशक्ति तुष्टि और सिद्धिरूप) तीनों वध मुक्ति से पूर्व विघ्नरूप हैं। इस प्रकार अन्धत्व-बधिरत्वादि से लेकर पागलपन तक ग्यारह इन्द्रियों की विपरीत अवस्थाएं ही ग्यारह इन्द्रियवध कहे जाते हैं।

उपरोक्त कथनानुसार नौ तुष्टियों का विवेचन भी आवश्यक है। इसलिये आठ प्रकार की प्रकृति में से किसी में चित्त का लय हो जाने से अपने को मुक्त मान लेना 'प्रकृति' नामवाली तुष्टि है। संन्यास से ही अपने को कृतार्थ मान लेना 'उपादान' नाम की तुष्टि है। समय आने पर स्वयं ही सिद्धि लाभ हो जायगी, ध्यानादि क्लेश की क्या आवश्यकता है—ऐसा विचार करना 'काल' नाम की तुष्टि है और भाग्योदय से सिद्धि हो जायगी—ऐसा विचार करना 'भाग्य' नाम की तुष्टि है। इन चारों का आत्मा से सम्बन्ध होता है; अतः इनको आध्यात्मिक तुष्टियां कहते हैं। पदार्थों के उपार्जन, रक्षण और व्यय आदि में दोष देख कर उनसे उपरत हो जाना बाह्य तुष्टियां होती हैं। शब्दादि बाह्य विषय पांच हैं, इसलिये बाह्य तुष्टियां भी पांच होती हैं। इस प्रकार कुल नौ तुष्टियां होती हैं।

आठ प्रकार की सिद्धियां भी यों कही गई हैं—उपदेश की अपेक्षा न करके स्वयं ही परमार्थ का निश्चय कर लेना 'ऊहा' सिद्धि है। प्रसंगवश कहीं कुछ, सुन कर उसी से ज्ञान सिद्धि मान लेना 'शब्द' सिद्धि होती है। गुरु से पढ़ कर ही वस्तु प्राप्त हो गई है—ऐसा मान लेना 'अध्ययन' सिद्धि है । आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों का नाश हो जाना तीन प्रकार की 'दुःखविघात' सिद्धि कही गई हैं। अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति हो जाना 'सुहृत्प्राप्ति' है। तथा विद्वान् या तपस्वियों का संग प्राप्त हो जाना 'दान' नामिका सिद्धि है। इस प्रकार आठ प्रकार की सिद्धियाँ सृष्टि के विकास की मूलक मानी जाती हैं।

तिर्यक्-स्रोत के पश्चात् 'अर्वाक स्रोत' नामक सर्ग उत्पन्न हुआ, इस सर्ग के प्राणी पृथिवी पर रहने वाले होते हैं। उनमें सत्त्व, रज और तम तीन गुण विद्यमान होते हैं। ये दुःख, वहुल अत्यन्त क्रियाशील एवं बाह्य आभ्यन्तर ज्ञान से युक्त मनुष्य हैं, जो अपने विकास को अच्छी तरह से समझते हैं। ये स्वादु होते हैं—ये-यज्ञानुष्ठान में आस्था रखते हैं। कलाप्रिय होते हैं। मनुष्य ने यज्ञानुष्ठान की सामग्री स्वयं ही तैयार की जिसमें धान, जौ, गेहूँ, छोटे धान्य, तिल, कांगनी, ज्वार, कोदो, छोटी मटर, उड़द मूंग, मसूर, बड़ी मटर, कुलथी, अरहर, चना और सन—सत्रह ग्राम्य औषधियों के साथ साथ ही वन्य और ग्राम्य दोनों को मिला कर चौदह याज्ञिक औषधियां भी ठहराईं। जिनके नाम यों हैं—धान, जौ, उड़द, गेहूँ, छोटे धान्य, तिल कांगनी और कुलथी ये—आठ ग्राम्य तथा समाँ, नीवार, वनतिल, गवेधु, वेणयव और मर्कट (मक्का) ये—छः वन्य औषधियां हैं; जिनका उपयोग मनुष्य अपनी जीविका के निमित्त यज्ञानुष्ठान में करता है।

इस प्रकार लोक पितामह प्रत्येक सर्ग रचते गये, और प्रत्येक सर्ग में जो कमी दिखाई दी उसी कमी से हीन नया सर्ग रचते गये, और कुल मिला कर ब्रह्मा जी ने नौ सर्गों की रचना की। ये नौ सर्ग—महत्तत्त्व सर्ग, तनमात्रा सर्ग, वैकारिक सर्ग, प्राकृत सर्ग, तिर्यक् स्रोत सर्ग, ऊर्ध्व-स्रोता सर्ग (देवसर्ग), अर्वाक् स्रोता सर्ग और अनुग्रह सर्ग। इस प्रकार पांच वैकृत (विकारी) और तीन—प्रथम प्राकृत सर्ग कहे जाते हैं। नवाँ कौमार सर्ग है जो, 'प्राकृत-वैकृत' से युक्त है। सब मिला कर नौ सर्गों की रचना भी लोक-पितामह ब्रह्मा जी द्वारा ही हुई।

सर्ग रचना के पश्चात् जगत् के प्राणिमात्र की उत्पत्ति जो ब्रह्मा जी के शरीर से मानी जाती है, उसका वर्णन भी यों है—

युक्तात्मनस्तमोमात्रा ह्युद्रिक्ताभूत्प्रजापतेः।
सिसृक्षोर्जघनात्पूर्वमसुरा जज्ञिरे ततः।
३१।। वि. पु. ।।अ. ५ ।।

सब से पहले ब्रह्मा जी की जंघा से असुर उत्पन्न हुआ फिर क्रमशः तमोमय शरीर के त्यागे जाने पर रात्रि का जन्म हुआ। सस्मित ब्रह्म-मुख से देवगण उत्पन्न हुए! फिर उस भाव को त्यागे जाने पर सत्त्वरूप दिन की उत्पत्ति हुई! सत्त्वमय अन्य शरीर से पितृगण की रचना की! फिर वह भाव भी त्यागा गया और मध्य के काल नाम की सन्ध्या का जन्म हुआ। आंशिक रजोमय शरीर धारण करने पर मनुष्य उत्पन्न हुए! किन्तु शीघ्र ही वह शरीर भी छोड़ा गया तो ज्योत्स्ना (प्रातःकाल) की उत्पत्ति भी हो गई। इस प्रकार असुर देवता, और मनुष्य रात्रि, दिन और सन्ध्या एवं प्रातः काल

प्रजापति ब्रह्मा के भाव परिवर्तन (लीन होने की क्रिया से) प्रतिष्ठित हुए । सभी उनके शरीर से उत्पन्न हुए !

तत्पश्चात् रजोमात्रात्मक ब्रह्मा द्वारा क्षुधा की सृष्टि हुई, जिससे काम की उत्पत्ति भी हुई । किन्तु जिनके निमित्त क्षुधा को उत्पन्न किया गया था उनकी प्रक्रिया ने कुछ और ही रूप धारण किया ! जब क्षुधा की रचना हुई––उस समय बड़ी–बड़ी दाढ़ी मूंछ वाले मनुष्य उत्पन्न हो चुके थे । क्षुधा के असर करने पर ही वह खाने की तलाश करने लगे यहां तक कि स्वयं ब्रह्मा जी को ही भक्षण करने को उद्यत होने लगे किन्तु कुछ ने कहा–– ब्रह्मा जी की रक्षा होनी चाहिए ! जिन्होंने रक्षा कहा वह राक्षस हुए और जो नहीं माने वह यक्ष कहे गये ।

इस प्रकार के अनिष्ट विचारों से ब्रह्मा जी कंपित हुए । उनके कुछ बाल पृथिवी पर गिर गये, फिर वही बाल उनके सिर पर आरूढ़ हो गये । इस प्रकार बालों की उतरने, चढ़ने की क्रिया से सर्प उत्पन्न हुए । उस समय ब्रह्मा जी में तमोगुण की अधिक मात्रा प्रतीत होन से कपिश की उत्पत्ति भी हुई । उलझन के भावों को शान्त करने के विचार से ब्रह्मा जी गाने का प्रयास करने लगे, परिणाम स्वरूप गन्धर्वों की उत्पत्ति भी हुई । जिन के काम गाने बजाने की धुन मानी गई !

इस प्रकर समस्त चराचर के प्राणियों की रचना क्रमशः चलती गई; ब्रह्मा जी की आयु से पक्षियों का जन्म हुआ । क्योंकि ब्रह्मा जी की आयु स्वच्छन्दता पूर्वक निर्धारित की गई है । इसलिये पक्षी भी स्वच्छन्द विचरण करने वाले हुए ! उदर और पार्श्वभाग से गाय उत्पन्न हुई । मुख, वक्षःस्थल से क्रमशः भेड़ बकरियों की उत्पत्ति होने के साथ ही पैरों से–– घोड़े, हाथी, गधे, वनगाय, मृग, ऊंट, खच्चर और न्यंकु आदि पशुओं की भी उत्पत्ति हुई । शरीर के रोमों से फल मूल रूप औषधियां उत्पन्न हुईं !

ब्रह्मा जी को चतुर्मुख माना जाता है । इसलिये इनके चारों मुखों से क्रमशः (१) गायत्री, त्वक्, त्रिवृत्सोम रथन्तर और अग्निष्टोम यज्ञों का प्रादुर्भाव हुआ । (२) दक्षिण मुख से यजु, त्रैष्टुप छन्द, पञ्चदशस्तोम, वृहत्साम तथा उक्त का प्रादुर्भाव हुआ (३) पश्चिम मुख से–साम, जगतीछन्द, सप्तदशस्तोम वैरूप और अतिणत्र को तथा (४) उत्तरमुख से एक विंशतिस्तोम, अथर्ववेद, आप्तोर्यामाण, अनुष्टप्छन्द और वैराज की सृष्टि हुई ।

तदनन्तर नित्य एवं अनित्य की जगत् रचना की गई, जिसमें––देवता, असुर, पितृगण, मनुष्य, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरागण किन्नर, राक्षस, यक्ष, पशु, पक्षी मृग, सर्प आदि सभी जीवधारी आ जाते,

हैं। इनकी जीविका के साधन भी जुटाये, प्रकृति के अनुकूल परिस्थितयां उत्पन्न की गईं। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की गई पृथिवी विभाग और अन्नादि की (पूर्वोक्त यज्ञानुष्ठानों के लिये उत्पन्न किये जाने वाले अन्न) रचना (उत्पत्ति) हुई। वर्ण व्यवस्था के बारे में निम्न श्लोक यों स्पष्ट करता है—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम।
पादोरुवक्षःस्थलतो मुखतश्च समुद्गता।६।।

[विष्णु पुराण: अध्याय ६ श्लोक ६]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों क्रमशः ब्रह्मा के मुख, वक्षःस्थल, जानु और चरणों से उत्पन्न हुये। यज्ञानुष्ठान द्वारा अपना विकास करने की इन वर्णों को क्षमता दी गई। इन वर्णों में मनुष्यों को बांटा गया। जीवन को सुखी बना सकने के लिये मनुष्य सुखसाधनों की खोज करने लगा। सत्युग में मनुष्य को रसोल्लसादि अष्ट सिद्धियां प्राप्त हुईं। किन्तु त्रेता युग में मनुष्य की विचारधाराएं बदल गईं। रसोल्लासादि अष्ट-सिद्धियां भी खोई गईं। इन अष्ट-सिद्धियों के बारे में स्कन्दपुराण में यों उल्लेख किया गया है —

रसस्य स्वत एवान्तरुल्लासः स्यात्कृते युगे।
रसोल्लासाख्यिका सिद्धिस्तया हन्ति क्षुधां नरः।
स्त्र्यादीनां नैरपेक्षेण सदा तृप्ता प्रजास्तथा।
द्वितीया सिद्धिरुद्दिष्टा सा तृप्तिर्मुनिसत्तमैः।।
धर्मोत्तमश्च योऽस्यासां सा तृतीयाभिधीयते।
चतुर्थी तुल्यता तासामायुषः सुखरूपयोः।।
ऐकान्त्य बल बाहुल्यं विशोका नाम पञ्चमी
परमात्मपरत्वेन तपोध्यानादि निष्ठिता।।
षष्ठी च कामचारित्वं सप्तमी सिद्धिरुच्यते।
अष्टमी च तथा प्रोक्ता यत्र क्वचनशायिता।।

(स्कन्दपुराण)

स्वयं रसोल्लास की उत्पत्ति होना रसोल्लास सिद्धि कही जाती है! कुछ विशेष भोगों से तृप्ति करना "तृप्ति" नाम की सिद्धि होती है, तीसरी, चौथी और विशोका नामक सिद्धियां भी क्रमशः समान आयु, ऐकान्ति की अधिकता आदि विशेषताएं रखती हैं। तप ध्यानादि में तत्पर रहना छठी सिद्धि, स्वेच्छानुसार विचारना सातवीं सिद्धि एवं जहां-तहां इच्छानुसार पड़ा रहना आठवीं सिद्धि कही गयी है।

इस प्रकार प्रजापति के देहरूप भूतों से सृष्टि की प्रथम रचना अवश्य हुई किन्तु उस सृष्टि का क्रम बढ़ना असंभव सिद्ध हुआ। परिणामस्वरूप फिर ब्रह्मा जी ने सृष्टि के विकास को मध्य नज़र रखते हुए मैथुन सृष्टि की रचना यों आरम्भ की—भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वशिष्ठ आदि मानस पुत्रों को उत्पन्न करने के पश्चात् ख्याति, भूति, सम्भूति, क्षमा, प्रीति, सन्नति, ऊर्ज्जा,

अनसूया तथा प्रसूति आदि नौ कन्याओं का विवाह उपरोक्त नौ मानस पुत्रों के साथ करके ब्रह्मा जी ने पत्नी शब्द को रचा। इससे पूर्व मनु की शत रूपा स्त्री से प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र एवं प्रसूति और आकूति नाम की दो कन्याएं उत्पन्न हुईं। प्रसूति-दक्ष की पत्नी हुई, आकूति प्रजापति (रुचि) की पत्नी हुई। आकूति से यज्ञ और दक्षिण जुड़वां सन्तान हुई। यज्ञ-दक्षिण से यामों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रसूति से—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, वुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति आदि तेरह कन्याओं का जन्म हुआ। इनको धर्म ने ग्रहण किया उपरोक्त ख्याति सम्भूति आदि धर्म की पुत्रियां हुईं। श्रद्धा लक्ष्मी आदि से क्रमशः दर्प, नियम, सन्तोष, लोभ, श्रुत, दण्ड, बोध, विनय, व्यवसाय, क्षेम सुख और यश की सृष्टि हुई। इन्हें धर्म पुत्र कहते हैं। अधर्म की स्त्री हिंसा हुई। हिंसा से अनृत नामक पुत्र हुआ, जिसके भय और नरक पुत्र हुए भय और नरक की माया एवं वेदना नामक कन्याओं से मृत्यु और दुख नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। मृत्यु से व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा, और क्रोध की उत्पत्ति हुई। दुःख को निःसंतान माना गया। इसलिये दुःख से दुःख की ही सृष्टि हुई। ब्रह्मा जी के सदृश ही नील लोहित से भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र, महादेव आदि रुद्रों का प्रादुर्भाव हुआ। इनके स्थान—सूर्य, जल, पृथिवी, वायु, अग्नि, आकाश, दीक्षित, ब्राह्मण और चन्द्रमा आदि निर्धारित किये गये। रुद्र आदि के साथ ही सुवर्चला, ऊषा, विकेशी, अपरा, शिवा, स्वाहा, दिशा, दीक्षा और रोहिणी नाम की कन्याओं का विवाह हुआ। इन्हीं के पुत्र-पौत्रादि से आगे का क्रम चलना आरम्भ हुआ! रुद्रों से ही शनैश्चर शुक्र, लोहिताङ्ग, मनोजव, स्कन्द सर्ग, सन्तान और बुधादि की उत्पत्ति हुई। दक्ष की अनिन्दिता पुत्री सती भी रुद्र की पत्नी हुई! दक्ष द्वारा अपमान होने पर सती ने शरीर त्याग दिया। वही सती फिर मेना की पुत्री उमा हुई। जो अब तक की सृष्टि की प्रधानरूप हैं। उपरोक्त सभी तथ्यों से सृष्टि का आरम्भ विकास और संहार माना गया। वास्तव में सभी तथ्य संसार के कारण एवं कार्यरूप हैं। निःसंदेह ही सृष्टि का आरम्भ इन्हीं तथ्यों के आधार पर हुआ है। और इन्हीं के द्वारा सृष्टि का विकास होता है। हो रहा है।

सप्तसिन्धु की उपादेयता

अच्छा साहित्य अच्छे जीवन का निर्माण करता है। और अच्छा जीवन राष्ट्र में सुख और शांति बनाये रखने में सहायक सिद्ध होता है। सप्तसिन्धु में प्रकाशित साहित्य इस कथन का प्रतिनिधित्व करता है।

किसी देश और जाति का गौरव पूर्ण अतीत उसके वर्तमान और भविष्य को उज्ज्वल बनाने में सहायक होता है और उस गौरवपूर्ण अतीत के चित्र निबन्ध, कहानी एवं एकांकी आदि द्वारा 'जन साहित्य' हर महीने आप के समक्ष प्रस्तत करता है।

साहित्य के अनमोल मोती प्राचीन ग्रंथों के रूप में अनेक प्रान्तों में छिपे पड़े हैं। उन ग्रंथों के सम्बन्ध में जानकारी देने वाले खोजियों द्वारा लिखित अनुसन्धान एवं अन्वेषणात्मक लेख सप्तसिन्धु में प्रकाशित किये जाते हैं।

सप्तसिन्धु डी० पी० आई० पंजाब, परिपत्र संख्या ४९६७–एस० ५५–५८ बी–४३५३ दिनांक ६ अक्तूबर १९५८ द्वारा पंजाब के सभी स्कूलों, कालेजों एवं लायब्रेरियों के लिए स्वीकृत है।

–आज ही–

६ रुपए भेजकर वार्षिक ग्राहक बनिये।

अपनी उत्कृष्ट रचना भेजकर सहयोग दीजिए।

एक प्रति का मूल्य ५० पैसे | वार्षिक चन्दा ६ रुपये

पत्र व्यवहार के लिए पता :–

डायरैकटर, हिंदी विभाग, पंजाब, पटियाला।

SAPTA SINDHU
July, 1966
R. No. P. 318